

समासोचना को पुष्ट बनाने यापा का स्वल्प स्थिर करने तथा बाह-विचार प्रणाली में रुचि देने की ओर जितना अधिक वा उत्तम सैद्धान्तिक निष्कर्ष की ओर नहीं। कहना पड़ता है कि डिबेरी-मुग में सैद्धान्तिक परम्परा का साखेन्नु-मुग की धरोहरा सम्बर्धन अवश्य हुआ किन्तु उसे ऐसी प्रीति नहीं दी जा सकी जिसके प्रतिभागों पर व्यापक दृष्टि से समीक्षण किया जा सके। इसकी पूर्ति आचार्य सुस्स की द्वारा की गई और इसी कारण हमने उनको डिबेरी-मुग के प्रमुख साहित्य समीक्षक मान कर भी उन्हें स्वल्प भूमिका प्रदान करना न्यायोचित समझा है।

रचनात्मक साहित्य के लिए प्रस्तुत प्रतिमान

१७ डिबेरी-मुग में रचनात्मक साहित्य का विधान जिन-जिन रूपों में हुआ उनमें काव्य के अतिरिक्त नाटक उपन्यास आख्यायिका और पद्य आदि भी हैं। इनके द्वारा भी समासोचना साहित्य को विकसित होने की प्रेरणाएँ मिली हैं। बावत यह है कि रचना और विचार हमारे मानस के दो पुरक भाग हैं, जिन्हें धमप-धमप केन्द्रों में परिधीयित कर साहित्य का समुचित विधान किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि वे एक-दूसरे को प्रभावित करते अथवा एक-दूसरे से प्रभावित होते चलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि डिबेरी-मुग में जिस प्रकार के काव्य कहानी नाटक और उपन्यास आदि लिखे गये उनमें सर्वत्र समास-मुधार, धारण निष्ठा प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम तथा प्रतिबद्धता का स्वल्प दृष्टिकोण झलकता था अतः उनका प्रतिबिम्ब समासोचना-साहित्य पर भी पड़ना अनिवार्य-सा था। इस युग के साहित्यकारों का प्रधानतः साहित्य-कला विषयक यही दृष्टिकोण रहा कि वह जीवन के लिए है और उसकी उपयोगिता 'मारे सौन्दर्य परतल से पुरसता सम्बद्ध है। अतः उन्होंने अपनी कृतियों के आचार प्रायः वे ही रहे जो जय-जीवन के अन्तर्गत स्तुत थे। उन्होंने यदि पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रानों को लेकर भी अपनी रचनाएँ कीं तो भी उन्हें अपने युग का रंग दे ही दिया। 'छात्र' और 'प्रिय प्रभाव' की रचनाएँ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यही प्रवृत्ति हमें इस युग के कथा-साहित्य में भी मिलती है। इस युग के आगे किसी भी साहित्यकार की रचनात्मक प्रतिभा का अध्ययन किया जाए हमें उसमें जीवन के प्रति एक सन्धेय अथवा सिद्धा-मात्र अवश्य मिलेगा। यहाँ तक कि प्रमत्त और जैसे कथाकार जीवन की जिस मर्यादा भूमि पर अवस्थित होकर अपनी रचनाओं में प्रवृत्त हुए हैं, उनमें भी आखेन्नु-मुग का प्रभाव नहीं है। उन्होंने अपने विविध भाषणों और साहित्यिक लेखों में इसका संकेत भी किया है। यही कारण है कि समासोचना के इस संवर्धन-काल में हमें रचनात्मक साहित्य के अनुस्यू ही समासोचनात्मक साहित्य मिलता है। यदि किसी साहित्यकार ने युग-धर्म की मान्यताओं का उल्लंघन कर अपनी स्वल्प रुचि से काम भी लिया है तो उसे साहित्यकार की पंक्ति से बहिर्गत करने की चेष्टा ही की गई है, अतः ही अपनी प्रतिभा के बल पर कालान्तर में उल्लेख्य धर्म विधि-एतान बना लिया हो। इस युग की समासोचना में यह भी एक विशेष बात है कि वह रचनात्मक साहित्य का मर्यादित नियमन भी करती चली है। इसी नियमन प्रवृत्ति और पद्य-अवधान की योग्यता ने ही वो डिबेरी की को इस युग का मुखबार बनाया या धन्यता ऐसी तो कोई बात नहीं कि वे साहित्य के इतने गम्भीर और महान् धर्मोत्था रहे हों जिनके द्वारा किन्हीं नवीन और मौलिक उद्भावनाओं का सार्वजनिक और धारण स्वल्प निमित्त किया गया हो।

शोध-कार्य द्वारा समासोचना-वृद्धि

१८ डिबेरी-मुग की समासोचनाओं का एक प्रतिमान शोधपरक विधियों से भी संयुक्त है। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वान् प्रायः वे ही रहे, जिनका सम्पूर्ण नागरो-प्रचारिणी तथा हिन्दी साहित्य-सम्पन्न और हिन्दुस्तानी एकेडमी से विशेष था। इन विद्वानों द्वारा प्राचीन साहित्य के अनेक अप्राप्त ग्रन्थों का परिष्कारपूर्वक संकलन किया गया और उनकी प्रामाणिकता पर भी

विचार हुआ। नागरी उच्चारणों परिकरों का एक प्रमुख उद्देश्य ऐसे प्रश्नों का ही घोषपूर्ण विवेक प्रस्तुत करना था। सभा ने समय-समय पर अपने घोष-विवरण भी प्रकाशित किए जिनमें प्रा-
 यशों और उच्चारणों की एक सजीव सी रहस्य भी। इस प्रकार के घोषों से बहुभाषासिद्ध होने लग-
 कि हिन्दी साहित्य की भी एक प्राचीन और समृद्ध परम्परा है और जो लोग उसे 'रामचरितमानस'
 'मुरसागर' अथवा बिहारी की सतसई' में ही केन्द्रीयतः समझते हैं, वे भ्रान्तिग्रस्त हैं। इस क्षेत्र
 का पीताम्बररत्न बहुभाषा तथा डाक्टर होरासाह द्वारा किये गए कार्यों का भी प्रमुख महत्त्व है
 बहुभाषा की ने सिद्धों और नाम रचिपियों के साहित्य पर अनेक नवीन उपलब्धियाँ प्रदान की हैं
 उनका 'हिन्दी-काव्य की नियुत्पाता' नामक घोष प्रबन्ध तो इस दिशा में एक प्रत्यक्ष महत्त्वपूर्ण
 प्रकाशन है। कवियों की प्राथमिकता नहीं कि डाक्टर रामचन्द्रराय ने विमलानु, व रामचन्द्र
 शुक्ल तथा साक्षात् यमकाव्यीय आदि विद्वानों को जो साहित्य-क्षेत्र में प्राथमिक सम्मान दिया
 उसमें उनके घोष कार्य का भी प्रमुख सहयोग था। इसी घोषकार्य का एक सम्बन्ध हमारे साहित्य
 के इतिहास से भी था। जैसे तो का प्रियदर्शन तथा बिर्बाह संस्कार ने भी अपने साहित्य के इतिहास
 प्रश्नों में कवियों के महत्त्व युक्त संकलित किये थे किन्तु उनका घोषपरक साहित्यिक समीक्षण नहीं
 हुआ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा. रामचन्द्रराय ने इस और स्तुत्य प्रयत्न किये
 युक्त की ने युग और साहित्य का समन्वय करते हुए जिस ऐतिहासिक प्रणाली में अपने सुप्रसिद्ध
 इतिहास की रचना की है वह अपनी युग प्रवृत्तियों के विवेचन तथा साहित्यकारों के संतुलित समीक्षण
 की दृष्टि से मात्र भी महत्त्वपूर्ण है। यही इस बात का भी स्पष्ट रचना आवश्यक है कि द्विवेदी
 युग की घोषपरक समाजोपना में अधिकतम प्राचीन कवि और उनके काव्य ही विवक्षित रहे।
 प्राधुनिक युग की प्रवृत्तियों और साहित्य-प्राप्तियों की विस्तार-विधि को लेकर भी घोष-कार्य किया
 जा सकता है। इस और समाजोपनों का अधिक ध्यान नहीं गया। बात यह भी कि द्विवेदी-युग
 समाजोपना का संवर्धनकाल प्रवचन का किन्तु उस समय हिन्दी का विरलविद्यालयों की उच्चतम
 कक्षाओं में पठन-पाठन करने के लिए औरतपूर्ण स्थान न बन सका था और न राज्य की ओर
 से ही उसको विशेष प्रोत्साहन था। अतः घोष द्वारा समाजोपना-मार्ग में केवल वे ही स्थिति
 अपना मोहनाम ले सकते थे जो अधिक से अधिक स्वानुपुष्टि से प्रेरणा लेकर चलते। यही कारण
 है कि द्विवेदी-युग में घोष-विषयक कार्य केवल कुछ ही संस्थाओं और उनके कार्यक्रमों के बीच
 सीमित रह गया। आचार्य द्विवेदी को वे भी अपनी घोष-सम्बन्धी समाजोपनाओं की एक विद्या निबिष्ट
 की किन्तु वह समीक्षा और सुस्वीकृत की अपेक्षा आलस्य ही अधिक रही। ऐसी स्थिति में घोष
 विद्या द्वारा समाजोपना के विकास का कार्य इस युग द्वारा उस विधि में सम्पन्न नहीं हो सका जो
 उसके परवर्ती युग में बन कर हुआ क्योंकि परवर्ती युग में उसके विकास के अनेक अनुकूल अवसर
 उपलब्ध हो गए थे जिनका विवेचन बचावस्थान किया जायगा।

महत्त्व-निर्धारण और निष्कर्ष

१. द्विवेदी-युग का एक सबसे बड़ा महत्त्व यह भी है कि उसने हमें साहित्य के विभिन्न
 युगों में नूतन प्राप्ति-प्रसिद्ध करने का एक-एक महान् महारथी प्रदान किए जिनमें अपने कृतित्व
 के साहित्य-मन्दिर की घोषा की अशक्तिशाली भाव से धार्मिक कर दिया। द्विवेदी को भी समाजोपन
 के रूप में सब से बड़ी देन यही है कि वे अपनी सुबन-व्यक्ति में एक विशिष्ट साहित्य निर्माता
 थे। यह उन्हीं के युग और व्यक्तित्व का प्रभाव था जिसने प्रारम्भ अथवा परोक्ष रूप से हमें अपना
 सफरों में प्रेमकाव्य काव्यकारों में वैयक्तिकतरस माटककारों में प्रभाव और समाजोपनों तथा निबन्ध-
 लेखकों में रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान् न्यायी लेखक प्रदान किये। इन साहित्यकारों के निर्माण
 में द्विवेदी की के व्यक्तित्व की गयेष्ट छात्र थी। यही कारण है कि हमें वे कुछ स्वयम्भवावारी

साहित्यकारों को छोड़ कर अधिकांश साहित्यकार द्विवेदी युग की उत्तरवर्ती भावनाओं से प्रभावित होने पर भी उस युग की मान्यताओं के परिवर्तनबल से कुछ कर बाहर नहीं जा सके और भूम-भिर कर उन्हें उस युग की पारस-निष्ठा और नैतिकता की स्वीकार करना ही पड़ा। समाज-मुबार और मोक्ष-हित की भावना के जो तत्त्व उनकी कृतियों में अभिव्यक्त हुए, उन पर द्विवेदी जी महाराज का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रकट है। आपार्थ्य युक्त भी ने अपनी समासोचना में जो साहित्यपरीक्षण का प्रतिमान प्रतिष्ठित किया था वह द्विवेदी युग की भूमिका के अत्यधिक सन्निकट है। उनके 'काव्य में प्राकृतिक हृद्य' और 'कविता क्या है' धीरे-धीरे समासोचनात्मक निबन्ध इस कवन के प्रमाणस्वरूप रहे जा सकते हैं। यह बात बूझनी है कि युक्त भी ने अपने जीवन-काल में हमारे प्राथमिक साहित्य के सभी प्रमुख युग देखे थे। उन्होंने भारत-मुग के पक्षान-काल से अपनी रचनाओं का सीमारेखा किया था द्विवेदी युग में उनका युवाकाल व्यतीत हुआ छायावादी युग में उनमें प्रौढ़ता परिलक्षित हुई तथा वे नवीन प्रगतिवादी युग के प्रारम्भ तक जीवित रहे। परन्तु उनकी समासोचनाओं में इन चारों युगों की प्रवृत्तियों के तत्त्व-रूप धाने स्वाभाविक थे फिर भी उनकी मनोभूमिका में सब से अधिक पंथ द्विवेदी-युग की मान्यताओं का ही था इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता।

२ यह सब कुछ होते हुए भी द्विवेदी-युग की समासोचनाओं की अपनी सीमाएँ भी हैं। यद्यपि उसके प्रतिमान ने नवीनता का संचार होने लगा था फिर भी वह संस्कृत-साहित्य की काव्यशास्त्रीय समीक्षण-पद्धति के अधिक निकट था। रीतिकाल की भाँति इस युग को भी संस्कृत की अपार ज्ञानराशि से साहित्यसोचन की प्रेरणा मिली थी किन्तु वह रीतिकाल की भाँति कठिनाई न होकर कठिनाई थी। इस युग में हर्ष समासोचना के संतर्गत समन्वय और संतुलन की प्रकृति की भिल्ली है किन्तु उसका विकास स्वच्छ विधान में अधिक नहीं हो सका है। इस युग के समासोचकों द्वारा समासोचना को ऐसी धारानुभूति और स्वप्रेरित प्रज्ञा से अनुप्राणित नहीं किया गया जिसमें वह भी एक कलाकृति के समान ही मानव-भावनाओं की सौन्दर्यमयी अभिव्यञ्जना करने के लिए प्रस्तुत होती है। इसी प्रकार इस युग की समासोचना में साहित्यार्थ का भी एक निर्धारित मानदंड था। प्रत्येक समासोचक का अपना एक निर्धारित दृष्टिकोण रहता था और उसी के द्वारा वह समासोच्य विषय के सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त कर दिया करता था। इस युग की प्रत्यक्षेयता का विशेषण करते हुए पहले युग की मर्यादाओं का संकेत कर दिया गया है परन्तु उनकी भूमिकाओं के संतर्गत इस युग की समासोचना का स्वस्वबोध करना सर्वथा असोचीत है।

२१ द्विवेदी-युग की समासोचनात्मक संवर्धन में आपार्थ्य पंथित महावीरप्रसाद के प्रतिरिक्त बाबू स्वामिनुरवरदास भी निश्चयपूर्ण पदमहिम्ना का सा प्रबलानवीन आपार्थ्य रामचन्द्र भुक्त पं कथ्य विहारी मिश्र पदुमनास पुनासास बली तथा बाबू युताचरण का प्रमुख हाथ है। इनके प्रतिरिक्त और भी समासोचकों का ज्ञान 'सरस्वती' की पुष्पती प्रतियों से होता है, किन्तु विषय प्रतिपादन और विचारधारा में उनके व्यक्तित्व का ऐसा विकास नहीं हुआ है जिसके कारण उन्हें अपर्युक्त समासोचकों के समकक्ष स्थान दिया जा सके। परन्तु इन्हीं समासोचकों की समासोचनात्मक उपबन्धियों का मूल्यांकन उनकी कृतियों को दृष्टिबोध रखकर किया जायगा जिससे यह पता चल सके कि उन्होंने किन-किन विचारधाराओं से प्रेरित होकर किन-किन प्रणालियों में कैसी-कैसी समासोचनाएँ लिखीं। इस सामान्य परिचय के पठ्यंत तो उनका प्रबंधबल सामान्य उत्प्रेक्ष्य हुआ है, किन्तु पर उनका विविष्ट विवेचन होगा। इन समासोचकों में प रामचन्द्र युक्त और बाबू युताचरण का मूल्यांकन मेने द्विवेदी-युग की पार्श्व भूमि में विकसित होने वाले युक्त-युग के पठ्यंत किया है, क्योंकि वे इस युग की उत्पत्ति होने पर भी अपना स्वतंत्र विकास अपने उत्तरवर्ती युग में ही कर सके थे। जैसा कि युग-विभाजन के समय इस बात का संकेत कर दिया गया है कि यह

विद्याभन केवल विशेष प्रकार की मान्यताओं को प्रमुक्तता प्रदान करने तथा अपने अध्ययन को सुविधापूर्वक बनाने के लिए ही है। अध्ययन ऐसी कोई बात नहीं है कि किसी एक विशेष समय में ही व्यक्ति की मान्यता और चेतना पर कोई प्रभुत्व मग जाय और वह अपने पूर्ववर्ती विकास को किसी मातृ प्रकोष्ठ में बन्धी बना कर मधीन दृष्टिकोण से ही कोई अभिनव सर्वना करे। प्रत्युग-विशेष की प्रवृत्तियों और समालोचकों के अध्ययन के समय इस अध्य की अवहेतना न करना ही स्वाभाविक है।

प्रमुख समालोचक और उनकी कृतियों का समीक्षण

प्राचार्य प. महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रतप्रवेश और युग-परिवर्तन

२२ भारतेन्दु-युग प्राधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रारम्भिक काव्य है। भारतेन्दु की और उनके सहयोगी मंडन ने रचनात्मक साहित्य की अभिवृद्धि के साथ-साथ साहित्यालोचन की ओर भी ध्यान दिया था किन्तु उनका इस ओर विशेष प्राचर्यण न था। बात यह भी कि भारतेन्दु मंडन में अपने साहित्य को विविध प्रयोगों की पर्युष्टि के द्वारा प्रामाण्य प्रापा-साहित्यों की समता में व्यापक बनाने की इतनी अधिक प्रावृत्ता थी कि वह इच्छा होने पर भी समालोचना-साहित्य की ओर अधिक ध्यान नहीं दे पाता था। फल यह हुआ कि इस युग में समालोचना का स्तुनाध में ही विकास हो पाया। यद्यपि इस युग में समालोचना की प्रनेक प्रवृत्तियों और पद्धतियों का बीबारीपण अवश्य हो गया था किन्तु उनके प्रस्तुतन की स्थिति नहीं पाई थी। यह कार्य प्राचार्य प. महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में आने पर सम्पन्न हुआ। यत उनका साहित्य-सेवाकाल हिन्दी समालोचना के द्वितीय चरण के रूप में द्विवेदी-युग के नाम से अभिहित किया जाता है जिसे मेने विषय-विकास की दृष्टि से प्राधुनिक हिन्दी समालोचना का सर्वना काव्य कहता सभी दृष्टियों से समुचित समझ है।

२१ जैसे तो प्राचार्य द्विवेदी की सरस्वती पत्रिका का सम्पादन प्रहण करने पर ही (सन् १९३) साहित्य-क्षेत्र में प्रचलन रूप से प्रवृत्तीर्ण हुए, किन्तु उनका रचना काय उसके पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। सन् १८९६ ई. के प्रारम्भ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उनकी 'कुमार सम्भव की भाषा' विषयक समालोचना प्रकाशित हुई जिसका उत्तरवर्ती प्रबंध कासाकाकर से प्रकाशित होने वाले 'हिन्दोस्तान' नामक प्रसिद्ध पत्र में आया। द्विवेदी जी की सङ्कलित-साहित्य में नैसर्गिक रचि थी। उन्होंने सन् १८९७ ई. के नवम्बर से सन् १८९८ ई. के मई तक नैकटेश्वर समाचार बम्बई में काशिरास के मनुसंहार की भाषा पर निरंतररूप से समालोचनाएँ लिपीं। सन् १९११ ई. में उनकी 'हिन्दी काशिरास की समालोचना' प्रकाशित हुई जिसमें रजुबंश और मेवदुत की समालोचनाएँ भी सम्मिश्रित कर दी गई थीं। इस प्रकार काशिरास के ग्रन्थों का समीक्षण हिन्दी में प्रथम बार उनकी लेखनी का प्रयत्नक प्रवर्जित करता हुआ समालोचना-अवध के सामने आया।

२४ द्विवेदी जी की उक्त प्रारम्भिक समालोचनाओं ने विद्वानों का ध्यान अपनी ओर प्राकषित किया। बाबू स्वामयुन्दरदास की प्रेरणा और प्रयत्नों से सरस्वती के संपादकों द्वारा सम्पादन-पर प्रविष्टि किये गए। द्विवेदी जी को मनोनुकूल क्षेत्र मिल गया। उन्होंने पहले तो कानपुर सूरी से पत्रिका का सम्पादन दिया और तत्पश्चात् ने प्रयाग आ गए। तब से उनका साहित्य-क्षेत्र प्रयाग बना और सन् १९३ से १९२९ पर्यन्त अवसर गति से अपने सम्पादन-कौशल

द्वारा जगूनि सरस्वती' के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र को नवतुल्य किया। बस्तुतः उनका व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली और महान् था कि उस समय हिन्दू प्रवेश उनके अभिनामकत्व में घा गया। वे रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य के मुख प्रेरक और मार्ग-दर्शक बने। उनका प्रभाव इतना गम्भीर और व्यापक था कि सन् १९२२ के परभाव सम्पादन काम से विराम देने पर भी वह हिन्दी-साहित्य पर छाया रहा और सन् १९३३ तक उसकी किम्वार्त संचालित रही। इतना ही नहीं उनके परभाव आचार्य युक्त भी वे अपनी विद्वत्ता और गम्भीरता के दल पर जिस समालोचना-साहित्य का निर्माण किया था उसकी मूल मनोभूमि आचार्य द्विवेदी जी की ही थी। युक्त भी की विचारधारा का निर्माण द्विवेदी जी के बुद्धि-प्राप्ति भाव-सूत्रों के आधार पर ही हुआ था और वे एक प्रकार से उनके विकासमान स्वल्प कहें जा सकते हैं। यद्यपि स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग की विकास-मूल्यता को अपनी प्रतिभा के द्वारा युवानुक्त बना कर आजी साहित्य की स्मरणा के साथ संबद्ध करने में द्विवेदी जी का महान् योग है और वे आधुनिक साहित्यनिर्माण के केन्द्रवर्ती स्वप्न के रूप में सत्य विराजमान रहेंगे।

२५ द्विवेदी जी के साहित्यालोचन का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके पूर्ववर्ती समालोचना कार्य को दृष्टिपूर्व में रखा जाय। ऐसा करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें युग-निर्माण की नैसर्गिक योग्यता थी। जगूनि साहित्य-मूत्र का वायिरण प्रवृत्त करते ही महावीर की भाँति परम्परागत साहित्य का सूक्ष्म विहासलोचन कर उसकी वास्तविकता को परख लिया था। अपनी निवेक-बुद्धि और सारधाद्वितीय निपुणता से उन्होंने प्रत्यक्ष लाभ से यह निर्णय कर लिया कि अपने पुररचित साहित्य का प्रतिमान क्या है और उसे युग-स्थिति को देखते हुए किस ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता है। वे अपने विचारों में प्रत्यक्ष स्पष्ट और निरीक्षक से यद्यपि उन्हें परावर्तमान की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं हुई। वे जिस युग में जी रहे थे वह गतिविधता और धारण का युग था यद्यपि उन्होंने उसकी नाड़ी टूटने पर अपनी मुसक्ति सम्मनता से उसी के सन्धि में साहित्य को बसना सर्वोत्तम माने उपयुक्त समझा। उन्हें भारतेन्दु-युग का नव वायरण प्रिय लगा किन्तु उसकी मूल्यता भी उनके दृष्टिपूर्व में आने से नहीं बच सकी। गद्य-पद्य के लिए मिला मिला मापामों का प्रयोग माया रचना में व्याकरण-सम्मत शुद्धता का ऐधिक्य साहित्यालोचन में व्यापक विभागों का समान तथा गम्भीर साहित्य-निर्माण की मूल्यता प्रादि ऐसे अनेक क्षेत्र थे जिनकी पूर्ति करना साहित्य-वरिणा के लिए आवश्यक था। यद्यपि द्विवेदी जी की साधना मुख्यतः इन्हीं में केन्द्रीभूत होकर बनी और वे इन्हीं अपने रचना-कौशल का मेखन बना कर निरंतर बढ़ते रहे। उनके कार्यों का सेवा-ओका इन्हीं के प्रतिमान से किया जाना व्यामर्शव एवम् समीचीन है।

बहुमुखी व्यक्तित्व और माया-परिष्कार

२६ द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे मुख्य रूप में 'सरस्वती' के सम्पादक थे किन्तु उनमें अनेक विविधताओं का भी समावेश था। माया-विशेष विषयकार समालोचक हिन्दी प्रचारक एवम् गम्भीर विचारक के साथ-साथ वे सबसे बड़े साहित्यिक-प्रेरक भी थे। यद्यपि उनमें रचनात्मक प्रतिभा का बाहुल्य न था और न वे उच्चकोटि के कवि नाटककार ध्वजा कृपा साहित्य रचयिता ही थे किन्तु उनमें एक ऐसी धर्ममूलक मन्तव्य शक्ति थी जिसके कारण उन्होंने अनेक साहित्यकारों का निर्माण किया। सर्वोच्च वैचित्रीकरण मुक्त समन्वय विवादी गोपालचरणसिंह भीमर पाठक गयाप्रसाद युक्त सनेही नाट्यमय सार्थ संकर' देवीप्रसाद 'पूरा' सत्यनारायण कविरत्न' प्रादि क्लासिक कवियों के रचना-विधान में उनका प्रमुख हाथ है और प्रायः की पद्य रचना के पीछे उनके महान् व्यक्तित्व की घमट छाप है। उनकी सरस्वती पत्रिका की प्रतिभों में

उनकी साहित्य-उपस्था के अनेक स्तुतिप्रसन्न समासिष्ट हैं तथा हिन्दी-भाषा का विकास और बेसी बेबिम्ब का विकास भी सम्मिलित है। निम्न ही वह हमारे साहित्य के द्वितीय चरस के उपान्त कायी सूत्रवार हैं और उन्होंने हिन्दी भाषा का प्रवेश एवम् भार्गव रूप साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

२० प्राचार्य द्विवेदी जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य भाषा-सम्बन्धी परिष्कार है। उनके पुत्र भार्गव जी ने साहित्य की विविध विधाओं की ओर उन्मुख किया था किन्तु वे भाषा-संशोधन की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके थे। उनके मन्दस के सभी लेखकों में पर-विन्यास और वाक्य विन्यास प्रादि की अनेक धुष्टियाँ मिलती हैं। इसके लिए उन्हें विशेष शोषी भी नहीं छुड़ाया जा सकता क्योंकि काम करने को धुन में उन्हें इस बात का कोई धनकाश ही नहीं था कि वे नावा सुभार की ओर ध्यान दे पाते। भाषा-शुद्धि का आम्बोसन उही धर्म में प्राचार्य द्विवेदी जी ने ही आरम्भ किया। इसके लिए उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका को अपना प्रयोग प्रारम्भ बनाया। वे स्वयं बहुत सोच-समझ कर निकले व और लेखकों को होश-इबाध पुस्तक कर सिखाने की प्रेरणा देते रहते थे। भाषा के जो बाटी के साहित्यकार हैं उन्हें उन्होंने प्रगुली पकड़ कर बलना सिखाया था। वे अपने सम्पादन कथ में बड़े प्राप्य लेखों और रचनाओं की एक-एक पंक्ति और अर्थ-योजना को ध्यानपूर्वक पढ़ते और उनका उचित परिष्करण करने के पश्चात् ही उन्हें पत्रिका में प्रकाशित करते। अनेक बार तो उन्हें लेखकों के वाक्य-विन्यास और अर्थ-विधान का समुल कर्माकर्म करना पड़ता था। यह उन्हीं की छावना का फल था कि स्तुति कही जाने वाली हिन्दी अर्थ नागरिकों की भाषा बन सकी और धीरे-धीरे उसने अपना औरबपुर्ण स्थान प्राप्त किया। द्विवेदी जी की वह सेवा वस्तुतः अमूल्य है और उसका भाषा-साहित्य के इतिहास में एक स्थिर प्रतिमान बन गया है। उनका कहना था कि आसोचक काव्य-निरूपण के साथ-साथ भाषा परिष्कार को भी अपना कर्तव्य समझे और वस्तुतः उन्होंने स्वयम् भाषा शिक्षक के रूप में उसका पूर्ण पालन कर हिन्दी को निश्चित बलि प्रदान की।

विषय-व्यापकता और समासोचनागत बेबिम्ब

२१ द्विवेदी जी की समासोचना न हमारे प्राथमिक साहित्य की अनेक विषयों की व्यापकता प्रदान की है। एक प्रकार से देखा जाय तो प्राथमिक युग में जो साहित्य-विधाओं की अनेककता प्रवृत्ति हो रही है उसमें द्विवेदी जी की साप्ताहिक का प्रयोग है। वं कुछ सम्पादक होने के साथ-साथ हिन्दी संस्कृत अथवा मराठी और बंगला प्रादि साहित्यों के विषय वे और उक्त साहित्यों के अन्तगत अविश्वस्त ज्ञानकोष से हिन्दी भाषा के साहित्य की भी अविश्वस्त करना चाहते थे। उन्होंने सरस्वती के प्रत्येक पंक्ति में साहित्य-शुद्धि के लिए अविश्वस्त परामर्श और आदर्श प्रदान करने का नियम सा बना दिया था। उस समय बंगला और मराठी का साहित्य भी अविश्वस्त सम्मान था और वे उन साहित्यों के आचार पर हिन्दी को भी सम्मान बनाने की प्रेरणाएँ निरन्तर देते रहते थे। संस्कृत की अपार साहित्य-निधि और अंग्रेजी की अत्यन्त साहित्य उद्योग के हिन्दी साहित्य के उपरान्त सामग्री के अति लक्षों के सुजन का अभाव उन्होंने अपनी समासोचनाओं में किया व आम जन कर हमारे साहित्यिक सरकर्म के कारण बने। यह कहना किचित्मात्र भी प्रतिपद्योक्तिपूर्ण नहीं है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य की सभी प्रकार के विषयों से परिपूर्ण बना कर विद्यालोका में उपस्थित कर दिया। भाषा पत्र-पत्रिकाओं और समासोचनाओं में अति कर्मों का हव विकास पाते हैं, उनकी भूमि विद्या द्विवेदी जी की विद्याभाई हुई है। अथवा अपने अन्तर्गत में वह साहित्य की विषयगत जो अन्तर्गत प्रदान कर गये हैं, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

२२ प्राचार्य द्विवेदी जी की समासोचनाओं के मूल में अनेक प्रकार की विशेषताओं का

समावेश है। वे किसी से दब कर बसने वाले साहित्यकार न थे। अतः उन्होंने समालोचना-साहित्य में जो कुछ भी लिखा, पूर्ण निर्भीकता के साथ लिखा। वे पहले अपने आलोच्य विषय का यथासक्ति मन्थन कर उसके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बना लेते थे और तत्पश्चात् तथ्यसाक्षिणी शक्ति द्वारा अपने मन्थनों का स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्तीकरण कर देते थे। उनकी यह निर्भीकता उनकी सभी समालोचनाओं में प्रतिबिम्बित है। निर्भीकता की यह कृति कहीं-कहीं पर तो इतनी अधिक बढ़ जाती थी कि वे प्रतिपक्षी पर कटु प्रहार करने से भी नहीं चूछते थे और उसकी बोधोन्मादना बिना किसी हिपकिचाहट के अपने दृष्टिकोण से प्रकट कर दिया करते थे। जिसकी पढ़ कर सहृदय पाठक अनेक बार तिलमिला उठते थे।

१ द्विवेदी जी ने अपनी विचारधारा को प्रबल शक्तियों में व्यक्त करने की प्रयत्नशक्ति थी। उनका अपना मानसिक बरातन था। बिना साहित्यकारों की कृतियों में वे उसका परिपाकन नहीं पाते। उन पर वे बरस पड़ते थे। ईमानदारी तो उनमें इतनी अधिक थी कि वे सत्य का भोजन किसी भी शब्दा में उचित नहीं समझते थे। छपाबादी कवियों से उनकी प्रारम्भ ही से नहीं बनी और वे अन्त तक उनके काव्य-सौष्ठव से अप्रभावित रहे। उन्होंने उनकी काव्य रचनाओं पर सरस्वती पत्रिका में सर्वत्र अपने विचार बिन्दु से समीक्षण किया। ऐसा करते समय उन्होंने हास्य और व्यंग्य की सूँची को भी अपनाया। जिससे वह उनकी यह निश्चित विचार-सरणी उनकी द्वितीय विशेषता कही जा सकती है। सरस्वती पत्रिका की पुरानी प्रतियों में प्रकाशित द्विवेदी जी की समालोचनात्मक साम्यताओं का एक स्पष्ट लेखा जोखा मिल जाता है। उन्होंने साहित्य के स्वल्प विज्ञान को जिस खात्रीयता और मुश्किल सम्पन्नता से बोधा-विचार उन्नीचे के अनुक्रम उसकी प्रतिबिम्बित की। वे एक ही बात को पुनः-पुनः कर अनेक प्रकारों में अभिव्यक्त किया करते थे जिसका मूल उद्देश्य यही होता था कि पाठक उनके भावों के उन्मेष-स्वप्न तक पहुँच जाय और उसे किसी प्रकार की ललम न रहे। वे स्वयम् धारण्य स्पष्टवादी और निर्भीक थे और साहित्य-समालोचना में भी ऐसे ही आयोजन के भाकाँधी थे। उनकी साम्यता सुचारवादी और पुनरुत्पन्न काल की थी किन्तु उसकी एक प्राचीन परम्परा और परम्परा भी थी। वे मध्यम श्रेणी के समाज का नेतृत्व करने वाले साहित्यकार थे और उनकी उद्भावनाओं में धारण्य का दृष्टिकोण सर्वत्र युग्मित रहता था। उन्होंने अपनी धमर गाणी से साहित्य-संसार को जो अनेक उपलब्धियाँ प्रदान की हैं, उनका स्थान सर्वत्र प्रमुख्य रहेगा इसमें कोई शक्य नहीं।

११ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती का सम्पादन करते हुए सम्पादकीय टिप्पणियों स्वतन्त्र समालोचनात्मक निबन्धों साहित्यिक कवि वर्णनों ऐतिहासिक निबन्धों और सामयिक विचारधाराओं को लेकर जिस समालोचना-साहित्य का निर्माण किया है उसका स्थायी महत्त्व है। इन समीक्षाओं से द्विवेदी जी का प्रखर व्यक्तित्व और सुसागरकारी प्रभाव का सहज ही पता चल जाता है। विविध कालों में उन्होंने सन् १८९१ ई. में श्री हर्ष निखिल हिन्दो पित्रावली पृथीय भाग की समालोचना १९ ई. में श्री हर्ष-निखिल नैपथ्यपत्रिका नामक संस्कृत महाकाव्य की परिपाद्यत्मक समालोचना (नैपथ्य चरित चर्चा नाम से), सन् १९११ ई. में लाला सीताराम-कृत कामिदास के कुमारवम्भक मेखलुत और रघुवंश की अनुवाद भाषा को लेकर व्यपपूर्ण टीकी में हिन्दी कामिदास की समालोचना सन् १९११ ई. में नाट्यशास्त्र कल्प में ऐतिहासिक समालोचना और सन् १९१३ ई. में 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' टीका के प्रथम पुस्तक रूप में हुआ। 'रसज्ञ रजन' (सन् १९१२) 'कामिदास और उनकी कविता' (सन् १९१२) 'मुक्ति संकीर्तन' (सन् १९२२) 'साहित्य संवर्धन' (सन् १९२४) 'साहित्य धीकर' (सन् १९२६) 'समालोचनात्मक' (सन् १९२८) 'समालोचनात्मक' (सन् १९२८) 'समालोचनात्मक' (सन् १९२८) आदि उनके सरस्वती में विभिन्न विधियों में

प्रकाशित निबन्धों के संग्रह हैं, जिनमें उनका समासोचक व्यक्तित्व भी प्रस्फुटित हुआ है। इनकी समासोचनाओं का एक वर्ग साहित्यकारों और विद्वानों की जीवनी प्रस्तुत करता भी रहा है, जिसमें हल्की-फुल्की समासोचना-क्रिया का समावेश हो सका है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने कानपुर के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के स्वामताध्यक्ष पद से सन् १९२३ ई. में जो भाषण दिया था उसका भी समासोचना-क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्व है। उपर्युक्त कृतियों और संकसनों के सम्पन्न हो द्विवेदी जी की समीक्षात्मक साम्यवादी और दृष्टिकोणों का ज्ञान बढ़ी परसत्तापूर्ण क्रिया जा सकता है।

शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक पक्ष में नवीन प्रस्फुरण

३२ आचार्य द्विवेदी जी वस्तुतः एक ऐसे आस्थापीय समासोचक थे जो परम्परा युक्त साहित्य प्रतिमाओं को उबार पावना से ग्रहण करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। उनमें आचार्यत्व के अनुकूल सम्बन्ध-मन्त्र-प्रवृत्ति आस्थाओं की भावना और टीका तथा सूचित पद्धति का भी स्वल्प मिश्रता है। उनका सैद्धान्तिक निष्पत्त्य संस्कृत के काव्य-मन्त्रांश 'साहित्य-दर्पण' और 'भक्त्यालोचन' जैसे ग्रन्थों की उपजीव्य बना कर हुआ है जिसमें समीक्षा की नवीन सम्भावनाओं को ग्रहण करने का भी प्रत्याशित प्रयास रहा है। वे अपनी समासोचनाओं में युग और परिस्थिति का भी ध्यान रखते थे और उनकी दृष्टि में समासोचना भी साहित्य निर्माण की भाग्यशून्य प्रेरणा बन सकती थी। यही कारण है कि उन्होंने अपनी समीक्षाओं द्वारा वृत्त साहित्य-सूचन का अनेक विद्याओं में मार्ग-दर्शन कराया। 'कवि बनने के सापेक्ष साधन' 'कवि और कविता' बीचक समासोचक निबन्धों में उन्होंने संस्कृत के 'काव्य-मीमांसा' आदि महासूत्र-ग्रन्थों के आधार पर आस्थापीय निष्पत्त्य किया तो 'कवियों की जन्मजात-विषयक उदासीनता' जैसे समासोचनात्मक निबन्धों से काव्य के प्राचीन उपाख्यानों को भी नवीन दृष्टि से संजोने की प्रेरणा दी जिसका प्रतिक्रम हमें पुनः भी के 'साकेत' नामक महाकाव्य में मिलता है। संक्षेप द्विवेदी जी ने समारम्भित नैतिकता और सुचिन्तित-सम्पन्नता के भाव इतनी अधिक मात्रा में थे कि उनका व्यापक और बम्प्योर प्रभाव हमें उस युग के रचनात्मक और समासोचनात्मक साहित्य पर मिलता है और यदि वह कह दिया जाय कि वह प्रभाव भाव भी सर्वथा क्षीय नहीं हुआ है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

३३ आचार्य द्विवेदी जी की समासोचनाओं का सैद्धान्तिक पक्ष तो अत्यधिक उमर हुआ था ही किन्तु उसका प्रयोग-वक्त भी हीन कोटि का न था। उनकी व्यावहारिक समासोचनाओं से व्याख्या विस्लेषण और निर्णय की अपूर्व प्रज्ञा प्राप्त होती है। उनकी समीक्षा का एक निश्चित प्रतिमान था जिसमें पाठ्यार्थ प्रणामी की अपेक्षा भारतीयता के प्रति अधिक झुकाव था। वे बार-बार अपनी साम्यवादी का स्पष्टीकरण करते हुए आलोच्य कृति या रचनाकार की विशेषताओं का उदाहरण करते थे। यदि उन्हें अपने मानसिक संस्कार के अनुकूल आलोच्य विषय मिल जाता तो वे मद्गद होकर अत्यन्त भाव-प्रबल होती में उसका निरूपण करते थे। और यदि उनको मानसिक संस्थिति के विपरीत विषय पर ही लिखना पड़ता तो वे उसकी कटु आलोचना करने में कोई कसर नहीं रखते भले ही उन्हें अनेक स्वार्थों पर मर्यादा का भी समीक्षात्मक ही नहीं न करना पड़ता। इसका प्रमाण उनकी आलोचक के आवाजाही कवि और उनकी कविता विषयक समीक्षा कही जा सकती है।

३४ द्विवेदी जी अविशिष्ट निबन्धों और समासोचना-ग्रन्थों के रूप में अपनी विद्वत्भाव

१ 'संस्कृत' अंक १९१४ ई. में भारत-भारती की समासोचना।

२ 'आद्य नव आदर' 'संस्कृत' अंक १९१३ ई.।

पाप का विवेचन किया है उससे पता चलता है कि वे साहित्य के कोरे शास्त्रीय सीमांक हो नहीं थे वरन् उनमें काव्य के सौन्दर्य-ग्रहण की भी क्षमता थी। उन्होंने कवियों की जो जीवनियाँ प्रस्तुत की हैं उनमें उनकी ऐतिहासिक समालोचक-दृष्टि का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है। इसी प्रकार वे स्वयं-स्वयं पर दो समान भाव-धाराओं के कवियों की तुलना भी करते पाते हैं, जिनसे उनकी तुलनात्मक तथ्य-निर्कषणी प्रकृति और मूल्यांकन-शक्ति का भी पता चलता है। उनकी समालोचनाओं से हिन्दी साहित्य को एक बड़ा साम यह भी हुआ है कि हमें उसी समय में हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य की बेमरबूर प्रवृत्त सामग्री का सामान्य परिचय मिल गया है जिसकी प्राचीनता और मुष्ठा से हिन्दी साहित्य-व्यंजन और समीक्षण को भी सहायता मिलती रही है। संस्कृत के कवियों और कृतियों को लेकर स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में समालोचना प्रस्तुत करने का पर्याप्त योग्य धारार्थ द्विवेदी जी को ही है। उनकी समालोचक-दृष्टि संस्कृत के धर्म महाकाव्यों के हिन्दी-अनुवादों की प्रवृत्तियों और भूलों पर तो विशेष रूप से गई थी जिनका विवेचन उन्होंने धरेक बार दो अत्यन्त कठुतापूर्ण चर्चों में किया है। उदाहरण के लिए साक्षात् सीताराम के कामिनाथ के चर्चों के अनुवादों को लिया जा सकता है।

समालोचना को सीमाएँ और सर्वसात्मक प्रवृत्ति

१२ यह सब कुछ होते हुए भी धारार्थ द्विवेदी जी की समालोचना को किसी विशेष प्रीक परावर्तन पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें केवल समालोचना का क्रिओर कण ही फूट सका है। उन्होंने कवियों की परिचयमूलक समालोचनाएँ मिलीं किन्तु उनसे तरफासीन गुण और परिस्थिति का विशद और यन्त्री समीक्षण नहीं हो सका। इसी प्रकार वे काव्य के अन्तर्गत में प्रविष्ट होकर कवियों की अंतः-प्रकृति की खानबीन भी नहीं कर सके। उनका प्रमुख कार्य काव्य के शरीर पद का विवेचन करने की ही ओर अधिक रहा और वे काव्य के आत्मपक्ष को और बहुत कम छूक सके। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनका साप्ता-मुबार-आलोचन है। फिर भी यह मानने में तो कोई संकोच किया ही नहीं जा सकता कि धारार्थ द्विवेदी जी वस्तुतः एक युग-संस्थापक साहित्य-कार थे और उनकी प्रतिभा से जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के रचनात्मक साहित्य को प्रत्येक प्रकार की नूतन विषय-सामग्री और व्यापक दृष्टि की उपस्थिति हुई है उसी प्रकार उनके महात्मा व्यक्तित्व से समालोचनात्मक-साहित्य भी बहुत कुछ पा सका है। सबभूष धारार्थ द्विवेदी जी वर्तमान हिन्दी समालोचना का एक व्यापक अग्रदूत निमित्त कर गए थे जिसकी रूप रेखा में रग भरने का कार्य उन्हीं के गुण की उपर्य धारार्थ व रामचन्द्र शुक्ल ने किया किन्तु उससे द्विवेदी जी के महिमामय योग में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं पाती।

१३ धारार्थ द्विवेदी जी ने प्रबलतः सन्नाहक रहते हुए भी समालोचना-क्षेत्र में अपना एक भावार्थ रखा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उन्होंने समालोचना के न्याय-यन्त्र का समर्थन करने के पीछे अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों की कोई परवाह नहीं की। उनमें अन्य सम्पादकों की नाति कापमूसी प्रमत्ता भी-इकरी की भावना विरक्त नहीं थी। सब तो यह है कि वे सरस्वती-सम्पादक का पद भी बड़ी साधोमता से ग्रहण कर सके थे। यह उनकी समालोचक-प्रज्ञा का ही प्रतीक है कि उन्होंने अपनी पश्चिमा में जहाँ रचनाओं को स्थान दिया जो उनके विवेक से समुचित-स्तर की होती प्रमत्ता सामान्य सद्योचन और परिवर्तन के परवाह सह्य प्रकाशनोपयुक्त बना लिया जाता। उनका यह समीक्षण काय सर्वसात्मक प्रकृति का प्रतीक है जिसका एक स्वरूप उनके हिन्दी साहित्य-मुरवीर समालोचक काशी का साहित्य-मुरवीर जैसे व्यंग्य चित्रों से प्राप्त किया जा सकता है।

१ सरस्वती ११ २ एफ ११।

२ श्री. एम् ११ ३ एफ २१५।

३ श्री. एम् ११ ४ एफ ४१।

१७. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि भाषा-सुधार प्रान्थोसन द्विवेदी जी की समासोचना का एक महत्वपूर्ण ध्येय है। इसका सुब संवासन उन्होंने सरस्वती पत्रिका को ही अपना प्रयोग प्रस्तुत बना कर किया। वे बड़े से बड़े लेखक की भाषा-सम्बन्धी प्रभुत्वियों को समा नहीं करते थे। उन्होंने स्वरपठ लेखन श्रुतियों के संशोधन से लेकर अन्ततः लेखन-श्रुतियों तक की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान दिया और परिश्रम करते हुए भाषा-विषयक जाँचबी की मिटाये का प्रयत्न किया। 'सरस्वती' पत्रिका की पृष्ठानों में संकलित सदा सर्वनाम विशेषण किया विशेष्य निम धर्म्य वचन कारक सभि समास उपसर्ग प्रत्यय आकांक्षा योम्यता और सन्निधि जैसे विषयों से लेकर बाध्य प्रत्यय पठेस कवन मुहावरे तथा शोकोक्तियों तक संशोधन किये हैं।^१ इतना ही नहीं उन्होंने लेखकों द्वारा प्रयुक्त कठिन संस्कृत शब्दों के स्थान पर सरल शब्द धरवी धरवी तथा धरवी के स्थानाप्रभ हिन्दी शब्द और प्रान्तीय प्रयोगों के स्थान पर प्रामाणिक शब्दों का प्रयोग कर भाषा-सुद्धि के प्रादोशन को बहुत धाये बढ़ाया था।^२ यह प्रान्थोसन उनकी समासोचना का मुख्य ध्येय बन कर प्रसर रहेगा। यदि यह कह दिया जाय कि द्विवेदी-मुन के उत्तरवर्ती समय में धाने वसकर भाषा को शो प्राबलता और परिष्कृति का शीघ्र प्राप्त हुआ उसके पीछे प्राचार्य द्विवेदी की प्रनवरत साधना थी तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

१८. यद्यपि प्राचार्य द्विवेदी अपनी समासोध्य कृतियों में छूब प्रतकार और व्याकरण विषयक निरूपण को महत्त्व देते थे किन्तु गुण-दोष-गिरीक्षण की परम्परा के निर्वाह नाम को ही वे सच्ची समासोचना नहीं समझते थे। उन्होंने समासोपकों के कर्तव्य का विस्लेषण करते समय यह बात बार-बार दोहराई है कि वे केवल समासोचना के बाह्य विधान तक ही सीमित न रहें किन्तु इस बात का भी विचार करें कि समासोध्य कृति मनोद्वन धिलस धावर्ष उपयोविता धारि की दृष्टि से भी किती काम की बन सकी है या नहीं। उनका तो हक मज था कि समासोपक को निष्पन्न भाव से समासोध्य विषय के गुण-दोष प्रवर्तन में किती भी प्रकार की कोई दृष्टिक नहीं करनी चाहिए। वे प्राचीन और मधीन कवियों की शोपोद्भावनाधों को भी निस्संकोच प्रकट करते थे क्योंकि उनका विस्वास था कि ऐसा न करने पर साहित्य और समाज के क्षमाए में प्रबरोध उत्पन्न हो सकता है। वे धरने मन्थ्यों पर समुचित विवेचन और विस्लेषण के परपाद ही पहुँचते थे।

समासोचना का आधार और अभ्यास प्रवृत्तियाँ

१९. प्राचार्य द्विवेदी जी की समासोचना का एक मौलिक प्राधार है। वे जिस रुप में प्रवर्तीछे हुए थे वह नैतिकता प्रादर्श और सुवचि के प्रत्यधिक प्रभुत्व था। यही कारण है कि उन्हें ऐतिहासीन काव्यपारा और बखलों को रचनाएँ प्रत्यन्त होनकोटि की प्रतीय हुई। उन्होंने ऐतिहासीन काव्यकारों को सुब धाये हावी किया और उनके नायिका मेव तथा प्रभु-वर्तन का गुन कर मझाफोड़ किया।^३ वे साहित्य की व्यापक विधाधों को हिन्दी में देखने के प्राकाभी थे यत उन्होंने अपनी समासोचना का एक सज्जनधोस दृष्टिकोण भी उपस्थित किया जो सध युव की प्रभुत्वता में बराबर उपयुक्त जेथा। उनकी हड़ता और निष्पक्ष कृति का इससे धनिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि उनकी समासोचना के सिकार बने हुए उनके धनेक प्रात्मीय वन भी उनके प्रबल विरोधी और प्रभु बन वय पर प्राचर्य ने उनकी कोई परवाह नहीं की। यहाँ तक कि धनेक बार तो उनका प्रातरक्षण भी कठिन हो गया और उन्हें अपने धर्म्यन कथ में धनेक प्रस्तावन तक रखने पड़े।

१. द्य प्रकम्बनु सिंह 'महर्षि-प्रवर्तन द्विवेदी और कम्बनु' प्रभु संस्करण इ.स. १९१२ पृ. १।

२. द्य प्रकम्बनु सिंह 'महर्षि-प्रवर्तन द्विवेदी और कम्बनु' प्रभु संस्करण इ.स. १९१२ पृ. १००।

३. उत्तरार्ध पृ. १६१ इ.स. १९१२।

४ आचार्य द्विवेदी जी की समासोचनाओं में वहाँ एक धोर उनकी प्रखरता और कटुता की वही दूसरी धोर उनमें रससिक्तता और भावुकता का भी समावेश था। वे अनुशासन के पक्ष में, पर मुण्डासूक्तता भी उनमें हीन-कोटि की न थी। प्रयास के साहित्यिक मेले में उन्होंने जो अपना नाम-प्रवेश कृतव्य दिया था^१ वह उनके कर्तव्य में बलवत् कठोर किन्तु भावना में कुसुमाद्यपि सुहृद हृदय की मनोवृत्तियों का आभास देता है। सच तो यह है कि द्विवेदी जी की समासोचना की अपनी एक परिधि थी और वे उसी के अन्तर्गत कवियों और रचयिताओं के कव्यमुक्तों का परीक्षण करते थे। उनके पास एक सांख्यीय आधार था जो संस्कृत काव्यशास्त्र से मुख्यतः अनुप्राणित था और उसके द्वारा उन्होंने अपने विवेच्य कवियों और उनकी कृतियों का समासोचन किया। उन्हें उक्त आधार के अनुकूल यदि समासोच्य विषय में मुक्तों का अन्तर्भाव प्रसिद्ध हुआ तो उसकी उन्होंने प्रशंसा की थी और यदि वे उनके मानदंड में अनुकूल न पड़े तो उनकी निन्दा भी कर दी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उनकी समासोचना में साहित्य की प्रत्यूक्ति के एकांत रहस्यों के उन्काटन का वह नुकूलन प्रदात नहीं था जिसके कारण समासोचना अत्यन्त सीधेसिधे की और शास्त्र गान्धीय से युक्त होती है। उनकी सेवा ने रचनात्मक साहित्य को प्रेरणा देने के लिए और विद्यमान साहित्य का परिष्कार करने के लिए भित्ति अधिक उचित समझ उतना ही सिद्धा। समासोचनामय गान्धीय और सुहृद विरोधपण का कार्य तो उनके बलवत्तरीन लेखक एवं 'रामचन्द्र सुन्दर' ने अपने बल कर किया जिसके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में आचार्य द्विवेदी जी का कथ हाथ नहीं था।

मानसिक स्तर और समासोचना-कार्य

४१ आचार्य द्विवेदी जी की समासोचना द्वारा उनके मानसिक स्तर और बहिर्जन का आभास भी मिल जाता है। ऐसा लगता है कि वे प्रारम्भ में अंग्रेजी शासन के प्रसङ्ग के किन्तु कामाक्षर में उनकी चारखा बहलती गई। उन्होंने हिन्दी-शिक्षावर्षी 'पुत्रीय भाष' की जो समासोचना लिखी है, उसके उनके अंग्रेजी शासन के प्रति बने हुए आस्था-भाव का पता चलता है। अपने बल कर उसमें परिवर्तन के लक्षण परिपक्वित होने लगते हैं। उनकी हिन्दी शिक्षावर्षी 'पुत्रीय टैबर' की समासोचना का भी उनके समासोचना-कार्य के प्रारम्भिक प्रयासों में स्पष्ट महत्त्व है, क्योंकि उसके द्विवेदी जी के उद्योगमान समासोचक-स्वरूप का क्रमिक विकास समझने में पर्याप्त सह्यता मिलती है। यह पुस्तक उत्तर प्रदेश के लखीमो स्कूलों में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत निर्धारित हुई थी जिसकी सरोपता की ओर आचार्य का ध्यान एक अध्यापक महोदय ने धाकट किया था और जिसकी प्रेरणा लेकर द्विवेदी जी ने उसकी कटु समीक्षा की।^२ कहना होगा उसकी समासोचना से इतिहास प्रेस की पर्याप्त हानि भी सहन करनी पड़ी किन्तु द्विवेदी जी को इससे क्या? वे तो साहित्य के पारसी थे और साहित्य के पावन यन्त्र में धर्म की शोषोद्भावना का प्रवेश निषिद्ध करना चाहते थे।

४२ द्विवेदी जी के समासोचक-स्वरूप को समझने के लिए उनका और 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' का सम्बन्धोन्मेक करना भी आवश्यक है। वास्तव में वेका काय तो सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन सभा की प्रेरणा से ही हुआ था और द्विवेदी जी को उसके सुयोग्य सम्पादन का कार्य भी सभा के कार्यकर्ताओं के संकेत पर ही मिला था किन्तु अपने बल कर उनमें वारस्परिक विरोध हो गया। बात यह हुई कि सभा ने सन् १९०३ में अपना सोन-विबरल प्रकाशित किया जिसका द्विवेदी जी ने फरवरी १९०४ की सरस्वती में प्रतिवाद किया और बतलाया कि वह किन्तु अधिक

१ सरस्वती, मय ४ सन् १९०३, पृष्ठ १३४।

२. "सहित-संज्ञा" पत्रिका १९३३, पृष्ठ ११।

प्राप्तिपुष्ट है। उस विवाह का कम वैयक्तिक प्राप्तेपों तक उत्तर धारा थीर जिसके सत्य बने बाबू दयामुन्दर दास और प्राप्तेपों द्विवेदी जी। द्विवेदी जी ने समा की जिन सोचों की कटु प्रालोचना की थी उनकी प्रत्यक्षतात्मक प्रत्यक्षता 'प्राप्तेप' इन्डियन पीपुल एड्युकेट तथा इन्डियन स्टूडेंट नामक पत्रों में बड़ी सज्जद के साथ प्रकाशित की। फिर क्या था द्विवेदी जी का रोप और प्रतिक बढ़ गया। उन्होंने समा के उस पत्र का हवाला देकर अपनी व्यंग्यपूर्ण कृतियों में से समा के इस पत्र के निम्न की निम्न की जिससे समा ने अपने विषय में ऐसे सकारात्मक प्रकाशित करने से 'सरस्वती' को रोका। बात बढ़ गई इन्डियन प्रेस के स्वामी श्री चिन्तामणि जोष ने इसके निर्णय का उत्तर दामिस्त्र द्विवेदी जी पर छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि सरस्वती का समा से सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया। द्विवेदी जी ने इस विच्छेद के अवसर पर फरवरी ११ १ की सरस्वती में अपना विद्वत्पूर्ण वक्तव्य 'धनुमोद्यम का घण्ट' के नाम से छापा जिसमें यह स्पष्ट किया कि उनका समा प्रकाश उसके संपादकों से कोई विरोध नहीं है अपितु वे तो जो भी कहते हैं वह हिन्दी भाषा और साहित्य के कल्याण और उत्कर्ष की भावना से ही प्रेरित होकर। कहना होता इस प्रकार समा और सरस्वती का यह झगड़ा बाबू दयामुन्दर दास और द्विवेदी जी के वैयक्तिक प्राप्तेपों से कम बोझिल नहीं था। 'भारतविश्व' के पंक में बाबू दयामुन्दर दास ने द्विवेदी जी से धमा-धामना करते हुए मेघ भिन्ना तो द्विवेदी जी ने 'धीनगिधान जी की धासीनता' शीर्षक लेखमात्रा निकाली जिसके बीच-बीच में दीर्घ व्यंग्यत्मकता थी थी। इस लेखमात्रा का परिशिष्ट स्वयं 'कीर्तिस्य कुठार' के नाम से काही नाबरी प्रचारित-समा के कमा प्रबल में सुरक्षित है। यह विवाद अत्यन्त दुःखपूर्ण-सा था जिसका घण्ट समा ने द्विवेदी जी की ७ वीं बरगाँठ पर द्विवेदी अभिनन्दन प्रबन्ध का प्रकाशन कर दिया और द्विवेदी जी ने अपनी समस्त साहित्य-निधि समा को अर्पण कर उसकी समप्ति की। कहना होगा इस विवाद के फल में समा और द्विवेदी जी के सौदासिक मतभेदों का ही घुट था अथवा दोनों एक-दूसरे की साहित्य साधना और सेवा-वृत्ति के अन्तर्गत प्रसंगिक थे। स्वयं द्विवेदी जी की कटु प्रालोचनाओं के लिए खेद हुआ था पर वे क्या करते! सम्पादक और समालोचक का कठोर कसब्य उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य किये हुए थे। सादा यह कि द्विवेदी-जी और दयामुन्दर दास जी का यह विवाद भी द्विवेदी जी की समालोचना-शक्ति को समझने के लिए एक अत्यन्त प्रासंगिक साधन है और इसका भी उसके विकास-क्रम में बड़ा महत्त्व है। इसी प्रकार द्विवेदी जी और श्री जी एम. लाल का झगड़ा भी हिन्दी-समालोचना के घुटघुट स्वरूप की भ्रमक उपस्थित करता है। हाँ यह बात दूसरी है कि सबसे समालोचना के मुष्ट निर्माण का प्रयत्न किसी परिपुष्ट प्रतिमान में नहीं हो सका है।

'हिन्दी-नवरत्न' की प्रालोचना समालोचना का विवाद स्वरूप

४३ द्विवेदी जी ने जनवरी-फरवरी सन् १९१२ की 'सरस्वती' पत्रिका में मिमक्राफ़ुमों द्वारा निहित हिन्दी-नवरत्न नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ की अत्यन्त व्यापक और विस्फोटारामक समीक्षा की जिसके प्रारम्भ में पुस्तक-सम्बन्धित साधारण बातें^१ कह कर उसके गुण-दोषों का विचार विवेचन किया गया है। इस समालोचना में द्विवेदी जी की व्यंग्यप्रधान सीरी और कटुतापूर्ण प्रहार की अत्यन्त स्पष्ट-स्वच्छ पर गिरती है। विद्वान् समालोचक ने पुनः-पुनः के रूप में विमर्शपूर्ण की मान्यताओं का ठाकिक सम्मेलन किया है। ऐसा करते हुए द्विवेदी जी ने समालोच्य कवियों के

१. द्विती कवयित्री कवयित्री जल-कुलार्थ १९०० ई।

२. वं. दयामुन्दर दास ने श्री जी एम. लाल की विवाद-प्रवृत्ति की प्रालोचना 'प्रेमवर्ती' अक्टूबर १९१४ में लिखी थी।

३. 'समालोचना समुच्चय' हिन्दी नवरत्न की प्रालोचना १९३३ ई।

प्रयोग में विवेचित उन अनेक उदाहरणों की भी अपनी इस समीक्षा में स्थान दिया है, जिन पर विभिन्न बन्धुओं ने निर्मयतापूर्वक अपनी निर्णय दिया था। द्विवेदी जी ने उनकी निष्कारता बड़ी सुक्ष्मदर्शिता विधि से सिद्ध की है।^१ उन्हें न केवल विभिन्नबन्धुओं की समीक्षा-पद्धति ही दोषपूर्ण मनी है, अपितु वे ऐसे अनेक उदाहरण भी देते गए हैं जो 'हिन्दी नवरत्न' में संक्षिप्त ठप्पों और मान्यताओं की प्रशंसा स्फुट करते हैं। इतना ही नहीं पुस्तक में दिए गए कवियों के काव्यमय चित्रों की निष्कारता पर भी द्विवेदी जी ने व्यंग्य किया है। विभिन्नबन्धुओं ने अपने जिन प्रतिमानों के आधार पर हिन्दी नवरत्नों का खेती-विषय बहुचर्चा और सप्रसंगी के नाम से किया था वह भी द्विवेदी जी को प्रत्यक्ष प्रकट है। उन्हें तो विभिन्नबन्धुओं के इस समीक्षण में कोई ऐसा ग्रीक आधार भी नहीं मिलता जिसको लेकर यह कह दिया जाय कि हिन्दी नवरत्न के कवि ही बस्तुतः हमारे साहित्य के सच्चे नवरत्न हैं और वे कवि उनकी समता में हीन सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की खेती विमानन-पद्धति को किसी भी साहित्य की समासोचना का उपवीक्ष्य बना कर चलना खतरे से काफ़ी नहीं है इसका विवेचन द्विवेदी जी ने सुचारु रूप से अपनी इस व्याख्यात्मक समासोचना में कर दिया है। इतना ही नहीं उनकी इस समासोचना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी भाषा के कुछ और व्याकरण-सम्मत प्रयोग के कितने अधिक समर्थक थे। इसका एक प्रमाण उनका यह वाक्य है—“भारत में लेखकों ने हिन्दी नवरत्न का जो सर्व मिला है 'साहित्य के नव सर्वोत्तम कवि उनके भी नव' और 'सर्व' छन्द परस्पर विरोधी है।

४४ द्विवेदी जी ने हिन्दी-नवरत्न में प्रयुक्त 'उत्तम' शब्द के अनधिकृत प्रयोग की तो कुछ कटकर खबर की है, जिसका मूल आशय यही है कि विभिन्नबन्धुओं को इस शब्द की प्राण-शक्ति का विस्तृत ज्ञान नहीं है अथवा वे उत्तम उत्तमोत्तर, परमोत्तम सर्वोत्तम उत्तमोत्तम अति उत्तम आदि शब्दों का अर्थ-संबन्ध के अनुकूल प्रयोग करते हैं।^२ इसी प्रकार विभिन्न बन्धुओं ने गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की उत्तमता का विवेचन करते हुए जिन प्रयोगों का उल्लेख किया है, वे भी द्विवेदी जी को नहीं बचते हैं। उन्हें विभिन्नबन्धुओं की विनयपत्रिका-सम्बन्धी इस उक्ति में भी व्यर्थ का शब्द अथवा पाठ्य ही समता है कि जिन सम्बन्धी ऐसा अशुभ और भावपूर्ण शब्द हमने अब तक किसी भी भाषा में नहीं देखा।^३ इसी प्रकार बिना किसी आधारों अथवा प्रमाणों के 'कृष्ण-पीताम्बी' को बड़ा ही मिस्र शब्द कहना सम्भव १५८२ को तुलसी की बन्धुविधि निर्दिष्ट करना आदि विषयों पर भी द्विवेदी जी ने उनकी कटु समीक्षा की है।^४ मतिराम शेष बिहारी और हरिचन्द्र के विषय में भी विभिन्नबन्धुओं की जो अनेक प्रान्त मान्यताएँ हैं, उनका खण्डन भी द्विवेदी जी ने किया है।^५ वे इसी प्रकार अवशिष्ट रत्नों पर भी समासोचना से सकते थे यदि उन्हें उनका अध्ययन करने का भी अवकाश मिल पाता। फिर भी यह स्पष्ट है कि हिन्दी समासोचना के सर्वर्षन-काल में द्विवेदी जी द्वारा की गई 'हिन्दी नवरत्न' की इस व्यापक और व्याख्यात्मक समासोचना का बड़ा महत्त्व है क्योंकि अनेक जगह आचार्य शुक्ल जी ने जिन विराट् विवेचनाओं की अपनी आधार बनाना उनकी पूर्वाभासित प्रेरणा सम्भवतः हिन्दी नवरत्न की समासोचना में ही प्रयत्ननिहित थी। समासोचना के अन्त में द्विवेदी जी ने विभिन्नबन्धुओं के भाषा-दोष वाक्य और वाक्यांश दोष शब्द-दोष तथा अन्वयानु कटकर दोष निकाल कर इस समासोचना का उपसंहार किया है और सुयोग्य विद्वान् लेखकों को इस बात की सुसम्झति दी है कि यदि वे भविष्य में हिन्दी का इतिहास लिखें तो इन

१ 'समासोचना अनुक्रम' 'हिन्दी नवरत्न' की आलोचना पृष्ठ १३२ क.

२ जी, पृष्ठ १११

३ जी, पृष्ठ १३९ क.

४ जी, पृष्ठ १११

५ जी, पृष्ठ ११६ ११७.

दोनों को दूर करने की चेष्टा करें। अभिप्राय यह है कि 'हिन्दी नवचलन की समालोचना' हिन्दी समाजोचना के सम्बर्धन-कास (डिवेली-युग) की एक भावसँ प्रतीया प्रणाली है जिसका व्यापारमक प्रणाली के विकास-क्रम में अत्यधिक मीरव है।

दिवेली जी की सैद्यात्मिक माम्यसाएँ और उनका विवेचन

४५ बेटे तो पंडित महावीर प्रसाद दिवेली ने अपनी विभिन्न सम्पादकीय टिप्पणियों और चर्चाओं के संतर्गत समालोचना के सैद्यात्मिक स्वरूप का निरूपण किया था किन्तु रसक रंजन उनकी ऐसी रचना है जिसमें वे सारसूत विधान में संक्रमित होकर उपस्थित हुए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दिवेली जी के कविता और छंद काव्य भाषा काव्यार्थ-सौरस्य और काव्य-विषय प्रादि पक्षों पर विचार व्यक्त हुए हैं। दिवेली जी के मतानुसार काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसमें वच और पद्य दोनों का ही समावेश किया जा सकता है। वे अत्यन्त को ही काव्य नहीं मानते क्योंकि इनमें काव्य के सत्यों का संकटन होना आवश्यक नहीं है। अतः तो उनकी दृष्टि में रचना-प्रणितियों में कथों या मात्राओं की नियमित संख्या है, अतः वह पद्य व्यवस्था कहा जा सकता है पर काव्य नहीं कहा जा सकता। उनके विवेचन से यह भी प्रकट होता है कि वे शिख कवियों के लिए छन्द-योजना का कोई प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करते किन्तु साधारण कवियों के लिए विषयानुकूल छन्द-योजना आवश्यक समझते हैं। इसके लिए उन्होंने संस्कृत के उन कवियों की प्रशंसा की है जो अपनी काव्यरचनाओं में प्रयोजनानुक्रम छन्द चयन कर चले थे। उन्होंने हिन्दी कवियों को उनके प्रादर्यों को ग्रहण करते हुए चलने का परामर्श दिया है और कहा है कि वे केवल परम्परागत होहा सोरठा चौपाई, घनाक्षरी सबैसा और छप्पय प्रादि छन्दों की योजना में प्रसू होकर ही नहीं बल्कि प्रसू संस्कृत के उत्तमोत्तम कृत्यों का प्रयोग भी अपने काव्यों में करें। योजना की हिन्दी कविता में तो उन्होंने उर्दू के छन्दों को ग्रहण करते हुए चलने में भी कोई आपत्ति नहीं की है, क्योंकि उनमें वह अधिक सुतरी है।

४६ दिवेली जी ने पाठान्त में अनुप्रासहीन छन्द चिह्नों का भी समर्पण किया है। चूंकि इस प्रकार के चिह्नों का प्रयोग संस्कृत रचना और अंग्रेजी प्रादि भाषा काव्यों में हुआ है अतः दिवेली जी के मतानुसार केवल तुकबन्दी तक ही हिन्दी चिह्नों को सीमित बनाना घोरनीय नहीं है। इसके उनका यह भी अभिप्राय नहीं है कि प्रकृतित परिपाटी को सर्वथा भय करके ही चला जाना किन्तु वे इतना अवश्य उपाय समझते हैं कि हिन्दी काव्य को छन्दों की व्यापकता प्रदान की जाय। यह सब कुछ होते हुए भी दिवेली जी काव्य में छन्दों का आधेधिक महत्त्व ही स्वीकार करते थे क्योंकि उनकी दृष्टि से कविता का अन्धता या भ्रष्ट होना विशेषतः अन्धे धर्म और रस शास्त्र पर अवलम्बित है।

४७ दिवेली जी के काव्य भाषा विषयक विचार भी अत्यन्त स्पष्ट थे। वे ऐसी भाषा के प्रस्तावी थे जो पाठकों को सहज ही धर्म-बोध करा सके। विस्तृत भाषा और बुराफ़ कल्पना को वे काव्य का तोप समझते थे। उन्होंने उन कवियों की प्रशंसा की है जो बहुत विद्वान् होने पर भी काव्य रचना में सरल भाषा का प्रयोग करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में सरलता काव्य-भाषा का एक ऐसा गुण है जो कवि की रचना को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना देता है। इसके यह भी प्रकट होता है कि दिवेली जी का काव्य-क्षेत्र विषयक दृष्टिकोण लोक-जीवन की मायवार्थों के कितना अधिक निकट था।

४८ दिवेली जी ने काव्य भाषा के अन्तर्गत व्याकरण के नियमों मुहावरों तथा धर्म चयन का भी विचार किया है। उन्हें भाषा के क्षेत्र में व्याकरण के नियमों की अवहेलना तो किसी भी रूप में स्वीकार नहीं थी क्योंकि ऐसा करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है। उन्होंने

(२)

सर्वेधी मिश्रबन्धु और उनका समीक्षण-काम

(सर्वेधी एलेक्ष बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र, मुकेश्वर बिहारी मिश्र)

समालोचना-क्षेत्र में प्रवेश और ऐतिहासिक पद्धति का अनुगमन

५१ मिश्रबन्धुओं का हिन्दी समालोचना साहित्य में प्रवेश ऐसे समय में हुआ जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान कराने जैसे विषयविशेषज्ञों की दृष्टि परीक्षाओं में स्थान दिवाने तथा उसके अपार साहित्य-सम्पदा को खोज निकालने के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। यही समय काशीस्थ भावरी प्रचारिणी सभा के प्रारम्भिक वर्षों का था जब हिन्दी-हिन्दवी विद्वानों ने जैसे अपनी अद्वैत-वृत्ति का साधन बनाकर उपर्युक्त साध्यों की प्राप्ति का उद्योग किया। मिश्रबन्धु भी उनमें से थे। उन्हें इस बात का अनुभव करने में कोई विशेष बाधा नहीं करना पड़ा कि यद्यपि हिन्दी भाषा और साहित्य में देश का नेतृत्व करने की समता है, किन्तु उसे एक सुन्दर व्यवस्था प्रदान करने की भी कम आवश्यकता नहीं है। उनका भारतीय और पाश्चात्य दोनों का प्रखर अध्ययन का और वे हिन्दी-साहित्य को भी उनके समकक्ष बराबर पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यहाँ उन्होंने युव जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से मुख्यतः साहित्येतिहास का निर्माण और सोचने-समझने का सुन्दर कार्य करना समीचीन समझा। वे भावरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से सम्बन्धित रूप से सम्मिलित थे और हिन्दी-सेवा उनके जीवन का एक प्रखर इष्ट था। 'मिश्रबन्धु-विनोद' (चार भाग) और 'हिन्दी नवतरंग' जैसे विद्यालयकाल ग्रन्थों की रचना से उनके द्वारा भावी समालोचकों का खोज-समीक्षण विषयक एक प्रसन्नता प्राप्त हो सका। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी समालोचनाओं में अनेक स्थलों पर अर्थज्ञानिक अपूर्णताएँ हैं और वे समालोच्य विषय का सम्यक् रूप से संतुलित निर्वाह भी कम कर सके हैं, किन्तु उस युग में हिन्दी-समालोचना बिना परत परत पर प्रवृत्ति की जैसे उनके द्वारा निरूपण ही विकास प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि उनकी समालोचनाओं का हिन्दी-समालोचना के सर्वांगिकाल में धार्मिक महत्त्व है और उनकी उपेक्षा कर साधुनिक समालोचना-साहित्य का विकास समझ ही नहीं जा सकता।

५२ मिश्रबन्धु ऐतिहासिक समालोचना-पद्धति के प्रमुख सूत्रधार हैं। उनका 'मिश्रबन्धु विनोद' इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन्होंने अपने 'विनोद' की 'हिन्दी साहित्य का इतिहास तथा कवि-जीवन' भी कहा है, जिसके चार भागों में प्रायः पाँच हजार कवियों और साहित्यकारों का परिचय संक्षिप्त किया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९१९ में प्रकाश के ईश्वर प्रसन्न से हुआ था। यद्यपि उसमें समालोचना की ऐतिहासिक पद्धति का संतुलित निर्वाह बहुत कम हुआ है किन्तु अनुसंधाताओं और साहित्य-प्रेमियों के लिए यह सर्वप्रथम के रूप में सर्व सम्मानार्ह रहेगा। इसमें प्रायः और अज्ञात लोगों के ऐसे अनेक साहित्यकारों को भी स्थान दिया गया है जिनकी प्रतिभा का परीक्षण होना अभी छप है। काल-विभाजन और युग-व्युत्पत्तियों के निकाल में भी उन्होंने अपनी निजी पद्धति का प्रयोग किया है जो आज के विकासोन्मुख समीक्षण प्रतिपाद में सर्वप्रमुख और प्राबलिक नहीं कही जा सकती। वस्तुतः 'विनोद' में कवि-संग्रह की प्रवृत्ति ही पवित्र है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि उसके अनुसंधातों में पहले प्रायः २६४ कवियों का विवरण था किन्तु धर्म-धर्म बढ़ते-बढ़ते वह ढेर हजार की संख्या तक पहुँच गया। ऐसा होने का प्रधान कारण यही था कि मिश्रबन्धु बिना किसी प्रकार के निश्चित प्रतिपाद और परीक्षण के उन वर्तमानकालीन कवियों को भी अपने विनोद में सम्मिलित करते गए, जिन्होंने अपने मित्रों द्वारा दयकर स्वयम् अपना जीवन-चरित्र उन्हें लिख दिया। उन्हीं के ग्रन्थों में उनका विनोद मुख्यतया कवि-इतिहास का कथन बन गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'विनोद' का कवि-संग्रह-रूप के रूप में स्थायी महत्त्व है,

समाजोपना का सर्वजन-मान
किंतु मिश्रबन्धुओं का समीक्षण-विधान कई स्तरों पर अत्यन्त अपरिपक्व और दोषपूर्ण भी है, इस
सत्य की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।
'मिश्रबन्धु विनोद' का काल-विभाजन और नामाकरण
२३ मिश्रबन्धुओं का

१३. मिथबन्धु विनोद का काल-विभाजन और उसका दृष्टिकोण

[illegible]

बस एक पुर्न और उत्तर के समय-समय सख्त न बचाए जायेंगे सब एक इस प्रकार के काम-विमाम का कोई सब नहीं। इसी प्रकार बोड़े-बोड़े अंतर पर होने वाले कुछ प्रसिद्ध प्रसवक कवि का यह प्रमाण उसके काम में होने वाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विमाम का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए।

१४ नियमनुसार में अपने विमोह के प्रारम्भ में जो प्रसिद्ध कवि विमाम का विषयक दृष्टिकोण का भी पता लगा

१४ नियन्त्रणों से अपने विनोद के प्रारम्भ में जो धूमिका निबी है, उसके बाद समावेशना विषयक वृत्तिकोण का भी पता चलता है। इस धूमिका के द्वारा उन्होंने सामाजिक जीवन की परिधि तथा अपनी सीमाओं का विशेषण बरकत सिंह और गज बाबू में निबी है। जिन कारणों से उनका विनोद हिन्दी साहित्य के इतिहास की धूमिका नहीं ग्रहण कर सका उनका विवेचन भी उन्होंने धूमिका नाम के अन्तर्गत कर दिया है। वे साहित्य के इतिहास की सीमाएँ समझते थे पर उन्होंने उसका नाम 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' न रखकर 'मित्रवन्धु विनोद' रचना ही उचित समझा ही क्योंकि उनके मतानुसार 'इतिहास' शब्द में छोटे-बड़े सभी कवि-पूर्ण लेखकों को स्थान नहीं मिल सकता जबकि इसमें 'इतिहास' के इतर बातों का भी कबन हुआ है। फिर भी विज्ञापन लेखकों ने इसमें 'इतिहास-सम्बन्धी' शब्दावली विषयों और युक्तियों को माने का प्रयास प्रबल प्रयत्न किया है, जिसके कारण वे इसका अपना हिन्दी-साहित्य का इतिहास बना करि-जीवन भी रचना समुचित नहीं समझते हैं।

२१ बुद्धिमान-भाष में विषयमनुष्यों ने प्रत्य-विषयाण की प्रेरणा विषय-निष्पन्न वेदान्त

१. मिशनरी विनोद, प्रथम स्तर, प्रथम संस्करण का नकल, पृष्ठ २।

२. मिशनरियो विरोध, प्रथम चरण, प्रथम संस्करण का लक्ष्य, पृष्ठ १४०-१४१।

धैरी कास्तक्य भाषारपुष्ट सामग्री तथा उनका विवरण, सहायक विद्याओं के नाम, काल-विचार तथा विविध समय और उनकी बड़ा भावि विभिन्न प्रसंगों का विवेचन कर एक प्रकार से 'विनोद' की परिचयार्थक समालोचना भी कर दी है। काल विभाग के पूर्व सात अध्यायों में लिखा गया 'हिन्दी भाषा का संक्षिप्त इतिहास' उसका संक्षिप्त प्रकरण-रूप ही है। उदुपयन्त पूर्वार्म्भिक उत्तरार्म्भिक और पूर्व माध्यमिक कालों को मिलाकर 'वाहि प्रकरण' बनाया गया है जिसमें इन्हीं तीनों कालों के नाम पर तीन अध्याय हैं। धनचिष्ट छः कालों में प्रत्येक के नाम पर एक प्रकरण है, जिसमें पचासतर अध्यायों का संयोजन है। कवियों के विस्तरेण में खेरी-विभाग भी किया गया है, जिसका आधार उन्हीं कवियों का काव्योत्कर्ष माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यमान स्वयम् अपनी खेरी-विभाग की प्रक्रिया विषयक भूलुता से ग्रसित है किन्तु उन्हें काव्यकारों के मूल्यांकन का इसके प्रतिरिक्त अन्य कोई उपाय दृष्टिगोचर ही नहीं हुआ है। अन्त में अपनी भाषा-शैली के स्वल्प-मठन का भी सामान्य परिचय देकर अपनी अध्यात्म रचनाओं के विवरण का पर्याप्त सूचिका समाप्त की गई है। विद्यमानों का यह स्वष्टीकरण वास्तव्य विमल और उपयोगी है। इसके द्वारा हमें 'विनोद' का वास्तविक महत्त्व-निर्धारण करने में सहायता मिलती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह पुस्तक को देखते हुए विद्यमानों का यह प्रयास स्तुत्य है। ऐतिहासिक शास्त्रीय परम्परा के साथ धार्मिक रूप की समालोचना का कष्ट संघोष कर उन्होंने विचार-सावरी के संकसन के साथ-साथ कवियों के तुलनात्मक अध्ययन की जो दृष्टि दी है, वह अपने समीक्षारमक प्रतिमान में निश्चय ही सम्मान है। 'विनोद' का प्रत्ययन विद्वान् लेखकों के कठोर परिश्रम और साहित्य प्रेम का चोतक है। काशान्तर में 'मिश्रबन्धु-विनोद' के जो नवीन संस्करण प्रकाशित हुए, उनमें उन्होंने पुनः जीवन के साथ सम्बन्धित ज्ञान-वाचि का भी सर्वत्र समुपयोग किया है। फिर भी उनकी समीक्षा-प्रणाली से वह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि वे अपने 'विनोद' में काव्य-परीक्षण की जो शास्त्रीय पद्धति प्रस्तावित करते हैं उससे प्राचीन ब्रजभाषाकाव्य का भले ही संबोधित विस्तेष्य किया जा सके किन्तु नवीन घातक में विकसित काव्य-प्रवृत्तियों और साहित्य बाणों के परीक्षण में वह अधिक समर्थ नहीं हैं।

समकालीन समालोचकों और साहित्य-प्रवृत्तियों पर विचार

५६ जिस प्रकार धार्या द्वितीय की ने विद्यमानों के 'हिन्दी नवरत्न' की व्यापक समालोचना की है, उस प्रकार तो मिश्रबन्धु भी ने उनके सम्मान में नहीं मिला किन्तु द्वितीय की द्वारा लिखी के समीक्षामयक दोनों की और संकेत करने में वे भी पीछे नहीं रहे हैं। उन्होंने द्वितीय की द्वारा की गई लाला सीताधर की 'हिन्दी काव्यशास्त्र की समालोचना' को समालोचना न कहकर दक्षिण भाषा में लिखा गया व्याकरण-सम्बन्धी शोध-सर्वज्ञ माना कहा है और इसी प्रकार उनकी दृष्टि में "द्वितीय-कृत काव्यशास्त्र की निरंकुशता बहुत करके व्याकरण सम्बन्धी और कहीं-कहीं धार्मिक प्रयोगों पर विचार का विवश-मान है।" "उनकी 'नैपथ्य चरित' में समालोचना का कुछ रूप पाया है किन्तु वह भी उदात्तपूर्ण नहीं है क्योंकि वह भाषादि बाह्यी बातों पर बहुत करके सीमित है और मात्र तक नहीं पहुँचता।" "इसी प्रसंग में मिश्रबन्धु ने 'हिन्दी नवरत्न' तथा 'मिश्रबन्धु विनोद' में बहुत से कवियों की दुष्क-पूषक और विस्तृत रूप में की गई समालोचनाओं को "कमल सम्पति न देकर कवियों की रचनाओं से उदाहरण सामने रख कर अपने कथनों को पुष्ट करने का प्रयत्न" कहा है।^१ उन्होंने बाबू इयामुन्वरदास के 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक समालोचना-ग्रन्थ को अधिकतर

१ मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ मध्य, प्रकाशक, ल. १९७० पृष्ठ २०।

२ मिश्रबन्धु-विनोद, चतुर्थ मध्य, प्रकाशक, ल. १९६१ पृष्ठ १५४।

३ श्री, पृष्ठ १५४।

स्वार्थों पर निष्पक्ष भाव से की गई कुछ समालोचना माना है। उन्होंने यं पर्याप्तहि धर्मा को विहारी की मसी-भुरी कंठी भी प्रशंसा करने का बीड़ा उठा कर चलग वाले समालोचक कह उनके महान् परिचय की प्रशंसा अवश्य की है, किन्तु देव के प्रति उनका कठोर भाव देव कर मे उन्हें एक स्वान पर समालोचक भी नहीं मानते क्योंकि हठभाव उनके विचारों में कुछ अधिकता से है। माता भवभूति वीन को उन्होंने समालोचक न मान कर केवल टीकाकार माना है।^१

१७ मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में समालोचना की विस्म-विधि निरन्तर रचना से मिल कोटि की होती है। उनके समय में ऐसी समालोचनाएँ भी प्रकाशित होती थीं जिनमें "साहित्यकारों तथा साहित्य पर समालोचना लिखते हुए कुछ विषयों पर पचास-पचास साठ-साठ पृष्ठों के निरन्तर बिबे बाते से घोर घम में उदाहरण की भाँति सामोध्य कवियों धनवा साहित्यिक समयों के रचयिताओं से दो चार मोटी-मोटी बातें कह कर यह समझ लिया जाता था कि उन्होंने विविध कवियों धनवा समयों के साहित्य की समालोचना कर डाली है।" मिश्रबन्धुओं की दृष्टि में वे समा लोचनाएँ न हो कर निबन्धमात्र हैं। उनके मतानुसार तो समालोचना में मुख्य वर्णन कवि का होना चाहिए और उसी की रचना के साथ वही कहीं धन्ये सिद्धान्त निकलें उनका सुस्मृतापूर्वक विवरण लिख देना उचित है।^२ उन्होंने अपने समय में प्रचलित उन समालोचनाओं का भी विरोध किया है जिनमें "समालोचक कवियों पर दोसमात्र सख्यों में सम्मति देते बने बाते हैं किन्तु उनका किसी कारणमाता द्वारा समर्थन नहीं करते हैं।"^३

१८. यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि मिश्रबन्धुओं ने अपने विनोद (चतुर्थ भाग) में उत्तर गुप्त काल (संवत् १६९१-७३) के धन्यर्षक छायावादी साहित्य और उसके रचयिताओं का भी उल्लेख किया है। यद्यपि उनके द्वारा छायावाच का रूप स्पष्ट नहीं किया जा सका है, किन्तु उन्होंने सबसे प्राचीन छायावादी साहित्य स्वयम् देव भवभूति में माना है।^४ वर्तमान छायावादी कवियों में उन्होंने प्रसाद, पंत तथा मीनानन्द महतो को प्रमुख माना है और निरासा भी की बहना रहस्यवादी कवियों में की है। उन्होंने विवेचन के प्रसंग में छायावादी रचनाओं में दूरदृष्टि कल्पना भाषा-वीर्यस्य सुन्दर विषय एकान्त मुक्तक, कथानक-धनवा धारि बातों को लेकर छायावादी रचनाओं में अनेक प्रकार के 'असमर्थ तथा अप्रसाद रूपण' भी निर्दिष्ट किये हैं जो उस युग के प्रमुख समालोचकों की मनोवृत्ति के बहुत निकट हैं। यह एक विचित्र बात है कि छायावाच का स्वल्प विवेचन किये बिना ही मिश्रबन्धुओं ने छायावादी कवियों पर अपने निर्णय दे दिये हैं जो प्रमाण सम्मत नहीं कहे जा सकते। वस्तुतः मिश्रबन्धुओं के सामने छायावाच का रूप स्पष्ट ही न था और वे केवल प्रबन्ध-काव्य की वर्णनार्थकता और कईबद्ध प्रशंसी में ही काव्य की परिधि सीमित समझते थे पर उन्होंने उसी के प्रतिमान से सर्वथी बयसकर प्रसाद तथा सुमिमानन्द पंत की काव्य-रचना के सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हुए लिखा है—

"वयस्यंकर प्रसाद का छायावाच उत्कृष्टता के सोपान तक नहीं पहुँच पाता। उनके जो मुख्य इच्छा हैं, इनमें ऐतिहासिकता की प्रधानता है और छायावाच नहीं के बराबर है। यदि प्रसाद की केवल छायावादी होते तो हम उन्हें बहुत ही धाधारण कवि मानते। सुमिमानन्द पंत के पक्षध में हैं तो मुक्तकों का ही रूप किन्तु एक-एक विषय पर वर्णन कुछ बड़े-बड़े भी हैं। इनमें केवल

१. मिश्रबन्धु विनोद, चतुर्थ भाग, प्रकाशक, सं. १९६६, पृष्ठ १९५।

२. श्री, पृष्ठ १९५।

३. श्री, पृष्ठ १९५।

४. श्री, पृष्ठ १९५।

५. श्री, पृष्ठ १९५।

छपायाव नहीं है बरन् इतर साहित्य के साथ कुछ-कुछ यह भी मिल गया है ।^१

कहने की आवश्यकता नहीं कि मिश्रबन्धुओं का यह निरुप्य उनके छपायाव विषयक सीमित दृष्टिकोण का ही परिचायक है। उनके आयावाव विषयक विवेचन से स्पष्ट होता है कि वे उसके स्वरूप की पहिचानी बहुत प्रसंसा भी कर चुके हैं तो उसका प्रमुख आचार प्रसार और निराला द्वारा प्रस्तुत यह साहित्य है जिसमें उन्हें इतिवृत्तात्मकता की गहक मिली है। उन्होंने उनके साहित्य द्वारा मरिच्य में इस बाव को छातीन स्वरूप प्रदान करने की आशा भी रखी है।^२

‘हिन्दी नवरत्न’ और उसका समीक्षागत स्तर

१६. मिश्रबन्धुओं द्वारा लिखित ‘हिन्दी नवरत्न’ का प्रथम संस्करण सन् १९११ में बना संस्कार सङ्गमरु से प्रकाशित हुआ था जिसकी भूमिका में लेखक-बन्धुओं ने अपना उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किया है—“बहुत दिनों से हयारा यह विचार था कि हिन्दी साहित्य का एक अथवा इतिहास रचा जाय और उसमें प्रसिद्ध तथा अल्पे कवियों की रचनाओं पर कुछ विस्तार के साथ समालोचना मिली जाय।” मिश्रबन्धुओं ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास ‘मिश्रबन्धु विनोद’ के साद-साथ ‘हिन्दी नवरत्न’ की रचना करते हुए भी किया है, जो उस युग के साहित्य-प्रतिमान में तो अपेक्ष प्रसङ्गीय है, किन्तु उसमें भी अनेक प्रकार की त्रुटियाँ पाये से नहीं बच सकी हैं। बात यह है कि उस समय हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास पर्याप्त मुकुलित अवस्था में था और उसके साहित्य-प्रवर्धन-यत्न महत्त्व की ओर लेखक अनुदास का ध्यान आकषित होने ही लगा था। अतः प्रथम की शिक्षा के प्रसार और वाचस्पत्य साहित्य की लकीन विचारों के परिचय से हमारा हिन्दी प्रवेष्ट भी प्रभावित होने लगा था और यहाँ के सम्मान लेखक भी इस शिक्षा में प्रयत्नशील बनने के आकांक्षी थे किन्तु उनके दृष्टिकोण में अधिक परिपक्वता नहीं पा सकी थी। साहित्य-वृद्धि में समालोचना का आनुषंगिक महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उस समय के आम सभी समालोचक अपनी अपूर्णताओं का अनुभव करते थे किन्तु उनके द्वारा मार्ग-दर्शन का व्यापक प्रतिमान और रचनात्मक सुझाव नहीं मिलता था। मिश्रबन्धुओं ने भी अपने नवरत्न की भूमिका में समालोचना के साहित्यगत महत्त्व का विवेचन कर इस ओर संकेत किया है कि साहित्यालोचन की प्रक्रिया को किस प्रकार अधिक ग्रीह और प्राज्ञ बनाया जा सकता है।

१. मिश्रबन्धुओं की समालोचना का समारम्भ काम आचार्य व महावीर प्रसाद द्विवेदी के समवर्ती (सन् १९०२ ई के आस-पास) ही सम्पन्नता चाहिए। समालोचना की आवश्यकता और साहित्य में उसकी स्थिति को देखकर ही वे इस ओर उन्मुख हुए थे। वाचस्पत्य भाषा साहित्य के अध्ययन से वे इसी गिराँव पर पहुँचे कि उसकी समता में हमारा हिन्दी-साहित्य अधिक हीन है अतः उन्हें उनकी समृद्धि का एक उपाय समालोचना-वृद्धि भी लगा। उनकी वो उसी समय यह बड़ा मान्यता बन गई कि केवल समालोचना के आभाषण ही हमारे अनेक साहित्यकारों का वास्तविक सुस्थापन नहीं हो पा रहा है और उन के समुच्चय रूप काम-कर्मित हो रहे हैं जिसे साहित्य विरास का गुण मध्य नहीं कहा जा सकता। मिश्रबन्धुओं ने स्वयम् इस क्षेत्र में कार्य किया और आत्मात्म विद्वानों को भी कार्य करने की प्रेरणा दी। वे प्रयोगात्मक

१. ‘मिश्रबन्धु विनोद’ चतुर्थ अंश, प्रकाशवृत्ति सं १९६१ पृष्ठ १११।

२. वही पृष्ठ १११।

३. हिन्दी नवरत्न की भूमिका पृष्ठ २१।

समालोचना की एक नवीन परम्परा हिन्दी-समीक्षा-वर्ग में लाना चाहते थे और उन्होंने इस धोर प्रयास भी करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १९६० में उनकी हम्मीर हठ की 'समालोचना' 'सरस्वती' पत्रिका में छपी और उसी वर्ष के समग्र उन्होंने पंडित श्रीधर पाठक की कविताओं पर भी अपने समालोचनात्मक निर्णय दिये जिनको लेकर हिन्दी-सभार में बहुत दिनों तक बाह बिबाद चलते रहे। उसके पश्चात् तो उनका समालोचना-लेखन का क्रम बराबर चलता रहा जिसकी चरम परिणति उनके उपपुस्तक वर्षों में प्रकाशित हुई है। कहना होगा सन् १९६१ के मासपास मिथबन्धुओं के समालोचना-कार्य में उनके मानसिक संस्थान का निश्चित स्वरूप प्रकट होने लगा था जो समयानुक्रम से क्रमशः विकसित होता गया।

११ मिथबन्धुओं की समालोचनाओं में अनेक प्रकार की अपूर्णताएँ भी परिलक्षित हैं।

सद्यतन युगीन समीक्षा-साहित्य के विकसित और बहुव्यापी प्रतिमान का उसमें घनाभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिथबन्धु समालोचना के केवल बाह्य बरतन का ही स्पर्श कर सके हैं और उनमें काव्य के अन्तर्गत और सौष्ठवपूर्ण विधान में प्रविष्ट होने की कम क्षमता है। उनकी समालोचनाओं पर ऐतिहासिक परम्पराओं की छाप है, जिसे उन्होंने साधुनिकता से समुक्त बनाने का प्रयास प्रारम्भ किया है किन्तु उनकी आत्मीयता उस से पीछा छुड़ाती हुई नहीं प्रतीत होती। हाँ यह बात प्रबल है कि उस युग में उनकी समालोचनाओं में यथेष्ट सम्मान वा सिया था। द्वितीय-युग की प्रमाण पत्रिका 'सरस्वती' और काशी नाम की प्रचारिणी सभा के कार्यों का संवाजन और पत्र प्रकाशन करने में उनका प्रारम्भ ही से सक्रिय सहयोग रहा और उस संस्थाओं ने उनके सत्यपरायण से अनेक नाम भी प्राप्त किये। भूषण मठिराम देव और तुलसी जैसे काव्यकारों का समयोचित महत्त्व-निर्धारण और सूक्ष्मांकन करने वाले समालोचकों में मिथबन्धुओं का बड़ा हाथ है। यह सब कुछ होने पर भी उन्होंने उक्त कवियों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है भगवा उनके वास्तविक साम्य द्वारा जो काव्य-गुण-ग्रीवसु किया है वह किसी प्रौढ़ और प्रामाणिक बरतन पर आसीन नहीं है। उनकी समालोचना के प्रतिमान का सामान्य परिचय उनका निम्न लिखित उद्धरण से सकेगा।

"पहले हम मठिराम को भूपल से बहुत प्रशंसा करि समझते थे पर पीछे से इस विचार में शका होते लगी। उस समय हमने भूपल और मठिराम के एक-एक श्लोक का मुकाबला किया। सब जान पड़ा कि मठिराम के प्रायः १ या १२ कवित्त तो ऐसे कविर हैं कि उनका सामना भूपल का कोई कवित्त नहीं कर सकता और उनके सामने देव के सिवा और किसी के भी कवित्त नहीं उठर सकते पर मठिराम के शेष पद्य भूपल के अनेक पदों के सामने नहीं उठर सकते। इस प्रकार मठिराम और भूपल की तुलना करके हमने भूपल को श्रेष्ठ पाया। इसी प्रकार भूपल को केवल से मिलाया तो भी भूपल ही की कविता में विशेष बलत्कार देख पड़ा।"

१२ स्पष्ट है कि अपूर्ण उद्धरण मिथबन्धुओं की समालोचना-पद्धति का आभास देने में सर्वथा समर्थ है। इसमें उन्होंने बिना किसी प्रौढ़ और तर्कपूर्ण आधार पर दो कवियों की तुलना का जो मानक निर्धारित किया है वह अपूर्ण तथा एकपक्षी है। उसमें हमें साहित्य-समीक्षा का वह पक्ष नहीं मिलता जो साहित्यकारों की आत्मा में प्रविष्ट होकर उसमें अंतर्निहित अन्तर्बिभूतियों का परिचय प्रदान करता है। इसी प्रकार कुछ पदों को बिना कर कवियों को एक दूसरे से हीन सिद्ध करने का पक्ष भी केवल समीक्षा की बाह्य चेष्टा का ही प्रतीक है।

१ मिथबन्धु, "हिन्दी समीक्षा" प्रथम संस्करण की भूमिका पृष्ठ १२.

२. " विनोद प्रकाश संस्करण, १९७० पृष्ठ १९-२०.

सास्त्रीय तथा निर्णयात्मक प्रणाली का संयोजन

११ मिथबन्धुओं की समासोचना में शास्त्रीयता की कसब भी पर्यप्त मात्रा में मिलती है। उन्होंने प्राचीन कवियों के काव्यांशों के उद्धरण लेकर संस्कृत काव्य धारण की निर्धारित समीक्षा प्रणाली में उनमें प्रमुख वर्गकार, रस बोध आदि स्वर धीर-अन्ध-अन्ध धारि का भी परीक्षण किया है। इस प्रकार का विश्लेषण परम्परागत ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए देव-कुल एक छंद का सभी के समीक्षक पुत्र 'मिसानो नाट' का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं

“यह रूप बनाखरी छंद है जिसमें ३२ बरछे होते हैं धीर प्रथम अति मोतहमें बरछे पर होती है। इसमें मूलसोचनि में बर्णोपमान सुन्दोपमा है। दोरो दोरो मुख पात्रु दोरो दो बिसानो नाट' में दोली सारोपा प्रयोगबली सखाए एवं पूर्णोपमाकार है। रति-यात्र इसके गूँवार रस का मुख है। वहाँ मुख्या कसहावरिता नायिका है। यहाँ वर्णोत्तर संक्षिप्त काव्य अति मिलसती है। छंद में कौचिकी वृत्ति धीर नायर नायिका है। इसमें दोष बहुत कम धीर सन्तुल घनेक है। सब मिसाकर छंद बहुत प्रच्छा है।”

इसी प्रकार उन्होंने पुनरी बिहारी केकराज आदि कवियों के प्रमुख छंदों का भी शास्त्रीय विवेचन किया है।

१४ मिथबन्धुओं की समासोचना में शास्त्रीयता के साथ-साथ निर्णयवादीक प्रवृत्ति भी प्रायः सर्वत्र मिलती है। माना कि निर्णय काव्या स्वमत प्रकाशन समासोचक का एक अग्रगण्य अधिकार है किन्तु उसके मूल में उसकी माय्यताओं धीर शास्त्रांशों का शास्त्रिक आधार धीर शास्त्रिक विश्लेषण भी रहना आवश्यक है जिससे समासोच्य विषय के विशेष सर्वसम्प्राप्त हो सके। मिथबन्धुओं में निर्णय देने की अतिनी अधिक प्रवृत्ति है उतनी उसके अनुस्यू मानव-संस्थापन की नहीं। निर्णय देने समय भी वे उदात्त नहीं रह सके हैं धीर अपनी मनोस्थिति को ही साहित्य का व्यापक प्रतिमान समझ बैठे हैं। यह बात प्रत्यक्ष है कि बय-अन्ध से उनको समासोचक-वृद्धि में इस प्रकार की प्रवृत्ति कम होती गई धीर विकास के भी घनेक उपकरण जुटने लगे। इस विकास का ही जो यह परिणाम है कि उन्होंने सन् १९०७ के साक्षात् कवियों की प्रथम-प्रथम रूप में केवल छंदकार समासोचनाएँ लिखी थी किन्तु अग्रगण्य प्रसार से उन्हें एक ऐसी विकसित दृष्टि भी थी जिससे वे कवियों की मानविक भूमिका में व्यापक निकटवर्ती सम्बन्ध सा पाने लगे धीर विकास प्रतिफल का उनके 'हिन्दी नवरत्न' का निर्माण। मिथबन्धु पहले तो उच्च संस्कृत के 'कविपंचक' की भाँति 'माया कवि-पंचक' के रूप में लिखना चाहते थे धीर उसमें घृष्ट, पुनर्गती के विचार परिवर्तन होता गया। रूपण के काव्य-व्यवहार से उन्हें इसका अधिक मुक्त बनाया कि वे केवल-शोभन से उन्हें 'माया कवि-पंचक' लिखने की सोचन लगे तो सेवार्थ के भारोत्थु बाधु हरिवन्धु की रचनाएँ भी व्यापक उत्कृष्ट धीर मनोहर प्रतीत हुई जिनका सम्मिलन के अनुस्यू नव कवियों का चयन कर नवरत्न की रचना कर ही किन्तु उनका मिथी वृत्तिकोण के भी प्रीति बराबर पर अधिकार नहीं हो सका। वे स्वयं कई स्वार्थ पर अपने निर्णयों में विषय से प्रतीत होते हैं जिसका मुख्य कारण कदाचित् यह हो कि मिथबन्धु के नाम से एक साथ

‘मिथबन्धु लिखते’ प्रत्यय संस्कारक सं १९०० २४ २९ ४१।
 श्री १५, ४२-४५।

रचना प्रकाशित करने पर भी उनकी धर्मग्रन्थों में व्यक्तिगत भावनाओं तथा धर्मिक-नैतिकताओं में प्रत्यक्ष प्रतीति पाई जाती है। उनका कवि-समीक्षण का प्रतिमान कितना सिद्ध और धर्मवर्धित है तथा वे अपनी विभाजन की जिस धर्मवर्धित प्रणाली को लेकर चले हैं वह कितनी भ्रष्ट है इसका सामान्य आभास उनकी निम्नलिखित कथन से हो सकेगा —

“पीछे से जायसी की कविता बहुत बढ़िया समझ पड़ी और सेनापति के स्थान पर उनका नाम रखने का विचार हुआ किन्तु धर्म को जायसी की कविता कई बार ध्यान से पढ़ने पर उसका अस्कार कुछ सीका जाया और जायसी का स्थान तोप कवि की ओर से समझ पड़ा। यह धेणी पद्माकर की ओर से भी है। सबसे पहले मतिराम की ओर से फिर दास की और सब पद्माकर की। तोप की ओर से भी साधारण होती है। और उसके पीछे हीनमेसी पीरे पीरे यह समझ पड़ा कि सेनापति की कविता परब धनूरी एवं दिखने पर भी मतिराम की रचना की समता नहीं कर सकती। इस विचार से मतिराम की ओर से सेनापति की ओर से बना दिया और मतिराम को सेनापति के बरबे नवरत्न में स्थान दे दिया। इस प्रकार नवरत्न में नव कवियों की स्थिति हुई। हास भी में महात्मा कबीर दास भी नवरत्न में अन्य समझ पड़े हैं।”

१५. उपर्युक्त उद्धरण मिश्रबन्धुओं के समालोचनात्मक मानक का एक आदर्श कहा जा सकता है। माना कि समालोचना के क्षेत्र में यह भी एक धर्मवर्धित प्रयोग था किन्तु उसमें किसी निश्चित बराबर की ओर पीछा न होने के कारण अनेक प्रकार के दोष होने से भी नहीं बच सके। इसमें मिश्रबन्धुओं ने अपने राजकीय प्रचारन की भाँति साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में भी आदेशपूर्ण निर्देश दिये हैं किन्तु वे क्रि-क्रि सचिवाओं से निर्मित हैं इसका कोई निश्चित पता नहीं चलता। पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी इस पद्धति की अपूर्वताओं पर अपने इतिहास-ग्रन्थ में ब्यंग करते हुए लिखा है

“हिन्दी के पुराने कवियों को समालोचना के लिए सामने लाकर मिश्रबन्धुओं ने दोषक बढ़ा बढ़ी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं यह दूसरी बात है।”

धुवन की के इस कथन में सत्य का पर्याप्त संशय है, क्योंकि यह ओर-विभाजन प्रकृत कवि-समीक्षण प्रतिमान स्वयं ही अवांछित है। वं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दी नवरत्न के इस प्रतिमान की कटु समालोचना ‘सरस्वती’ पत्रिका में व्यापक रूप में की थी जिसका विवेचन द्विवेदी की के काव्य-समीक्षण-प्रतिमान के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ पर लिखने का मूल आशय केवल यही है कि मिश्रबन्धुओं ने जिस धर्मवर्धित में समालोचना-साहित्य लिखा है, वह किसी ऐसी परम्परा का अनुपात करने वाली नहीं है जिसके कारण द्विवेदी की की भाँति उन्हें भी किसी निश्चित ओर से अनु-संस्थापक का स्वल्प दिया जा सके।

सुमनात्मक प्रणाली और हिन्दी नवरत्न का भूस्वात्मक

१६ मिश्रबन्धुओं की समालोचना वं सुमनात्मक पद्धति का भी समावेश है, किन्तु वह भी अपरिपक्व अवस्था में ही है। उन्होंने कविताओं की तुलना करने की प्रवृत्ति के अनुसार नवरत्न में बृहत्पदी मध्यपदी और लघुपदी नाम से जो तीन विभाग विभक्त किए हैं, उनमें भी कोई संतुलित दृष्टिकोण नहीं पा सका है। कहने के लिए उन्होंने बृहत्पदी में तुलसी वर और देव;

१. मिश्रबन्धु, ‘हिन्दी नवरत्न की भूमिका’ प्र संस्करण पृष्ठ ११।

२. वं उपर्युक्त तुलना हिन्दी साहित्य का इतिहास, व संस्करण पृष्ठ ११६।

मध्यमयी में बिहारी भूषण और केदार तथा सप्रुचयी में मतिराम चंद और हरिहर को स्थान दिया है, किन्तु इसमें भी पूर्वापर कम धक्का गिरिधर प्रतिमान का स्पृश है। और तो और, वे कवियों की इस त्रयी-निर्धारण में भी बराबर उससे हुए थे। और वही कवियों के परभाव ही ने किसी एक मिश्रण पर पहुँच सके हैं। उन्होंने जिस धक्का-प्रणाली के आधार पर कवियों को एक दूसरे से छोट-बड़ा चिह्न किया है उसमें भी तारतम्य नहीं है। इसी प्रकार 'तुलसी और सूर के महात्मा होने के कारण उनके नाम से वे प्रथम सिंहे हैं' वाक्यांश इस ध्वनि-गर्भित प्रश्न का संकेत करता है कि मिथवन्धुओं को सेव तुलसी और सूर से भी बड़े बड़े सघटे हैं, पर केवल सूर और तुलसी का महात्मा-रूप ही उन्हें उनसे निम्न स्थान दिखा रहा है। कहने की धातुशक्ती नहीं कि मिथवन्धुओं का यह मिश्रण भी भ्रमपूर्ण है, क्योंकि सूर और तुलसी के काव्य में जीवन की संवेदना का जो व्यापक और सरल अभिव्यंजन हुआ है, उसे सेव की प्रतिमा स्वयं भी नहीं कर सकती।

१७ वास्तव में मिथवन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' के कवियों की समालोचनाएँ अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मिलने के लिए ही लिखी थी किन्तु समालोचनाओं का निश्चित प्रकार इतिहास ग्रन्थ के निर्धारित पृष्ठों का सम्पूर्ण स्थान भर देता था। उन्होंने नवरत्न का प्रकाशन प्रसंग रूप से करना ही समीचीन समझा। वही कारण है कि उन्होंने नवरत्न में इतिहास के अनुसार कवियों का वर्णन कास-क्रम से न कर एक निम्न प्रणाली से किया है। यद्यपि उनके अनुसार उनका 'नवरत्न' इतिहास का प्रथम द्वितीय या अंतिम कोई भी भाग नहीं हो सकता। इसे इतिहास से पुनः परन्तुल्लेख से मिलान-जुलता हुआ ग्रन्थ समझना चाहिए।^१ चूँकि 'हिन्दी नवरत्न' का इतिहास से बहुत अनिष्ट सम्बन्ध है यद्यपि उसकी सुनिष्ठा के विमर्शन के रूप में ही इतिहास का बोझ सा साठस निष्ठा देना समीचीन प्रतीत हुआ है। ऐसा करने के पूर्व उन्होंने सर्वप्रथम 'हिन्दी भाषा के महत्त्व' का विवरण दिया है और वही चिह्न करने की चेष्टा की है कि हिन्दी की जननी चाहे संस्कृत मानी जाय धक्का प्राकृत किन्तु बहुमत इसी बात का है कि प्राकृत ही वसंत बरसते प्रपन्न हो रही हुई हिन्दी हो गई है। मिथवन्धुओं के अनुसार स्तुत कर से हिन्दी का उत्पत्ति काल साठवीं शताब्दी में कहा जा सकता है।^२

१८ मिथवन्धुओं की समालोचनाओं में भले ही धनक प्रकार की प्रमुखताएँ हैं किन्तु उन्होंने प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य की जो खोजपरक सामग्री एकत्र की है वह उनके धनक परिचय और निरन्तर अध्ययन का ही निरर्जन है। 'विश्वसिंह-सरोज' के परभाव केवल उन्होंने के 'मिथवन्धु विमोच' तथा 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ इस प्रकार की व्यापक सामग्री प्रदान कर सके हैं। उन्होंने धनक मात्र काव्यकारों के साथ-साथ उनकी धनक सुप्रसन्न कृतियों का जो अनुसन्धान किया है वह हमारे साहित्य-क्षेत्र की अविश्वस्य का प्रमुख साधन बना है। उनकी माध्यमों और विचार-सरणियों में धनक भले ही धनक प्रकार के रूप में किन्तु धनक से प्रायः पचास वर्ष पूर्व हिन्दी साहित्य और समालोचना जिस स्वयं पर अवलम्बित थे उस विकसित और सम्बन्धित बनाने में मिथवन्धु जिस जगह और साधना से प्रवृत्त हुए, वह वस्तुतः स्थाप्य है। धनक के स्वतन्त्र भाष्य में हिन्दी भाषा और साहित्य को जो राष्ट्रभाषी और मिता है, उसको देखते हुए हमारे धनक पथमान विद्वान् उसकी साहित्य-सेवा का नव धनक नीति से भले ही परिग्रह करें, किन्तु उस युग में जब कि हिन्दी राष्ट्रभाष्य को इस प्रकार का कोई सम्मान धक्का सम्मान प्राप्त नहीं था, मिथवन्धुओं ने जो कार्य किया वह उनकी प्रणुणताओं की धनकप्रति करने के लिए

१. मिथवन्धु 'हिन्दी नवरत्न की सूचिका' प्रथम संस्करण १९५१

२. पृ. ५४२।

पर्याप्त समझ आना चाहिए। प्रायः की विकसित परम्परा में मिथवन्धुओं के साहित्य का मूल्यांकन करते समय इस तथ्य की धरहेसना करना उनके वास्तविक स्वल्प-परिचय का एकमात्र इष्टिकोण ही कहा जायगा।

१२ मिथवन्धुओं ने 'हिन्दी नवतरंग' की जो भूमिका निभाई है, उसमें हिन्दी साहित्य के इतिहास का सामान्यतया सिंहासकोकन हो जाता है। उसमें ऐसे धनेक काम्यकारों का भी परिचय है जो कामांतर में हमारे साहित्य-मन्दिर के धाराधक सिद्ध हुए हैं। उन्होंने नवतरंग के कवियों का पंदाबी समय देकर भावी धनुसम्पादाओं के लिए इस क्षेत्र में धाये बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। प्रायः सामग्री के आधार पर उन्होंने यथासम्भव प्रत्येक रत्न का व्यापक जीवन परिचय भी दिया है जो जीवन-परितमूलक समालोचना-पद्धति का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। यह बात परम्य है कि वे जीवन की साहित्यपथ प्रतिक्रिया का विस्लेषण उस विधि से नहीं कर सके हैं, जिस विधि से प्रायः की विकासोन्मुख समालोचना करना चाहती है। यद्यपि कई स्वयं पर उनका कवि-परिचय पछपाठपुर्ण भी बन गया है और ऐसा सपता है कि वे कवियों की वंशपरम्परा तक को अपने धनुकूल सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु इस प्रकार के सामान्य स्वयं के कारण ही उनके कामों के सम्बन्ध पर को हीन नहीं बतसाया जा सकता। अपने विवरण के पर्यवस्य उन्होंने अपने प्रतिवादी समालोचकों की युक्तियों का पण्डन करने की चेष्टा भी की है और यथासम्भव कवि-परिचय में अन्तर्भाव और बहिर्भाव दोनों का उपयोग किया है। कवियों के काम्य शोध्य का निर्देश करने के लिए उन्होंने उनके कविय काम्योत्त भी उद्धृत किये हैं, जिनके जपन से प्रत्येक साहित्य-विद्वान् का सहज होना आवश्यक नहीं है। विवेचन के अन्तर्गत सैदान्तिक निरूपण भी हुआ है और विवरणमूलक विस्लेषण की प्रवृत्ति तो उनमें सर्वत्र परिलक्षित है ही। निष्कर्ष यह है कि मिथवन्धुओं का हिन्दी नवतरंग प्राधुनिक हिन्दी समालोचना का विकास को समझने का एक बसाम्म साधन है जिसमें विद्वान् क्षेत्रों ने समालोचना की ऐतिहासिक जीवनीमूलक प्रनावाभिम्बन्धक साक्षीय सैदान्तिक और वैयक्तिक प्रवृत्तियों का प्रयोग पुनर्बर्ती प्रतिमान के धनुकूल करने की प्रयासित चेष्टा की है। वस्तुतः ये दो प्रन्ध ही मिथवन्धुओं के समालोचक-व्यक्तित्व के निर्माण के प्रमुख साधन हैं और उनकी शेष कृतियों में भी इसी की छया प्रतिबिम्बित है जिनसे मिथवन्धुओं के समालोचक-स्वरूप को समझने में यथेष्ट सहायता मिलती है।

(३)

डॉक्टर श्यामसुन्दर दास

समालोचना में अंतर्प्रवेश

७ सन् १९२१ में महात्मा पं मदन मोहन मीसाजीय ने बाबू साइब को काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के अध्यापन अस्थान और विकास को धनुचित स्वरूप प्रदान करने की भावना से नियुक्त किया और मुख्यतः बड़ी नियुक्ति उनकी प्रौढसाहित्य-समालोचनाओं और मन्वीर धर्मपराओं के विकास का कारण बनी। उसी वर्ष जब एम ए के पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्वाग दिया गया तो प्रारम्भ में इस बात की बड़ी कठिनाई रही कि किन-किन-ग्रन्थों को किन किन विषयों के अन्तर्गत विवर्णित किया जाय। अध्याप्य प्रस्तुतियों के साथ-साथ उस समय एम ए के पाठ्यक्रम में भारतवर्ष का भाषा विज्ञान हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास तथा साहित्यिक आलोचना नामक तीन ऐसे विषय भी रहे जये जिनमें उन के उपयुक्त पुस्तकों का हिन्दी में अभाव था। यद्यपि इन तीनों विषयों से सम्बन्धित संस्कृत और अंग्रेजी धादि भाषाओं में सिधे जये आधार ग्रन्थों के नाम निर्दिष्ट कर दिये गये थे किन्तु ऐसा एक भी ग्रन्थ न था जिसकी सहायता से इनका अध्यापन-अध्यापन सुचारु रूप से किया जाता। ऐसी स्थिति में बाबू साइब के अन्तर एक महान् दायित्व

प्राथमिक हिन्दी-साहित्य में समासोचना का विकास

भा गया। अपनी धर्मिक के अनुकूल सर्वप्रथम उन्होंने साहित्यिक समासोचना का विषय चुना और वे एतद्विषयक अध्ययन में प्रवृत्त हुए। मन्गीर चित्तन और मनन के उपरान्त मन्तोहरा के इस निरुप पर पहुँचे कि इस विषय का सुचारु रूप से सभी अध्ययन किया जा सकता है जब सर्वप्रथम विद्यार्थियों को समासोचना के प्रमुख तत्वों का प्रारम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। उन्होंने निरन्तर रूप से प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित सामग्री के संकलन और संयोजन का कार्य प्रारम्भ किया और वे उसकी सम-हो-म रूपरेखा बना कर उसे परिच्छेदों में विभक्त करेंगे। उस समय उनके अध्ययन और अध्यापन दोनों के लक्ष्य एक साथ चल रहे थे जिससे उन्हें एक साथ यह हुआ कि वे विद्यार्थियों को विषय-ग्रहण करने में होने वाली कठिनाई का अनुभव करते हुए वह जान सकें कि पाठ्य विषय में किम-किन् स्वतंत्रता पर संकोच घबरा बिस्तार की आवश्यकता है। अपने इस विद्यार्थक अनुभव के आधार पर उन्होंने लिखित संक्षेपों का संकोच और परिचयन करना भी प्रारम्भ किया जो कालान्तर में उनकी साहित्यिक समासोचनाओं के विभिन्न विभिन्न परिच्छेदों में संकलित हो कर साहित्यालोचन नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। उसका प्रथम संस्करण सन १९२२ में इंडियन प्रेस प्रयाग से छपा था।

साहित्यालोचन की आधारविभागा और मौलिकता

७१ 'साहित्यालोचन' की रचना में बाबू साहब ने धनकानेक भारतीय और पारंपारिक ग्रंथों का आधार लिया है, जिनकी सूची पुस्तक के अन्त में दी हुई है। सम्भव है इसकी रचना करने में धनक परियम करना पड़ा था। इस विषय में उस समय हिन्दी साहित्य में उनके ज्ञान ऐसा कोई पट्ट और प्रामाणिक प्रतिमान भी नहीं था जिसे अपनाकर वे माने बढ़ते। यद्यपि प्रकार से उन्हें ही साहित्यालोचन की कुछ भित्ति प्रस्तुत करनी पड़ी। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ का जहाँ-जहाँ स्पष्ट संक्षेपों में यह स्वीकार किया है कि इसकी सामग्री उन्हें दूसरे ग्रंथों से जहाँ-जहाँ स्पष्ट संक्षेपों में यह स्वीकार किया है कि इसकी सामग्री उन्हें दूसरे ग्रंथों से रची है और वे भारतीय तथा यूरोपीय समासोचना-तत्वों को अपने दृष्टिकोण से परख कर ही ग्रन्थ कर सकें हैं। विषय-प्रतिपादन तथा धर्मिक-ग्रन्थ की दृष्टि से बाबू साहब ने इसमें मौलिकता रखी है किन्तु यह ग्रन्थ ग्रन्थों का निचोड़ ही। अधिप्राय यह है कि ग्रन्थ की भाषा और विषय के विचारन का धर्म उनके अपने है किन्तु विचारों के संघर्ष में धनक भारतीय और यूरोपीय ग्रन्थों सहायता लेकर दोनों के छिटाओं में सम्मेलन घटाने का संशय घटाने किया गया है।^१

७२ बाबू साहब ने साहित्यालोचन की मुद्रिका में मौलिकता के सम्बन्ध में जिन विचारों की धर्मिकता की है वह विचारणीय है। ऐसा लगता है कि उस समय साहित्य-जगत् में मौलिकता के नाम पर धनक प्रकार की भ्रान्तियों का प्रचार था और लक्षक स्वरवारी मानना से इस छद्म का प्रयोग करते थे। बाबू साहब ने स्पष्ट संक्षेपों में इस विषय का उत्प्रेषण किया है कि जो लोग विचारों की मौलिकता और उनके धर्मिकजन की मौलिकता को धर्मिक समझते हैं वे भ्रान्ति में हैं। उनके मतानुसार 'साहित्य में मौलिकता से अधिप्राय विचार और ऐसी बातों की व्यक्तित्व विशेषता है।' उनका दृष्टि में लेखक की मौलिकता की सच्ची कसौटी यह है कि "हम उसकी रचनाओं द्वारा परखें कि उन से ससार के ज्ञान-भँडार की कुछ हुई है या नहीं? यदि लेखक अपने विचार धर्मिकजन घबरा नहीं कर सकें हैं तो उसे मौलिक कहने से किसी प्रकार का पागल-पिछा नहीं करना चाहिए। जहाँ विचार और धर्मिकजन दोनों में

मौलिकता हो नहीं तो फिर कहना ही क्या है । ^१

७३ 'साहित्यालोचन' की मौलिकता का निर्णय करने के विषय में विद्वानों में मतभेद है । अनेक स्वर्णों पर तो यह अनेक भारतीय और पाश्चात्य ज्ञानों का प्रतिबिम्ब का रूप में ही लभता है किन्तु मेरे ने इसके लिए बड़ी सज्जाई से पहले ही अपना मूल्य स्पष्ट करते हुए यह निश्चय किया है कि 'जब यह ग्रन्थ पत्र-प्रसूतक का काम देकर अन्य विद्वानों से इस विषय के उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित कर सका तो वह इसी में अपना सन्तोष मान लेता ।' ^२ मेरे का उक्त कथन यथार्थ है क्योंकि साहित्यालोचन हिन्दी में साहित्यिक आलोचना का प्रारम्भिक ग्रन्थ है और इसे बहुत विषय की प्रस्तावना मान कहा जाता ही सर्वप्रथम उचित है । इसमें जित-जित विषयों का समग्र-समग्र अध्ययनों में विवेचन हुआ है वे ऐसे विषय हैं जिन पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों का निर्माण किया जा सकता है । बाबू साहब के उत्तरवर्ती काल में आलोचकों ने इस ओर प्रयत्न किये हैं और धन भी कर रहे हैं, किन्तु वह बात ध्यान भी विचारणीय है कि इन प्रयत्नों में इस परम्परा को कहीं तक ठोस मौलिक और भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रणाली के आधार पर धाने बढ़ाया है ।

संशोधित संस्करण और उसकी विशेषताएं

७४ बाबू साहब ने उक्त ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में इस विषय का प्रतिपाद प्रकट किया था कि उन्हें 'य' विद्वान् मेरे इस क्षेत्र में अपना मूल्य योगदान देने किन्तु उन्हें इस विषय में निराशा ही हुई । प्रायः १५ वर्षों पश्चात् नवम्बर सन् १९१७ में साहित्यालोचन का संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें मेरे ने उक्त विवरणों में परिवर्तन की किए । उन्होंने पूर्ववर्ती संस्करणों की उपबोधी सामग्री को इसमें रखी ही किन्तु ऐसे अनेक समाचारिक विषयों पर भी प्रस्तावना के रूप में विवेचन प्रस्तुत किया जो उस समय तक साहित्यिक आलोचना के अन्तर्गत समाविष्ट होने लगे थे । इस संस्करण में पूर्ववर्ती संस्करण से अध्ययनों की संख्या भी कम है और हस्त-काम के विकास को छोड़कर और कोई विषय छूटने नहीं पाया है । भारतीय और यूरोपीय विद्वानों के सामग्र्य का प्रकाश की इससे प्रथम संस्करण में अधिक है । मेरे ने पूर्व संस्करण की प्रति इस संस्करण में जो उन विद्वानों और छात्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित की है, बिनाही प्रत्यक्ष प्रथम पटोस रूप में उन्हें ग्रन्थ रचना में उचित परामर्श और सहयोग दिया है ।

७५ इस संशोधित संस्करण के प्रकाशित होने के समय तक 'साहित्यालोचन' की अनेकानेक आलोचनाएं भी प्रकाशित हो चुकी थीं पर बाबू साहब को उनके कल्याणकार इस संस्करण के लिए उनके कोई लाभ नहीं हुआ । वे आलोचनाएं या तो निष्कारण थीं या अनुत्पादक । एक आलोचक ने ही 'साहित्यालोचन' को 'साहित्य वर्ष' का सारांश कह कर 'माधुरी' पत्रिका में प्रकाश मेरे प्रकाशित किया था । ^३ बाबू साहब ने ऐसी आलोचनाओं के प्रति केवल प्रकट किया है और उन्हें साहित्य बुद्धि के लिए वास्तव बतलाया है । क्योंकि मूलग्रन्थ और उसकी उपजीव्य रचनाओं का अध्ययन किये बिना अपनी मनमानी सम्पत्ति प्रकाश करना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं है । धन ही धन बाबू साहब ने इस प्रम को निवारित करने का भी प्रयत्न किया है जो उस समय इस विषय को लेकर साहित्य क्षेत्र में फैलने लगा था कि वे बुद्धि से ग्रन्थ निष्कारण कर अपने नाम से प्रकाशित करते हैं । उन्हें ऐसे मिथ्या प्रकारों से हार्दिक श्लाघा हुई है और उनका यह कथन एकमात्र साहित्यिक मनोवृत्ति की ओर भी संकेत करने वाला है ।

१. डा० रमनमूर दत्त, साहित्यालोचन अथवा संस्करण का मूल्यांकन, पृष्ठ ४८ ।

२. वही, पृष्ठ ४ ।

३. वही, संशोधित संस्करण की मूल्यांकन सन् १९१७ पृष्ठ ७ ।

७१ 'साहित्यालोचन' मुख्यतः सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रन्थ है। इसके समालोच्य विषय कसा साहित्य काव्य रस बीसी तथा साहित्य की आलोचना आदि हैं। परिशिष्ट में 'साहित्य की आत्मा और शक्ति' पर भी एक अध्याय है जो भी पद्मनाभयण आचार्य का निष्ठा हुआ है। साय-ही-साय हिन्दी साहित्य-शास्त्र के कतिपय पारिभाषिक शब्द तथा आलोचना-शास्त्र विषयक शब्दों की सूची भी दी गई है जो साहित्यमुखीजनक के लिए अत्यन्त उपादेय है। वस्तुतः इस पुग में हिन्दी समालोचना साहित्य का जो स्वरूप और घरायस था उसके दृष्टिकोण से साहित्य-आलोचन सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति कहा जा सकता है।^१ कालान्तर में इस विषय में बिल्ले भी ग्रन्थ लिखे गये उन पर इसका अत्यधिक आभा में प्रभाव रहा है और इस दृष्टि से यह एक विवेच्य विषय बन जाता है कि साहित्यालोचन की परम्परा प्रायः जिस रूप में हमारे सामने आ रही है, उसमें बाबू साहब का कितना बड़ा हाथ है। इस ग्रन्थ की उपयोगिता का एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि प्रायः का अनुशीलन इसकी परिधि की अपेक्षा कर पाये नहीं बढ़ सकता और प्राधुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास में यह निश्चय ही अपना ऐतिहासिक महत्त्व स्थापित करने में समर्थ हुआ है।

७२ बाबू साहब ने साहित्यालोचन में जिन सैद्धान्तिक विषयों पर विवेचन किया है उन्हें अपने दृष्टिकोण से उन्होंने मौलिक कहा है। वस्तुतः यह मौलिकता उस युग को देखते हुए तो अवश्य ही प्रशंसनीय है किन्तु उसे ऐसी मौलिकता नहीं कहा जा सकता जो इस क्षेत्र में नवीन उद्भावना करने वाली हो। यद्यपि उनका इस ओर प्रयास रहा है कि वे भारतीय और युरोपीय साहित्य विद्वानों में सामंजस्य उपस्थित करें किन्तु उनमें यह समता प्रस्तुत नहीं हो सकी है जो दोनों विचारधाराओं को पचा कर अपनी मौलिकता का प्रतिष्ठापन करने वाली हो। इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि उनके सामने प्रस्तुत परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं जिनमें उनके लिए अवकाश के साथ बैठ कर ऐसे मौलिक चिन्तन के अवसर कम थे जो उत्तरवर्ती समालोचकों को उपलब्ध हुए। उन्हें तो नित्य प्रति साहित्यालोचन के दृढ विषय पर राजिकास में मोड़स ठेगार करने पड़ते और दिन में विचारविधियों को पढ़ाना होता। इस क्षेत्र की गति को धागे बढ़ाने का प्रयत्न तो उनके सामने बहुत कम था। ऐसी परिस्थिति में उनके विचारों में संकलन की प्रवृत्ति अधिक मिले तो यह उनका अभागत्यं होप नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः उस युग को देखते हुए साहित्यालोचन का अपूर्व महत्त्व है और इस दिसा में बाबू साहब उचित प्रशंसा के अधिकारी हैं।

७३ बाबू साहब ने साहित्यालोचन की मौलिकता को मुख्यतः विवेचन की मौलिकता कहा है पर यह कथन भी कदाचित् ही अधिक सत्यास-युक्त कहा जा सके। उसमें व्यक्त विद्वानों और विचारों पर तो भारतीय और युरोपीय समालोचना धर्मों का प्रभाव है ही साथ ही प्रायः विषय-विभाजन और निरूपण की पद्धति भी अनुकूल है। इसकी कपरेखा विषय-विभाजन धीरे-धीरे उपजीव्य का संयोजन आदि पश्चिमी विद्वान् हबसन सिद्धि 'इन्ट्रोडक्शन' ॥ ८ एटी प्रायः मिट्टेरर पर बहुत अधिक आधारित है। यहाँ तक कि कविता कहानी नाटक आलोचना आदि के अनेक विवेचित स्थान तो उसके अनुबाधमान नहे जा सकते हैं। इसी प्रकार कला का विवेचन बर्तफोर्ड की जजमेन्ट इन मिट्टेरर' नामक पुस्तक से लेकर किया गया है। नाटक के अन्तर्गत विवेचित सामग्री पश्चिमी प्रभाव के साथ-साथ विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण' से ज्यों-की-त्यों भी नहीं प्रतीत होती है। और भी ऐसे अनेक स्थान हैं जिनको लेकर ग्रन्थ की मौलिकता को विवेच

साहित्यशास्त्र में व्यवस्थित किया जा सकता है। पर इस धोर ऐसी कठोरता का रूप बाबू साहब के प्रति एकान्ती दृष्टिकोण का ही प्रतिपादक होमा क्योंकि उन्होंने समालोचना के किमोर कास में हिन्दी साहित्य की धर्मियुक्ति में जो योगदान दिया है, उसकी समता में उसकी नमणयता स्वतः सिद्ध है। विकासवाद का सिद्धान्त भी वस्तुतः यही निर्देश करता है कि विकास की परम्परा सब बहिरीस रहती है और प्रागे प्रागे वाला युग अपने पूर्ववर्ती युग का ही परिणाम होता है। अब इस दृष्टि से बाबू साहब का साहित्यालोचन भी अपने पूर्ववर्ती युगों की विकास-परम्परा की एकता परिलक्षित है, जिसके कारण उसकी महत्ता में संशय करने के अधिक अवसर नहीं होने चाहिए।

समालोच्य विषय और उनका प्रतिपाद्य

कला-विषयक विवेचन

७६ बाबू साहब ने समुच्च के संस्कारों और वृत्तियों का विश्लेषण कर अभिव्यञ्जना की विधियों को कला की रक्षा की है किन्तु उनकी दृष्टि में समुच्च अभिव्यञ्जना कला नहीं है क्योंकि वास्तविक सिद्धान्त-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य भी मानव अभिव्यञ्जना के विषय होत पर भी कला की देखी में नहीं रहे जाते। वस्तुतः कला का शोक मुख्यतः भाव-शोक है और इसी माध्यम से कला-कृतिमा प्रहण की जाती चाहिए। उन्होंने कला विश्लेषण के अन्तर्गत धार्मिक समीक्षा अथवा प्रचलित प्रत्यक्ष के स्वप्न-सिद्धान्त व्याख्यात और कला के सिये कला भावि सिद्धान्तों का भी संक्षिप्त परिचय दिया है जिसमें संकलन की प्रवृत्ति ही अधिक है। वे इन प्रवादों को पाश्चात्य विवेचन की उस प्रतिपादिका में स्वीकार नहीं करते जिसका यूरोपीय सिद्धान्तों ने अपने प्रबो और निष्कर्षों में निष्कर्ष किया है। उनका तो स्पष्ट कथन है कि 'काव्य के स्वप्न-सिद्धान्त को कलामिथ्या के मूल में स्वीकार करने पर तथा मयाववाद के नाम पर समस्त साहित्य-विचारों को प्रहण करने पर उनका जीवन के सवाचार पक्ष से सम्बन्ध छूट जाता है जो भारतीय साहित्य वर्तन का एक मूल आधार है।^१ इसी प्रकार कला के सिये कला की सिद्धान्त की मनमानी बीजा छानी भी उन्हें पसन्द नहीं है क्योंकि कला की जीवन से अलग अलग पर देखना साहित्य की स्वात्म परम्परा के प्रतिद्वन्द्व है। इसी प्रसंग में उन्होंने दृष्टी के क्षेत्र के उस सिद्धान्त का भी परिचय दिया है जिसके अनुसार कला अलोक्य अभिव्यक्ति है, किन्तु वे स्वयं व्यावहारिक दृष्टि से कला का वर्गीकरण करना समीचीन समझते हैं। उन्होंने उपयोगी और सबित कलाओं के स्पष्ट मानदंड पर विभिन्न कलाओं के मूल आधार तत्त्व और विषय-क्षेत्र का विवेचन कर काव्य-कला को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनका यह समय विवेचन अधिकतर पाश्चात्य विचारवाद को आधारमूल बनाकर हुआ है जिसमें एतद्विषयक भारतीय सिद्धान्तों का संयोजन बहुत कम है। वस्तुतः यह पाश्चात्य विचारवाद का ही प्रभाव है जिसके कारण बाबू साहब ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की है जबकि वास्तविकता तो यह है कि हमारे यहाँ काव्य-स्वरूप का विश्लेषण उसे कला से अलग्गले अलग्गले प्रदान करते हुए किया गया है और उसके अन्तर्गत को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की समता ही गई है। वस्तुतः भारतीय दृष्टि से कला में नीतिश्रुता का अधिक समावेश है किन्तु विवेचन की मान्यताएँ इससे भिन्न हैं। बड़ी के प्रसिद्ध वर्तन शार्प निष्कर्ष हीनेस ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की थी जिसका आधार बाबू साहब ने भी अपने विश्लेषण में पर्याप्त मात्रा में किया है। कार्नातक में व रामचन्द्र शुक्ल और भी अत्यन्त प्रभाव

१ यह स्वप्नवाद का, साहित्यलोचन परिचरित और संतोषि संस्करण सं १९१४ पृ० १।

२ वही, पृ० ८।

ने कला का जो विवेचन किया उसमें काव्य को कला से बहुत ऊँचा स्थान दिया गया जो इस बात का सूचक है कि उनकी दृष्टि उसे विद्युत् भारतीय विज्ञान में उपस्थित करने की थी। बाबू साहब के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती।

साहित्य काव्य तथा कविता सम्बन्धी विचार

८. बंदा कि पहले सकेत कर दिया गया है कि बाबू साहब के विवेचन का प्रमुख दृष्टिकोण पाश्चात्य विचारधारा के बहुत निकट है, यतः उन्होंने कला-विवेचन के पश्चात् साहित्य विस्लेषण का विषय लिया है। वे साहित्य के मूल में भी उन्हीं मनोमार्गों को ग्रहण करते हैं जो समस्त कलाओं के मूल में हैं किन्तु उसके प्रभाव को अधिक विस्तृत और वर्णन को अधिक सूक्ष्म बताते हैं।^१ उन्होंने साहित्य-वर्णन की व्याख्या भारतीय वर्णन की मूल प्रकृति के आधार पर की है और उसे भारत और भनात्य भाव से युक्त माना है।^२ उनकी दृष्टि में सामान्य कलाओं की भाँति साहित्य कला भी एक नैसर्गिक और अखंड सृष्टि है। वे इटली के कला-शास्त्री ब्रॉन तथा इंग्लैंड के प्रसिद्ध समालोचक आई. ए. रिचर्ड्स की उन धारणायों को भी एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं जिन के अनुसार साहित्य क्रमशः एक साम्यात्मिक प्रक्रिया है एवम् उसका धामन्य प्राकृतिक धामन्य से उत्पन्न भिन्न नहीं है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि प्राकृतिक धामन्य की मानता के बिना घरे ही काव्यात्म्य की उपलब्धि न हो सके मगरा उसे प्राचीनिक अनुभूति का आधार न बिना सके किन्तु प्राकृतिक धामन्य और साहित्यिक धामन्य को एक मानना भी उचित नहीं है। वस्तुतः उनका साहित्य की चिरन्तन और चिरनवीन स्थिति पर अधिक विश्वास है और वे उसे मानवता का वर्णन मानते हैं जिससे यह भी अभिनित है कि उसकी ओरों विज्ञान की ओरों से प्रत्यन्त दूर है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में डीपेन्ही ने ज्ञान तथा शक्ति के नाम पर साहित्य का जो विभाजन किया था वह बाबू साहब को साह्य प्रवीण हुआ है और वे भी बतित मगरा भाव के साहित्य को ही मूलतः सच्चा साहित्य मानने के लिए उद्यत हो गये हैं। उनका यह विस्लेषण भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में अनुमोदित काव्य-विवेचन की वास्तविक साहित्य का मूल स्वरूप मानते हुए बना है और वे एतन् विषयक निरूपित विभिन्न दृष्टिकोणों का पूर्ण वेक्षण भी कर सके हैं। इस विवेचन का आकलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बाबू साहब अपने विद्याविमो को सञ्जात्मिक साहित्यसमालोचन की अधिक से अधिक सामग्री प्रदान करना चाहते थे यतः उन्हें प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित जितनी भी सामग्री प्राप्त हो सकी उसका उन्होंने मर्यादा सखि उत्क-वर्णन किया और यथाप्रसंग अपनी भाष्यताएँ भी प्रकट की। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि बाबू साहब साहित्य के विवेचन को प्राप्तसात् कर उसे अपना मौलिक व्यक्तित्व देने में पूर्णतया सफल हुए हैं। उनके विवेचन में कतिपय ऐसे स्वज भी हैं जहाँ वे विरोधमूलक सम्मतियों भी प्रकट कर गये हैं। पर इसका एक कारण विषय की नुडता और मानविक स्पष्टताका भी है। हाँ साहित्य और जातीयता तथा साहित्य पर विदेशी प्रभाव आदि का उन्होंने जो निरूपण किया है, वह अत्यन्त स्पष्ट और व्यवस्थित है।

९. बाबू साहब विभिन्न-विभिन्न काव्य-कृतियों के समष्टि सपह को साहित्य कहते हैं, यतः उनके मतानुसार संस्कृत-काल में जो साहित्य है, मूल रूप में वही काव्य है।^३ उन्होंने काव्य

१. डा. स्वयम्भुवरराय, साहित्यसमालोचन, पृष्ठ २६।

२. वही, पृष्ठ २७।

३. वही, पृष्ठ ४६।

को संकुचित रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति को असमीचीन बतला कर उन समोपकों का विरोध किया है जो किसी भी युग्म से युग्म पद्यबद्ध रचना को तो काव्य की पंखी में परिगणित कर लेते हैं, किन्तु यद्यपि प्रस्तावितों में धर्मिकता सरस और भावनात्मक उक्ति को भी काव्य की संज्ञा नहीं देते। वस्तुतः पोद्दामी जी के भाव भेद रसभेद धाराओं की उक्ति के आधार पर बाबू साहब को काव्य की बराबरी तथा विस्तीर्ण सुनि ही प्राप्त है जिसमें रस शोभर्म रमणीय धर्म प्रसन्नकार तथा भाषा भाषि विषय उसके प्रमुख ग्रंथ बन कर उपस्थित होते हैं। बाबू साहब के मतानुसार काव्य का सत्य ध्वनी विधिप्रता में जन्मे ही कुछ धर्मिकता ग्रहण कर स किन्तु उसका मोक्ष हितकारी पद्य कथापि ज्ञेयसीय नहीं समझा जा सकता। उन्होंने समोपत्तियों तथा विषयों के आधार पर काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसके जो उपादान निरदिष्ट किये हैं वे उनकी उन्नत मेधा-वृत्ति के प्रतीक हैं। उनमें व्यंजित विचारणार्थों ने उसकी परबर्ती समासोपना को विकसित होने में पर्याप्त प्रेरणा और आधार प्रदान किये हैं। उनका 'काव्यकार की सामना' विषयक निरूपण मौलिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार उन्होंने काव्य के वास्तविक अध्ययन के लिये काव्यकार की प्रतिभा का परिचय उसकी रचना-वैली समायुक्त और विकासपुक्त तुलनात्मक प्रस्तावी जीवन चरित्र और यद्वा भाषि को इसके मुख्य उपादान निरदिष्ट करते हुए काव्यालोचन का एक प्रतिमान का प्रस्तुत कर दिया है जिसकी प्रसन्नता है उनकी व्यवहारिक समासोपनाओं में मिलती है। निश्चय ही यह प्रतिमान समीक्षण कार्य का एक धार्य माना जा सकता है।

२२ बाबू साहब की ऐच्छान्तिक समासोपनाओं में एक विचारणीय विषय यह है कि यद्यपि उन्होंने काव्य का विश्लेषण करते समय उसके घटनेत यद्यपि रस दोनों का समावेश किया था किन्तु कविता की सीमा उन्होंने पद्यबद्ध साहित्य तक ही परिमित रखी है। भावे चमकर और दोनों में सात्विक ऐकाग्र्यपक्ष कर दोनों का विभेद व्यावहारिक दृष्टिकोण में ही माना है। कहने के लिये तो बाबू साहब ने कविता का विश्लेषण काव्य से जिन स्वयं में किया है किन्तु उसमें भी प्रामांश ही बाँटें कहीं नहीं हैं जो काव्य के सामान्य लक्षणों में पायी हैं। उनके मतानुसार सात्विक कृतिवी कविता प्रकृति काव्य के लिये अनिवार्य है ही किन्तु साध ही साध उसके भाव-पक्ष और कला-पक्ष में भी समन्वय की साधना का कम महत्त्व नहीं है। वे भाषा की मजबूत व्यवस्था भाषि कविताओं को उद्बुद्ध और पुष्ट करके भाषाओं को रसपय बना देना ही वस्तुतः साहित्य के कला-पक्ष का काम मानते हैं जिसके अनुसार काव्य प्रकृति कविता भी इसी पंखी में परिगणित हो पाते हैं।^१ उन्होंने कविता की साधना को मुख्यतः धर्मों की साधना कहा है और उसका व्यवस्थापन से भी सम्बन्ध निरदिष्ट किया है। भारतीय कविता के रूप को लेकर प्राचीन काव्यशास्त्रकारों ने जिन विन्य-विन्य मतों का निरूपण किया था उनका सामान्य परिचय देकर बाबू साहब ने बतलाया है कि कविता की व्यञ्जक कविता कविताओं के महत्त्व तथा उसके धार्य और कवि कल्पना भाषि के विषय में उनके केहे-केहे विचार हैं। उनका यह विश्लेषण पर्याप्त ही विवेक है क्योंकि उसमें स्वानुवृत्ति और सात्विक निरुपय की प्रवृत्ति बहुत कम है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उन्होंने कविता के व्यावहारिक विभाग कर किन्हीं कविता के स्वयं-विकास का जो एक रेखाचित्र उपस्थित किया है, वह अत्यन्त पञ्जीय और सारवर्धित है।

हृदय और मध्य काव्य का निरूपण

२३ बाबू साहब के 'साहित्यालोचन' में यद्यपि काव्य का विश्लेषण अत्यन्त विस्तृत और

१. का. रसम सुन्दर दत्त, साहित्यालोचन, पृष्ठ ७२।

२. वही, पृष्ठ २१।

व्यापक विधान में हुआ है। उसका पाँचवाँ अध्याय तो केवल बुद्ध काव्य के विवेचन से ही सम्बन्धित है जिसमें बुद्ध काव्य की उत्पत्ति और नाटकों की परम्परा के विषय में भारतीय और यूरोपीय विचारों की सार्वभौमिक छद्मरूपी एक स्थान पर मिल जाती है। इस विवेचन में धनुकराय की नाटक की प्रवृत्ति मान कर यूनानी कल्प-कला के क्रमिक विकास का भी सामान्य विवरण हो गया है और प्राक्कन साहित्य-क्षेत्र में भावार्थ और यथार्थवाद के नाम पर जिस प्रकार की धारणा प्रस्तुत की जाती है उनके नाटकान्तर्गत महत्त्व और स्थान का भी प्रसंगानुसृत सामान्य संकेत दिया गया है। उसमें भारतीय कल्प-रचना प्रभावशाली कल्पों का कल्प और धर्मिय धर्म के सम्बन्ध में धनैकानेक विचारों का संकलन भी है। इसके अन्तर्गत नाटक और उपन्यास का प्रसरण बतसा कर नाटकों की विशेषताओं के उद्घाटन का साधारण प्रयास हुआ है और धाने वस कर वास्तव्य नाट्य-साहित्यों की विचारणानुसार वस्तु, पात्र कथोपकथन रेश काव्य रीति और उद्देश्य नामक धर्मोपयोगों के अन्तर्गत नाटकों के छः तत्वों का विवेचन किया गया है। इस विवेचन में 'साहित्य-वर्ण' और अरुत के 'नाट्यशास्त्र' से यथेष्ट सामग्री भी यही है और एक प्रकार से उन्हीं के विवेचन पर आधारित होकर यह सारा निष्कर्ष हुआ है। नाटक-रचना के सिद्धान्तों के अन्तर्गत धर्म प्रवृत्तियाँ संघर्षों धारि की जो बर्ण हैं वह भारतीय 'नाट्य शास्त्र' के अनुसार है। साथ ही साथ संकलन वय के अन्तर्गत यूनानी विचारकों द्वारा निरूपित वस्तु, काव्य और स्थान रीतों का विवेचन कर भारतीय नाट्य-मीमांसा में प्रतिपादित रेश-काव्य के साथ उनका सामान्य प्रस्तापित किया गया है। अन्त में कल्प के १० और उपकल्प के १० रेश बिनाकर धर्म्य सामान्य किया गया है। इस विवेचन की सारी सामग्री प्रायः यही है जो उनके इन कल्प-रहस्य में है और इसमें नाट्य-शास्त्र और साहित्य-वर्ण की प्रत्येक स्थानों पर तो कल्पों की रीतें छद्मरूपी रेश कर ही कतिपय धर्मोपयोगों ने इसे सर्वतोभाष्य प्रवृत्ति धर्म कहने का साहस किया है। कुछ भी हो बावु साहब ने इस विवेचन द्वारा साहित्य धर्मोपयोगों के रूप में अपने प्राचीन साहित्य के प्रति एक विज्ञाना धर्म्य उत्पन्न कर दी है और यह धारणा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ?

५४ बाबू साहब ने कल्प-काव्य-विवेचन के अन्तर्गत धर्म्य काव्य का विवेचन किया है जिसके अन्तर्गत उपन्यास धार्यायिका निबन्ध मुक्तक काव्य और साहित्यिक धर्मोपयोग सम्मिलित है। उनके इस विवेचन में उपन्यास और धार्यायिका साहित्य पर तो फिर भी निरूपित विवेचना मिल जाती है किन्तु निबन्ध-साहित्य पर इनकी अपेक्षा बहुत कम सामग्री उपलब्ध होती है। मुक्तक काव्य पर तो उन्होंने सर्वथा धर्म्य सामान्य और वसती बातें कहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तक काव्य की ओर बाबू साहब की विशेष रीति भी ही नहीं धर्म्यता उस पर भी बहुत कुछ सिखा जा सकता था। उन्होंने मुक्तक काव्य की वस-रीति का धर्म्य कहा है और बतसाया है कि जो स्थान वय में रहस्यमयी कविता का है वही स्थान वय में मुक्तक काव्य का है।^१ उनका उपन्यास विषयक विवेचन यथेष्ट व्यापक और सधा हुआ है। वे उपन्यास का साहित्य में स्थान निर्धारित करत हुए यह भी स्पष्ट कर सक हैं कि कल्प धर्म्य नाटक की रीति उपन्यास की भी कोई धार्यायिक धर्म्यता नहीं और उसके एक और वीरगी और वृष्टी और कविता रहती है।^२ उपन्यास और छोटी कहानी या वस्य का वसा सम्बन्ध है उपन्यास के कोटि-क्रम कीन कीन से हैं तथा हिन्दी में उपन्यासों की कवी साहित्यिक परम्परा रही है ? इन सब विषयों का भी उन्होंने क्रमिक विवेचन किया है। साथ ही साथ उपन्यासों के तत्वों के अन्तर्गत वस्तु पात्र कथोपकथन रेशकाव्य रीति और उद्देश्य का धर्म्य धर्म्य विवेचन कर उपन्यास में धर्म-

१. डॉ. स्थान अन्तर शत साहित्योपयोग, पृष्ठ २३।

२. यही, पृष्ठ १५०।

व्यक्त-वचन और नीति-प्राप्ति पर भी अपनी साम्यवादी का व्यक्तीकरण किया गया है। इस विवेचन में जानू साहब ने अध्यापन-कला की विरलेषणात्मक शैली का प्रयोग किया है जिसका एक उद्देश्य विषय का अधिक से अधिक विस्तरीकरण के साथ धर्मिर्भजन होता है।

२२. बाबू साहब ने धार्यायिका-साहित्य पर कम लिखा है किन्तु जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त सारपन्नि है। धार्यायिका का धारकार कितना बड़ा हो ? उसका मकसद क्या है ? उसका धोर नीति काव्य का क्या सम्बन्ध है—इन विषयों पर भी उन्होंने प्रकाश डालने की चेष्टा की है। धार्यायिका शाय मोक्ष-सेवा तथा उसमें प्रयुक्त नाटकीय धार्यायान पर भी संक्षिप्त विवेचन है। अन्त में धार्यायिका के सिद्धान्तों का निरूपण है। यह सारा विवेचन शाय यूरोपीय संज्ञा-त्मक समालोचना का सत्य है जो मुख्यतः इङ्ग्लैंड के दार्शनिकों के निचोड़ के रूप में प्राया है। अग्निशाय यह है कि बाबू साहब ने धार्यायिका के विवेचन में अपनी मानसिक क्षमता धोर अग्निशाय के अनुकूल वर्णित सामग्री देने की चेष्टा की है। हाँ इस विवेचन की अपेक्षा उन्होंने निबन्ध-साहित्य का विश्लेषण स्वयंसेवक पर किया है। पश्चिमी साहित्य में जिस रूप से निबन्ध का विकास हुआ है, उसका विवरण देकर उन्होंने बतसाया है कि निबन्ध के मुख्य उपकरण तथा उसकी प्रमुख शक्तियाँ कौन-कौन सी हैं। उन्होंने 'धातोचनारूपक निबन्ध' के अन्तर्गत प्राये बाले विषयों का विवरण भी दिया है और हिन्दी निबन्ध के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा निबन्ध-साहित्य अपने वर्तमान स्वरूप में किस स्तर पर वर्तमान है।

रस जैसी और आसोचना का विवरण

२६ रस धीर रस की विशेषता करने के पूर्व बाबू साहब ने साहित्य की मूल मूल्य वृत्तियाँ धीर रस के विभिन्न पक्ष काव्य के उत्पत्तिस्थान धीर संतुष्टकरण की वृत्तियाँ तथा मुक्ति कल्पना धीर मनोवैशेष का विस्तेषण किया है, जिसका मूल अर्थ यह है कि पाठक रस के मूल धारों या मनोविकारों तक पहुँच उनके धीर उनकी मिति पर रस-निष्पत्ति को समझ सके। उन्होंने मानवीय भावों को मुख्यतः शक्तिजनित प्रसारक धीर गुणात्मक के भेदों में विभक्त कर उनके सहायक विभाव अनुभाव धीर संघाती भावों का सामान्य परिचय देने के पश्चात् भरतमुनि के रस-निष्पत्ति विषयक सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना की है जो हमारे सम्मुख रस-सिद्धान्त की व्यापकता धीर पम्पीरता प्रस्तुत कर देती है। इसी प्रसंग में भट्ट सोमट के उत्पत्तिवाद, धंक्र के अनुमितिवाद भट्टनायक के मुक्तिवाद धीर धर्मिनवमुक्त के धर्मिण्युक्तिवाद की सैदान्तिक बर्णाई भी है, जिनमें भरत मुनि के रस-सूत्र का विस्तेषण विभिन्न सांस्कृतिक साम्यताओं को धारा बना कर किया गया है। बाबू जी ने व केवल प्रसार विषय द्वारा प्रतिपादित 'मनुष्यी धूमिका' धीर 'पर प्रत्यक्ष' की विचारधारा भी उद्धृत की है। जिसके अनुसार रस का धान्य पक्षीकिक प्रति प्राकृतिक प्रपञ्च पञ्चामास्य सिद्ध होता है। बाबू जी रस की निष्पत्ति रस प्रतिरेकण में स्वीकार नहीं करते। उन्होंने रस को 'पर प्रत्यक्ष-मय्य' (सुपर सेंसुअल) माना है धीर अपने निरुप में प्रापुषिक मनोविज्ञान का भी समावेश किया है, जिसके अनुसार रस पक्षीकिकता की पक्षीप्रियता से मुक्त नीचे उतर पाता है। बाबू साहब का यह विवेचन उनकी प्रज्ञा का प्रतीक है, पर इसे ही धर्मिण्युक्ति विवेचन नहीं कह सकते क्योंकि रस-निष्पत्ति इतना सामान्य विषय नहीं है जिस पर अपना सहसा निरुप दिया जा सके। यह तो यह है कि इसके समीक्षक में भारतीय भाषाओं के अपने विभिन्न दृष्टिकोणों से जो व्यापक प्रपञ्च तक-वितर्क प्रस्तुत किए हैं, वे कई भावों में प्राप

निक मनोविज्ञान से अधिक उपाय और मजबूत हैं। यद्यपि हमें तो बाबू साहब का यह विवेचन साहित्य के अध्ययन को प्राधुनिक मनोविज्ञान के बराबर पर ध्यान बढ़ाने की प्रस्तावना मान ली जा सकती है। प्राचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल या मणेश्वर पं० नरसुन्दर बाबुपेयी आदि विद्वानों ने इस विषय को पर्याप्त ध्यान बढ़ाया है, फिर भी इसके सम्बन्ध में विवेचन के लिए यथेष्ट अवकाश बना हुआ है।

८७ प्रत्येक रस के सामान्य धर्मों, उदाहरणों और पारस्परिक विरोधों का उल्लेख करने के पश्चात् बाबू साहब खेती के विवेचन में धमके हैं। उन्होंने पहले तो यह स्पष्ट किया है कि खेती का क्या क्या है और फिर उसके अन्तर्गत सब्जियों का महत्व, बाक्सों की विवेकता और उमरे प्रभाव का विवरण दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत भारतीय खेती के आधार, विपरीत विवेचन भी यथेष्ट उपाय है। अन्त में काम्य खेती के अन्तर्गत धर्मकारों का स्थान, बाग्य और पर्वतान्यास की महत्ता, अन्न-बोजन और मुखचर्चा का उल्लेख है। प्रस्तुत विवेचन में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि खेती की चेष्टा उसकी बुद्धिमान में न होकर उसकी सरलता, सुबोधता और धर्मव्यवहार समिति में होती है।^१

८८. साहित्यलोचना का अन्तिम अध्याय साहित्य की आलोचना है, जिसके प्रारम्भ में आलोचना की परिभाषा करते हुए बाबू साहब ने लिखा है कि 'साहित्य-क्षेत्र में धन्य को पकड़ कर उसके दुर्गों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। उनके अन्त में 'साहित्य यदि जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है और उसका क्षेत्र साहित्य की सभी विधाओं तक व्याप्त है यहाँ तक कि आलोचनात्मक अन्तों की भी आलोचना की जा सकती है। उन्होंने आलोचना का क्षेत्र निर्धारित कर आलोचना का उद्देश्य उसकी उपादेयता, आलोचक के आत्मिक गुरु आलोचना द्वारा साहित्य-बुद्धि तथा आचार्य तथा आलोचना करते समय प्रयुक्त विधि का विस्तारण कर यह बतलाया है कि साहित्य-निर्मिति में उसका क्रिया अधिक उत्तरदायित्व है। उन्होंने भारतीय और पारश्चात्य आलोचना तथा उसके निर्माताओं का भी उल्लेख किया है और स्वाधीन साहित्य के कुछ निश्चित कर सिद्ध किया है कि उसका प्रतिमान आलोचना किस रूप और प्रकार में दृष्टि करे। स्पष्ट है कि बाबू साहब ने साहित्य की आलोचना को अधिकाधिक व्यापक रूप में व्याख्या करने का प्रयास किया है। उन्होंने बतलाया है कि साहित्य जब अपने स्वयं का विवेचन स्वयं करने लगता है तभी आलोचना का अन्त होता है। उन्होंने आलोचना को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना है जिसके अभाव में साहित्य के विकास की कल्पना की ही नहीं जा सकती।^२

८९. जैसे तो साहित्य की जाति आलोचना की भी एक सम्पूर्ण इकाई प्रपञ्च निरवेष्ट होता है किन्तु उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण से विभाजन भी किया जा सकता है। बाबू साहब ने भी प्राधुनिक आलोचना के वैज्ञानिक (सैक्युलरिज्म) व्याख्यात्मक (इन्टरप्रेटिव) निर्णायक (जुडिसीय) तथा स्वतंत्र अथवा आत्म प्रमाण (प्री और सपेक्टिव) नामक चार प्रकार विभाजित हैं। कहने के लिए तो आलोचना के ये चारों भेद स्वतंत्र हैं किन्तु इनका पारस्परिक सम्बन्ध अन्तर्गत है। बाबू साहब 'गुप्त सिद्धांत' और 'उसका प्रयोग' नाम से आलोचना के सूक्ष्म विभाजन को भी स्वीकार करते हैं, जिसमें 'काम्य-सीमाता' 'काम्य-प्रकाश' 'साहित्य रचना' आदि प्रत्येक पक्षों के अन्तर्गत आते हैं और सूर, गुनछी, बाग्यी और कबीर आदि कवियों पर

१. य. स्वयम्भुवराय, साहित्यलोचना संशोधित संस्करण १९३५, पृष्ठ १६१।

२. पृष्ठ १६०।

३. पृष्ठ १६२।

मिली गई मासोचनाई दूसरी थोड़ी के अन्तर्गत आती है। इसी क्रम में बाबू साहब ने प्राये सबकर उपर्युक्त चारों प्रकारों की समालोचनाओं के अन्तर्गत कौन-कौन से विषय आते हैं तथा इनके क्षेत्र की व्यापकता कहाँ तक है, इसका भी विश्लेषण किया है। साथ ही साथ वे इनको लेकर बताने वाले विभिन्न प्रकारों का यथावसर विवेचन करते थे भी नहीं चुके हैं। उन्होंने प्रत्येक थोड़ी के मासोचक को यह सत्यतापूर्ण दिया है कि वह समालोचना करते समय विषय-वृत्ति प्रकृति मानव-प्रावर्य को अवश्य दृष्टिगत रहे अन्यथा उसकी समीक्षा में संकीर्णता का दोष पा जायगा। वे समालोचना के अन्तर्गत प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग को भी कम महत्वपूर्ण विषय नहीं मानते और विदेशी भाषाओं से उद्धृत शब्दों के विषये अपनी भाषा से उपयुक्त पर्यायवाची शब्दावली को समालोचना के पक्ष में परम विधि मानते हैं। कहना होगा बाबू साहब ने समालोचना के महान उत्तरदायित्व के विभिन्न पक्षों का सर्वांगीण निरूपण करने में कोई कसर नहीं रखी है और उनका समालोचन-विश्लेषण विवेचन परमेश्वर सर्व-सम्पन्न और उत्तमकुल है। अपनी सुबोध धीनी में इसका निरूपण जिस वैज्ञानिकता से हुआ है, ऐसा अध्ययन बहुत कम देखने को मिलता है।

२०. समालोचना के इसी प्रसंग में बाबू साहब ने बतलाया है कि येष्ठ समालोचक के विषये जिस प्रकार पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान अनिवार्य है उसी प्रकार उसके विषये शब्द-शक्ति का ज्ञान साहित्य की प्रकृति की परीक्षा और समालोच्य विश्व और प्रत्यक्ष की प्रकृति की जानकारी भी आवश्यक है। उनकी तो यह दृष्टि चारुणा है कि मासोचक को अपने मासोच्य विषय के ज्ञान की अनिवार्यता और प्रभावशक्ति का भी ध्यान रखना चाहिए और यथासम्भव प्रत्यक्षा के क्षेत्र से निरन्तर बचने का भी ध्यान रखना चाहिए। इस सामान्य विवेचन के परन्तु उन्होंने हिन्दी समालोचना की उपवीक्ष्य सामग्री संस्कृत समालोचना-प्रवृत्ति की विशेषताओं का निरूपण किया है और यह बतलाया है कि संस्कृत समालोचक सर्वथा निष्पक्ष और निर्भीक बनकर बताने का गुण ध्यान रखता है। उन्होंने बतलाया है कि समालोचक को कठि-वस्तुता पूर्वक ही धारि शब्दों से बचना चाहिए और यथासम्भव वाचों के बतलाने में भी नहीं संकोचना चाहिए। उन्होंने संक्षेप में बतलाया है कि समालोचना का इतिहास प्रस्तुत कर यह भी बतलाया है कि भारतीय सिद्धान्त के साथ उसका किस प्रकार सम्बन्ध बनाया जा सकता है। सारांश यह कि बाबू साहब ने अपने इस परिच्छेद में समालोचना के सिद्धान्त पक्ष से सम्बन्धित अनेक प्रकार की ज्ञान-सामग्री और उपलब्धियाँ हमें प्रदान की हैं जिनके कारण ज्ञान के अन्तर्गत संसार के रूप में उनका साहित्यमा-लोचन सर्वत्र सम्मानार्ह रहेगा इसमें कोई शक नहीं किया ही नहीं जा सकता। वस्तुतः वे साहित्यमा-लोचन की रचना कर वैज्ञानिक समीक्षा के लिए एक नमूना पथ प्रदर्शन कर गये हैं और इस दृष्टि से हमका यह ग्रन्थ साधुनिक हिन्दी समालोचना के विकास क्रम में किसी भी आवश्यकमान बचन से कम मासोच्य नहीं कहा जा सकता।

निष्कर्ष तथा सामान्य कतिपयों का उत्प्रेषण

२१. निष्कर्ष यह है कि बाबू साहब ने 'साहित्यमालोचन' की रचना कर समालोचना के वैज्ञानिक पक्ष का विवेचन भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि की सम्बन्ध-स्थापना के रूप में किया है। यद्यपि उनकी कृति में संश्लेषण की भाषा भी कम न रही फिर भी हिन्दी-समीक्षा की दृष्टिगत को दूर करने में साहित्यमालोचन सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। यह ग्रन्थ उनकी सिद्धान्त-विवेचना का प्रारम्भ कहा जा सकता है, किन्तु इसी से उनकी समालोचक-प्रतिभा की समाप्ति नहीं सम्पन्न हो गई। उन्होंने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का जो इतिहास लिखा है अथवा 'भाषा-विज्ञान' जैसे मूलन विषय पर अपना आधुनिक दृष्टिकोण प्रदान किया है उसकी मुद्राई पराजित होने पर भी

उनकी अपनी टक्काल में इसी हुई है। उनकी समालोचनाओं में प्राचीन काव्यकारों की जीवन रचनाओं की घोष तथा हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण मात्र भी हमारे अनुसन्धानकर्ताओं के उपयोग की स्वामी सामग्री है। 'भारतेन्दु-नाटकावली' 'कबीरदासावली' 'सतसई सप्तक' 'राधा-कृष्ण प्रन्दावली' 'गोस्वामी तुलसी दास' संक्षिप्त परमावृत 'हिन्दी निबन्धमासा' और 'रानी केठकी की कहानी' आदि पुरतकों से हमें उनकी समालोचक-प्रज्ञा का ज्ञान हो जाता है। इन समस्त पुस्तकों में बाबू साहब के व्यक्तित्व को धार है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका और 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में उनके समय-समय पर जो लेख प्रकाशित हुए हैं उनसे भी उनकी समीक्षा-बुद्धि का ज्ञान होता है। अतिशय यह है कि स्वामनुस्वरदास जी का हिन्दी साहित्य को सामान्य विकास प्रदान करने के साथ उसके समालोचनात्मक संवर्धन में भी विचिष्ट हाथ है और वेदविश्वी-युग की पार्श्व भूमि में अपना ऐसा ससाधारण व्यक्तित्व रखते हैं जिसके समस्त किसी अन्य समालोचक की गणना की ही नहीं जा सकती। कहना होया हिन्दी साहित्य और उसकी समालोचना को विकसित करने वाले समालोचकों का निर्माण बाबू साहब के प्रेरणाह्वन और माध-दर्शन से ही हुआ है और भावी पीढ़ी उनके प्रति मात्र भी सदावगत है इसमें कोई संशेद नहीं।

(४)

प० पद्मसिंह शर्मा

समालोच्य विषय और नवीन परम्परा का उद्गम

१२ पं पद्मसिंह शर्मा की हिन्दी-समालोचना के संवर्धन-काल में दिए जाने वाले महत्त्व का मूल कारण उनकी बिहारी की सतसई की समालोचना है। यद्यपि उनके पूर्व भी बिहारी की सतसई एक लोकविषय रचना रही है और उस पर ब्रजभाषा तथा पड़ी बोली के दक्ष-पक्ष में अनेक टीकाएँ भी लिखी गई हैं, किन्तु शर्मा जी ने उसके भाष्य की भूमिका के रूप में तुलनात्मक समालोचना-पद्धति को धारण बना कर उसका जो काव्य-नोष्ठन विवेचित किया है, वह प्रभुत-पूर्व है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शर्मा जी ने सतसई की टीका और भाष्य विषय कर बिहारी को चित्त-साहित्य के महान् कवियों की श्रेणी में अतिष्ठ कर के प्रतिष्ठित किया है जो बिहारी ने भी मार्गों ऐसे विद्वान और गुणवाही समालोचक के लिए अपना रचनात्मक साहित्य प्रस्तुत कर उसे समालोचना क्षेत्र में अरबस्त औरकपूर्व स्थान प्राप्त करने का अवसर दिया है। शर्मा जी के पूर्व इस प्रकार बिहारी का गुण-संस्तर किसी भी समालोचक द्वारा नहीं किया गया था। इस क्षेत्र में उनकी समालोचना वस्तुतः विचिष्ट प्रकार की जो अतः विद्वानों का ध्यान उसकी ओर नैसर्गिक स्वल्प में आकृष्ट हुआ और वे समालोचना-क्षेत्र के महान् महारथी समझे जाने लगे। हिन्दी समालोचना के संवर्धन-काल के प्रारम्भिक चरण में उनके समान प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न मेधावी समालोचक बहुत कम थे जिन्होंने इस प्रकार कवियों के रचना-कोष का विस्तेषण तुलनात्मक पद्धति से किया हो। उनकी इस प्रकार की समालोचना का इससे अधिक और क्या महत्त्व हो सकता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग में सं १९७१-८ में बारह जो स्पर्धों का मयमाप्रासाद पारितोषिक अपने कानपुर में आयोजित जयोदध आषिक परिषद पर उपरि भी पुरस्कोत्तम दास टंडन के समायोक्तिक में उन्हें प्रदान किया। उस वर्ष के निर्णायकों ने उनकी 'सतसई' को हिन्दी समालोचना जगत् का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ घोषित किया था। समालोचना के उत्कर्ष-पीन स्वरूप को देखते हुए वह निर्णय वस्तुतः समीचीन हो या क्योंकि जिस प्रकार और प्रणाली की समालोचना पं पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' का विशद विस्तेषण करते हुए सिद्धी भी देदी उनके पूर्व किसी भी समालोचक द्वारा नहीं लिखी गई। यावत् उनकी समालोचना के पदार्थ हिन्दी-समीक्षा अनेक प्रकार की निष्प्रोत्पन्न श्रेणियों को पार कर अपने रूप तथा प्रकार

में वास्तविक विकासपूर्वक बन गई है किन्तु धर्मा जी द्वारा प्रतिष्ठित समासोचना-पद्धति को उसी रूप में विकासी-मुख बनाने का सुष्ठु प्रयास बहुत ही कम हुआ है। मेरी दृष्टि में उनकी सतसई में तुलना और प्रभावानिव्यञ्जन का ऐसा सुन्दर सम्मन्ध है जिसमें उनका प्रख्यन्न पांडित्य भिन्न कर उसे समीक्षा-विशेषों का मध्य विधान प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है।

१३ वं पद्मसिंह धर्मा ने बिहारी की सतसई की विषय-समासोचना लिखकर हिन्दी साहित्यालोचन के क्षेत्र में एक नवीन परम्परा का उद्घोष किया है। उस युग में उनके पूर्व वं रामचन्द्र शुक्ल के दतिरिक्त कदाचित् ही किसी धर्म्य समासोचक ने इस प्रकार की प्रबन्धपूर्ण समासोचना लिखी हो। जैसे तो संस्कृत-साहित्य में भी कवियों की पारस्परिक तुलना का विधान रहा है किन्तु वह सुब प्रणाली से अधिक विषय नहीं कहा जा सकता। संस्कृत के अनुकरण पर हिन्दी-साहित्य में भी तुलना की जो विधा पूर्ववर्ती युग में प्रचलित रही वह भी वास्तविक प्रयोजन और सुबद्ध थी। उसके पर्यालोचन से अनुमान होता है कि वत्सामीन समासोचक तुलना की कोई निश्चित दृष्टि प्रबन्ध निर्धारित प्रतिमान न बना पाने के कारण ऐसे कवियों को भी समीक्षण तुलना पर प्रतिक्रिया करने के लिए उद्यत हो जाते थे जिनके साथ पक्ष और कक्षा-पक्ष में किसी भी प्रकार का कोई धर्म्य ही नहीं होता था। धर्मिप्रभाव यह है कि हिन्दी समीक्षा-व्यवस्था में भी तुलना की प्राचीन परम्परा के मूल बिन्दु से ध्वस्त किन्तु जिस विन्य-विधान और प्रक्रिया-पद्धति में वं पद्मसिंह जी ने उसे नवीन उद्भाषना प्रदान की वह पूर्वयुग की अपेक्षा मौलिक और अभिन्नवर्णीय की धरा इस दृष्टि से उन्हें धार्मिक हिन्दी-समासोचना में तुलनात्मक प्रणाली का वास्तविक उन्नायक कहना वास्तविकपूर्ण नहीं माना जा सकता।

वैयक्तिक अभिव्यक्ति और प्रभावानिव्यञ्जन की भाषा

१४ वीं तो धर्मा जी ने सतसई की समासोचना में वैयक्तिक शक्ति और प्रभावानिव्यञ्जन पद्धति का ही प्रभावना प्रयोग किया है किन्तु उसका एक शास्त्रीय भाषा भी ध्वस्त है। वह शास्त्रीय भाषा रूढ़िप्रसू और संकुचित नियमबद्धता की प्रणाली के मुक्त और स्वच्छन्दवादी विधि में प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने अपनी समासोचना के प्रारम्भिक बचतन्त्र में कविता की अव्योपिता और महत्त्व का विवेचन कर अपनी समासोचना को प्रतिष्ठित करने की एक पीठिका प्रस्तुत कर ली है जिसका मंच शृंगार के मणि रत्नों से आसक्ति है। कहा जा सकता है कि धर्मा जी का शृंगार रस का यह विवेचन अत्यन्त भावमय और भाव्यावजनक है। अपने कथन को परिपुष्ट बनाने के लिए उन्होंने शृंगार के माहात्म्य को अनेक सुनीयनों की उक्तियों में विन्युष्ट किया है, जिसका मूल प्रयोजन यह सिद्ध करने का है कि बिहारी ने जिस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का प्रहार किया वह बस्तुतः भाव-धीन का अत्यन्त आकर्षक और अभ्युत्थन पक्ष है। इस विवेचन में उन्होंने उन लोगों की मनोवृत्ति का भी ठाढ़क खनन किया है जो शृंगार की प्रस्तीकता का पर्याय समझकर उस पर नाक भी छिकोड़ते हैं और बिहारी के काव्य में किसी भी प्रकार का उन्मत्त पक्ष नहीं पाते। डिनेही युग में इस प्रकार की पूर्व-पीठिका के प्रचार पर वाक्यालोचन की पद्धति का बहुत कम विकास हुआ था धरा इस दृष्टि से भी धर्मा जी के कार्य का महत्त्व स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। यह वास्तविक है कि इस प्रकार की समासोचनात्मक प्रणाली से अनेक बार अपने पक्ष-संवर्धन का अनुचित आतिरेक्य भी व्यंजित होने से नहीं बच पाता।

१५. धर्मा जी ने बिहारी की सतसई की जो इतनी विषय-विवेचना की उसका मूल कारण तो उनकी दतिरिक्त अभिव्यक्ति प्रबन्ध मानसिक प्रवृत्ति तो थी ही किन्तु उसका बाह्य कारण एक और भी है। वह यह कि उन्हें सन् १९९७ मित्रगी में प्रायः वर्ष भर 'सरस्वती' पत्रिका में सतसई की एक प्रसिद्ध टीका पर 'सतसई-संहार' दीपक एक कटु आलोचना लिखनी पड़ी जिसने

विद्रु-समाज का ध्यान उनकी ओर धाकूट किया और जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपनी अभिवृत्ति तथा पाठकों के सामुदायिक निबन्धन के कारण सतसई का भाष्य और समीक्षण करना पड़ा। ऐसा करते हुए सर्मा जी ने सतसई की समस्त उपसम्पत्तिकाओं और विवेचनाओं का उपयोग किया था और उन सबके अध्ययन के पश्चात् उनका मानस-सौक में जो प्रतिक्रिया हुई, उसी का परिणाम हुआ सतसई की समासोचना। सचमुच इस प्रकार की तुलनात्मक समासोचना का मार्ग उन्होंने हिन्दी-साहित्य में स्वयं निकाला है और ऐसा करते हुए पारम्पर्य साहित्य और भारतीय तथा मराठी साहित्य-परम्परा का भी पञ्चावसर प्रयोग किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तुलनात्मक समासोचना को सुन्दर अभिव्यक्ति और रूप-रचना प्रदान करने के लिए उन्हें अग्रगण्य साहित्यों का भी मन्वीर और सतस्पर्शी अध्ययन करना पड़ा था क्योंकि यह स्वाभाविक है कि जब तक इस प्रस्तावी में प्रवृत्त होत बाने समासोचक का अध्ययन व्यापक नहीं होता तब तक उसे इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। मेरी समझ में सर्मा जी का यह प्रयास अपने इन का सर्वप्रथम प्रयास है और यही कारण है कि इसने हिन्दी प्रेमी बुद्धिचित्त बनों का ध्यान समासोचना जैसे चुपक और मन्वीर समझे जाने वाले विषय की ओर जिसकी क्षमता से प्राकटित किया उठना किसी अन्य समासोचक की कृति ने नहीं। सच तो यह है कि सर्मा जी की इस समासोचना को पढ़ कर अनेक उचित-बनों ने बिहारी की सतसई का आलोचनात्मक अध्ययन किया और उसके कम्प्य औरस्य का आस्वादन कर अपने को कुतूहल बनाया। इस प्रकार उनकी यह समासोचना एक ओर बहूँ हिन्दी के रचनात्मक साहित्य के प्रचार औरप्रसार में सहयोगी बनी तो दूसरी ओर अपने अपने समकालीन अनेक समासोचकों को भी मन्वीर स्पृष्टि और पथ-निर्देश प्रदान किये।

२१ कहा जा सकता है कि जिस प्रकार बिहारी की पणवा हिन्दी नवरत्नों में कराने का एकमात्र आधार उनकी सतसई है, उसी प्रकार पं. पद्मसिंह सर्मा को भी हिन्दी समासोचना क्षेत्र में गौरवमय प्रतिष्ठा प्रदान करने का मुख्य कारण उनकी बिहारी सतसई की समासोचना है। चूँकि हिन्दी साहित्य में इस प्रकार का प्रथम प्रयास सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा किया गया था अतः उसमें बुद्धिर्वा होनी भी स्वाभाविक थी। किन्तु इस तथ्य का भी विवेक नहीं किया जा सकता कि सर्मा जी का इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने का ही अधिक श्रेय प्राप्त है। अपने प्रकृत विषय पर आने के पूर्व उन्होंने सतसई के उद्भव और विकास का जो खोजपूछ विस्लेषण किया है वह उनके व्यापक अध्ययन का प्रतीक है। यह विस्लेषण मुख विवेक्य विषय से विनिम्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि आने बस कर उन्होंने भाषा सत्पद्धती आर्वासत्पद्धती तथा प्रसङ्गसत्पद्धति आदि संस्कृत प्रयोगों से जो बिहारी के शोहों की तुलना की है, उनको पृष्ठभूमि में रखकर परिचय प्रारम्भक था। अपनी तुलना का पूर्य बनाने के लिए उन्हें संस्कृत प्राकृत उर्दू और खरसी के साव-साव हिन्दी के भी अनेक कवियों की कृतियों का मन्वीर अध्ययन करना पड़ा था और तब कही जाकर वे बिहारी के साथ उनका साम्य का संतुष्ट बान्धवित कर सके थे। अतः इस दृष्टि से भी उनकी यह समासोचना महिमामणित ही कही जायगी।

समासोचना में सारतम्य, बैज्ञानिकता और व्याख्यात्मक प्रकाश

२७ सर्मा जी की समासोचना में एक ठारतम्य और बैज्ञानिकता है। अपने समासोच्य विषय में प्रवृत्त होने के पूर्व उन्होंने अपने संरक्षण और समन्वय को पूरी मार्वाबन्दी की कर ली है। उन्होंने भाषा-सत्पद्धती आर्वासत्पद्धती और 'प्रसङ्गसत्पद्धति' को बिहारी की सतसई के तीन आराग प्रण माने हैं। वे स्वयम् इस बात को स्वीकार करते हैं कि बिहारी ने उक्त प्रयोगों के अनेक आध्यात्मों से सावरी की है किन्तु उनका यह काय 'ओर-कर्म' नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने

जिन भावों को लिखा भी है उन्हें अपने व्यक्तित्व से परिचित कर उन्हें मौलिक सा बना दिया है।^१ अपने पक्ष को धार्मिक सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'धर्मशास्त्र' तथा 'काव्य-मीमांसा' से उदाहरण देकर धर्मोपहरण की प्रत्यक्ष विधि और मानिक मीमांसा की है जिसका मूल प्रयोजन यही सिद्ध करने का है कि यदि बिहारी के काव्य में पूर्ववर्ती कवियों की छाया प्रतिबिम्बित भी हो जाय तो उसे उनका शेष मानना अनुचित होगा। धर्मा जी का यह धर्मार्थ मैसा ही है जैसा धार्मिक शास्त्रीय ग्रन्थों द्वारा धार्मिक धर्मोपहरण करने के लिए संविधान का उद्धार लेकर उसकी धर्मार्थता में करते हैं।

६८. धर्मा जी की समासोपना का व्याख्यात्मक संघ प्रत्यक्ष धार्मिक है। य बिहारी के दोहों को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए उनके एक एक पद और पदों को लेकर उनके सूत्राति सूत्रम प्रसंग तक पहुँचे हैं और उनके साम्यपूर्ण धर्म कवियों के काव्यांशों के उदाहरण देकर बिहारी की उच्चता और भी व्यापक और पुष्ट बरतन पर सिद्ध कर रहे हैं। उनका ता निर्भीक निरुद्ध है कि इतर विद्वान् चाहे बिहारी के दोहों को लेकर किसी भी विवेचनाएँ करें ग्रन्थ उन पर कुछलिमा या कविता निर्भीक किन्तु बिहारी ने छोटे से छंदों की भांगर में जो भाव-सीमार्थ का सागर भर दिया है, उसकी समता की ही नहीं आ सकती। वे कहते हैं:

"अतः से दोहे में जो धर्म सिद्ध होय या वह वहाँ से निकलत ही इतना फँसा कि कुछलिमा और कवियों के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानो गया का समुद्र बेग प्रवाह है जो धिक्की की लटों से निकल कर फिर किसी के काँध में नहीं धाता। इन्दीवर साध कारस्वामी कर हारे पर मारीरबी के प्रवाह को किसी बड़े से बड़े पड़े में भरकर रोक रखना सामर्थ्य ही बाहर की बात है, हो नहीं सकती ऐसा हो नहीं सकता।"

६९ उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि धर्मा जी का यह विवेचन काव्यसमासोपना न होकर प्रमाणाधिष्ठापन प्रणाली में स्वतः एक भावप्रवण काव्य सा बन गया है। उसमें उच्चप्रवण की सतनी प्रकृति नहीं है किन्तु भारव-विभोर होकर समासोपना विषय की एकमात्र प्रसंगा करने की। निश्चय ही इस प्रकार की प्रणाली पक्ष-काव्य के स्वतः प्रवण रचनात्मक साहित्य के निर्माण में ही अधिक सफल हो सकती है। इससे यह बात तो प्रत्यक्ष स्पष्ट होती है कि समासोपना भी अपनी शानुप्रता तथा समतुल्य में कवि की रस-संविधि के निकट पहुँचने में प्रयत्नशील है किन्तु वह उसका भावन करने में अपना सामयिक अनुमान लेकर कवि के हाथों में केवल सामयिक प्रवण कर देता है जिससे उसका बौद्धिक पक्ष प्रवण के स्वतः पर और अधिक बन जाता है। यों तो समतुल्य संघ साधि पक्षिणी विचारकों ने भी इस प्रकार की प्रमाणाधिष्ठापनवादी प्रणाली को समासोपना की सर्वप्रथम पद्धति माना है किन्तु ऐसा करना संभवतः अधिक उचित नहीं है क्योंकि काव्य-परीक्षण में यदि इस प्रकार की प्रणाली का प्रयोग किया जाय तो वह समासोपना न होकर एक दूसरी भावमय कविता बन जाती है जिसके द्वारा किसी निरुद्ध पर पहुँचना तो प्रयत्न ही है। धर्मा जी की समासोपना में इस प्रकार की प्रकृति अधिकांशतः मिलती है जो अपनी विविधता में अद्वितीय होने पर भी समासोपना के गम्भीर साहित्य को बहन करने में अधिक सफल नहीं है। बिहारी जैसे श्रुतारी कवि के काव्य-विवेचन में इसकी अपेक्षा एक सीमा तक भले ही स्वीकार कर दी जाय किन्तु काव्यसमासोपना का गम्भीर विवेचन तो इसमें किया ही नहीं आ सकता। यतः इसका महत्त्व विवेचन सीमाओं में ही बाध समझ जाना चाहिए। पं रामप्रसाद शुक्ल ने भी

१ रससिद्ध रस्यः बिहारी की उद्धरण पक्षका धर्म, प्रथम उद्धरण पृष्ठ १९।

२ यही पृष्ठ १९।

पुनः प्रहृ तया काव्य-सौष्ठव-विधान
धर्मा जी मे अपनी

[illegible]

पड़ा है। उनकी तुलना की एक शक्ति है। इस हृदय में जोर से धड़कने लगी है।
 “क्या अपनी सुखी है इस हृदय में जोर से धड़कने लगी है।
 एही चिह्न पर धारणा कभी न करते। धरे बाबा धीरे धीरे करके निकाले।
 इस नाम के मुह में से तो मन तो नहीं निकाल सकोगे।
 तुलना के धारणा के इस प्रकार की न जाने कितनी अधिकारी पड़ी है। जिसका समालोचना
 कहना बड़े साहस का काम है। कहना का धारणा यह है कि धर्म की प्रत्येक कृतियों के धारणा का उद्देश्य है।
 करने के लिए संस्कृत प्राकृत धर्म का धारणा का प्रयास करना का प्रयास किया है।
 कर इसी प्रकार उन्हें बिहारी की प्रतियां से हीन सिद्ध करने का प्रयास करते हुए उस
 १०२ धर्म की समालोचना की धुन को ने एक सीमा तक प्रसंगा करत हुए उस
 कविगत ही माना है धीरे-धीरे धर्म का धारणा का प्रयास करने का प्रयास किया है।
 को एक धारणा वाली बात कहा है। किन्तु इससे धर्म का उद्देश्य यह धर्म नहीं जाता। बल्कि उसमें उस
 साहित्य-परम्परा का बहुत ही प्रथम उद्देश्य है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी सतमई की
 १. धर्म धर्म धर्म : बिहारी की सतमई का धर्म-धर्म, पृष्ठ ३१।
 २. धर्म धर्म धर्म : बिहारी की सतमई का धर्म-धर्म, पृष्ठ ३२।

की रचना की थी। धर्मा जी ने विवेचन के माध्यम से शास्त्र-सम्मत प्राथमिक धर्मों का प्रयोग कर उनके बल की सहायता किया है और ऐसे धर्मों पर विशेष बल दिया है जो हमारे काव्य-शास्त्र की विवेचना के मूल आधार रहे हैं। ऐसे प्रमुख धर्मों से यह अनुमान सहज ही लग सकता है कि धर्मा जी ने केवल धर्मों का बाह्य-सम्बन्ध ही नहीं अपितु काव्य-शास्त्र के अभ्यन्तर से सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होंने शास्त्रीय विवेचन की भी अपनी भावमयी शैली में उल्लेखमिश्रित बनाकर ऐसे विधान में समुपस्थित किया है, जिसमें बलता का कहीं प्रथमाव भी नहीं पा सका है। उदाह-रार्थ के एक स्वयं पर बिहारी के विरह-वर्णन की विविधता का उद्घाटन करने के लिए धर्मकार शास्त्र की व्याख्या का प्रयोग करते हुए लिखते हैं

"धर्म कवियों की अपनी बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विविधता से किया है, इनके इस वर्णन में एक निराला बौद्धिकता है, कुछ विशेष बलता है व्यंग्य का प्राबल्य है अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान और उस की जान है) और प्रत्युक्ति का प्रत्युत्तर उदाहरण है, जिस पर शक्ति सुखान सीखान से किता है।"

तुलनात्मकता का प्राथमिक और इतर समीक्षका पर आक्षेप

१. धर्मा जी की समासोचनाओं में तुलनात्मक प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित है। उन्होंने बिहारी के काव्य की विशेषताओं के सम्बन्ध में साधारण से साधारण बात कहते समय भी उसकी शीघ्र प्रशंसा करने के लिए उनके समकालीन अपनी पूर्णवर्ण कवियों के साम्यपूर्ण उद्गारण प्रयत्न किए हैं। उनका विवेचन चाहे विरह-वर्णन से सम्बन्धित हो अथवा पार्थिव प्रवर्तन से सम्बन्धित है तो सर्वत्र बिहारी की सर्वाधिक सम्पन्न स्थिति के लिए तर्कपूर्ण संकेत निकाल ही लेते हैं। इसका ही नहीं उन्हें बिहारी के काव्य में कहीं कोई दोषोद्घाटन भी नहीं है तो उसका परिहार भी उन्होंने अपने पार्थिवपूर्ण विवेचन से कर दिया है। उन्हें बिहारी का काव्य ऐसी शक्ति की छेदी के समान मना है जिसकी जितनी छेदिए, उतना मीठापन कम न होगा।^१ उनकी समासोचनाओं में वैदिक-निष्ठ वाक्यान्वय भी प्रमुख है, किन्तु उनकी भावपूर्ण व्याख्या के जाने उसकी मूलमूल छेद निश्चय है। बिहारी के कविता और व्यापक पार्थिव की प्रकृत भूमि पर अचली होने के पूर्व उन्होंने विद्वान्-मन के रूप में इस प्रकार की भूमिकाएँ भी ली हैं।

'कवि प्रकृति का पुरोहित होता है। जिस प्रकार पुरोहित के लिए यजमान के समस्त कुसाचारों और ऐतिह्य-विधानों का संतरेण ज्ञान आवश्यक है, वही प्रकार कवि की भी प्रकृति के रहस्यों का समझ होना अनिवार्य है। प्रकृति के हिय और बुने जेबों को सहाय्यारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। अन्वेष कीर्ति करने बैठना आकाश के तारे रोझने बौद्धिका कवि का काम नहीं है।'^२

१. धर्मा जी के सांख्यिक बल के मूल में भी बिहारी के कलापूर्ण काव्य और पार्थिवपूर्ण प्रवर्तन की ही भावना मुख्य है। उन्होंने बिहारी की बहुलता सिद्ध करने तथा उनकी प्रतिभा का विस्तार बतलाने के लिए ऐसे अनेक दोहों की भीर्ति की है, जिनसे बिहारी का कविता व्योमिष्ठ बौद्धिक वर्तन राजनीति इतिहास पुरुष और अतिशय प्राथमिक विविध विषयों

१. १. सर्वप्रथम धर्मा जी की सहाय्य परम संस्करण १९३३।

२. श्री, पृष्ठ २१३।

३. श्री, पृष्ठ २१४।

का बम्मीर ज्ञान सिद्ध होता है। ऐसा करते समय वे कई स्वसों पर तो इतने अधिक भावमग्न हो गए हैं कि उन्हें उक्त विषयों से सम्बन्धित साधारण उक्ति भी किसी मौलिक सूत्र और महती कल्पना से कम नहीं लगती। अब तो यह है कि पं. पर्मासिंह शर्मा को बिहारी के काव्य में सर्वत्र कुछ और चमत्कार ही नजर आते थे। परन्तु उन्होंने उनके प्रदर्शन के साथ-साथ उन समासोचकों की भी बहुत प्रशंसा की जिन्होंने बिहारी के काव्य में शोध-दर्शन का प्रयास किया था। ऐसे बिहारी को उन्होंने कुछ आड़े हाथों दिया है और अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में उन्हें समासोच्य विषय से घन सिद्ध किया है। यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि शर्मा जी ने जिस बिहारी और समासोचकों की चर्चा की है, उनमें साहित्याचार्य पं. अम्बिकादत्त व्यास और मिश्रबन्धु प्रधान थे। व्यास जी ने अपनी 'बिहारी-बिहार' नामक रचना में बिहारी के दोहों में साम्यबोध कवियों का अनौचित्य प्रस्तोचता और बीच-बीच में कुछ स्वसों पर उत्तम उक्ति में न्यूनता आदि का निर्देश किया था जिन्हें लेकर शर्मा जी उन पर बरस पड़े हैं और उनके हाथ लिखित दोहों को ही उन्होंने कुछ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके इस विवेचन को साहित्यालोचन में प्रयुक्त वैयक्तिक धारणाओं की दृष्टि से मने ही समुचित कह दिया जाय किन्तु साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर उसमें शर्मा जी की भी हटबर्बा नज़र के बिना नहीं रहती। इसी प्रकार उन्होंने विद्यवाग्भट्टों के 'हिन्दी-नवरत्न' में निर्दिष्ट बिहारी के कतिपय ग्यून पद्यों का भी विश्लेषण कर उनके हाथ समीक्षित निघ्न भाव को भी स्पष्ट रूप से उल्लेखित किया है। अतः कहा जा सकता है कि शर्मा जी की बिहारी की उत्तम श्रेणी में आदि से अंत तक अपने प्रिय कवि के काव्य की बकायत है जिसकी चपेट में अनेक कवि और समासोचक भी बसाप्रसव माने से नहीं बच सके हैं। इस प्रकार की समासोचनाओं से अपने शक्ति-प्रिय कवि की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं का उद्घाटन भले ही हो जाय किन्तु सीमित ज्ञान बाधे पाठक के लिए बहकाने के अवसर भी कम नहीं होते।

१. ५. पं. पर्मासिंह शर्मा की समासोचना का एक परिशिष्ट यह भी है कि उन्होंने बिहारी उत्तमश्रेणी की 'माधव प्रकाशिका टीका' की समासोचना 'उत्तम-संहार' शीर्षक से की है जिसमें उन्होंने बिहारी के कुछ दोहों को लेकर मिश्र जी की टीका के अनेक प्रकार के दोहों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है। कहना होगा शर्मा जी ने जिस प्रकार बिहारी के काव्य-शोध का गुस्सागान करते हुए अपनी समासोचनाओं में उन्हें संस्कृत प्राकृत उर्दू फारसी तथा हिन्दी के अग्रगण्य कवियों से साधारण एवम् विविध शैली प्रदान की थी उसी प्रकार उन्होंने 'उत्तम-संहार' में मिश्र जी की टीका को उस महाकवि को मूल ग्रंथ के विषयक बिंदु कर उसे दो कोड़ी की भी नहीं बतमाया है। निस्सन्देह ऐसा करते हुए पर्मासिंह जी का इष्टिफास अत्यन्त कठोर और कहीं-कहीं पर अविष्ट भी हो गया है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने 'विद्या-नारिधि' पर भी टीकागत मोक्षन लगाए हैं वे सचचा निराधार हैं किन्तु उनसे बिहारी समासोचक की हल्की मनोवृत्ति भी अलग के बिना नहीं रहती। समासोचना के बीच-बीच में उनके हाथ किए गए व्यंग्य बहुत ही तीक्ष्ण और मर्मभरी हैं। उनकी विवेचन में भी प्रायः वैसी ही है जैसी बिहारी गुप्त की बाद-प्रतिवाद प्रणाली में अनेक सम्भावित बिहारी हाथ भी प्रयुक्त की जाती थी। आचार्य महाश्वर प्रसाद द्विवेदी और बामु बासमुकुन्द गुप्त में 'माया की अनतिरिक्ता और 'व्याकरण विचार' विषय को लेकर जो पद्योपनीय बाद-विवाद चला था उसकी छाया शर्मा जी के इस विवेचन पर भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की समासोचना सिद्धन ज्ञान व्यक्तियों का ध्यान मुख्य विषय के अनुसृत प्रतिपादन की ओर न होकर केवल समासोच्य विषय के शोधाभेद का ही अधिक रखा है। पर्मासिंह जी ने भी मिश्र जी की 'विद्या-नारिधि' व्याख्यानवाचस्पति आदि उपाधियों पर कठोर व्यंग्य किए हैं और इस प्रकार उनकी यह समासोचना साहित्य-समीक्षा की अपेक्षा वैयक्तिक वैयक्तिक की निर्देशिका अधिक भाषा में बन गई है। शर्मा जी ने मिश्र जी की टीका को तो शोधपूर्ण सिद्ध

किया ही है साथ ही साथ उनके धनकार-निष्पण को भी भाँव और धमूढ़ बतसाया है। अपने पत्र-समर्पण में सास्त्रीयता का आधार लेकर उन्होंने खंडन-मंडन की प्रणाली को और अधिक संपुष्ट बनाया है। इस समालोचना से सर्वा भी का प्रतिपाद्य प्रयोजन यहो है कि बिहारी जैसे कवि के काव्य-रत्नों का संहार बिद्यावारिधि की की निर्मम सेवनी से हुपा जिसके कारण उसकी बस चिन्तका में कसक ही सया। अतएव सर्वा भी के मतपुसार सतसई की 'भाषार्थ प्रकाशित टीका' सतसई के मूल धर्म का संहार करने वाली है और उसके लेखक ने भूमिका में जो इस बात का उल्लेख किया है कि टीका करते समय कई सतसई हमारे सम्मुख रही वह निरर्थक और उष्महीन है। यहाँ इसी प्रसंग में इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि बिद्यावारिधि की की टीका का प्रकाशन सन् १९११ में श्री बॅकटेस्वर प्रेस बम्बई से हुपा था और उसकी समालोचना सर्वा भी ने उसी समय के सासपास की थी जिसमें एल्फावीन समालोचना-वृत्ति के अनेक उत्तों का संयोजन सहज भाव से अन्वेषित किया जा सकता है।

समालोचना के अन्य विषय तथा कार्यो का सूच्यार्कन

१. १ तुलनात्मक समालोचना के साथ-साथ पं. पर्यासिह सर्वा ने साहित्य और समाज से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर अनेक निबन्ध भी लिखे हैं जिसका प्रकाशन 'परम-परम' के नाम से हो चुका है। उन्होंने हिन्दुस्तानी ऐकेवमी के अनुरोध पर हिन्दी 'जु' और हिन्दुस्तानी निम्न पर जो भाषण दिया था वह भी उनके मुखसे हुए बिचारों की विवेचना करने में अत्येष्ट सहायक है। तुलनात्मक समालोचना पद्धति का संघटन तो उसकी कृतिमें का मुलाधार ही है। अपनी इस पद्धति और बिहारी विषयक मान्यताओं का निष्कर्ष उन्होंने सतसई के उपसंहार में जिस रूप में दिया है वह उनके दृष्टिकोण को समझने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। उनका निम्नलिखित उद्धरण इस कथन की पुष्टि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण होना—

"तुलनात्मक समालोचना का अहम्य भारतीय साहित्य के विभासा संस्कृत कवियों का अपमान करना नहीं है, उन पर मेहक की बिहारी से भी अधिक पूज्य बुद्धि है संस्कृत कवियों के भाव के साम्य को ही वह बिहारी के काम्योत्कर्ष का कारण समझता है। संस्कृत कवि उपमान है। बिहारी उपमेय है। उपमान और उपमेय में जो मेह है वह स्पष्ट है। कहीं कहीं जो अतिरेक प्रदर्शन है, वह अतिभ्रममूलक हो सकता है बुद्धिपूर्वक पक्षपातबन्ध नहीं।"^१

१. २. भाषार्थ नंदबुधारे बाबोयी ने पं. पर्यासिह सर्वा को 'भूमारिक परम्परा का प्राताचक' माना है किन्तु उनके इस कथन का यह प्रासय नहीं है कि वे नृ वारिभता से सम्बन्धित थे। सब तो यह है कि पर्यासिह की न रीतिकालीन कविता और बिहारी के काव्य को एक सौष्ठवपूर्ण दृष्टि से देखा जा और वे उसकी ब्रह्मापगत वक्तियों का विवेचन पूरा सम्यगता से कर सकें। संस्कृत साहित्य-प्रास ॥ उनका गम्भीर प्रवेश का और वे धरती-धरती का भी विज्ञान पठत उन्होंने बिहारी के काव्य का समीक्षण करते हुए भाव-साम्य पक्षका धर्म-वीरस्य की समि-भ्यवना के आधार पर समालोचना-सौध में एक ऐसी सीढ़ी को जगम किया जिसे तुलनात्मक प्रणाली कहा जा सकता है। यद्यपि उनके पुत्र भी कवियों के काव्य को तुलना की परम्परा संस्कृत-साहित्य न होती हुई हिन्दी-साहित्य में धाई थी किन्तु उसका रूप केवल सूचय ही रहा। सर्वा भी न उन्को याध्य का विधान प्रदान किया और वे तुलना के संतर्गत उष्म-व्यक्ति और समिभ्यवना की सूक्ष्मता की ओर भी जा सके। वस्तुतः समझ यह प्रयास हिन्दी समालोचना क विकास में एक

नवीन विद्या का प्रेरक का जो कालांतर में उठना प्रीति नहीं बन सका विलना सममानुसूक्त रूप से बनना चाहिए।

१०८. पं. परमसिंह जी की समालोचना पद्धति का हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में एक विचरित व्यक्तित्व है। उसके प्रतिमान ध्यान पुरातन और बीरु हो गते हैं, किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्व प्रमुख है। समालोचना के संवर्धनका हिन्दी-युग में तो उसका प्रवाह निश्चय ही विसिष्ट भेली का रहा है और ध्यान का समालोचना-साहित्य का अनुसंधित्य उसकी उपेक्षा कर गब ही नहीं सकता। फिर भी वह भी कहना बड़ा कठिन है कि उनकी समीक्षा-पद्धति से कवि और उसके काव्य की धात्मा तक पहुँचने का कोई मार्ग धर्मपित किया जा सका है या नहीं। वास्तविकता तो यह है कि धर्म जी धर्मों के पारबी और उनकी प्राण-प्रति के बाहुर के 'सत' से परिष्कृतः केवल समालोचना के सरीर-पक्ष का ही उववाटन कर सके और उनके द्वारा कवि के मानसिक संस्वान और सामाजिक परिवेक्ष का वह सूक्ष्म विवरण नहीं हो सका जो उनके परवर्ती कास में हुआ। फिर भी उनकी समालोचनाओं से यह अवश्य व्यक्त हो गया कि बिहारी हिन्दी के उन्नतर महकवियों में से एक है और उनका साहित्यकासन किसी भी साहित्य-निरतक के लिए कम महत्वपूस् नहीं है। उनकी बिहारी की समालोचना ने हिन्दी के समालोचक-वर्ग का भी ध्यान धम्याम्ब कवियों की कृतिमें का उरी स्तर विधि से विस्तेपण करने की ओर धाकपित किया जिसका कालांतर में एक दुप्परिणाम यह भी हुआ कि साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में 'देव और बिहारी' धर्मवा 'दूर और तुलसी' को लेकर धनेक बार प्रचलित विधि में भी समीक्षागत मिलुव किए गए, जिनसे साहित्यालोकन का प्रकृत क्षेत्र कुछ स्वलों पर कर्ममय सा बन गया।

१०९. यह सब कुछ होते हुए भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि पं. परमसिंह धर्मों की समालोचना में धर्मपित धाम्नीमें का म्प्रास भी है। यह एक बड़ी स्वाभाविक किन्तु विविध बात है कि उनके समालोच्य विधियों की बरि-विधि में जहाँ हमें एक ओर अपने विवत कास से विकास के बिन्दु मिलते हैं वहाँ दूसरी ओर उनके वर्ग में धर्मायत के प्रस्तुररु बिन्दु भी संरहित हैं जो कासकन से धाके चलकर नैसर्गिक बाध से निरसित बने थे। धार्मिक युक्त ने परमसिंह जी की समालोचना-विधि को 'महफिती तर्ज वाली' कहा है जो यथेष्ट सत्य है किन्तु केवल इसी मिलुव के प्रति पुनर्बही बन कर हमें धर्मों की के समीक्षा-साहित्य के प्रति संकीर्ण इम्पिक्ल बहों रखना चाहिए। मुझे तो ऐसा समझा है कि साहित्य-समालोचक का भी एक मानसिक स्तर और उसकी विवेक प्रकृति होती है जो अपने मनोनुकूल साहित्य-सप्टा धर्मवा कला-कृति को पाकर अपने मानसिक संस्वान के धनुकूप हो उसका निवेक्षण धर्मवा विस्तेपण करती है। धर्मों की के लिए भी यह कवन सर्वथा सत्य है। हिन्दी साहित्य और अरबी-फ़ारसी के साहित्य के अध्ययन ने उन्हें जिस भेली का धार्मिकत्व प्रदान किया था उसमें उनकी बहुकटा की छाया स्वतः धातोकित थी। सत से किरी भी कवि का म्प्राकर्म करते समय अपने प्रपाह पाहित्य के बल पर उसकी धर्मता की धाध-धामुरी का बिहरण देने का कोष-संवरण नहीं कर सके और मही करार है कि उम्हारे बिहारी की विस्तृत समालोचना में संस्कृत फ़ारसी तथा प्राकृत और हिन्दी सादि विभिन्न भाषाओं के उन कवियों के साम्यमूलक उदाहरण भी प्रागुक्त किमे जिनमें यह धर्मिक धनुकूलता प्रतीत हुई। बूकि व स्वयम् धर्मपित धामुरी और सरस ह्वय व सत कवियों की साम्यमूलक धान-धामुरी रचना-धामुरी ओर कला-निर्मिति के समय अपनी तमयता से गन कर मही चल सके। बही कारण है कि उनकी समालोचना में प्रमुख तर्ज 'धर्म' को उनका योग व मानकर एक रंधिधर्म ही लभभना चाहिए और धार्मिक पुनरु क उनके प्रति किए गये मिलुव का केवल उन्नतर पक्ष के रूप में हो बहल करना चाहिए। एता करने वर हो उनकी समालोचना विधि क ताव ध्याय मानना का परिणाम किया जा सकता है।

प० कण्ठाविहारी मिश्र

समासोच्य विषय और उनका दृष्टिकोण

११ पं कण्ठाविहारी मिश्र की समासोचना-शोध में कपाति का प्रधान कारण उनकी 'देव और बिहारी' नामक रचना है, जिसमें उन्होंने तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर दोनों कवियों का काव्य-समीक्षण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक का प्रेरणा-सूत्र लक्ष्मीनारायण समासोचना-शोध में देव और बिहारी को एक दूसरे से उन्नततर सिद्ध करने का प्रयास ही प्रतीत होता है, किन्तु मिश्र जी ने यथासम्भव अपने विवेचन को यन्मीर बनाने का प्रयत्न किया है। अपने शब्द की भूमिका में उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि 'न तो उनका बिहारी से विरोध है और न देव के प्रति पक्षपात' यद्यपि इन दोनों कवियों की रचनाओं को जैसा कुछ समझें उससे वे यही राय कायम कर सके हैं कि 'देव की बिहारीसाधनों की प्रशंसा अच्छे कवि हैं'।^१ मुख्य विषय पर जाने के पूर्व उन्होंने प्रायः साठ पृष्ठों की भूमिका में ब्रजभाषा-काव्य में पुर्वोचिता की वृद्धि भाषा की समृद्धता का कविता पर प्रभाव समासोचना तुलनात्मक समासोचना और बिहारी के साथ अनुचित पक्षपात धीर्यकों के प्रवर्तन एतद् विषयक अपनी चारखण्डों व्यक्त की है। निम्न जी ने प्रारम्भ में उन कारणों का उपमाख विवेचन किया है जिनसे ब्रजभाषा काव्य में पुर्वोचिता की वृद्धि हो रही है तथा समुपराध उनके निवारण के उपाय भी स्वमर्यादा निर्धारित किए हैं। वे इस पुर्वोचिता का निवारण करने के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं के सटीक संस्करण प्रकाशित किए जाएँ जिससे साहित्य प्रेमियों का ध्यान उनकी रस-विरता में प्रवर्धित करने की ओर उन्मुख हो। यद्यपि वे पं पदसिंह शर्मा द्वारा बिहारी की सतहों पर लिखे गए संजीवनी भाष्य की प्रशंसा करते हुए उसे 'भाषात्मक हिन्दी संजीवनी के क्षेत्र में सर्वप्रथम मूल्यसाधक तुलनात्मक समासोचना'^२ मानते हैं किन्तु उसके कई स्थलों का वे विरोध भी करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्र जी काव्य पर भाषा-माधुर्य का प्रभाव भाष्य या और वे कविता बिना एवं संवीर्य का अनिष्ट सम्बन्ध स्वीकार करते हुए उनके शब्द माधुर्य बण-वाग्विषय तथा स्वर-शोभन को उनकी सफलता का एक प्रमुख कारण समझते थे। यही कारण है कि उन्हें ब्रजभाषा की माधुरी अत्यधिक अलुप्यि सरी। जहाँ बोली काव्य के विषय में उनकी चारणा उस युग के अन्य ब्रजभाषा प्रेमी समासोचकों के समान पूर्वाग्रहपूर्ण नहीं थी और वे यह मानते थे कि उसमें भी उत्तम काव्य-रचना की जा सकती है। उन्होंने संस्कृत संज्ञेय और हिन्दी के कई स्थलों से उदाहरण देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'शब्द-माधुर्य काव्य की सफलता का प्रमुख सहायक प्रयत्न है'^३ और 'भाषा की अप्रसन्नता याव को तुल्य ह्रस्वमम करती है। यद्यपि यह है कि मिश्र जी के मतानुसार यदि कविता का मुख्य मूल्य मान है तो उसका सहायक कुछ शब्द-शोभन है।^४ चूँकि ब्रजभाषा में यह गुण प्राधिक्य में पाया जाता है, यद्यपि यह दृष्टि से विवेक महत्त्वपूर्ण है।

१११ मिश्र जी ने 'मिथ्यपक्षपात मान से किसी वस्तु के गुण-दोषों की विवेचना' को समासोचना संज्ञा से अनिश्चित कर उसे उत्तम विचारों की पुष्टि तथा वृद्धि में सावधान्यक उपादान माना

१ पं कण्ठाविहारी मिश्र: देव और बिहारी, द्वितीय संस्करण की भूमिका सम् १९२३, पृष्ठ ९।

२. यही, पृष्ठ १९।

३. यही, पृष्ठ २।

४. यही, पृष्ठ २३।

५. यही, पृष्ठ २७।

है।^१ उन्होंने ऐतिहासिक अनुक्रम से समालोचना का विकास विवेचित कर प्राधुनिक समालोचना का रचना-विधान अंग्रेजी भाषा के आधार पर ही बतलाया है। उनके इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय विश्व की समालोचना-क्षेत्र में घबराहट हुई, हिन्दी समीक्षा किंचित् बरतक पर धर्मस्थित की धीरे-धीरे सम्पादक पुस्तकालोचन स्वर्णन पैलों या सम्पादकीय टिप्पणियों में किस प्रकार की मनोवृत्ति का परिचय दिया करते थे। विश्व की ये समालोचना के महान् दार्शनिक की प्रशंसा कर समालोचकों को यह सम्झति दी है कि वे केवल कथनमान के रूप में ही किसी ग्रंथ को उत्तम प्रशंसा प्रथम न बतलावें, बल्कि उन कारणों का भी सर्तक विवेचन करें जिनसे वे अपना मत-निर्धारण करने का कार्य करते हैं। विश्व की ये महानुसार समालोचना का दृष्टिकोण इस प्रकार होना चाहिए—

‘हमारी समझ में किसी ग्रन्थ की समालोचना करते समय उपर्युक्त विषय का प्रत्येक धोर से विरीक्षण होना चाहिए। ग्रन्थ का मौलिक विषय क्या है तथा प्रयोजनीय क्या है, वास्तविक महत्त्व क्या है तथा गौरव क्या है, धारि भावों का जिस समालोचना में विचार किया जाता है, उससे पुस्तक का ह्रास कैसे हो विवेचित हो जाता है जैसे किसी मकान के मान-विचारों से उस गृह का विवरण प्राप्त हो जाता है।’^२ अजिमाय यह है कि विश्व की ये महानुसार समालोचना कृति का परीक्षण मुख्य भाग रस-निरूपण कवि-कीर्तन चरित्र-वैसी लेखक की मनोवृत्ति ध्यान-विधान पूर्वाग्रह-रहित भावना व्यापक दृष्टिकोण सर्तकपूर्ण प्रतिपादन धारि पलों का शाश्वत देते हुए होना चाहिए। उनके महानुसार ‘‘तुलना भी समालोचना का एक प्रधान धर्म है जिसमें एक वा प्रत्येक कवियों की रक्तियों की तुलना के आधार पर उनके काम की परीक्षा की जाती है।’

तुलनात्मक पद्धति और उसका गम्भीर पक्ष

११२ विश्व की ये अपने ‘देव और बिहारी’ नामक ग्रन्थ को तुलनात्मक समालोचना कहा है और उसकी विवेचन-पद्धति का भी प्रारम्भ में विस्लेषण किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने विभिन्न कवियों के ग्रन्थों की भाव-साम्य के आधार पर समीक्षित कर उनका अन्त-सौन्दर्य स्पष्ट किया है। उनकी तुलनात्मक पद्धति में व्याख्या और विवेचना के साथ निर्लक्ष्यतामय मूर्ति का भी समावेश है। इस प्रकार के विवेचन से उनका पांडित्य और काव्य चयन कोटल भी प्रकट होता है। कहा जा सकता है कि ‘देव और बिहारी’ नामक पुस्तक के नृजित-मान में उन्होंने अपनी तुलनात्मक समालोचना-प्रणाली का एक प्रारम्भ उपस्थित कर मुख्य विवेचन के लिए वृष्टमूर्ति प्रस्तुत कर दी है।^३ पर्याप्त हर्षा ने बिहारी लखनऊ पर समीक्षन प्रत्यक्ष कर उसके प्रथम भाग में जिस रूप में तुलनात्मक समालोचना लिखी है वह विश्व की को बाह्य प्रतीत नहीं हुई है। उनका इन सम्भाव में निर्लक्ष्य इस प्रकार है

‘‘संजीवनी भाष्य का टीकाकार हुएको स्वतन्त्र-स्वतन्त्र वर बिहारीभाष के साथ अनुचित पक्षपात करता हुआ देख सकता है। बिहारीभाष शृंगारी कवि ने उत्पन्न उनकी शृंगारवती सुभा-मूर्तियों का हिन्दी भाषा के अन्य शृंगारी कवियों की साहस्य सन्तियों से तुलना करता उचित ही था। पर इस प्रकार की जो तुलना हुई है वेब है, वह पक्षपातपूर्ण हुई है। इस पक्षपात का पूर्णतः उदाहरण पाठकों को इस बात से विश्व जायगा कि देव सद्यः प्रत्यक्ष कोटि के शृंगारी कवि की

१. १. ग्रन्थ बिहारी विश्व देव और बिहारी, वि-जेन लखनऊ की प्रथम छद्म १९१२, पृष्ठ १८।

२. पृ. १८१।

३. पृ. १८१।

कविता से बिहारी के शोहों की तुलना तो दूर रही उस बेचारे का नाम तक संजीवन भाष्य के प्रथम भाग में नहीं धाने पाया है।^{११}

१११ मिश्र जी ने बिहारी सतसई के भाष्यकार की श्रम्य अनुसृतियों की ओर भी बनेबुझ किया है। वेन के प्रतिरिक्त सुरदास केवलदास पद्याकर तोय और मुन्दरदास धारि कवियों के श्रमों के साथ बिहारी के श्रमों की तुलना करते हुए वे पर्यासिह शर्मा ने जिस प्रकार का विवेचन प्रस्तुत किया है उसके धनेक स्वतों पर मिश्र जी ने समासोचना की पक्षपातपूर्ण भावना ही निरिष्ट की है। भूमिका का अंतिम अंश इसी प्रकार के विवेचन से निर्मित है जिसका प्रमुख उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि मिश्र जी १० पर्यासिह शर्मा की तुलनात्मक समासोचना को सर्वोत्तम और न्यायपूर्ण नहीं मानते वे और सम्भवतः उसकी अनुसृतियों का शिष्यमन करने के लिए ही उन्होंने अपने श्रम की रचना की। मिश्र जी ने शर्मा जी के विवेचन में भाव वल और भाव-मल की दुर्बलताओं का संकेत श्रम्य कवियों का काव्य-सौन्दर्य निकषित करते हुए किया है और उनके उन श्रावणों को भी अनुचित बतलाया है जो उन्होंने अपनी समीक्षा के प्रारम्भ में मिश्रजी की 'नवरत्न' तथा 'मिश्र बाणु विमोह' के सम्बन्ध में किए थे।^{१२} यह सब कुछ होते हुए भी उनके विवेचन में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उनका स्वर कहीं पर भी शर्मा जी की भाँति तीव्र और न्यायपूर्ण नहीं है और उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति को सक्षम में रक्कड़ धारण व रामचन्द्र गुप्त ने भी उनकी प्रशंसा की है।^{१३}

११४ वेन और बिहारी का मुख्य समासोचना-भाग अत्यन्त बिहारीयुक्त दृष्टि से लिखा गया है। मिश्र जी ने संस्कृत संज्ञेयी तथा हिन्दी के रीतिकामीन काव्य-शास्त्रकारों के मठ उद्धृत कर कविता का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना ही माना है और इसके लिए शृंगार रस को सर्वाधिक उपयुक्त साधन बतलाया है।^{१४} ऐसा करते हुए उन्होंने वेन के काव्य-विवेचन की एक पुच्छभूमि प्रस्तुत कर दी है क्योंकि वेन जी शृंगार को रसराज मानते थे। उन्होंने विभिन्न साहित्यों में शण्डित शृंगार और प्रेम-विषय को जीवन की अनिवार्य और मोहिनी दृष्टि दिख कर यही निष्कर्ष प्रदान किया है कि "आनन्द प्रेम से परिपूर्ण कविताओं को हम आनन्ददायक के शिरोह की उपस्थिति में भी बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। इन प्राचीन तथा नवीन कवियों ने ऐसे उच्च और विमुक्त बर्तन किये हैं। उनकी मूर्ति-मूर्ति सदाशुभा करते हैं और अनुपपन्न के विकास में उनका भी हाथ मानते हैं।"^{१५} इस प्रकार मिश्र जी के मतानुसार यदि वेन सर्वसोपायेन शृंगारी कवि हैं तो उनका यह वल निरहलीय नहीं माना जा सकता क्योंकि वेन के अधिकांश कवियों ने शृंगार रस को अपने काव्यों का सर्व विषय बनाया है। उन्होंने तुलनात्मक समासोचना के प्रमुख उपकरण भाव सादृश्य को सौन्दर्य-मुधार, सौन्दर्य रत्न और सौन्दर्य संहार सौन्दर्य रत्न भाषों में विद्यमान कर प्रथम भाग को सर्वोत्तम तथा अंतिम को निरुद्ध बतलाया है।^{१६} और इस दृष्टि से भी उन्हें वेन जी अत्यन्त सौष्ठव कवि प्रतीत हुए हैं। इस प्रकार के विवेचन में मिश्र जी ने प्रमाणाधिक्यक प्रणाली का भी उपयोग किया है और एक रससिक्त भावक के रूप में वे उन काव्यांशों में आनन्दविमोह भी होते बने हैं जो उनके मानसिक बराबर के अधिक निरुद्ध प्रतीत हुए हैं। विवेचन के इस प्रसंग में उनकी व्याख्यात्मक पद्धति अत्यन्त हृदयहारिणी और आश्चर्यी बन गई है।

११. कृष्ण मिश्री मिश्र : वेन और बिहारी, द्वितीय संस्करण को भूमिका पृष्ठ ६८।

१२. वही, पृष्ठ ११।

१३. रामचन्द्र गुप्त : हिन्दी साहित्य का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १३६।

१४. कृष्ण मिश्री मिश्र : वेन और बिहारी, द्वितीय संस्करण की भूमिका पृष्ठ ६९-७१।

१५. वही, पृष्ठ ७१-७४।

१६. कृष्ण मिश्री मिश्र : वेन और बिहारी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३४।

द्वारा गुमनामक समीक्षा-पद्धति के सर्वप्रथम में यथेष्ट सहयोग मिला है। उनके द्वारा सम्पादित 'भारत-मन्त्रालय' की भूमिका भी गुमनामक समीक्षा का प्रत्यक्ष मुखर पक्ष है जिसके विवेचन में प्राचार्य मुखस भी ने गुमनामकता का प्राधिकार देकर उसे कई स्तरों पर संतुलित भी निर्दिष्ट किया है।

साक्षात् भगवानदीन

समालोचना का प्रमुख विषय प्राचीन कवि और उनके काव्य

११८ द्वितीय-युग के समालोचकों में साक्षात् भगवानदीन का भी प्रत्यक्ष महत्वपूर्ण स्थान है। वे काव्य-साहित्य विद्वत्-विचारालय में हिन्दी प्राध्यापक और नागरी प्रचारिणी सभा के सम्पादक साहित्यकार थे। उनकी प्रतिभा में साहित्य के रचनात्मक और विचारपरक पक्षों का समावेश था। साक्षात् भी ने यद्यपि कवियों काव्य-विशेषों तथा सिद्धांतों को लेकर कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी है। फिर भी उनके समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों के अध्ययन से उनकी समालोचक प्रज्ञा का अनुमान किया जा सकता है। उनकी समालोचनाओं में शास्त्रीय पक्ष से बर्तन-मंडन की प्रवृत्ति भी मिलती है जिसमें परम्परागत कवियों को अधिक निकटता से अपनाया गया है। देव और बिहारी के सख्त और मुखर को लेकर उस युग में जो एक साहित्यिक प्रभाव पड़ पड़ा था उसमें भी साक्षात् भी ने पर्याप्त भाव लिया और बिहारी के काव्य का पक्ष छुड़ कर उसकी समता में देव को हीन प्रतिभा का कवि सिद्ध किया। कहने की आवश्यकता नहीं की उनका यह विवेचन भी पूर्वग्रह-रहित और पक्षपातपूर्ण था। उनके एतद्बिषयक निम्ने दिये निबन्धों का संग्रह 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

११९. साक्षात् भी की समालोचनाओं का एक महत्वपूर्ण भाग उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की सुमिकाएँ हैं। उनका नवीन काव्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं था यद्यपि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत के अनुक्रम केवल प्राचीन कवियों को ही अपना समालोच्य विषय बनाया। 'सूर पंचरत्न' केवल पंचरत्न 'गुमनामी पंचरत्न' 'अभ्युक्ति-कल्पद्रुम' 'ठाकुर ठसक' 'लेह-सागर' 'पञ्चविंशति' 'विष्णु विप्रास' और 'सुनिष्ठ-सरोवर' उनके द्वारा सम्पादित काव्य-ग्रन्थ हैं जिनकी भूमिकाओं में उन्होंने काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष के विभिन्न संयोगों को दृष्टिगत रखकर व्याख्यात्मक ढंग से कृतिभरों की विशेषताओं का उद्घाटन उनकी काव्य रचनाओं से कराकर उन्हें स्पष्ट किया है। इनमें उन्होंने विवेचित कवियों के सम्बन्ध में प्रशंसित मान्यताओं पर भी यथाप्रसंग अपनी टिप्पणी दी है। उनके काव्य-परिचय का प्रतिमान अधिकतर ऐतिहासिक और शास्त्रीय ही है जिसमें नियुक्तारमक और प्रभावामिर्भावक समालोचना-पद्धति के भी दर्शन होते हैं। 'सूरपंचरत्न' की भूमिका उसका प्रारंभ स्पष्ट करती है। साक्षात् भी ने अपने प्रिय शिष्य पं. विश्वनाथ प्रसाद बिष्ट और पं० मोहन बल्लभ पन्त को भी अपनी समालोचनात्मक सर्वज्ञा में प्रेषित महत्व दिया है। इन भूमिकाओं के प्रति-रिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उन्होंने प्राचीन कवियों पर भी समय-समय पर निबन्ध प्रकाशित कराये थे जिनसे भी उनकी समालोचक-दृष्टि का ज्ञान होता है। साक्षात् भी हिन्दी संस्कृत के प्रति-रिक्त फारसी के बहुत बड़े विद्वान् वं और उनका हिन्दी साहित्य में प्रथम फारसी साहित्य के अध्ययन के पक्ष पर ही रूपा था यद्यपि उनकी समालोचनाओं में फारसी की संजीदा ढंग का भी प्रभाव परिलक्षित है। सबसे नामक पत्रिका के सम्पादन-काल में उनकी समालोचनाएँ निरंतर रूप से निकलती रही हैं, जिनमें प्राचीन कवियों के प्रति उनका जितना समर्पणपूर्ण दृष्टिकोण है, उतना नवीन कवियों के प्रति नहीं। एक प्रकार से नवीन कवियों के काव्य का उन्होंने पंजन ही किया है। उस युग के अन्य समालोचकों की भाँति उन्होंने भी व्यापारी काव्य की अध्ययन में

एक भी सम्बन्ध नहीं सिद्ध है किन्तु यह एक धीरे-धीरे महसूसपूर्व विषय है कि सासा जी को बाबू मैथिलीसरार गुप्त की 'भाऊ-भाण्डी' धीरे-धीरे रामचरित जगन्नाथ की 'रामचरित-विश्रामण' जैसी रचनाओं में भी समीक्षात्मक-बोध ही बोध दृष्टिकोण पर हूँ जो उस युग की प्रत्यक्ष लोकप्रिय रचनाएँ थीं। इसका प्रमुख कारण जाला जी की प्राचीन कवियों के प्रति निष्ठा और साहित्य परीक्षण का पुरातन प्रतिमान ही कहा जा सकता है।

दोका साहित्य और शास्त्रीय पक्ष

१२ जाला जी की समासोचनाओं का एक प्रमुख संघ टीका-साहित्य भी है किन्तु यह टीका-साहित्य केवल धर्मार्थ-योगना और सरतार्थ के दृष्टिकोण से ही न ब्रिद्धा जाकर समासोचना की शास्त्रीय पद्धति से सम्बन्धित अनेक प्रकार की टिप्पणियों से भी समृद्ध है। सासा जी ने विविध प्रतिद्वंद्वों के आचार पर यथासम्भव टीका-ग्रन्थों का सुष्ठु और प्राभाणिक पाठ देकर प्रारम्भ में उनके धर्मार्थ और धर्मार्थ दिए हैं और उपरान्त धार्मिक स्थलों पर प्रसंगिक धर्म और धर्म धर्मिक का भी निष्कर्ष किया है। उनकी टीकाओं में समासोचना की सुलभतात्मक पद्धति भी मिलती है। टीका के प्रथम में उन्हें यही नहीं प्रस्तुत पक्ष के साथ किसी धर्म कवि के काव्य का याव साम्य-सूचक पक्ष मिला है उसका उदाहरण देकर उन्होंने उसकी विशेषताएँ भी बतवाई हैं। इतना ही नहीं यहाँ किसी धर्म की भावमानुषी और कला-कवि ने भी उनको रसविकृत बताया है वे प्रभाववादी समासोचक के रूप में उसकी प्रशंसा करने में भी नहीं बूके हैं। उनकी टीकाओं में बनावसर धर्मों की व्युत्पत्ति उनकी मूलभूति तथा धर्म-योगना का भी धर्म निष्कर्ष है। उन्हें बुद्धेयवादी धर्म और इज्जता की सम्बन्धित और मूल चेतना का धर्म ज्ञान या धर्म उन्होंने टीका के प्रथम में उनके प्रमुख धर्मों का भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। कहना होगा जाला जी के पूर्व इस प्रकार समासोचनात्मक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य में प्राचीन कवियों के काव्यों की टीकाएँ नहीं मिलीं नहीं थीं। अतः उनका टीका-साहित्य यहाँ हमें एक धीरे-धीरे प्राचीन काव्यों के धर्म-बोध और भाव-सौन्दर्य को हृदयगत करने में सहायता देता है, यहाँ दूसरी ओर उनके द्वारा हमें सासा जी की समासोचना-निष्ठा की भी जानकारी करवा है। उनके टीका-ग्रन्थों में 'केशव-कौमुदी' 'त्रिभक्त-प्रकाश' 'मानस की टीका' 'विहारी-बोधिनी' 'बोद्धावली' 'कवितावली' और 'अनन्त-वर्धक' की टीकाएँ प्रचलित हैं।

१२१ सासा जी की समासोचना का एक वैज्ञानिक पक्ष भी है। वे शास्त्रीय समासोचक जिनका मुकुट संस्कृत काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त-पक्ष की ओर विशेष रहा है। उन्होंने 'प्रसंगिक मंजूषा' और 'धर्मार्थ-मंजूषा' के नाम से समासोचना के वैज्ञानिक धर्म भी लिखे हैं जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्र को मूल आधार बना कर प्रसंगिकों और धर्मार्थों का विश्लेषण किया गया है। ऐसा करते समय उन्होंने धर्मों की सरलता और सुबोधता का सर्वत्र ध्यान रखा है और वे उनके उदाहरणों में धर्मिक नहीं उलझे हैं। यथासम्भव स्पष्ट भाषा-शैली में प्रसंगिकों के सख्त निबिष्ट कर उन्होंने सामान्यतया प्राचीन काव्यों से उनके संघटित सूचक उदाहरणों द्वारा विशेष प्रसंगिकों की सामान्य व्याख्या की कर दी है, निम्न पाठकों को विषय-बोध करने में सहायता मिल सके। अभिप्राय यह है कि सासा जी का वैज्ञानिक निष्कर्ष धर्मार्थत्व की धर्म के प्रसंगिक न होने पर भी धर्म धर्म के लिए प्रत्यक्ष उपयुक्त है। यही कारण है कि एक समय उनकी 'प्रसंगिक-मंजूषा' का काव्य-शास्त्र के वैज्ञानिक पक्ष-विशेषण में बहुत धर्मिक महत्त्व था।

मानसिक प्रवृत्ति तथा निर्धारित प्रतिमान

१२२ सासा जी की समासोचनाओं में उनके व्यक्तित्व की झलक भी स्पष्ट मिलती है।

द्वारा तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के सर्वप्रथम में यथेष्ट सहयोग मिला है। उनका द्वारा सम्पादित 'महिराम-अमावसी' की भूमिका भी तुलनात्मक समीक्षा का अत्यन्त मुखर पक्ष है जिसके विवेचन में आचार्य शुक्ल जी ने तुलनात्मकता का प्राथम्य देख कर उसे कई स्थलों पर अक्षुण्ण भी निबिड़ किया है।

लाला भगवानदीन

समालोचना का प्रमुख विषय प्राचीन कवि और उनके काव्य

१९८ दिवेंदी-युग के समालोचकों में साक्षात् भगवानदीन का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वे काशीस्थ हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक और नावरी प्रचारिणी बन्ना से सम्बद्ध साहित्यकार थे। उनकी प्रतिभा में साहित्य के रचनात्मक और विचारत्मक पक्षों का समावेश था। लाला जी ने यद्यपि कवियों का काल-विशेषों तथा सिद्धान्तों को लेकर कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं लिखी है फिर भी उनके समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों के अध्ययन से उनकी समालोचक प्रज्ञा का अनुमान किया जा सकता है। उनकी समालोचनाओं में शास्त्रीय पक्ष से बहान महन की प्रकृति भी मिलती है जिसमें परम्परागत कवियों को धार्मिक निकटता से अपनाया गया है। देख और बिहारी के लघुत्व और दुस्त्व को लेकर उस युग में जो एक साहित्यिक प्रवाद चल रहा था उसमें भी लाला जी ने पर्याप्त ध्यान दिया और बिहारी के काव्य का पक्ष ग्रहण कर उसकी समझ में देव की हीन प्रतिभा का कवि सिद्ध किया। कहने की आवश्यकता नहीं की उनका यह विवेचन भी पूर्वग्रहविहित और पक्षपातपूर्ण था। उनके पञ्चविषयक सिद्धे गये निबन्धों का संग्रह 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

१९२ लाला जी की समालोचनाओं का एक महत्वपूर्ण मान उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाएँ हैं। उनका गौरी काव्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं था यद्यपि उन्होंने अपनी मरिचिक के प्रमुख केवल प्राचीन कवियों को ही अपना समालोच्य विषय बनाया। 'सूर पंचरत्न' के पंच पंचरत्न 'तुलसी पंचरत्न' धर्मोक्ति कम्पाइज 'ठाकुर ठसक' 'स्नेह-हावर' 'राजविताह' 'बिहू बिताह' और 'सुनिष्ठ घरीबर' उनके द्वारा सम्पादित काव्य-ग्रन्थ हैं जिनकी भूमिकाओं में उन्होंने काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष के विभिन्न अंगों-पार्श्वों को दृष्टिगत रखकर व्याख्यात्मक ढंग से कृतिकारों की विशेषताओं का उद्घाटन उनकी काव्य रचनाओं से उदाहरण देते हुए किया है। इनमें उन्होंने विशेषित कवियों के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं पर भी पर्याप्त ध्यान अपनी दिव्यली दी है। उनके काव्य-परीक्षण का प्रतिमान धार्मिक-छात्रात्मक और शास्त्रीय ही है, जिसमें विस्तारवाक्य और अनावाभिर्भ्यन्तक समालोचना-पद्धति के भी वर्तन होते हैं। 'सूरपंचरत्न' की भूमिका उसका प्रारम्भ उपस्थित करती है। लाला जी ने अपने प्रिय शिष्य पं० विश्वनाथ प्रसाद विश्व और पं० मोहन बख्श पन्त को भी अपनी समालोचनात्मक सर्जना में अपेक्षित महत्व दिया है। इन भूमिकाओं के प्रति रिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका में उन्होंने प्राचीन कवियों पर जो समय-बचन पर निबन्ध प्रकाशित कराये थे उनसे भी उनकी समालोचक-दृष्टि का ज्ञान होता है। लाला जी हिन्दी संस्कृत के धार्मिक पत्रों के बहुत बड़े विद्वान् थे और उनका हिन्दी साहित्य में धारण पत्रों की साहित्य के अध्ययन के अन्तर्गत ही हुआ था यद्यपि उनकी समालोचनाओं में पत्रों की संकीर्ण पंती का भी प्रभाव परिलक्षित है। 'लक्ष्मी' नामक पत्रिका के सम्पादन-काल में उनकी समालोचनाएँ निरंतर रूप से निकलती रहीं हैं जिनमें प्राचीन कवियों के प्रति उनकी जितना सर्वप्रथमपूर्ण दृष्टिकोण है उतना गौरी कवियों के प्रति नहीं। एक प्रकार से गौरी कवियों के काव्य का उन्होंने खनन ही किया है। उस युग के अन्य समालोचकों की भाँति उन्होंने भी अग्रगण्य काव्य की अध्ययन में

एक भी ध्वज नहीं लिखा है किन्तु यह एक और महत्वपूर्ण विषय है कि सासा जी को बाबू मैथिलीचरण गुप्त की 'साय-सायी' और पं रामचरित छपाय्याय की 'रामचरित-चिन्तामणि' जैसी रचनाओं में भी अधिकांशतः बोध ही बोध दृष्टिकोण हुए हैं जो उस युग की प्रत्यक्ष लोकप्रिय रचनाएँ थीं। इसका प्रमुख कारण सासा जी की प्राचीन कवियों के प्रति मिथ्या और साहित्य-परीक्षण का पुरातन प्रतिमान ही कहा जा सकता है।

टीका साहित्य और आत्मीय पक्ष

१२ सासा जी की समालोचनाओं का एक प्रमुख अंग टीका-साहित्य भी है किन्तु वह टीका-साहित्य केवल धर्मार्थ-भोजना और सरसाव के दृष्टिकोण से ही न लिखा जाकर समालोचना की आत्मीय पद्धति से सम्बन्धित अनेक प्रकार की टिप्पणियों से भी संवसित है। सासा जी ने विभिन्न प्रतियों के आधार पर यथासम्भव टीका शर्कों का सूक्ष्म और प्रामाणिक पाठ लेकर प्रारम्भ में उनके सर्वार्थ और भावार्थ दिए हैं और तबुपरंतु आवश्यक स्थलों पर अर्थकार, अर्थ और अर्थ शक्ति का भी निरूपण किया है। उनकी टीकाओं में समालोचना की तुलनात्मक पद्धति भी मिलती है। टीका के प्रसंग में उन्हें बड़ी बड़ी प्रस्तुत पद्य के साथ किसी अन्य कवि के काव्य का भाव साम्य-सूचक पद्य मिला है इसका उदाहरण देकर उन्होंने उसकी विशेषताएँ भी बतसाई हैं। इतना ही नहीं जहाँ किसी अन्य की भावभावधुरी और कला-कवि ने भी उनको रचविरचित बनाया है वे प्रभाववादी समालोचक के रूप में उसकी प्रशंसा करने में भी नहीं बूके हैं। उनकी टीकाओं में यथावसर सर्वों की भ्युत्पत्ति उनकी मूलध्वनि तथा धर्म-भोजना का भी ध्वज निरूपण है। उन्हें बुद्धेयत्व की ध्वनी और स्वभाषा की स्वयं-स्वयं और मुख बैठना का अपूर्व ज्ञान या अर्थ उन्होंने टीका के प्रसंग में उनके प्रमुख सर्वों का भावा-वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। कहना होया सासा जी के पूर्व इस प्रकार समालोचनात्मक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य में प्राचीन कवियों के काव्यों की टीकाएँ नहीं लिखी गई थीं अतः उनका टीका-साहित्य कहाँ हमें एक और प्राचीन काव्यों के धर्म-बोध और भाव-धीनत्व को हृदयंगम करने में सहायता देता है, वहाँ बुरी और उसके द्वारा हमें सासा जी की समालोचना-मिथ्या की भी जानकारी कराता है। उनके टीका-ग्रन्थों में 'केसव कीमुरी' 'त्रिभु-प्रकाश' 'मानस की टीका' 'विहारी-भोजिनी' 'बोहावली' 'कवितावली' और 'अनुराग-वर्णक' की टीकाएँ प्रचाल हैं।

१२१ सासा जी की समालोचना का एक वैज्ञानिक पक्ष भी है। वे आत्मीय समालोचक हैं, जिनका मुक्तक संस्कृत काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त-पक्ष की ओर विशेष ध्यान है। उन्होंने 'अर्थकार मंजूषा' और 'धर्मार्थ-मंजूषा' के नाम से समालोचना के वैज्ञानिक अंग भी लिखे हैं जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्र को मूल आधार बना कर अर्थकारों और धर्मार्थों का विश्लेषण किया गया है। ऐसा करते समय उन्होंने बचनों की सरसता और सुबोधता का सर्वत्र ध्यान रखा है और वे उनके ऊँचा पोहो में अधिक नहीं चले हैं। यथासम्भव स्पष्ट भाषा-शैली में अर्थकारों के लक्षण निरूपित कर उन्होंने आधारभूत प्राचीन काव्यों से उनके संयति सूचक उदाहरणों द्वारा विवेच्य अर्थकारों की सामान्य व्याख्या की कर दी है, जिससे पाठकों को विषय-बोध करने में सहायता मिल सके। अधिप्राय यह है कि सासा जी का वैज्ञानिक निरूपण प्राचार्यत्व की रूप से अत्यंत न होने पर भी धर्म-धर्म के लिए धारण्य उपयुक्त है। यही कारण है कि एक समय उनकी 'अर्थकार-मंजूषा' का काव्य-शास्त्र के वैज्ञानिक पक्ष-विशेष में बहुत अधिक महत्व था।

मानसिक प्रवृत्ति तथा निर्धारित प्रतिमान

१२२ सासा जी की समालोचनाओं में उनके व्यक्तित्व की प्रकृति भी सर्वत्र मिलती है।

ए. गुमरी केयब बिहारी और बीनदयाल गिरि जैसे कवियों को अपनी समासोचनाओं का विम्वराने में उनकी मानसिक श्रमिका ने भी बड़ा सहयोग दिया था। वे इन कवियों का काव्यासोचन अपने सुनिश्चित प्रतिमान से ही कर सके थे। समीक्षा के बाह्य पक्ष भाषा-शैली का व्युत्पत्ति-विशेषण तो इन्होंने जिस विधान से किया वैसे उनके पूर्व बहुत कम किया गया था। एक प्रकार से भाव और रचनाओं के आधार पर ही उन्होंने कवियों के समय तथा स्थान का निर्धारण किया। उनके द्वारा कवियों के व्यापक व्यक्तित्व और उनकी कृतियों के भूत प्रयोजन का उद्घाटन भी किया गया। अंत में उन्होंने कवि भक्त और साधारण इन तीनों रूपों में महत्त्व दिया तो सूर और तुलसी को भक्त और कवि के प्रतिरिक्त मानव माननाओं के सफल माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया। 'बोहाबरी' की समासोचना के पूर्व उन्होंने काव्य के मर्म-बोध के लिए जो साहित्यिक प्रतिमान निर्धारित किया है वह उनके काव्य-विषयक उदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है। उन्होंने हृदय और भक्तिष्क की संसृष्टि से कविता का उद्देश मानकर उसको पक्ष से मिल माना है और उसके सावगम्यता के लिए सर्वकार उस अन्त और व्यंजना को महत्त्व दिया है। उसका भक्ति-काव्य के विशेषण समासोचना की ऐतिहासिक प्रणाली का अनुसरण करता हुआ जाता है। यद्यपि इनके समय में पारंपार्य विधान की समासोचना प्रणाली का प्रचलन हो गया था किन्तु साक्षात् भी पारंपरिक काव्य बहुत कम पढ़ सकी है। कहा जा सकता है कि उनके द्वारा कवियों की विस्तृत समासोचनाएँ लिखने में भी अपेक्षित सहयोग दिया गया था। 'सूर-वैचरल' की श्रमिका हमारे सामने एक प्रकार का एक सावर्ध प्रस्तुत करती है। धर्मिप्राय यह है कि साक्षात् भी की समासोचनाओं की सुनिश्चित प्रणाली भी जिसमें वे यथाप्रसंग समासोचना के धार्मिक ऐतिहासिक तुलनात्मक, प्रयोग-निष्पन्न और निरुपारम्भिक पक्षों का प्रयोग बड़ी धार्मिकता से किया करते थे। उन्होंने कहीं पर भी समासोचनाओं को सर्व-वितर्क के विस्तारवाय में नहीं समझाया। यही कारण है कि हिन्दी का अनुसंधानवादी जहाँ उसका अध्ययन समासोचना का तुलनात्मक और अधिक विकास समझने के लिए करता है, वहाँ धर्म-समाज भी अपना परोक्षोक्ति उल्लेख करने के लिए उसकी अपेक्षित सहमति देता है।

लेखक

१२३ उपरिमिश्रित अनुसंधानों में द्वितीय-युग की समीक्षात्मक प्रवृत्तियों और प्रमुख समासोचनाओं की उपलब्धियों का जो विश्लेषण किया गया उससे समासोचना की संवर्धनशीलता का स्पष्ट ही अनुमान लगाया जा सकता है। डॉ. पीताम्बरदास बह्याल के शोध-कार्य के विवरण का उल्लेख साधारण विवरण के अन्तर्गत हो ही चुका है। अन्य सासोचकों ने पत्र-व्यवहारों के क्षेत्र में जिस प्रकार की समासोचनाएँ लिखीं उनमें साधारणतया पूर्व विवेचित विषयों का ही विस्तार रहने के कारण उनका विश्लेषण करने के लिए हमारे शोध प्रबन्ध में अधिक धनकाय नहीं है। परन्तु समासोचना के विकास के द्वितीय चरण को इस युग तक ही सीमित रख कर अब उत्तरवर्ती अध्ययन में उन सासोचकों की कृतियों का विश्लेषण किया जायगा जिनसे द्वितीय-युग के संवर्धन को वास्तविक विकास मिला है। यद्यपि इन सासोचकों का समीक्षण कार्य द्वितीय-युग में ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु वे धार्मिक दृष्टियों से अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित कर सके अतः उनका विशेषण स्वतन्त्र अध्ययन के रूप में करना मैंने अनुचित समझा है। साधारण पत्र-व्यवहार प्रमुख इस विकास के प्रमुख सूत्रधार हैं जिनकी साम्यताओं को स्वीकार कर अन्य समासोचक भी चलते रहे हैं।

समालोचना का विकास-काल

[सुक्ल-युग]

१. भारतीय-युग में जिस प्राकृतिक समालोचना-प्रणाली का प्रवर्तन हुआ वह द्विवेदी युग में धाकर सम्बन्धित हुई और सुक्ल-युग में धाकर विकसित बनी। यद्यपि धार्मिक सुक्ल की कार्य-काल को मिला दिया गया समालोचना का विकास कार्य कहा है। इसका काल-निर्धारण सन् १८२१ से १८४० पर्यन्त रखा गया है जब सुक्ल की प्रतिष्ठा द्विवेदी-युग की मजबूतियों से अधिक विकसित और प्रगति बनकर अपना स्वतन्त्र विधान करती है। जब तक द्विवेदीजी सरस्वती का सम्पादन करते रहे, उनके साहित्य का नेतृत्व निर्विवाद हो रहा था किन्तु सन् १८२१ के पश्चात् उनके सम्पादन-कार्य से विराम लेने पर उनका साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में प्रभाव घटने लगा। इस समय पर्यन्त विश्वविद्यालयों में द्विवेदी के सम्पादन प्रभाव का महत्त्व भी स्वीकार कर लिया गया था और भाषा में भी स्थापित और प्रगति प्राप्त हो गई। द्विवेदी-युग में जो कार्य किया गया उसके विकास के सभी समय सुक्ल-युग में धाकर सम्बन्धित हुए। एक बात यह भी हुई कि द्विवेदी-युग से ही काव्य-साहित्य में जिस प्रकार स्वतन्त्रतावादी प्रवृत्ति ने कला और कल्पना का माध्यम लेकर साधारण के नाम से स्वर्ण प्रसादी द्वारा सन् १८२१ में प्रतिष्ठित धारणा करना प्रारम्भ किया वह भी धर्म-धर्म-विकसित होने लगी जिसके कारण साहित्य के मूल्योक्त में भी परिवर्तन होने लगा। सुक्लजी के अपने गंभीर सम्पादन और विस्तृत साहित्य-परिचय को मिला दिया द्विवेदी की को माध्यमों को बहुत अधिक धारणा देने में। यद्यपि यह युग अनेक दृष्टियों से अपना स्वतन्त्र विकास करने में सफल हुआ। यद्यपि इसकी सम्पादनाधीन धारणाओं में द्विवेदी-युग की पुष्टि नहीं की जाती है, किन्तु विकास की दृष्टि से द्विवेदी स्वतन्त्र धर्माध्य के रूप में सुस्थापित करना समीचीन समझा है। एक प्रकार से इस युग की धर्मोक्ति पर सुक्ल की का ही सब से अधिक प्रभाव है यद्यपि उनके विस्तृत विवेचन के अन्तर्गत ही इस युग की सामान्य प्रवृत्तियों का स्वरूप मिल सकेगा। इस युग के अन्य सामान्य धर्म की माध्यमों के निकट ही समझे हुए दृष्टिकोण होते हैं, यद्यपि विवेक यौगिक जिस प्रकार सामान्य-साक्षात् में मोक्षार्थी सुलचीवास का अन्तिम सन्तोष बन कर प्रकट हुआ उसकी दृष्टि की दृष्टि के सम्पूर्ण धर्म धर्म अन्त-कर्म हितप्रथ होकर उसी प्रकार सुक्ल की समीक्षा ने साहित्य-क्षेत्र को इसका अधिक प्रभावित किया कि क्षेत्र समालोचक जगदी के निश्चित परिणाम में अपना कार्य कर सके।

२. सुक्ल-युग की समालोचना में भारतीय और पारंपरिक समीक्षा-वर्णों का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनमें द्विवेदी-युग की प्रेरणा अधिक व्यापक दृष्टिकोण है। कविताओं और काव्य विवेकों का सम्पादन इस युग में विस्तृत विधान पर किया गया है। रचनात्मक साहित्य के अर्थों में अधिकतम दृष्टि होने के कारण उनका प्रभाव भी समालोचना पर पड़ा है। इस युग में साहित्य के काव्योत्तर वर्णों के संज्ञानात्मक विवरण के साथ-साथ प्रमुख साहित्यकारों की कृतियों का भी

विश्लेषण स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में हुआ है। विश्वविद्यालयों के स्नातकों के साह-साह ग्रन्थ विद्वानों द्वारा शोध-कार्य के माध्यम से भी इस युग में समासोचना की वृद्धि हुई है। पश्चिमी साहित्य में व्याख्यात्मक प्रणाली के अन्तर्गत जिस ऐतिहासिक पद्धति का अनुपमन किया जाता है उसका सबसे बड़ा विकास इस युग की समासोचनाओं में मिलता है। यद्यपि मनोविश्लेषणवादी जीवन चरित्रमुक्त और समाजशास्त्रीय पद्धति का प्रसार इस युग में अधिक नहीं हो सका फिर भी इनके निर्माण और विकास के कारण इस युग में संवर्धित होने लगे थे। इस युग के समासोचनाओं में निरुत्प्रेरक प्रवृत्ति भी कम न रही। साहित्य और भाषा विषयक अनेक इतिहास भी इस काल में लिखे गये। कवियों की कलाओं और काव्यसाधनों का भी पर्याप्त प्रचार रहा। इस युग में समासोचना-कार्य को विकसित बनाने में जिन विद्वानों ने अधिक सहयोग दिया उनमें विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों का विशेष हाथ था। निष्कर्ष यह है कि इस युग की समासोचना द्वितीय-युग का ही विकसित रूप है जिसको स्वतन्त्र विधान में प्रस्तुत करने का अर्थ प्राचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। शुक्ल जी के समीक्षण-कार्य का भूतार्थक उसका विकास समझने का सर्वोत्तम साधन है। यदि अस्तित्व का युग-निर्माण में महत्त्व स्वीकार किया जाय तो समासोचना का विकास-काल शुक्ल जी का ही पर्यायवाची सम्बन्ध बन कर उपस्थित हुआ है। इस विचार से प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं। जब तो यह है कि शुक्ल जी ने अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं को विकसित बनाकर ऐसे स्थान पर उपस्थापित किया है, जहाँ से प्राचीन साहित्यालोचन को भी विकसित मिला है। अतः प्रस्तुत अध्याय में मुख्यतः शुक्ल जी की समीक्षाओं का विश्लेषण विवेचन किया जायगा जिससे उनकी उन उपपत्तियों का स्पष्टीकरण हो सके जिनसे विकास-काल का निर्माण हुआ है। उपर्युक्त अन्य समासोचनाओं के कार्यों का पूर्व प्रयुक्त विधि से समीक्षण किया जायगा।

प्राचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

युग-परिस्थिति और साहित्य-प्रवेश

१ पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बाङ्गकाव्य से ही साहित्य के प्रति अनिच्छा की। किशोरावस्था से ही उन्होंने साहित्यिक विषयों की एक ऐसी मोहनी का निर्माण कर लिया था जिसमें समय-समय पर विविध प्रकार की काव्य-रचनाओं के साह-साह रचनात्मक साहित्योन्मेष के प्रसंग भी चला करते थे। प्रारम्भ में तो उनके पिता जी को उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति परेशान करती किन्तु धीरे-धीरे वे भी धीरे धीरे उनकी आदि काव्यकारों की कृतियों में खिच रहने लगे तथा उनके हृदय में भी बाङ्ग काव्य की काव्य-प्रवृत्तियों के प्रति स्नेह का उत्पन्न हो गया। अपने बाल्यकाल में पं० केदारनाथ पाठक की कृपा से शुक्ल जी को हिन्दी का समृद्ध पुस्तकालय प्राप्त हुआ जिसके द्वारा वे अत्यधिक ज्ञान और उत्सुकीता से अपनी ज्ञान-वृद्धि करने लगे। नव-रूप के विकास के साह-साह उन्होंने हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का व्यापक अध्ययन करना प्रारम्भ किया और वे धीरे-धीरे प्राचीन और नवीन काव्यों के मौखिक विवेक को भी समझने लगे। उनका नवीन साहित्य से परिचय सर्वप्रथम नाटक और उपन्यासों से हुआ था और उनकी वास्तव प्राचीन की अपेक्षा नवीन साहित्य की ओर अधिकाधिक बढ़ने लगी थी।^१ मिर्जापुर में रहते हुए उन्हें एक धर्मशास्त्री साहित्यिक बालावरण मिल गया। उन दिनों वहीं हैं मारुतेन्द्र मंडल के बेदीयमान मध्यम स्वीय पं० बबरीनाथराय जी चौधरी 'प्रेमचल' अपनी प्रसिद्ध पत्रिका "दानन्द-काव्यमित्री

१ आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (सं० पुस्तकालय तथा निदेशक अग्रज)

का संचालन करते थे। युक्त भी बड़ी मजदूर भावनाओं से संघामित होकर उनके सम्पर्क में धाये और उस पत्रिका द्वारा उनके हृदय में साहित्य के प्रति और भी अधिक धाकपेंछ उत्पन्न हो गया। वे उसमें अपनी रचनाएँ भी प्रकाशित कराने लगे।^१ इन्हीं दिनों स्वर्गीय पं. रामकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रवीण' भी मिठ्ठा-मिठ्ठा चल रहा था तथा काशी की नामचीन प्रचारिणी सभा के प्रयत्नों की वृत्ति भी मची हुई थी। साथ ही साज कचहरियों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रवेश के सम्बोधन भी चल रहे थे।^२ सभा ने प्राचीन साहित्य की शोध तथा नवीन साहित्य की प्रमोद के भी प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये थे। उसकी 'पत्रिका' में प्रत्येकानेक मसौदा विषयों पर लेख भी निकलने लगे थे। इस प्रकार युक्त भी के साहित्य-क्षेत्र में प्रसिद्ध होने के समय हिन्दी साहित्य की प्रमोद और मारी विकास के लिए ऐसे वातावरण का निर्माण हो गया था जिसमें उनका पर्याप्त साहित्य-समीक्षा की प्रमोद में अव्यक्त संलग्नता छिछ हुवा। उन्होंने काशी-निवास के समय से ही साहित्य-सेवा और उसकी प्रमोद का बत बारस किया जो जीवन पर्यन्त चमत्ता रहा। निस्सन्देह उनके कार्यों की वृद्धि साहित्य-संसार में ऐसी व्यापक उता प्राप्त कर सकी जिसने उन्हें हमारे साहित्यसोचन के क्षेत्र का एक महारथी बनाया। कहना होगा यद्यपि उनकी बहुमुखी प्रतिभा का विकास के और भी अनेक क्षेत्र थे किन्तु साहित्य-समालोचना और निम्न साहित्य में उनके समान अन्य कोई मेधावी देखकर नहीं हुवा। यही कारण है कि उनका साहित्य-सेवाकास समालोचना-साहित्य के विकास में 'पुस्तक-पुन' के नाम से प्रख्यात है।

समालोच्य विषय और रचनाएँ

४ प्राचार्य युक्त के साहित्यिक कार्यों का प्रारम्भ एक प्रकारसे काशी नामचीन प्रचारिणी सभा की हिन्दी-कोष-योजना से हुवा था। वे सर्वप्रथम उक्त कोष के लिए सम्बन्धित का कार्य करने के लिये नियुक्त किए गये और उपरान्त 'नामची प्रचारिणी पत्रिका' के सहायक सम्पादक नियुक्त हुए। कोष-कार्य की समाप्ति के पश्चात् उन्हें काशी विश्वविद्यालय में निम्न-लेखन की शिक्षा देने के लिए प्रख्यापनवृत्ति मिली और जब वहाँ के पाठ्यक्रम में हिन्दी भाषा और साहित्य को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्थान दिया गया तो वे भी हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा समीक्षा का प्रख्यापन कार्य करने लगे। डा. स्वामनुवरदास के प्रकाश प्रवृत्त करने के पश्चात् वे हिन्दी-विद्या के प्रख्यापन नियुक्त हुए और उस पर पर वे जीवन-पर्यन्त प्रामोदित रहे। साथ ही साथ उन्होंने 'नामची प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी कई वर्षों तक किया। उनकी प्रतिभा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। वहाँ तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का प्रश्न है, वे पहले ऐतिहासिक प्रामोदक हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करत हुए प्रत्येक काल की सामान्य प्रवृत्तियों का परिचय देश की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव को ध्यान रखते हुए दिया और इतिहास के मुख्य पात्र में कवियों तथा कृतियों की विवेचनात्मक समीक्षा कर उनका सांस्कृतिक मूल्यांकन करने की चेष्टा की। उनके इतिहास से साहित्य की प्रचुर सामग्री को मुख्य प्रकाश दिया है। साथ उनके पश्चात् और भी अनेक साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों का निर्माण हो सका है, किन्तु वे प्रायः सभी घुम फिर कर युक्त भी की ऐतिहासिक प्रकाशी के पार्श्ववर्ती क्षेत्र की ओर ही उन्मुख होते हुए प्रवृत्त होते हैं। उन्होंने सूर, तुलसी और जयसी पर

१. युक्तजी का 'मन्त्री भाषा पर निबन्ध' शीर्षक निबन्ध सन् १९०७ ई. में 'धम्म-संस्कृत' (लेखक धम्म-संस्कृत) में प्रकाशित होकर 'साहित्य की रचना' शीर्षक से नामची प्रचारिणी पत्रिका में सन् १९११ ई. में प्रकाशित हुवा।

२. 'प्रामोदक पत्रिका' नामक प्रामोदक सन् १९१९ ई. में प्रकाशित हुवा।

समयें बमीरता का अनुभव भी होता गया। यह उनके मास्मीय का ही प्रतिफल था कि वे हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी मानविक क्षमता का प्रयोग कर सके और साहित्यालोचन का क्षेत्र तो उनकी प्राथमिकी और रसज्ञाहिन्दी प्रतिभा के द्वारा और भी अधिक उपलब्ध हुआ। यह उन्हीं के समान तत्त्वानिबेधी और सुधी समासोपन की ही श्रेणी है जिससे हिन्दी में समासोपना का एक स्वतन्त्र मानदण्ड स्थापित हो सका और उसकी मूलभूत प्रेरणा उनके मास्मीयबस विपुल भाषा में स्वामी और चिरंजिवन बन सकी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी वे संज्ञात्मक और व्यावहारिक धाराओं हैं, जो उनके मास्मीय व्यक्तित्व के तानों-बानों से निर्मित और स्वतन्त्र बहना से उद्भासित हैं।

१. भाषार्थ सुख का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि वे समासोपना-साहित्य में एक प्रभुत्व प्राप्त और युग-परिवर्तन कर पाये हैं। उनका भावित्व-काल भारतेन्दु-युग का अवसान और द्विवेदी युग का प्रारम्भ था किन्तु वे अपने सम्मुख प्रवाहित युग-धारा के ही अनुवर्ती नहीं रहें, अपितु वे उसे बहुत दूर तक धाये ले पाये। उन्होंने एक सफल समासोपन के रूप में अपने युग की प्रवृत्तियों का सम्यक् ध्यास किया और उन्हें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि उनमें किन-किन संघर्षों तक घकीर्णता प्रभवता दुराग्रह और पूर्वग्रह के भाव सम्मिश्रित हैं। साथ ही साथ युग-धर्म की प्रावश्यकता और जीवन-साहित्य की सर्वज्ञता के तत्त्व-विन्दु भी उन्हें प्रकटता प्रबल हो गये। उनके रस बाह्यो मस्तिष्क में पौष्टिकतामयी काव्य-धारा की रुचिस्तता और भारतेन्दु-युग की आनन्द भाषना वाली शक्ति प्रबल हो गई और उन्होंने अपनी सहज सम्बेदना के द्वारा वस्तु-परिचय की नाड़ी-नरीखा कर यह जान लिया कि साहित्य को किस विधा की ओर उन्मुख करने की आवश्यकता है। उन्होंने उस युग में उद्भूत साहित्य समासोपन के उस अज्ञान-साधक का अनुमन करने में भी कोई कमी नहीं रखी जो साहित्य-ज्ञान की संजीवनी क्षमता को क्षीण कर रहा था वषा जिसके कारण बाद प्रतिभावों का बढाव उपलब्ध और स्वाभाविक विकास में बाधोपलब्ध बनने लगा था। उन्होंने समझ लिया कि साहित्य की प्रकृत भावभूमि में परिष्करण की पर्याप्त आवश्यकता है और यह परिष्करण अभी हो सकता है जब कोई साहित्य-मेधावी समीक्षक बिरोधी क्षमियों के साथ उत्तम संवर्धन बनकर बसे। यही कारण है कि उन्होंने अपने अध्ययन को अधिक पिक रूप में व्यापक और गम्भीर बनाया समीचीन समझ और वे उस अध्ययन और चिंतन के बस पर ही साहित्य जगत् में अपने सुबुद्ध चरण स्थापित कर एक भाषार्थ के रूप में साहित्य का सच्चा निर्वहन सन्तुष्टापूर्वक कर सके। उनकी भाष्यताओं और धारधारा के पीछे एक ठोस साक्ष्यीय आधार था और वे जीवन की अनुभूति का वर्णन कर उसे एही स्वत्व अभिव्यक्ति से सके थे जिससे उन्हें समासोपना प्रवृत्ति का एक स्वाधीन स्वतन्त्र बनाया। वस्तुतः वे साहित्यालोचन के महत्वाकांक्षी से इस प्रकार छा मये कि उस पर उनका उन्मूलन ध्यासोपन प्रभावित प्रोत्साहित है और उनकी परवर्ती समासोपना भी उनके महान् व्यक्तित्व की परिधि को साधकर निरपेक्ष सत्ता का स्वका नहीं प्रकट कर सकी है। उनकी मूल्य के पक्षधर भी भाषा का समासोपन उनके साहित्य विद्वानों के सम्मुख नमस्तक है और वह हम पर व्यर्थ प्रभवता ध्यासोपन प्रभावित प्रोत्साहित है और उनका प्रभाव ही उनकी व्यक्तित्व धातुमिक समासोपना का मेखण्ड है जिसके बिना वह नष्ट और प्रबल ही मानी जायगी। औपचारिक प्रभाव द्विवेदी या यह कमम हमें समीचीन प्रतीत होता है कि भाषार्थ रामचन्द्र सुख हिन्दी के पौरव थे। समीक्षा कक्ष में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी न उनके जीवन-काल में था न बाद कोई उनके समकक्ष समासोपन है। भाषार्थ सख्य ऐसे ही कर्ता साहित्य

कारों के योग्य है। पं. रामचन्द्र शुक्ल अपने ग्रन्थों में प्राचार्य से,^१

प्राधारभूत सामग्री और मूल विचारधारा

७ प्राचार्य पुस्तक की संस्तुति में जो कुछ कहा गया है उसका यह अभिप्राय नहीं कि उनका समासोपक-स्वरूप सर्वोपयोगी मौलिक और स्वावलम्बी या तथा वे साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में कोई प्रविष्टीय उद्भाषना करने वाले प्रबल चिंतक थे। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने प्राचीन और नवीन ज्ञान-राशि का संलयन बड़ी कृपसा और सतर्कता से कर अपने समीक्षा-सिद्धान्तों का निर्माण किया था। वे एक ओर बड़ी संस्कृत-साहित्य की धारा साक्ष्य-भित्ति से सुपरिचित थे, वहीं दूसरी ओर परिचयी साहित्य की सैद्धांतिकता भी उनके ध्याय-क्षेत्र से गहिरा नहीं थी। वह सब कुछ होने पर भी वे किसी विशेष कर्म या संकीर्णता से बंधन-ग्रस्त नहीं हुए। उन्होंने अपने समासोपना-साक्ष्य के निर्माण में दोनों का यथोचित प्राधार और प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु उन्हें केवल उसी पक्ष तक स्वीकार्य समझ है, जिस पक्ष तक उन्हें उसमें प्रौढता का आभास मिला है। उन्हें न तो प्राचीन परम्परावादी ही कहा जा सकता है और न विमुक्त नवीनतावादी ही। वस्तुतः वे प्राचीनता और नवीनता की राशि में उभय कृषों का संसर्ग कर चलने वाले ऐसे मर्मज्ञ-वादी समासोपक हैं, जिनकी संस्कारजन्म साम्यचार्य गणेश्वर वर्मा से प्रारुणित है और वे द्वितीय-युग की नविकृता और आदर्शवादिता के ठोस परावर्तन कर स्थिर होकर भी उसके दूरगतिनी दृष्टि भी रखते हैं। यही कारण है कि उनके समीक्षा-क्षेत्र में कलावाह सौन्दर्य-साक्ष्य और अभिव्यक्ततावाह धारि नवीन तथा विविध विचारधाराओं के निर्बलक विचारधारा विषय भी आते से नहीं बच सके हैं। उनकी विचारधारा पर किस वर्ग का अधिक प्रभाव है, इसका निष्पन्न निर्णय करना तो कठिन है किन्तु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उनकी साहित्य-विषयक धारणाओं के निर्माण में भारतीय रस सिद्धान्त का अधिक प्रभाव है। कथं भी हो वे जो कुछ भी हैं अपने में अपने और निर्भीक समासोपक हैं और उन्हें किसी का सम्मानायी बनकर चलना तो सर्वथा अवशिष्ट लगा है। अपने विचारों की दृढ़तावश उन्होंने इस बात की कभी चिन्ता नहीं की कि उनके दृष्टिकोण को कोई दृष्टान्तराशुर्लभ कहेगा या उन्हें संकीर्णतावादी की संज्ञा से अभिहित करेगा। वे तो जिस विषय को जिस रूप में ग्रहण कर सके वे उसे उसी प्रकार रूप में विवेचित करते थे। विवेक ही वह उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का एक ऐसा विशिष्ट गुण है जिसके कारण उन्होंने काव्य में व्युत्पन्न, अभिव्यक्ततावाह और कल्पनावाह धारि को केवल वहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक वे उनमें अपनी मनोभूमि के अनुकूल लक्ष्य पा सके। यहाँ तक कि विश्व-कवि रवीन्द्र के काव्य तथा टासटान्स् धारि की आदर्शवादिता भी उन्हें एक निश्चित स्वरूप तथा सीमा में ही मोड़ सकी है। उनकी ऐसी दृष्टा तथा विवेचन-शक्ति को देख कर यदि उन्हें हिन्दी का ही नहीं, अपितु धार्मिक भारतीय साहित्य का एक समस्त समासोपक कह दिया जाय तो इसमें अतिशयोक्ति का किंचित्प्राय भी पक्ष न होगा।

८ प्राचार्य पुस्तक का साहित्यालोचन के क्षेत्र में प्रवेश एक महत्वपूर्ण घटना है। उनके पूर्व प्राचीन भारतीय-साहित्य साक्ष्य को नवीन दृष्टिकोण से मूल्यांकित करने का कोई पर्याप्त प्रयत्न नहीं हुआ था। संस्कृत साहित्य में रस प्रसंगकार, ध्वनि धारि की लेकर जो कुछ लिखा गया था उसका भारतीय प्राधार अवश्य था किन्तु उसे नवीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि नहीं दिस सकी थी।^२ ऐतिहासिक में तो जो कुछ ज्ञान-रस्य मिले गए वे वे अधिकांशतः उनकी उद्धारी मात्र ही बने रहे

१. समासोपक रामचन्द्र शुक्ल : सं. पुस्तकालय और विज्ञान-संस्थाओं में वा. इन्दिरा प्रसाद द्विवेदी का "समासोपक रामचन्द्र शुक्ल" टीका सं. १५, पृष्ठ २५।

२. पं. बरदुआरे शर्मा, 'साहित्यिक साक्ष्य और समासोपक' पृष्ठ ५५।

घोर उनमें भी अनेक स्थलों पर एकांगी तथा अपुण मीमांसा का ही प्राबुध्वान हुआ। भारतेन्दु-काल में साहित्य रचयिताओं का प्रमुख ध्यान रचनात्मक साहित्य के उद्भावन की ही ओर रहा। द्विवेदी पुनः केवल नैतिकता और सुधर्मपुण्य धारण तक ही परिसीमित रह गया और उसे प्राचीन धर्म काव्य-शास्त्र में भेद्यस्कर और शास्त्र तर्कों की उपलब्धि नहीं हुई। इस प्रकार साहित्यालोचना के क्षेत्र में बनी हुई एकांगिता को दूर कर व्यापक दृष्टि के अनुकूल कार्य करने की प्रवृत्ति प्राकृतिकता की जिसकी पूर्ति के लिए प्राचीन और नवीन साहित्य का निष्पक्ष विवेचन सर्वतोभावेन वांछनीय था। कहना होगा मुसलमानी ने इन समस्त बातों का सम्यक् चिन्तन और समीचीन यत्न किया और वे प्राचीन साहित्य-शास्त्र को नवीन दायोक्त में देख सके। उन्होंने रचना की मीमांसा भारतीय और पश्चिमी विचारधारा का सम्यक् सामंजस्य करते हुए की और वे प्रत्यक्षरवाद की कठिणता को दूर कर उसे जीवन-सौन्दर्य का वर्णन बना कर ग्रहण कर सके। यह उनकी उच्च काव्य-भावना का ही परिणाम था कि वे समालोचना के क्षेत्र में एक नवीन रूप और प्रकार उद्भावित कर सके और उनकी विचारधारा का एक निश्चित मानक बन सका। यह बात ध्येय है कि उनकी मान्यताओं में अनेक स्थलों पर वैयक्तिक रुचि वैयक्तिक का प्राबल्य होने से भी नहीं बच सका जिसके कारण वे अनेक स्थलों पर एकांगी निर्णय ही ले पाए। उदाहरणार्थ उन्होंने कथात्मक साहित्य या प्रबन्ध रचना को मुक्तक-काव्य की समता में व्यवस्थित माना और निर्गुण-अपुण के विवेचन में वे अपुणवादी धारा की ओर ही प्रवृत्ति भुके। इसी प्रकार उनके मानस में तुलसी के प्रति इतना अधिक प्रशंसा समाहित था कि वे मुक्तक-उत्तमों की काव्य रचनाओं की अपनी समालोचना की वैयक्तिकता का ध्यान बनाकर बने और केवल को हृदयहीन तथा कवीर को मूर्खवन्ती तक कहने में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। रसवाद और ध्वनिवाद के प्रति उनके मन में एक ऐसी आलोचनात्मक प्रवृत्ति हो गई थी जिसके कारण वे उसके काव्यगत प्रयोग को द्विवेदी तथा अपाह्न ही समझते रहे और उसका विचारप्रस्तुत स्वल्प उन्हें महत्वहीन सा लगा। जैसे का अभिव्यक्तवादावादी उन्हें 'भारतीय ब्रह्मविवाद के विद्यार्थी उत्तम' से अधिक वैयक्तिकपुण्य नहीं प्रतीत हुआ। इसी प्रकार कथावाद कल्पनावाद और स्वप्नवादावाद की उनके अस्तित्व में उनकी निजी वाद्यों के अनुसार ही धारणा ग्रहण कर सके। उन्हें डी० एस० राय की रचनाओं में विद्वत्-कवि रवीन्द्रनाथ की कृतियों की प्रशंसा को उच्च भाव-संबन्धित माना उसके मूल में भी उनकी वैयक्तिक रुचि का प्राबल्य है। अभिप्राय यह है कि तुलसी की अपनी निजी विचारधाराएँ तथा सीमाएँ की ओर वे प्रत्येक विषय को उत्तमों के अनुकूल ही ग्रहण करते थे। इस एक दृष्टि से उनकी मान्यता सम्बन्धी संकीर्ण परिधि भी कहा जा सकता है जो तुलसी और उनके समुत्पन्न व्यक्तित्व का सुष्ठुमान निरखन भी माना जा सकता है। इसका एक इतिहास यह भी हो सकता है कि तुलसी की वे मान्यताएँ अपने वैयक्तिक व्यवरोध में प्रस्तुत होने पर भी अभिव्यक्ति के विकास की वे उत्तम-विचार हैं, जिनसे समालोचना-साहित्य प्रागे बढ़ने का इतिहास जा सकता है।

समाहित भावना और मुक्त-प्रभाव

२ आचार्य मुक्त की आलोचनाओं का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि उन्होंने अपनी काव्य-समीक्षा में बड़े समारोह के साथ सामाजिक सम्पर्क का ध्यान किया है।^१ वे सर्वत्र लोकजीवन की पृष्ठभूमि के परिवेश में ही अपना समीक्षण-कार्य करते चले हैं और उनका विवेचन जीवन-व्याप्त की प्रत्यक्ष अनुभूति के ठोस आधार पर स्थित है। इस प्रसंग में यह जानना भी आवश्यक है कि वे अपने मुक्त के उत्पन्न समालोचक होने पर भी आधुनिक साहित्य की नवीनतम

१. 'महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, व्यक्तियों द्वारा समालोचना' पृष्ठ ४४।

तिथों के साथ अधिक वास्तव्य नहीं कर सके थे। यही कारण है कि वे मध्यम काल के ईश्वर बहुत कम बन सके। एक प्रकार से उनकी जीवन-समस्या नवीन बापों और संतियों के प्रति ठेठ ही रही। वे यूरोप के साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित तथा सामान्य साहित्यों पर अपना प्रभाव फैलाने वाले बापों का समुचित समर्पण नहीं कर सके। उन्होंने उन बापों को बहुत ही दूर 'न' वही भोज बतलाया और पश्चिमी साहित्य की समृद्धि की पुष्ट्युक्ति में उनके उनका स्वयं कथन नहीं हो सका। वे न तो इन कालबाधों की कलात्मकता और सीमर्य-वृत्ति का ही सम्यक आकलन कर सके और न परिचित सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक क्षेत्र की अन्तर्जातीय परिस्थिति का ही समुचित लेखा मोला दे सके। परिणाम यह हुआ कि उनकी साहित्य-विशेषण स्पष्ट है। वे मध्ययुगीन विचारधारा की ओर में ही सीमाबद्ध हो गया। उन्होंने तुमही के मानस की तात्कालिक-व्यवस्था बनाकर जिस लोक-धर्म के विचारों की प्रतिष्ठा की वह भारतीय बर्तमान-धर्म ही अनुसूत या और उसमें मध्यम वय की वे धार्मिक-प्रेरणाएँ ही जिनका प्रसूतन बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। यद्यपि यह स्पष्ट है कि पुस्तक की का इच्छाओं मानस में कथित हिन्दू-समाज पद्धति और धार्मिकता का ही परिणाम है जिस उन्होंने धार्मिक व्यवस्था स्वरूप देने का बचाव-प्रयास किया है।^१

१. युवक की के समालोचक-स्वरूप के निर्माण में उनकी समाजकीय परिस्थिति और (की सीमाओं का भी स्पष्ट ह्रास है। वे द्वितीय-युग की वेन के जो धार्मिक नीति और सुखी संवेदनाओं से निर्मित था। उन्होंने इनका पुर्ण निर्वाह अपनी साहित्य-समालोचना में किया। अपने उनके कोटि के व्यक्तिगत और सामयिक की छाप उस पर प्रकट करते बने और उनका स्वयं साहित्य के समस्त धर्मों का सम्बन्ध विचार करने की प्रवृत्ति से हुआ। यद्यपि उनमें मुख्य विचार काव्य-विषयक ही रही। उन्होंने अपनी समालोचनाओं द्वारा साहित्य को यह संकेत दिया कि अपने सर्वोपरि विकास की ओर उन्मुख होकर बने। उन्होंने उन समालोचकों पर कठोर आलोचना की जो समीक्षा के एक ही धर्म प्रकटा उसकी संकीर्ण परिधि में विषय कर रहे पाते हैं। किन्तु अधिकांशतः अपने पक्ष के समर्पण का दुराग्रह प्रकट होता है। उन्होंने ऐसी बातों को किसी भी वृत्ति से साहित्य-निर्वाह के लिए उपाय नहीं बतलाया और नहीं कहा कि (उस धर्म ही प्रतिपुर्ण वातावरण की सृष्टि होती है। जो समालोचक ऐसी प्रवृत्ति से बचते हैं, वे उन्होंने साहित्यिक धर्मों को उठाने की प्रवृत्ति वाले कहा है। क्योंकि उनके द्वारा साहित्य के समालोचना को दिव्य प्रकाश कदापि नहीं प्राप्त हो सकती। यद्यपि यह है कि बाबायें पुस्तक अपने मौलिक वृत्तिकोण से साहित्य का परीक्षण करने की बन्दा की है। धार्मिक के पूर्ण में (की वाद-धर्मिताओं तथा समीक्षायत विचारों का विशेषण कुछ विस्तार के साथ किया जायगा उस यह स्पष्ट हो सके कि युवक की की समामुक्तिका कितनी उदात्त और परिपक्व की और वे इस प्रकार का मानव-समीक्षा क्षेत्र में स्थापित करना चाहते थे। इसके लिए पहले हम उनके मध्यम यह स्पष्ट और अधिष्ठातृ-व्यवस्था विषयक विवेचन को करें जो उनके 'विन्तापित द्वितीय' में संकलित है तथा 'तदुपरांत रस-मीमांसा' के आधार पर उनके वैज्ञानिक विवेचन का व्युत्पन्न करेंगे।

वाद-समीक्षा और आध्यात्मिक युवक काव्य में रहस्यवाद

त प्रेरणा और उद्देश्य

११. रहस्यवाद प्रागुनिक हिन्दी-समालोचना के विकास-काल में वैज्ञानिक तथोप

का एक ऐसा विषय रहा है जिस पर हिन्दी के प्रायः समस्त गद्यमान समालोचकों ने मर्यादित विवेचन प्रस्तुत किया है। प्राचार्य मुखर्जी की समीक्षाओं के अन्तर्गत भी इन सम्बन्ध में अनेक बार उल्लेख हुआ है, जो उनके एतद्विषयक दृष्टिकोण की समझने में परम उपयोगी है। विवेकी-युग के सर्वांगीण काल में रहस्यवाद के प्रकृत स्वयं का विस्तेषण करने की भावना से उसके पक्ष-विपक्ष में एक युग पश्चात् सुदी समालोचकों में भी बाण्डुल चलता रहा जिसमें अपने पक्ष का समर्थन करने की जितनी अधिक प्रवृत्ति थी उतनी निष्पक्ष भाव से तथ्यनिरूपण की नहीं। ऐसी समालोचनाओं में बड़ी एक घोर अपरिपक्व अभ्येताओं के लिए तत्त्व-ग्रहण करने की धारणा (तत्त्वोपनिधि के स्थान पर) विषय-विवेचन की शक्तियों में उसझने के लिए अधिक अवकाश से बड़ी दूसरी घोर मेढ्रावी विद्वानुओं को उसके बाण्डाल से ऊपर उठकर वास्तविक चिन्तन की ओर धक्का देने के लिए भी प्रेरणा थी। यह समय प्राचार्य पं० रामचन्द्र मुखर्जी के समालोचक-अस्तित्व के महिमात्मक विकास का था अतः उन्होंने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति में सक्रिय भाग लिया जिसका परिणाम था उनकी 'काव्य में रहस्यवाद' नामक समीक्षा-कृति का प्रकाशन। इनका भूम उद्देश्य प्राचार्य के सर्वांगीण में यह था कि 'रहस्यवाद या ध्यावावाद की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या ज्ञान ब्रूम कर जो अनेक प्रकार की बेसिर-बैर की बातों का प्रचार किया जाता है वह बंद हो।'^१

१२ प्राचार्य मुखर्जी काव्य में 'रहस्यवाद' नामक पुस्तक का अध्ययन करने से यह स्पष्ट ही प्रामाण्य हो जाता है कि उन्होंने इसकी रचना तत्त्व-प्रकाशन की भावना से एक विशेष प्रकार की नुमस्नाहट की थी। बावत यह भी कि उस समय करीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यपरक काव्य-कृतियों की प्रतिष्ठाया हिन्दी के नवोदित स्वच्छन्दतावादी कवियों की अन्तःस्पन्दता पर सहज यत्न से प्रतिबिम्बित होने लगी थी और हमारे काव्यकार विवेक-युग की स्पून नीतिकथा के विरुद्ध विद्रोह करते हुए सुख-सौन्दर्य-विषय की ओर विप्रवृत्ति से बढ़ रहे थे जिन पर प्रभुस संधाना^२ उस युग के बोधी के समालोचकों का कर्तव्य-सा हो गया। इसका यह भाव्य नहीं कि कवियों की इस प्रकार की पालनपरक प्रवृत्ति में उन्मुखता का ही परिष्कार प्रधान था जिसका समत आशय्यक था। यदि नवीनतापूर्वक वेला काय तो इन नवीन कवियों के काव्य का सौन्दर्य-विधान अत्यन्त यत्न और प्राचीन का किन्तु उनके अनुकरण पर जब काव्य-क्षेत्र में विद्रोहावाद की सृष्टि होने लगी और कठिन साहित्यकारों द्वारा रहस्यवाद या ध्यावावाद को 'वर्तमान युग की एकमात्र कविता' एवम् उन्हे ही काव्य का सर्वस्व मानकर साहित्य-क्षेत्र में अनेक प्रकार के प्रचार फैला दिये गये तो उनकी इस एकाधिकार का निराकरण करना समयोचित प्रतीत होने लगा। अतः पं० रामचन्द्र मुखर्जी ने भी अपने इस विस्तृत निबन्ध द्वारा काव्य के प्रकृत क्षेत्र का निर्धारण कर उसके अन्तर्गत रहस्यवाद की संस्थापि का निरूपण किया। निरूप्य ही उनका प्रस्तुत विवेचन सर्वग्राह्य बराबर पर परिचित नहीं है, और उनके दृष्टिकोण की विशेष सीमाएँ भी हैं जिनका उत्तेज रहस्यवाद के समर्थक कवियों और समालोचकों ने अपनी समीक्षा-कृतियों में किया है। किन्तु यह बात निर्भीक है कि मुखर्जी के इस विवेचन ने एक बार समीक्षा-क्षेत्र में ध्यान्वित सा उत्साह कर दिया और उनके विवेचित उद्यम के व्यावहारिक पक्ष ने अनेक कृत्रिम रहस्यवादी काव्यकारों के प्राप्ति दिया।

विवेचना का आधार और रहस्यवाद की स्थिति

१३ प्राचार्य मुखर्जी में विषय-निरूपण की एक संतुलित दृष्टि थी वे मुख्य विषय पर

१ प्राचार्य रामचन्द्र मुखर्जी कृत विवेचन, गुप्त प्रकाश, 'काव्य में रहस्यवाद' (पुनर्मुद्रित), अंश २ (१) पृ० १०-१२।
२ यो।

माने से पूर्व अपनी सर्वसम्पत्ति द्वारा एक ऐसी पुष्कलूमि प्रस्तुत कर लेते थे जिसके आधार पर अपनी विवेचना को प्रसरण किया जा सके। यही कारण है कि उन्होंने काव्य में रहस्यवाद का स्थापित करने के पूर्व काव्य का लक्षणात्मक निरूपण किया और अनुपपन्न इस विषय का संयोजन कर की चेष्टा की कि काव्य की प्रकृत्यभूमि में रहस्यवाद की प्रतिष्ठा के लिए किस आधार प्रसार संभव हो सकती है। जैसे तो उन्होंने कविता क्या है^१ कीर्तक अपने एक समाजोपनात्मक निबन्ध में भी इस विषय का पर्याप्त विवेचन किया है, किन्तु इस प्रसंग में भी उसके लिए यह धारणा हो गया है कि वे काव्य या कविता का स्वल्प निरूपण करें। ऐसा करते हुए वे प्राचीन साहित्यी समाजोपना की शक्ति काव्य का कोई सूत्रबद्ध लक्षण तो नहीं निरूपित कर सके हैं, किन्तु उनके परिचाया से काव्य का उद्देश्य और प्रयोजन अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है। निरूपण ही उनके काव्य प्रयोजन भारतीय साहित्यवाद की परम्परा के बहुत निकट है जिसके द्वारा वे काव्य की सम्पूर्ण शक्ति का आभास यह कह कर देते हैं कि 'कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तित्वत सम्बन्ध के संश्लेषण सम्बन्ध से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भावभूमि पर नै जाती है वहाँ जगत् के नागों कर्णों की व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौम्यत्व दिखाई पड़ता है।'^२ ऐसा कहते हुए वे काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और सब मनोविकारों के लिए प्रकृति के आधार-क्षेत्र से आत्मजन्य या विषय पुनः पुनः कर रचना निरूपित^३ कर, काव्य का सम्बन्ध जगत् और जीवन की प्रत्येककला के साथ स्वतः जोड़ देते हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-विषयगत प्रत्यक्ष दृष्टि अनुपपत्तिवाद की शक्ति व्यक्त और मोहर जगत् को काव्योपकरण बनाने में अधिक संबंधित पाती है, और यही कारण है कि वे रहस्यवाद में वर्णित प्रत्यक्ष की भावना को अपनी काव्य-संरचित में कोई महत्त्व नहीं देते।

१४ दूसरे की काव्य-प्रतिमान भावों का उच्चात और व्यापक विधान पर अवलम्ब था। वे जीवन के सौम्यत्व को वैविध्यपूर्ण मानते हुए उसमें सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने निष्क्रिय सौम्य-विशेष को केवल स्वप्न-दृष्टाओं का उपवीर्य माना कर उसमें उस व्यापक भावभूमि का आभाव सिद्ध किया है, जिसकी परिणाम में 'व्यक्ति-विशेष लोक-जीवन में जगत्' होकर उसमें विश्व-हृदय का स्वरूप पाता है।^४ उनकी काव्य-रीति से तो इसी कड़ी ने उन्हें जहाँ एक ओर महत्त्व का सत्यता की लोकार्थवादिता की एकान्वी मनो-विषय के विरुद्ध में अपना मत देने के लिए बाध्य किया है, वहाँ दूसरी ओर वे विश्व-जीवन रवीन्द्र की कविता में भी प्रतीक-स्वप्न-दर्शन की एक ऐसी प्रतिरेखा पाते हैं, जिसके कारण उसमें जीवन के वैविध्य का परिग्रहण शून्यता में ही हुआ है। यद्यपि दूसरे काव्यवादियों के अनुपपन्न परम्परा में निहित सौम्यत्व को एकपक्षीय मोहित कर सके काव्य का सर्वांगीण पक्ष नहीं मानते क्योंकि उसमें केवल स्वप्न-संयोजन ही रहता है, जबकि जीवन में कारण की महत्ता उससे कम ही है।^५ कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कारण के मुख में भी धारार्थ दूसरे का रहस्यवाद उस स्वप्न पर व्यर्थ है जो जीवन में केवल प्रेम प्राप्त तथा स्वप्न-दर्शन की दो उपयोगिता

१. यह निबन्ध सर्वप्रथम सन् १९०० में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। अनुपपन्न सन् १९११ ई. में हिन्दी निबन्धमाला का २, में संकलित किया गया। सन् १९६६ में यह निबन्धविषयक मध्यम भाग का प्रकाशन हुआ तो यह इसमें भी संग्रहित हुआ।

२. १. समकालीन युक्तः पितृव्यविद्वत्तः भाग, काव्य में रहस्यवाद, पृ. ११३, ११४, ११५, ११६, ११७।

३. यही, पृष्ठ ४०।

४. यही, पृष्ठ ४६।

५. यही, पृष्ठ ४६।

मानता है किन्तु जिसमें मायन-जीवन की लोभ-विशेष प्रकृतियों के सामन्तपूर्ण जन्मात्म की
द्विमास्य चेष्टा नहीं है। इस प्रकार गुप्त जी रहस्यवाद की अन्तर्गत विषयक एकानिता का निष्पण
कर उसके पूर्वतन पक्ष का विवेचन इस प्रकार करते हैं
“जयप् की विष्णु-शाखा मर्यादा, हाइकार के लीन जी
पूर्ण प्रमिष्यवि तथा मन्वान की यमराजिनी
का पता जगत लीन जी”

‘जप’ की विषय-वाचा पर्याप्त, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रत्यक्ष सीमन्त की पूर्ण प्रतिबिम्बित तथा स्वभाव की वस्तुमयी सन्तिका दर्शन होता है परन्तु जो पाँच मूँहकर काव्य का पता जबतु धीरे धीरे से बाहर लाने निकलते हैं, वे काव्य के बोले में या उसके बहाने से किसी धीरे ही जीवन के क्षेत्र में रहते हैं। इसी प्रकार जो बोध-ज्ञात या भवात के प्रेम प्रविष्टाया नासता या विनोय के मीर-स्वर-रसना प्रवाहा भीष्मा के तार-मंकार तक ही काव्य धुमि समझते हैं उन्हें जप की प्रगेकमपत्ता धीरे धीरे की प्रगेक पाठ्यकता के सहारे ध्वनितता से बाहर निकलने की शक्ति करनी चाहिए।^{१५}

[illegible]

१६ रहस्यवाह को

१. धर्मशास्त्रों में कर्मकाण्ड के अन्तर्गत कर्मों का वर्गीकरण करने पर निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

पूरी मोबाइल-सी की है। वे अपने विवेचन के प्रसंग में बार-बार 'मनोमय कोश को काव्य की प्रकृत भूमि'^१ निर्दिष्ट कर जीवन के प्रबल-पक्ष से सम्बन्धित रचनाओं में साक्षर गुणित काव्य-कोटि की प्रतिष्ठा करते हैं। इसी प्रकार उन्हें काव्य की सामान्यभूमि में किसी प्रकार की बाध-सृष्टि भी स्वीकार नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा उसे साम्प्रदायिक परिधि में बाध कर दिया जाता है। सच तो यह है कि वे सिद्धान्त रूप में जयत की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति कहकर भी काव्य की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं मानते क्योंकि काव्य-भूमि प्रत्यक्ष सासम्बन्ध पाहती है और वह प्रत्यक्ष सासम्बन्ध केवल अभिव्यक्ति जीवन ही हो सकता है। यत वे प्रत्येक रसा में काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् की अभिव्यक्ति को चित्रित करने की प्रेरणा से ही मानते हैं। प्रत्यक्ष जगत् से दूर हटी हुई कविता उन्हें 'धामस्य अकर्मण्यता और वैराग्य की बाणी ही'^२ लगती है। क्योंकि उसमें मंगल का सिद्ध रूप मुखरित नहीं होता तथा वह एक प्रकार से जयत और जीवन से पताकन करना सिखाती है। यत उनकी दृष्टि में जयत की प्रत्यक्ष व्यापकता की भाँति काव्य की प्रत्यक्ष भावार्थकता समझाई है। यही कारण है कि वे रूस्यवादी कवियों द्वारा स्वीकृत प्रेम प्रतिभावा विरह, शीतलुक्त्य हर्ष आदि विशेष मनोवृत्तियों के संकीर्ण क्षेत्र में काव्य की व्यापकता को निबद्ध न कर उसे क्रोध भय उत्साह, लूणा आदि अन्यान्य भावों तक भी परिब्याप्त करना चाहते हैं जिससे जयत और जीवन में स्वस्थ सामंजस्य की प्रतिष्ठा हो सके तथा हमारी व्यापारिका वृत्ति के लिए परिष्करण का व्यापक क्षेत्र मिल सके।^३

१७ शुक्ल जी के रूस्यवाद विषयक विवेचन के सम्यक् आकलन से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि वे उसकी अभिव्यक्ति में जो आशंसापूर्ण निर्णय नहीं है उसे उसका एक प्रमुख कारण उनकी मध्यकालीन विचारधारा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रूस्यवाद का एक स्वल्प ज्ञान-वाचक की क्रोध से पनपने के कारण बहुत अधिक गूढ़ बन गया और उसमें साम्प्रदायिकता की बंध घाते लगी किन्तु उसका एक शीघ्रपूर्ण कमालक इष्टिकोण भी रहा है इस सत्य की भी जेभा नहीं की जा सकती। हिन्दी-साहित्य की काव्य-परम्परा में जिस रूप और प्रकार में रूस्यवाद का उद्भव और विकास हुआ है, वह अपने काव्य चरमकार और धर्म-शोरस्य की दृष्टि से अभिनवनीय है तथा वर्तमान काव्य निरूपण ही उसके द्वारा विकासोन्मुख और वैभवपूर्ण बना है, इसको प्रतीकार करना उसके विरोधी विचारकों के लिए भी सहज नहीं है। यत शुक्ल जी उसके जिस स्वल्प को विवेची छाना में पड़ा हुआ सिद्ध करते हैं, वह कई स्थलों पर उनके पूर्वाग्रह का ही परिणाम है। परिवर्ती क्षेत्रों में इस प्रकार की काव्यगत व्यापारिकता को उन्होंने बौद्धिक संवर्ष का प्रतिवर्तन कहकर उसे बनाबटी क्षेत्र से अधिक महत्व नहीं दिया है क्योंकि उसमें कवियों के सन्देश के भाव पर केवल कृत्रिमता और एकांगिता का ही प्रचार किया जाता है। सच तो यह है कि शुक्ल जी का काव्यार्थ वास्तविक कानिवास तथा तुलसीदास जैसे भारतीय महाकवियों की विचारधाराओं के अधिक निकट था क्योंकि वे काव्य-निर्माता भी सम्पूर्ण जगत् तक अपनी मनोभूमिका प्रसारित कर जीवन और जयत की व्यापक सत्ता में अपने व्यक्तित्व का समाहार करना अपनी चरम संसिद्धि समझते थे। यदि ऐसा न होता तो उनके काव्य में भी अभिव्यक्ति के एकांत स्वल्प क्षेत्रों की प्रवृत्ति मिलती। यत शुक्ल जी के मतानुसार काव्य का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से स्वतः-विद्य है और जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अभिव्यक्ति की अनुभूति से हम मथवाते हो रहे हैं, उस काव्य-क्षेत्र

१ पं रामकृष्ण मुकुन्द : निरुद्धादि दृष्टा भग, पृष्ठ ७१।

२. श्री, पृष्ठ २४।

३. श्री, पृष्ठ २३।

४. श्री, पृष्ठ २३०-२३१।

से निष्पन्नकर महामातों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना ह्रास भाव और मृत्यु दिखाना चाहिए।^१

१८. पुस्तक की ये रहस्यवाद को जिस वर्ष में विदेशी तरह स्वीकृत किया है, उसका एक साम्यवादी आधार भी है। वस्तुतः ये काव्य और दर्शन का क्षेत्र जो अन्त-विश्व रूपों में मानते थे तथा प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष को केवल ज्ञान का विषय समझते थे। उनका यही एक विश्वास था कि 'आत्मीय रक्षा' यहाँ वह कोई रक्षा हो या न हो काव्य का कोई सम्बन्ध नहीं है।^२ वस्तुतः उन्हें उपान्यास की भाँति काव्य की अधिकतर उपारिक्तता वृत्ति में ही अधिक आस्था थी। यहाँ वे आदर्श काव्य की अधिकतर कमियाँ या कमियाँ कहकर उसकी रहस्यवादक शक्तियों को साम्प्रदायिक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं देते थे। यही कारण है कि उन्होंने रहस्यवादी प्रवृत्तियों का सर्वत्र विरोध किया और जो सोम प्रत्यक्ष के प्रति अपनी मान्यता व्यक्त करने लगे उन्हें भारतीय काव्य दृष्टि से सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध किया क्योंकि 'आत्मीय दृष्टि के अनुसार अज्ञात और प्रत्यक्ष के प्रति केवल आस्था हो सकती है प्रविष्टता या आस्था नहीं। आस्था केवल जानने की इच्छा है, उसका अन्तर्गत कुछ ज्ञान के साथ होता है। इसके विपरीत आस्था या अभिमान का एक धर्म है। यहाँ प्रत्यक्ष या अज्ञात का अधिकार किन्तु निरर्थक विरोधी कल्पना है और मनुष्यी स्वरूपों के कारण वेमिश्रित मत मानने वाले देशों में की गई है।^३

१९. उपर्युक्त उद्धरण पुस्तक की रहस्यवाद विषयक उपपत्ति का मौलिक आधार है। इसी के प्रतिमान से उन्होंने रहस्यवादी काव्यवाद को विदेशी प्रवृत्ति सिद्ध किया है। उनकी इस मान्यता में भारतीय रस-निष्पत्ति के उस सिद्धान्त की भी आस्था है जो काव्य में विमर्श की मूर्च्छा को परापूर्व धर्म निरिच्छा करता है। उनका तो स्पष्ट मत है कि काव्य में प्रत्यक्ष की आस्था सर्वथा प्रत्यक्ष है, यहाँ जो कवि अपनी कविता में बार बार प्रत्यक्ष और रहस्यवाद की चर्चा करते हैं, उन पर वे आचार्य के सिद्धांत से चिढ़े हुए चिखते हैं।

'जो यह भी नहीं जानता कि अज्ञात और कविता किन चिह्नों के नाम हैं, जो प्रत्यक्ष की अपनी तकल पर नवीन संस्था की कविताओं तथा अज्ञात कवियों की संस्थाओं तक ही सारी बुनियाद बैठाने लगता है, वह यदि मुँह बनाकर कहते लगे कि 'यहाँ मैं अज्ञात की कोई कविता देखता हूँ तो हर्ष से आच खटता हूँ' तो एक सुनिश्चित सुनने वाले पर क्या असर होगा ?'

२. पुस्तक के इस कथन का मूल मन्तव्य यही है कि अज्ञात जैसे आधुनिक सिद्धांतों को काव्य-क्षेत्र में अतिरिक्त आत्मीय काव्य-परम्परा के विषय है और कबीर तथा जायसी आदि कवियों ने अपनी कृतियों में बीच अज्ञातवाद, भाषावाद, एकेश्वरवाद प्रतिविम्बवाद आदि की प्रविष्टता विभिन्न रूपों में व्यक्तियों तथा साम्यवादक रूपों द्वारा की है, वह उनकी मान्यता में साम्प्रदायिक है। इसी प्रकार सर्व-कवियों की भाषियों में इस विषय और सुस्पष्ट आदि विभिन्न भाषी-वर्गों की जो चर्चा की गई है, उसका भी ये काव्य की प्रकृत आधुनिक दृष्टि से अध्ययन करते हैं।

रहस्यवाद विषयक साम्यवादों का मूल्यांकन

२१. प्रश्न होता है कि पुस्तक की ये किस प्रतिमान के आधार पर रहस्यवाद को काव्य भूमि से बाहर निकाल दिया है, वह क्या आत्मीय दृष्टिकोण के प्रतिफल है यद्यपि उन्होंने केवल अपनी बात बताने रखने के लिए ही इस प्रकार का निर्णय दे दिया है ? वस्तुतः इस प्रकार की धर्मार्थों

१. व. रामकृष्ण शुक्ल : निरुद्धमणि, गुजरात, पृष्ठ ६९।

२. श्री, पृष्ठ ७६।

३. श्री, पृष्ठ ५२।

४. श्री, पृष्ठ ५४।

का समाधान गणित-विज्ञान की निश्चित परिमाण-प्रणाली के अनुकूल नहीं किया जा सकता। बात यह है कि ज्ञान उपासना और कर्म की भारतीय साधना में जो भिन्न भिन्न श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं वे केवल तत्त्वोपलब्धि की सुखमयता के दृष्टिकोण से ही निर्मित हैं। अन्यथा मानव-जीवन की संतुष्टता को इस प्रकार के भिन्न भिन्न शोधों में विभक्त नहीं किया जा सकता। यह बात दूसरी है कि इन श्रेणियों के निर्माण में मानव-मन की बोधमय तथा रागपूर्ण वृत्तियों का समार प्रत्यक्ष भाग में रहने के कारण ही किसी एक को प्राधान्य देते हुए उसके अनुकूल ही उसे ज्ञान उपासना तथा कर्म की श्रेणियाँ प्रदान कर दी जाएँ। सुख की अपनी मानसिक शक्ति और आस्थाओं के अनुसार काव्य को उसके विपुल सामाजिक स्वरूप में ग्रहण करने के पक्षपाती वे अतः उन्होंने रहस्य मुक्त तथा बोध-साधना जैसे धार्मिकपूर्ण क्षेत्रों में उसकी सीमा का संकीर्ण करना अनुचित समझ और उपनिषद् तथा दर्शन-ग्रन्थों की भिन्न कोटि निर्धारित कर वास्तविक को ही प्राप्ति कवि होने का पौरव प्रदान किया जब कि प्रसार की वे अपने रहस्यवाद विषयक विवेचन में सत्य की अभिव्यक्ति को ही काव्य का चरम उद्देश्य बतलाकर कवि और मनीषी को बहुत निकट लाकर उपस्थित किया। सुतराम् इस विषय में सहसा यह निर्णय करना कठिन सा है कि सुख की ही काव्य-क्षेत्र विषयक साम्यता किस मानसिक मंचन का परिणाम है। फिर भी उसमें से उनके कुछ स्थलों पर प्रतिष्ठित पूर्वाग्रह को निकास देने पर उनका काव्य-प्रतिमान ब्रह्म समझ जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रहस्यवादी चारु के प्रति उनके मन में एक प्रकार की प्रतिकूल प्रतिक्रिया ने ऐसा स्थान बना लिया था जिसके कारण वे उसे काव्य में प्रोत्साहन और उत्तरम प्रदान करने में कुछ भी उपयोगी नहीं समझते थे। ऐसी स्थिति में उन्हें बाध्य होकर यह कहना ही पड़ता है कि उनके रहस्यवाद विषयक विवेचन में यथेष्ट ठोसता और तथ्य-निरूपता होते हुए भी उसका दुर्लभ पक्ष बिना प्रकट हुए नहीं रहता है।

रहस्यवाद के प्रसंग में काव्य विषयों का विवेचन

२२ सुख की ने काव्य में रहस्यवाद का स्थान निर्धारित करने के प्रबंध में ही काव्य में प्रकृति-चित्रण करना-संयोजन प्रसंग-विधान का प्रयोग और सफ़िद-वैविध्य प्राप्ति के बन्धन में भी अपनी बारछाएँ व्यक्त की हैं और उनका काव्य-निर्माण में धार्मिक महत्त्व निर्धारित किया है। वास्तव में वे काव्य के प्रयोजन और उद्देश्य के संबन्ध में जो दृष्टिकोण लेकर प्रारम्भ ही से चले हैं, उन्हीं की संवृद्धि उन्होंने काव्य विवेचन विषयों के साथ ही की है। उनका विस्तृत विवेचन सुख की के काव्य-स्वरूप विषयक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए किया जाएगा। वही तो मेरे कथन का मूल आधार यही है कि सुख की ने काव्य में रहस्यवाद की योजना को एक सीमा तक ही स्वीकार किया था और वे उसे कविता की एक शाखा विधेय मानने के पक्ष में थे।

२३ सुख की का काव्य में रहस्यवाद धीरे-धीरे विस्तृत निबन्ध इन विषय का प्रत्यक्ष निर्धारण है कि वे अपने काव्य में लोक-वश और पूर्व-जगत् की ही अभिव्यक्ति पाते थे अतः उन्हें न तो यह प्रश्न प्रतीत हुआ कि काव्यकार अज्ञात लोक के प्रति सम्बन्ध कल्पनाएँ करें और न उन्हें यह ही प्रश्न समा कि प्राचीन ग्रन्थों की प्राध्यात्मिकता के नाम पर जनमानसी व्याख्याएँ की जाएँ। उन्होंने उन लोगों का विरोध किया है जो धर्मज्ञान प्राकृतिक की धार्मिकता के व्याख्याएँ करते हैं अथवा मन की यात्रा को जीवात्मा का परमात्मा में लीन होने का साधन-मार्ग निर्दिष्ट करते हैं। काव्य की बन्धनस्तु और दर्शन-प्रणाली की दृष्टि से उन्होंने इस विषय का पर्याप्त विवेचन कर दिया है कि किस प्रकार की कविताएँ विपुल रहस्यवादना को लेकर चलती हैं और कि कविताओं में केवल बादप्रदत भावमय रहता है।^१ काव्य में रहस्यवाद की स्थिति स्पष्ट करने के लिए उन्होंने

इस बात पर विशेष धोर दिया है कि कवि-कर्म-विधान के विविध पक्षों में मिलने की विषय कार्यवे में व्यक्त जीवन और जगत् के होंगे और केवल उन्हीं के द्वारा पूर्ण रस की अनुभूति की जा सकेगी। उनका तो स्पष्ट कहना है कि जिस भाव की कवि व्यञ्जना करे उसमें वह स्वयं भी सीत हो जाय तथा पाठकों का भी उससे साक्षात्स्य करावे। वास्तव में भावों का यह साक्षात्स्य ही पूर्ण रसानुभूति का रूप धारण करता है। हाँ वैसे मध्यम श्रेणी की रसानुभूति भी हुमा करती है।^१

अस्यास्य वार्त्ता की चर्चा

२४ वैसे तो मुकुल जी ने काव्य में रसवाद की स्थिति का ही मुख्य विवेचन अपने प्रस्तुत निबन्ध में किया है, किन्तु प्रसंगवश उसमें अन्य विषयों का भी संश्लेषण होता गया है। उन्होंने भारतीय साहित्य शास्त्र की परम्परा में विकसित होने वाले रसवाद, असंकारवाद, अविवाद और रीतिवाद प्रादि साहित्यिक वार्त्ता का उल्लेख किया है किन्तु उचित-वैचित्र्य के आधार पर चलते-चलते अस्मिन्वचनावाद की रसवाद की भाँति ही कुछ धाँसीबनी की है। इस बात में वे अनुभूति और वाच-श्रेय के उपकरणों के स्थान पर केवल बाह्य चित्र पाते हैं जिसका हमारे जीवन की गम्भीर अनुभूतियों के साथ में कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्मिन्वचनावाद के सम्बन्ध में उन्होंने अपने हृदीय भावे भाषण में विशेष विवेचन किया था अथ 'पुनश्चित् शेष' से बचने के लिए हम उसका व्यापक विस्तार नहीं करेंगे। यहाँ तो हमारे कहने का मुख्य प्रयोजन यही है कि मूलतः अस्या-वाद या रसवाद के नाम से रची जाने वाली कविताओं में अस्मिन्वचनावाद के द्वारा वेत-भूटे बमाने वाली प्रक्रिया का विरोध करते हैं क्योंकि उनमें अस्मिन्वचना के बाह्य कोष्ठ के प्रतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी विवेचन के प्रसंग में उन्होंने यूरोपीय काव्य-श्रेय में प्रचलित कसावाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, प्रकृतवाद और संवेदनावाद प्रादि और भी अनेक वार्त्ता का विवेचन किया है और अन्त में उनके अस्थाविराज की बोधना कर उन्हें किसी भी रूप में धारण नहीं समझा है। उनका यह विवेचन इन वार्त्ता का परिचयी देखों में होने वाला क्रमिक विकास भी स्पष्ट करने में सहायक हुआ है।

२५. मुकुल जी ने यूरोप के साहित्यिक श्रेय में उद्भूत होने वाले तथा मिलने वाले वार्त्ता में अतिप्रसर प्रतिवाद या प्रतिवर्तन का रूप देखा है जिसका अभिप्राय यह है कि उसमें जीवन का कोई निरंतरत सत्य प्रकटा स्थायी मुख्य नहीं होता।^२ यही कारण है कि उन्होंने उनके अनुपमन का विरोध किया है। प्रतीकवाद की धपना प्रेरणा-विषय बनाकर अंश के काव्य-श्रेय में जिस प्रकार की गड़बड़ी मची और उसका प्रभाव इसलिये होता हुआ भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतीय साहित्यों तक बसा भाया उसका मुकुल जी ने अपनी दृष्टि से ठीक-ठीक विस्तार किया है। सब तो यह है कि वे काव्य में प्रतीकों के प्रयोग की परम्परा बहुत पुरानी मानते हैं और उनके द्वारा काव्यार्थ स्वल्प में जाने वाले जगत्कार या सीष्ठन की प्रशंसा भी करते हैं किन्तु भारतीय दृष्टि से उन्हें केवल अस्मिन्वचनावादी के अन्तर्गत ही रखना पर्याप्त समझते हैं। वस्तुतः उनका विरोध तो उन प्रतीकों से है जिसका रसवादी कवियों ने उपयोग करते हुए उन्हें ऐसी प्रतिरिक्ता में पहुँचा दिया है जहाँ काव्य की गम्भीर व्यञ्जना केवल जिसकाङ्क भाव बन गई है। अतः वे प्रतीक-वाद तथा रसवाद के नाम पर केवल अज्ञात और अयोग्य की मुद्रि लगी करने के लिए निर्मित हुई कविता को केवल एक प्रवचना भाव समझते हैं।

१ ५ उपर्युक्त मुकुल विवेचनवि दस्ता भाग, पृष्ठ ८८।

२ श्री. एम्. १७।

३ श्री. एम्. ११।

रहस्यवाद के बीच और भारतीय परम्परा से उसका विरोध

२६ मुसलमी ने रहस्यवादी काव्य में सबसे अधिक विरिक्तजनक हो बाँटें बतलाई हैं—वे हैं, उनमें 'आर्षों की सचाई का धरातल तथा संज्ञा में कृत्रिमता'।^१ इन्हीं दोनों दुर्गुणों के कारण वे इस प्रकार की काव्यभारा में अनेक प्रकार की दोषोपेक्षाएँ भी कर सके हैं। उन्होंने काव्यगत रहस्यवाद के विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर बतलाया है कि फारस, अरब तथा यूरोप के देशों में किस प्रकार भक्ति की व्यापक संज्ञा के लिए रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई और वहाँ के ईसाई भक्तों ने साम्प्रदायिक कर्षकों का सहाय्य लेकर अपनी भावनाओं का अभिव्यक्ति किया जो मजहबी स्काटों के कारण बहुत ही दबे स्वर में संभव हो सका। उन्होंने भारतीय भक्ति-काव्य को अथवा की प्रत्यक्ष विभूति के प्रति निस्वर्कोष भाव से आत्म-निवेदन करने वाला सिद्ध कर उस पर किसी भी प्रकार के रहस्यवाद, प्रतिविम्बवाद या वैरागी भावों का प्रभाव नहीं माना है और सिद्ध किया है कि मुसलमानी धर्मसंघर्ष ने रहस्यवाद को लेकर जो निर्मूल भक्ति की बानी सभी वह बाहर से अरब और फारस की ओर से आई थी। वह देखी बेश में एक विदेशी वस्तु थी।^२ इसी प्रकार वे धार्मिक हिन्दी काव्य के रहस्यवाद की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में लिखते हैं 'इस संवेष्टों के आगे पर ईसाइयों के आभोगन के बीच जो 'ब्रह्म समाज' संस्था में स्थापित हुआ उसमें भी पौष्टिकता का भय कुछ कम न रहा। अतः उनकी विचार और प्राप्ति जब काव्योन्मुख हुईं तब उसमें भी रहस्यवाद का सहारा लिया गया। शायद यह कि रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं।'^३

२७ मुसलमी ने स्पष्ट रूप से इस बात को सिद्ध करने की कोशिश की है कि भारत में काव्य क्षेत्र इस प्रकार के बाँटों से बिलकुल प्रभावित रहा गया। वहाँ 'रहस्य और दुष्ट, नीम और आदि के भीतर ही रहे। वहाँ के धरातलवाद के मूल में रहस्यवाद प्रवृत्ति रहा किन्तु माये बचकर वह पूर्ण प्रकाशवाद के रूप में प्रकटित हो गया।'^४ उम्र और कृष्ण के विविष्ट रूप और लोक-विभूति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कला को लेकर ही हमारे यहाँ का नाव-काव्य घबहरा हुआ है, जिसमें छिपे रहस्य की कोई गुंजाइश नहीं है। अतः मुसलमी के मतानुसार भारतीय भक्ति-पद्धति और काव्य-भारा में रहस्यवाद के लिए कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। मुसलमी इसी प्रसंग में उन लोगों को कड़ी फटकार देते हैं जो 'कुलही नूर आदि भारतीय पद्धति के भक्तों में भी रहस्यवाद गुंथा करते हैं।' उनका स्पष्ट मतव्य है कि 'भारतीय भक्ति-काव्य धनुषि की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही जाता है। इसमें किसी नाव के द्वारा विपर्यय करके नहीं वह अभिव्यक्ति या प्रकाश की ओर उन्मुख है रहस्य या विषय की ओर नहीं।'^५

स्वाभाविक रहस्यभावनता का समर्थन और साम्प्रदायिक रहस्यवाद की निंदा

२८ उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि मुसलमी रहस्यवाद के कट्टर विरोधी थे। सब तो यह है कि वे स्वाभाविक रहस्य भावना को प्रत्यक्ष रमणीय और मधुर समझते थे।^६ उनका कहना था कि वह भावना मन की एक ऐसी वस्तुवैषम्य है जिसका अनुभव

१. पं० रामचन्द्र गुप्त हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२२।

२. वही, पृष्ठ १२५।

३. वही, पृष्ठ १२५।

४. वही, पृष्ठ १२५ (२६)।

५. वही, पृष्ठ १२६।

६. वही, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १६।

उन्हे कवि धर्मार्थ्य अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर किया करते हैं। किन्तु उसे किसी वाद के साथ सम्बद्ध करके उसे काव्य का एक सिद्धान्तमार्ग स्वीकार करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।^१ इस प्रकार सुषम जी ने इसी प्रसंग में बहरी साम्प्रदायिक या सिद्धान्तीय रहस्यवादियों की निन्दा की है बहरी उन कवियों के वाक्यांशों की प्रशंसा भी की है जिनमें सुन्दर और स्वाभाविक रहस्यभावना मिलती है। ग्रंथेजी के प्रसिद्ध कवि बड़े स्वर्ण और धौसी को उन्होंने ऐसे कवि माना है जो 'रहस्य को 'बाह' के रूप में लेकर नहीं जैसे धनितु जिनकी रहस्य भावना स्वाभाविक पद्धति पर होने के कारण हृदय में सज्जी अनुभूति उत्पन्न करती है। उन्होंने बतलाया है कि बड़े स्वर्ण की कविता ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति प्रकृति से सीधा प्रेम सम्बन्ध रखती है और कौत्सरिक भी स्वाभाविक रहस्य भावना को लेकर बसने वाला कवि है। दोनों के काव्य में व्यञ्जित भावना प्रत्यक्ष स्वाभाविक और भव्य है और उनमें किसी वाद के पीछर निक्षेपित तथ्य की व्यञ्जना प्रकृति के रूपों और व्यापारों से जबरबस्ती नहीं कपड़ी गई है। इसी प्रकार सुषम जी ने धौसी कीटस और बावर्जिक के काव्य की भी प्रशंसा की है और बतलाया है कि जो समीपक इनकी स्वाभाविक रहस्य भावना को साम्प्रदायिकता की दुर्गन्ध से शुद्धित करता है वे सच्चे काव्य-पारखी नहीं हैं। कहा जाया आचार्य ने सुखी रहस्य भावना और यूरोपीय काव्य-कल्पना की प्रक्रिया को लेकर इसी निबन्ध में एक ऐतिहासिक निष्कर्ष भी प्रस्तुत कर दिया है। उनके इस निष्कर्ष से जहाँ उनके गम्भीर अध्ययन और उनकी मौलिक सूक्ष्म का पता चलता है वहाँ यह भी पामासित हो जाता है कि वे अपनी प्रारम्भ पर इतने घटक रहते थे कि उन्हें कोई बिरोधी उचित नहीं हुआ सकती थी। वे कथावाद और धर्मिर्भवनभाव के विम रूपों के कटु आलोचक रहे, वह सर्वैक उनकी प्रवृत्ति म बना रहा और वे बार-बार उन काव्यों और समीक्षाओं की निन्दा करते रहे, जो उनके भावों और विचारों से भेद नहीं करते थे। सबभुष ने एक अत्यंत ठोस हुए सवालोजब के।

पवित्रभी रहस्यवाद विषयक विचार

२८. पुस्त भी ने बिनामयी रहस्यवाद की कविताओं की विवेचनार्थों का उत्तेज भी किया है, जिनमें प्रमुख है उच्चकी साक्षसिक प्रपक्षता और बाव्यविषय।^२ वे अन्ध-बन्धन का त्याग और भव का रहस्यवाद और क्षयावाद से कोई सम्बन्ध नहीं मानते। उन्होंने इस प्रकार की हवा को अमेरिका की धोर से धाई हुई कहा है और अपने कथन के प्रमाण में अमेरिकी कवि वास्ट क्लिटरीन की वाद के पत्ते (सीम्स मॉड वास) नाम की कविता का उदाहरण दिया है। इस प्रकार उनका रहस्यवादी कवि निपटा भी से प्रकट रूप से मतयेव है जो मुक्त धर्मों को विभुक्त भारतीय परम्परा के अनुकूल मानते हैं। पुस्त भी हिन्दी में आ निकसे हुए अथावाद को 'विद्यापती बीबों का मुरम्बा'^३ कहते हैं। उनके मतानुसार अथावाद या रहस्यवाद काव्य-वस्तु (मैटर) है सम्बन्ध रखता है और धर्मिर्भवनभाव का सम्बन्ध विद्या-विधि से होता है। उन्होंने बतलाया है कि अथावाद के अन्तर्मत बहुत-सी रचनाएँ ऐसी भी हुई हैं जिनमें धर्मिर्भवनभाव के अज्ञात अनुकरण के कारण बहुत सुन्दर साक्षसिक कलाकार स्मान स्मान पर मिलता है। वे हिन्दी के अथावादी और रहस्यवादी कवियों को अपना सत्यतामय देखे हुए कहते हैं कि "यदि वे वाद का साम्प्रदायिक पक्ष छोड़ अपनी अमस्त विवेचनार्थों के सहित प्रकृत काव्य-भूमि पर उतर आये और धौसी तथा बंधन आदि नापामों की अन्धी अनुकरण-वृत्ति को त्याग कर, साक्षसिक प्रयोगों में आनधानी से

१. १० अमकर हुक निर्यामि, इतर मय, काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १११।

२. ६० अमकर हुक निर्यामि इतर मय, पृष्ठ १३२।

३. १०, पृष्ठ १३५।

बसने समें तो विषय ही उनकी काव्य धारा अधिक स्वाभाविक धोर सुष्ठु बन सकती है।^१ इस प्रकार सम्युक्त विवेचन से मुक्त भी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में बने हुए विचारों का परिचय भली भाँति किया जा सकता है।

निष्कर्ष और मूल्यांकन

१ साधारण मुक्त ने रहस्यवाद और छायावाद को बहुत निकट कम में देखा है। व जिस प्रकार चिन्ता-क्षेत्र के घटितवाद को भावना-क्षेत्र में रहस्यवाद कहते हैं उसी प्रकार छायावाद को बेहोश के पुराने प्रतिबिम्बवाद के निकट ला रखते हैं। उनकी बारम्बार है कि यह प्रतिबिम्बवाद सूक्ष्मों के यहाँ से होला हुआ यूरोप में गया वहाँ कुछ दिन पीछे प्रतीकवाद से संश्लिष्ट होकर धीरे-धीरे हम साहित्य के एक कोने में या निष्ठा और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिए छायावाद कहा जाने लगा। यह काव्यगत रहस्यवाद के लिए पृथिवी साहित्यिक सिद्धान्त का शोचक शब्द है। सातों यह है कि साधारण मुक्त ने एक उत्पत्ति समालोचक की भाँति स्वयं काव्य में रहस्यवाद की व्याख्या की और उसे भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं की लोड में समझने का प्रयत्न किया। उनके विवेचन से सिद्ध होता है कि वे एक स्वतंत्र रसिक के व्यक्ति के धीरे विवेकी सम्मानाधिकार को धरतय हेतु समझते थे। उन्होंने उस समय रहस्यवाद और छायावाद के नाम पर बसने वाली लम्बेदार पदावधियों का कड़ा विरोध किया है और उन्हें साहित्य के पवित्र भविर में गड़बड़झाला उत्पन्न करने वाली कहा है। साथ ही साथ वे इस बात से भी बड़े दुःख हुए हैं कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में सम्मान समालोचक संश्लेषी की पदावली के अनुवाद करके मगमाने छप से जो हिन्दी कवियों की काव्य-कृतियों की परब में बिड़ा बैठे हैं वे साहित्य का एक प्रकार से धनर्ष ही करते हैं। उनका यह मेक ऐसी पड़बड़ियों को चोके के निमित्त ही बिचा गया है। यद्यपि इस विस्तृत निबन्ध में एक ही बात पुनरावृत्ति के रूप में बार-बार आई है किन्तु हममें मुक्त भी को कोई दोष नहीं दिया जा सकता। इसका मूल कारण यह है कि उस समय की काव्य-विचारधारा की सम्भवता उन्हें बहुत धक्कापी थी और उसको दूर करने के प्रयत्न में एक ही बात को बार-बार कहकर सत्य का प्रकाश करने में उनका भी नहीं भरता था। इस कथन में दो बातें ही नहीं सकती कि साधारण के इस निबन्ध ने उस समय काव्य-वर्ग और समीक्षण-क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति कर दी और उनके विपक्षियों का भी साहस नहीं हुआ कि वे मुक्त इसका विरोध करें। हाँ धाने बतकर उनकी मान्यताओं के खंडन-खंडन की परम्परा भी यही जिनमें उनकी कुछ बातों को धाड़ और कुछ को मछाड़ कहा गया। उनका विवेचन हम यथाप्रबंध धाने करेंगे।

प्रभिव्यजनावाद और कलावाद विषयक मान्यताएँ

इन्दौर का प्रभिभाषण और उसका उद्देश्य

११ मुक्त भी ने इन्दौर में होने वाले चौबीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य परिषद् के सभापति-पद से जो भाषण दिया था वह हमारे समालोचना-साहित्य की एक स्थायी निधि बन गया है। जैसे तो उन्होंने उक्त भाषण में कुछ साहित्य के भीतर धाने बात समस्त काव्य के सिद्धान्तोक्त की चेष्टा की है किन्तु मुख्य रूप से उद्देश्य काव्य तथा उसके क्षेत्र में प्रचलित प्रभिव्यजनावाद का ही व्यापक विरोधवाण हुआ है। मुक्त भी का यही भावण काव्य में प्रभिव्यजनावाद के नाम से विस्तारण बुरा भाव के समर्थक प्रकाशित हुआ है, जिसे मुक्त भी के समीक्षायक विचारों की उपलब्धि में पर्याप्त सामग्री मिलती है। इस भाषण में भी

क्षेत्र में कोई भावस्थकता नहीं समझते।^१ उनकी इसी प्रवृत्ति में एक विशेष मान्यता यह भी है कि काव्य की रमणीयता अन्वयार्थ या व्यंग्यार्थ में न होकर बाह्यार्थ में है। चाहे वह बाह्यार्थ योग्य और उपयुक्त हो भयवा प्रयोग्य और अनुपयुक्त। साकेत की एक रसात्मक उक्ति के आधार पर अपनी विवेचना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने इस मान्यता की पुष्टि भी की है। इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्ल की परिचयी समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित कसाबाब तथा अभिव्यञ्जनाबाब धारि के धारि-रेख्य का विरोध करने के लिए एक भूमिका प्रस्तुत कर रहे हैं। सच तो यह है कि उनकी दृष्टि में काव्य में जीवन के किसी संकीर्ण तथा वास्तविक तथ्य का उद्घाटन होना चाहिए, न कि केवल बाह्यी चमक-दमक और कसाबाबी का। अपनी निर्भीक तथा स्वतन्त्र प्रकृति के कारण उन्होंने साधारणत्व के बस पर, जोड़े के सौन्दर्य-ध्यान में निरूपित अभिव्यञ्जनाबाब का कठोर समीक्षा में बाध किया है जो बाह्यार्थ को ही काव्य का सर्वस्व मानने के फलस्वरूप कई स्वर्गों पर पूर्वाग्रही या बन गया है। काकावर में उनकी इस प्रकार की मान्यताओं का विरोध जिन समासोपनाओं द्वारा किया गया उनका विवेचन हम प्रसारकालीन समासोपना के घटनत्व करेंगे। यहाँ तो इस उल्लेख का मूल अभिप्राय यही है कि शुक्ल की अपने चिन्ताओं के किन्ते धनी ने और जो विचारधारा उनके मस्तिष्क में जम जायी थी उसका वे किन्ते प्रबल समीक्षा में समर्पण करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के स्वभाव में भी यही बात थी किन्तु शुक्लजी की विवेचना के पीछे प्रपेक्षाकृत अध्ययन और मानवीय का विशेष बल था।

अभिव्यञ्जनाबाब के प्रति दृष्टिकोण और उसका स्पष्टीकरण

३३ शुक्ल की की समासोपनाओं में यह भी एक विशेषता है कि वे किसी भी विषय पर अपना मत निर्णय प्रकट करने के पूर्व विवेच्य विषय की मान्यताओं के प्रमुख संकों का निष्कर्ष पूर्व-पक्ष के रूप में प्रकट करते हैं और अनुपयुक्त अपनी प्रतिक्रिया का आभाव देते हैं। उन्होंने जोड़े के अभिव्यञ्जनाबाब की एकमात्र प्रमाणावस्था सिद्ध करने के लिए प्रारम्भ ही से उनकी यह मान्यता भी है कि 'कला में अभिव्यञ्जना ही सब कुछ है अभिव्यञ्जना से भयम कोई और अभिव्यञ्जना वस्तु या प्रपं नहीं होता। कहने की आवश्यकता नहीं कि जोड़े की यह मान्यता ही शुक्ल की के विषय प्रतिपादन अथवा जोड़े का विरोध करने के लिए आधारभूत बन गई है। उनके विरोध का स्वर इसलिए भी तीव्र हो गया है कि जोड़े ने काव्य की बलुना कला के घटनत्व की है। यही से इन दोनों आधारों में काव्य कला के स्वतन्त्र-विषयक मतभेद उत्पन्न हो जाता है, जिसके मूल में दोनों का विभिन्न देशीय दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक स्तर जितना अधिक उपपादन कारण है उतना तात्त्विक निष्कर्ष नहीं। इससे कोई संदेह नहीं कि जोड़े के अभिव्यञ्जनाबाब में भी अनेक उदात्तों और विचारप्रवृत्त स्वतः हैं, किन्तु शुक्ल की ने उन्हें और भी अधिक परिवर्तन का रूप दे दिया है। दोनों आधारों में भ्रम का जीवनलेख उभी से हो जाता है जब कि एक कला में अभिव्यञ्जना (व्यंग्यार्थ) को प्रमुखता देता है और दूसरा बाह्यार्थ की पुष्टि करता है। वैसे तो जोड़े ने भी अपने विवेचन में सहजानुप्राय को महत्व दिया था किन्तु शुक्ल की दृष्टि यह और बहुत कम गई। उन्होंने तो अपने 'प्रत्युत्पन्नमतिस्व' के द्वारा जीवन ही यह निर्णय कर दिया कि जोड़े ने अपर्युक्त और जीवन से स्वतन्त्र कला की जिस भावना का प्रतिबिम्बण तथा विवेचन किया है वह पुराने ईसाई मूल्य और संतों का प्रभाव है जो इस प्रकार

१ किन्तु यह दूसरा सवाल, काव्य में अभिव्यञ्जनाबाब, पृष्ठ १९६।

२. यही, पृष्ठ १९६।

३. भयम अथवा बल सङ्ग की तो क्या अन्य देर कदाई।
४. अपने को आप विचारकर आकर इनको बाध। हैमिन्टनल पत्र, 'लोक'।
५. वे अपने को आप विचारकर आकर इनको बाध। हैमिन्टनल पत्र, 'लोक'।

के विषय आभास का अनुभव करने की बातें प्राप्त कहते रहते थे तथा जिनके अनुकरण पर लोक धार्मिक ग्रंथों की कवियों ने उन्हीं 'सन्तों' के आभास वाली बात पकड़कर धनुष्य की कल्पना को इतना ही बढ़ाए तक पहुँचा दिया था।^१

१४. आचार्य युक्त में विषय-ग्रहण की एक ध्वस्त प्रथा थी। अपने व्यापक अध्ययन और संमीर चिन्तन के द्वारा वे किसी भी विषय की मूल विचारधारा को सही भाव से हृदयमय कर उसे अपनी बना लेते थे। पश्चिमी समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित कल्पना की पुकार का समाहार उन्होंने भारतीय रचना में व्याख्यात भाव-शेष के अन्तर्गत करते हुए उसे "काव्य का व्यापक बोध-पथ"^२ माना और जो शेष उसके लोक को व्यापारिक तथा निराशा मानते हैं उनका विरोध किया। इसी प्रकार जसा के साध-साध काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में अपने वाली सीमन्त की पुकार थी उन्हें धृष्टि नहीं मनी और वे काव्य के स्वल्प-व्यक्त में सीमन्त के स्थान पर "रसलीप" शब्द को धार्मिक उपयुक्त समझते थे। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे 'सीमन्त-साध' को किसी ठीक-ठिकाने का धारक नहीं मानते थे और उसका काव्य के साथ तो किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं समझते थे।^३ उनका यह विस्लेषण निश्चय ही उनके इस सम्बन्ध में एकपक्षीय दृष्टिकोण का ही परिचायक है तथा तो वे मुन्शर शब्द में बाह्यार्थ का उचित पाकर उसे काव्यानुसृष्टि को संकुचित बनाने वाला कहते हैं क्योंकि उनके मतानुसार 'अनेक कविता का ग्रहण सीमन्तानुसृष्टि के रूप में नहीं होता।' लक्षण है काव्यान्तर में उनकी एतद्विषयक विचारधारा में परिवर्तन भी हो जाता किन्तु उस युग की समीक्षा को देखते हुए उन्होंने वा विवेचन प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही उसके प्रकार धार्मिक का परिचायक है। इसमें कोई सन्देह नहीं। कहा जा सकता है कि युक्तोत्तर युग के समालोचकों ने कला अधिष्ठाता सीमन्त तथा विभिन्न काव्य-वालों की जो समीक्षाएँ प्रस्तुत की है, उनकी मूल प्रेरणा आचार्य युक्त की के इन्हीं चिन्तनों में प्रतिबिम्बित रही है।

१५. युक्त की की समालोचनाओं की यह भी एक विशेषता है कि वे अपनी धारणाओं तथा सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ऐसे विचारकों के भी सहोदर रहते रहते हैं, जिनमें उन्हें अपने पक्ष के अनुकूल ध्वनि मिलती है और जो विचारक स्वाध्याय और साहित्य-क्षेत्र के देशी व्यापक माने जाते हैं। जैसे तथा अन्य सीमन्तवाचियों की मान्यताओं का अध्ययन करने के लिए उन्होंने ईर्ष्या के स्वर्ण कवि स्पष्ट बुद्ध का उदाहरण दिया और उद्युपराय भारतीय दृष्टि का उल्लेख करते हुए लिखा "हमारे यहाँ काव्य की विपरीत चौखट कलाओं में नहीं की गई है। इसी से बहुत बाल्यविषय के अनुवाचियों द्वारा चमत्कारवाच बलविविधता धार्मिक बनाने जाने पर भी इस प्रकार विरुद्धाचार नहीं बढ़ा किया गया। इस प्रकार ही हिन्दी में भी कला शब्द की बहुत अधिक बहुरूपी होने लगी है। ये देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से बिजली जल्दी यह शब्द निकले जतना ही सम्भव। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।"^४

इस प्रकार 'कला' शब्द के बहिष्कार की बात कहकर उन्होंने जैसे तथा अन्य कला वाचियों की उन बातों का विवेचन किया है जो काव्य-विषयक भारतीय भावनाओं के प्रतिबिम्ब पड़ती हैं। उनका जैसे से प्रह्लाद विरोध तो यही है कि वह कला में कल्पना-पथ को प्रभावित देकर उसका एक 'ज्ञानात्मक' मानता है, जबकि 'भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार उसका मूल

१. किशोरी, हृष्ट मध्य, काव्य में सीमन्तवाचक, पृष्ठ १००।

२. यही, पृष्ठ १०१।

३. यही, पृष्ठ १००-१०१।

४. यही, पृष्ठ १०५।

५. यही, पृष्ठ १०५।

कम भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है।^१ उन्होंने अपने कथन की पुष्टि भाषागतिक मनोविज्ञान के तत्त्वों के आधार पर भी की है। उन्हें ओपे द्वारा प्रतिपादित मानात्मकता में केवल साम्प्रदायिकता की ही गंध मिली है जिसे रहस्यात्मकता का पुट देकर यूरोप के अनेक कवियों ने अपनी काव्य रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। इस प्रसंग में उन्होंने फ्रांस के साहित्यिक बर्षों के उद्यम का भी जिक्र किया है जिसमें उसने काव्य और कल्पना का सम्बन्ध 'पारमायिक ज्ञान' के साथ जोड़कर उन्हें प्राध्यात्मिक चेतना निरूपित किया था। ओपे के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है 'जिसे ओपे धारणा के कारणों से निकले हुए कम कहता है, वे वास्तव में बाह्य-व्यय से प्राप्त किन्ने हुए कम हैं।'^२ इसी विवेचन में उनका स्वर इतना अधिक तीव्र हो जाता है कि वे बर्बरक भाषाओं में धाकर यहाँ तक सिद्ध देते हैं कि 'कहा कथा ही के लिए' वाणी बात को भीष्म होकर मरे हुए बहुत दिन हो गये। एक नया कई ओपे उसे फिर जिता नहीं सकते।^३

कलावाद तथा अन्त्यान्य मतों का कारण

३१. सुस्त जी ने ओपे के अभिव्यक्त्यावाद तथा कलावाद का खण्डन करते हुए प्रासंगिक रूप से उन मत-मतान्तरों का भी विरोध किया है जो काव्य में नीति तथा सवाचार का कोई महत्त्व नहीं मानते और यह समझते हैं कि कला और साधारण का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। उनके मतानुसार इस प्रकार की साम्यताएँ भी घबकघरी और बुद्धि हैं, क्योंकि इनके समर्थक काव्य के व्यापक तथा वास्तविक क्षेत्र को केवल अपनी संकुचित दृष्टि में ही परिसीमित समझते हैं। सुस्त जी ने हम्ब्रेड के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रकार वाइस तथा वे ई स्विगर्न की एतद्द्विपक्षक भाष्यताओं का कटु विरोध किया है और आई ए रिचर्ड्स तथा टी के स्लैपस की उन भारणाओं की प्रशंसा की है जिनमें वे भारतीय साहित्य में निरूपित साधारणीकरण तथा सवसत्-विवेक के बहुत विकट वर्गी रहकर चले हैं। वस्तुतः उनका यह विश्लेषण भारतीय रस-निरूपण के सिद्धान्त में प्रतिपादित 'सत्त्वोद्वेकात्-सुख पर पुष्टतया' आधारित है। काव्य को मूलतः भावानुभूतिवत्त्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने मनोविज्ञान को भी प्रमासुस्वरूप उपस्थित किया है और कुछ तर्कों के द्वारा ओपे के विचारों में भी अन्तर्विरोध बतसाकर अन्त में यही निर्णय दिया है कि 'सच्ची काव्यानुभूति भाषा अनुभूति के ही रूप में होती है।'^४

३२. सुस्त जी ने ओपे के अभिव्यक्त्यावाद तथा यूरोपीय काव्य-सृजन के क्षेत्र में प्रयुक्त कलावाद का भी विरोध किया है किन्तु उन्हें आश्चर्य मान कर चलने वाली समीक्षा-पद्धति को भी अस्वाभाविक और धर्मशास्त्रिक सिद्ध किया है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट भलकता है कि वे 'परमव्याप्ती पारिध्य' के प्रति कितनी सक्रियप्रतिक्रिया रखते थे और जो लोग भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण रस धनकार और धर्मरहित को समय-बाह्य निर्णय कर तथा पाषाण्य प्रणामी की नवीन समीक्षा में प्रयुक्त अनुभूति-भावना धारि को सर्वथा मौलिक मानकर उनका गुण-संस्तर करते थे उन्हें वे ज्ञान के स्तर में कितना अधिक हीन समझते थे। उनका तो स्पष्ट मत था कि जिसे नवीन समासोचक हृदय की अनुभूति कहते हैं, वही हमारे साहित्य में रस और भाव के रूप में व्याख्यात है और जो लोग केवल प्रभाववाद के केंद्र में पड़ कर किसी कविता की समीक्षा करते समय कल्पनात्मक या भाषात्मक पदावली या प्रयोग करते हुए हृदयवाद धनवा

१. व. एन. सुस्त, 'कविता-विश्लेषण', १९४९, काव्य में अभिव्यक्त्यावाद, पृष्ठ १२१।

२. वही, पृष्ठ १२१।

३. वही, पृष्ठ १२४।

४. वही, पृष्ठ १२८।

हृदय की अनुभूति की रव लगाते रहते हैं वे समालोचना के नाम पर ऐसा काव्यमय महुस बढ़ा करने की चेष्टा करते हैं जो भूएँ का परछाया है।^१ उनका तो समीक्षा के स्वल्प के सम्बन्ध में स्पष्ट कहना था कि केवल वैज्ञानिक या विचारालम्ब समीक्षा ही सच्ची कला निरूपिणी समीक्षा है।^२ और उसे कलावाद या अधिभ्यञ्जनावाद की भाँति केवल सन्धेदार और धर्म-सूत्र पद्यविदों में उलझ कर चलना कदापि साहित्य-समीक्षा के लिए योग्यनीय बात नहीं कही जा सकती। स्पष्ट है कि पाषाण युक्त का यह दृष्टिकोण ग्राह्य ए रियल्स के धारण निष्ठ और कलाकारी समालोचकों के प्रथम विरोध का सूचक है।

प्रतिपादन की शैली और उसका-निरूपण

३८ पाषाण युक्त की समालोचनाएँ अत्यंत नमीर होने पर भी कलात्मक स्वयं और हृदय से भी संवत्त हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति उन स्वर्णों पर विमेष रूप से निघटी है, जहाँ उन्हें किसी प्रतिकूल विचारक की मायता का विरोध करना होता है। काव्य में अधिभ्यञ्जनावाद की वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते समय भी उनके सामने ऐसे घनेक प्रवर्तन प्राये हैं। विक्टर सियमन ने समालोचना के निम्न श्रेष्ठ करते हुए उसे यरवानी (मिसकपुमीन) और जनानी (सिमिनित) के भावों में विभक्त करने की भी चेष्टा की है उसकी उन्नीस सिस्ती उड़ाई है और समालोचकों को प्रथम प्रकार की समालोचनाएँ लिखने की सम्मति दी है। शच तो यह है कि युक्त की अत्यंत स्वतन्त्र अधि के मेवाही समालोचक से चिन पर किसी भी मनीन बाद का बिना किसी श्रेष्ठ पाषाण के प्रभाव पड़ना असंभव-सा था। उन्होंने धर्मोही की तकल पर चलने वाले बंमना के साहित्य समीक्षण-स्वरूप का सर्वैक विरोध किया और उसे हिन्दी की प्रकृति के भी विपरीत बतलाया। अपने हन्तोर वाले प्राण में उन्होंने उन प्रवृत्तियों का विरोध रूप से उत्प्रेष किया है जो कलावाद और अधिभ्यञ्जनावाद के प्रभाव को लेकर बयला की अनुकृति पर हिन्दी काव्य-समीक्षा में घा घमकी हैं। उन प्रवृत्तियों का विरोध उन्होंने केवल अपनी मायताओं और दृष्टि के अनुकूल किया है। सबसे पहले उन्होंने काव्य में रहस्यवादी प्रवृत्ति को लिया है और उसका मूल स्वरूप तथा दृष्टिगतिक विकास बतलाकर यह सिद्ध किया है कि यह प्रवृत्ति किस रूप में भारतीय काव्य परम्परा के लिए विदेयी बस्तु है, जिसमें प्रस्तुत धार्मिक रूप-विधान के प्रवर्तन का त्याग और केवल प्रचुर प्रस्तुत विधान में ही प्रतिमा या कल्पना का प्रयोग^३ किया जाता है। उस प्रवृत्ति का विस्तृत विवेचन हमने युक्त की के "काव्य में रहस्यवाद विपयक विचारों का स्पष्टीकरण करने हुए कर बिना है मर उनका विप्लवेषण व्यर्थ है। दूसरी प्रवृत्ति अधिभ्यञ्जनावाद से ही सम्बन्धित है। इसके प्रवर्तन युक्त की ने बतलाया है कि भावक की हिन्दी कविता में "जीवन के किसी धार्मिक पक्ष को लेकर सच्ची भावानुभूति में लीन करने का प्रयास छोड़ किस प्रकार केवल अधि भ्यञ्जना या वक्ति से वैलक्षण्य धारण का प्रयास" किया जाता है। युक्त की का कहना है कि धर्म का अधिभ्यञ्जनावाद सच पुष्टि तो एक प्रकार का बल्लेनितवाद है।^४ उन्होंने इसी प्रवृत्ति के विस्ते-पण में बल्लेनितवीरितकार कृष्ण की उक्ति की बल्ला' का उत्प्रेष कर पक्षिद्ध करने की चेष्टा की है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति से काव्य में साक्षात्कृत मूर्तिमत्ता तथा अर्थ-प्रसूधो में सजीवता और स्वाच्छन्दता तो धनश्य भाटी है, किन्तु जब बल्ला या अधिभ्यञ्जना को ही काव्य का सर्वस्व

१. ५० एकमत्र युक्त निरूपणी इसका भाव, काव्य में अधिभ्यञ्जनावाद एक १८१।

२. यही, एक १८१।

३. यही, एक १८४।

४. यही, एक १८९।

५. यही एक १८९।

मान लिया जाता है तो उसके कारण अविष्ट भी कम नहीं होते। शुक्ल जी ने बतसाया है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति का ही एक परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी में “जीवन की विविध सामिक यथाार्थों को प्रत्यक्ष करने वाले प्रबन्ध-काव्यों की धोर से उदासीनता और मुक्तकों—विशेषतः प्रेमोत्सारपूर्वक प्रणीत मुक्तकों (मिरकिर) की धोर साहित्यकारों का ध्यान अधिक जा रहा है”^१ जिसके कारण जीवन के विविध पक्षों का उच्चाटन साहित्य में नहीं हो पाता। उन्होंने प्राधुनिक काव्य में प्रचलित उस प्रवृत्ति का भी विरोध किया है जो ‘धर्मीय धर्मत ऐसे धर्मों द्वारा रचनाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की’^२ भावना से चल पड़ी है। उन्होंने प्रभाव और रीति की काव्य-कृतियों में जहाँ रबीन्द्र बाबू के अनुकरण पर इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई है उसका उन्होंने विरोध किया है। वे काव्य में उस प्रवृत्ति को भी अच्छा नहीं समझते जिसमें कला छन्द के कारण काव्य के स्वस्व के सम्बन्ध में सिस्पवासी बेश-बूटे और नकासीबासी हलकी बारणा^३ का प्रचार किया जाता है। इस प्रकार इन प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर अन्त में उन्होंने इस विषय पर हार्दिक चेष्ट प्रकट किया है कि कलावादियों के प्रभाव से हिन्दी-समालोचना भी जोड़ भूमिका स्थाप कर जिस कम में बायबी बनने की चेष्टा कर रही है, वह हमारे लिए पीरव की बात न होकर केवल विचारशीलता के ह्रास का ही विषय है। उनका तो इस विषय में बार-बार आग्रह है कि राष्ट्रीय काव्यशास्त्र की रचना की पद्धति के आधार पर किसी भी देश अपना काल का साहित्य सुचारु रूप से समीक्षित किया जा सकता है अतः उसके प्रति हमारा सीधार्थ होना आवश्यक है।

३८. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है शुक्ल जी का इन्दौर वाला भाषण मुख्यतः कलावाद और अभिव्यञ्जनावाद के अनेक-बुरे प्रभावों का ही समीक्षण करता है, किन्तु उसमें साहित्य के अन्तरविषयों पर भी अतिरिक्त विवेचन अवश्य हुआ है। सम्बन्धित के प्रतिरिक्त शुक्ल जी ने इसमें राष्ट्रीय काव्य-समीक्षा-पद्धति में प्रयुक्त उस रीति और आचकार सम्प्रदायों का भी विवेचन किया है जिनका विश्लेषण हम उनके समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत करेंगे। यहाँ तो हमारे कहने का मूल आशय यही है कि शुक्ल जी के मेधावी व्यक्तित्व में उत्तम-चिन्तन की कितनी अधिक कुशल क्षति की जिसके कारण वे प्रायः सभी स्वार्थों पर अपना मानचिक संतुलन रखते हुए मुख्य विषय से कभी पर भी विग्नभ्रमिष्ट नहीं होते थे। उनके इस भाषण से हिन्दी-साहित्य का तो सामान्य सिद्धान्तोन्मूलन हो ही जाता है किन्तु साथ ही साथ यूरोपीय बनीबा-बेन में प्रचलित कलावाद अभिव्यञ्जनावाद प्रकटिवाद, मुर्तविधानवाद और संवेचनावाद आदि का भी परिचय मिल जाता है जिनका हमारे प्राधुनिक साहित्य-समीक्षण में अवश्य ह्रास है।

आचार्य शुक्ल की समालोचना का सैद्धान्तिक पक्ष

चिन्तन-बुद्धि और काव्य विषयक आशय

४ आचार्य शुक्ल जी के चिन्तन की आधार-भूमि गीतावादी तुलसीदास जी की भाँति अत्यंत मर्यादित और सखी हुई थी। वे जीवन और जगत से परे किसी दार्शनिक क्षेत्र में काव्य की साधना के लिए कोई गुंजाइश नहीं समझते थे। उनका तो स्पष्ट मतव्य था कि मुक्त हृदय की समस्या में ही सच्चे काव्य की अनुवृत्ति होती है और ‘जिस प्रकार धारणा की मुक्तावस्था जान पड़ा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रख-रखा। उनके मतानुसार “कविता हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए किया गया अनुव्य की बाली का सम्बन्ध-विषयक माध्यम है और उसकी

१. ४ अक्टूबर १९३६ दिनांक हिन्दुस्तान टाइम्स, काव्य में अभिव्यञ्जनावाद पृष्ठ २१४।

२. २६, २७ २१८।

३. २६ २७ २१८।

धार्मिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास

धीरे धर्मवर्गीय विचारधारा का निर्वाण है। वे ज्ञान प्रसार के नीतिर ही भाव प्रसार मानते हैं। धीरे काव्य का व्यावहारिकता से सम्बन्ध स्थापित कर उसे समुच्चता की ऐसी उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं जहाँ सच्चे भावयोगी कवि का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है तथा जिसके हृदय की विभवजनीन एकाग्रता में उसके हृदय की कोई धमय भावघटा नहीं रहती। वस्तुतः उस स्थिति में "उसकी प्रथमधारा में जगत की धम्यधारा का उसके हास-विहास में धामन्य-मृत्यु का, उसके मर्जन-तर्जन में जगत् के मर्जन-तर्जन का प्रामास्य मिलता है।"

४४ धार्मिक धुक्क ने काव्यान्तर्गत भावों के प्रवर्तन के लिए भावना या कल्पना की बांझनीयता उसी रूप में स्वीकार की है जिस रूप में यक्ति के क्षेत्र में जपाचना या ध्यान स्वीकृत किये जाते हैं। वे काव्य में कल्पना का प्रयोग वहाँ तक सीधे-पूरुष मानते हैं, वहाँ तक वह भावों को मानिक धर्मीय धीरे स्पष्ट प्रति-विधान की धवस्था तक प्रस्थापित कर दे उनके मदानुसार कवि में वहाँ 'विधायक कल्पना' प्रपेक्षित है, वहाँ छोटा या पाठक में धधिकतर प्राहक कल्पना'। वे कल्पना को काव्य का साधनभाव मानते हैं धीरे को पश्चिमी साहित्यमोक्षक उसे भाव-भोक्त से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं जहाँ वे अपना धावर्ध नहीं स्वीकार करते क्योंकि कल्पना के धावर पर केवल विविध प्रति-विधान प्रस्तुत करना उसे कथावि रत्न ठोठि तक नहीं पहुँचा सकता।"

४५ धुक्क की कविता में मनोरंजन का महत्त्व एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं। यदि काव्य का उद्देश्य मनोरंजन मात्र ही होता तो वह भी केवल कथाओं की पाठि हमारें विहास की एक धामनी मात्र बनकर रह जाता। धव के उसका धर्गितन सत्य मनोरंजन के स्थान पर जगत् के मानिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करते उनके साथ समुच्च-हृदय का धामन्यत्व स्थापन मानते हैं।" उन्होंने रीति-विधान के उन कथियों के काव्य की निरा की है जो काव्य का उद्देश्य केवल कामोत्तेजना ही समझते हैं। वे काव्य में धीर्धर्म की जपयोगिता यूरोपीय कला धनीसा की उस मान्यता तक नहीं स्वीकार करते जिस माना तक वहाँ के उत्प-धीर्धर्मकों ने उसे धीर्ध-दान कर कामनी स्थिति की ऐकात्मिक सीमा में पहुँचा दिया है। वे धीर्धर्म को बाहर की वस्तु न मानकर धन के भीतर की वस्तु मानते हैं धीरे पश्चिमी विचारकों की धीर्धर्म धिपयक धारणा उन्हें बापा के पड़वधुधने के धिवा धीरे कुछ नहीं लयती।" उनका धीर्धर्म-धिपयक धट्टिकोस धावत ध्यापक है। उसके धावर्ध बाह्य धीरे धार्म्यधरिक जगत् के समस्त रंज-कर तो धाते ही हैं, साथ ही साथ उनके धीर्धर्म-धव में कोरी बाह्य-धीर्धर्म-निरुपिणी एकाग्रिता न होकर जीवन-ध्यापिनी ऐसी धर्मीनीयता है, जिसमें काव्य के धावर्ध धीरे बहिर्य दोनों धीर्धर्म-सम्पन्न बनते हैं। यही कारण है कि उन्होंने धुक्क की काव्य में धिधित राम धीरे भरत ऐसे कथाधर्मी की रम्य धगठा प्रकृति को ऐकात्मिक धमत्कार का धिरोप तथा भापा धीरे धर्मकार के प्रति दृष्टिकोण

४६ धुक्क की धमत्कार की मनोरंजन की धामनी कहकर भी बधरधार मात्र की ही काव्य नहीं मानते। उनका धमत्कार से धधिमाय केवल प्रस्तुत वस्तु के धधुधतत्व या वेतधधय से नहीं जो धधुधत रत्न के धामन्यधर्म में होता है धधितु धमत्कार से उनका धधिमाय यक्ति क उस

१. प. १५५-१५६
२. धीरे, पृष्ठ ११।
३. धीरे, पृष्ठ ११।
४. धीरे, पृष्ठ ११।

चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत बर्तु-विम्यास की विशेषता धर्मों की कीड़ा वाक्य की बल्ल्या या बल्लमर्मी प्रस्तुत वस्तुओं का अनुसृत्य प्रथमा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की प्रगटनी या दृष्टकर्म्यता इत्यादि बातें घाली हैं।^१ यदि कोई वास्तुक कवि किसी भाव की अनुसृति को ठीक करने के लिए चमत्कार का प्रयोग करता है तो वे उसे कुछ नहीं समझते किन्तु वहाँ चमत्कार केवल अनुसृत्यवर्तन या वैविध्य भाव के रूप में प्रयुक्त होता है, वहाँ वह भावों को रस-परिपक्व की अवस्था में करी नहीं पहुँचा सकता ऐसी उनकी दृढ़ धारणा है। उनके मत से काव्य की प्रति में रसपूर्ण संवेदना या भाविक भावना की महत्ता को ही चमत्कारपूर्व सुक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक रहती है। अनेक बार तो केवल उक्ति का अनुसृत्य भावों के आस्वर स्वरूप को ध्यातुकरित कर रस निष्पत्ति के मार्ग में एक प्रकार का अवरोध छा उत्पन्न कर देता है। अतएव धार्मार्थ ने ऐतिहासिक कवियों विशेषतः बिहारी के काव्य की केवल चमत्कारवादिनी उक्तिओं को विमुक्त काव्य की सेली से हीन माना है क्योंकि उनमें भावों का सादृश्य धीरे बिम्ब प्रह्वण न होकर केवल मनोरंजन मात्र होता है। यही कारण है कि धार्मार्थ सुक्त एक ओर वहाँ यूरोप के धर्मव्यञ्जनावार के प्रति अपना आक्षेप व्यक्त करते हैं, वहीं दूसरी ओर भारतीय बल्ले-विजयवाह को भी प्रतिरेकता में नहीं स्वीकार करते।

४७ धार्मार्थ सुक्त ने काव्य के धर्मव्यक्त-पक्ष के अन्तर्गत अपर धीरे बीजान का धर्म प्रसार मान कर उद्यतकर उसके धर्मव्यक्ति-पक्ष भाषा को लिया है जिसके कसेवर में भाव-विश्र साकार बनते हैं। उन्होंने काव्य भाषा की प्रथम विशेषता का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि भाषा धर्मव्यक्ति का साधन प्रत्यक्ष है किन्तु काव्य में उसके द्वारा जो धर्मव्यक्ति होती है, वह धर्म-मह्व मान की न होकर बिम्बप्रह्व तथा पूर्ण इक्ष-विधान की होनी चाहिए क्योंकि यदि ऐसा नहीं तो उसकी साधना के लिए कवि को वस्तु या वच्य के पूर्ण अवबोधकरण तथा भाव या भाविक वृत्तियों के अनुरूप व्यवस्था के लिए नसण का बहुत कुछ सहारा ही नहीं लेना पड़े। उन्होंने कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह मानी है कि 'उत्तमं भावि-वक्ति नाम धर्मों की अपेक्षा विशेषतः अज्ञान-मूषक उच्च अधिक रहते हैं' जिससे साधनाओं का सुवि-विधान अधिक कौशल के साथ हो जाता है। इसी प्रकार काव्य-भाषा की तीसरी विशेषता 'बर्तु-विम्यास' की सुष्ठुता^२ और चौथी विशेषता कहीं कहीं व्यक्तियों के भावों के स्थान पर उनके रूप या गुण या कार्य-भावक धर्मों का व्यवहार^३ है।^४ धार्मार्थ ने इन विशेषताओं के विवेचन का आधार यद्यपि सङ्कट-साहित्य-शास्त्र ही रखा है और इन विशेषताओं का निकषण भी उसीके अनुसृत्य किया है फिर भी अपने अन्तिम की द्वारा विषय-स्वस्तीकरण पर अवश्य ध्येय कर ही है।

४८ काव्य विवेचन के अन्तिम प्रश्न के रूप में सुकसनी न चलकारों को लिया है। व काव्य में उन्हें केवल साधन-रूप में ही धारण समझते हैं, साध्य रूप में नहीं क्योंकि उनके प्रयोग द्वारा प्रस्तुत भाव या भावना का उत्पन्न केवल साधन मात्र ही होता है। धार्मार्थ ने अंतकार-मोचना की विविध धर्मियों का विवेचन कर अपने मत की पुष्टि की है और बतलाया है कि काव्य के साध्य पक्ष की अवहेलना कर जब साधन पक्ष को ही सर्वत्र मान दिया जाता है तो उसके द्वारा कविता में अज्ञानकर्मक निवृत्ति का संभाव्य रूप बिना मही रहता। उन्होंने धार्मार्थ-कवि कथन तथा "पावर में समर मरने वाले" बिहारी के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि

१. र. रमकम हाप्प रस-मीमांसा पृष्ठ ११-१४

२. वही, पृष्ठ ११

३. वही, पृष्ठ १४

४. वही, पृष्ठ १७

उनकी धनेक स्पर्शों पर की गई धर्मकार-योगना द्वारा दूर की सुझ मने ही प्रकट हो किन्तु उसमें प्रस्तुत धर्मार्थ की भावना की कुछ भी पुष्टि नहीं होती। अभिप्राय यह है कि धार्मिक मुक्त की मांगता में धर्मकार वर्णन-शैली या कथन-पद्धति के ऐसे रूप हैं, जिनसे काव्य में भावोत्कर्ष या रमणीयता की वृद्धि होती है। धर्म जो धर्मकार किसी भाव या मार्मिक भावना से परंप्रकृत रहते हैं, वे केवल चमत्कार या विमलाङ्ग मान हैं। अपनी इसी मांगता के बल पर उन्होंने स्वभावोक्ति उदात्त तथा प्रत्युक्ति धारि को धर्मकार ही नहीं माना है, क्योंकि इनमें वर्णन करने की प्रणाली न होकर प्रस्तुत या वर्णन वस्तु से सम्बन्धित सामग्री रहती है। उदाहरणार्थ उनके महाभारत 'स्व भावोक्ति धर्मकार' में प्रयुक्त वाचक की रूप-वेष्टाओं धारि के वर्णन के कारण उठे धर्मकार कोटि में न मानकर वास्तव्य के विभाव-पक्ष के अन्तर्गत मानना अधिक समीचीन है। वे अपने धार्मिकत्व का उद्बोध करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि "वाचक धारि की रूप-वेष्टाएँ धारि का वर्णन रस-शेष के अन्तर्गत ही समझ जाना चाहिए और उसे धर्मकार-शेष में से बाधा उचित नहीं है।" स्मरण रखने की बात है कि बल्लोक्तिवादी धार्मिक कुछ न ही 'स्वभावोक्ति' को धर्मकार नहीं माना था।

धामन्य की साधनावस्था और सिद्धावस्था के अनुसार काव्य की श्रेणियाँ

४१ धार्मिक मुक्त ने उत्पत्ति और धामन्य, ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में काव्य और भक्ति-मार्ग के लिए केवल उसके 'धामन्य' स्वरूप को स्वीकार्य समझा है। शोक में इस धामन्य की अभिव्यक्ति की उन्होंने दो अवस्थाएँ मानी हैं, जिनको इष्टित्व रखकर वे काव्य के दो विभाग करते हैं—(१) धामन्य की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य (२) धामन्य की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य। कहा जा सकता है कि वह विभाव परिचयी विचारक बंटन की 'पोएट्री एण्ड बि रिलेस धर्म बन्धन' नामक पुस्तक में वर्णित धर्म काव्य (पोएट्री एण्ड एन इनबी) तथा कला-काव्य (पोएट्री एण्ड एन आर्ट) के विभावन के बहुत निकट है। साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में उन्होंने संस्कृत में रामायण महाभारत रघुवंश बिष्णुपान-बन तथा किराताकुंभीय की मझना की है और हिन्दी में 'धर्मपत्र' 'रसो' 'धर्मपरिचय नामस' 'पञ्चावत' (उत्तरपत्र) 'हम्मीर रसो' तथा 'धर्म प्रकाश धारि प्रबन्ध' काव्यों तथा भूषण धारि कवियों के बीररत्नात्मक मुक्तक तथा धामन्य धारि प्रबन्धित बीरवाचालक मीतों की। इसी प्रकार वे इस प्रयत्न-पक्ष वाले काव्यों में यूरोपीय भाषा के इतिवत् धर्मोपदेशी पैराडाइज सास्ट रिबोस्ट धर्म इस्लाम तथा पुण्य बीसेक्स की बखाना करते हैं। उर्दू के बीर रत्नात्मक मरसियों की भी उन्होंने इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा है। धार्मिक ने विवेचन के इसी प्रसंग में धामन्य की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में संस्कृत में धर्मोपदेशी वाचासप्तशती धर्मक-सप्तक नील-नोबिन्द तथा भृंगार के फुटकल पद माने हैं और हिन्दी में सुरसामर, कृष्णधर्म कवियों की पदावली बिहारी-सप्तशती, ऐतिहासिक कवियों के फुटकल भृंगारी पद 'उत्तरवाचाली ऐसे वर्णनात्मक काव्य तथा धामन्य की धर्मिकाध छायावादी कविताओं को स्थान दिया है। फरसी उर्दू की शेर गजलें तथा धर्मोपदेशी की मीरिक कविताओं को भी उन्होंने इसी विभाव के अन्तर्गत समाविष्ट किया है। इस प्रकार विश्व-साहित्य के प्रमुख काव्य पत्रों का इन दो दिशाओं में परिगलन कर मुक्त की न दोनों पक्षों की अवस्थाओं का विषय विवेचन उनकी मौलिक विषयताओं का उद्घाटन करते हुए किया है।^१

१ रस-मीमांसा : काव्य के विभाग कृ. २१ २२ ।

२ रस-मीमांसा १६, कृ. १७-२८ ।

१० कहा जा सकता है कि धार्मिक युक्त ने काम्य की कर्मभूमि और भोगभूमि के आधार पर उसके को उपनुक्त विधाय किए हैं। उनमें उन्हें धामन्य की साधनावस्था या प्रत्यक्ष पक्ष को लेकर चलने वाले काम्यों में अधिक उदात्त भावना मिली है। गोस्वामी गुप्तजीदास की रचनाओं के प्रति उनका धन्य भाव केवल इसी विशेषता के कारण है। रामचरितमानस को सुक्त की भाँति निरूपित साधनावस्था वाले प्रत्यक्ष-पक्ष का धारक कहा जा सकता है। उनके द्वारा धामन्य की साधनावस्था का किया गया संज्ञात्मिक विवेचन मुख्यतः गुप्तजी के मानस की उत्कृष्टता का ही प्रत्यक्ष रूप में उत्पन्न है। यह बात सुखी है कि धार्मिक ने उस पर अपने व्यक्तित्व की साध प्रस्थित कर उसे सर्वसामान्य बराबर पर अधिक व्यापक और बहुधात्र बना दिया है। उनकी तो यह चारणा है कि 'मंसल-मर्मवस के हृद में कवि बोध धन में मंसल सन्नि को को उत्कृष्टता दिखा दिया करते हैं, उनमें सबै सिखावत या मस्त्रानाविकता की सब समझ कर माक जो सिकोड़ना टीक नहीं।' १) वे राम और कृष्ण के कर्म-जीवन और कर्म-जीवन की प्रवृत्ति कर उनके प्रति बने हुए वाचनात्म्य स्वाभाविक आकर्षण की काम्याभिव्यक्ति देखी विरतन धर्म के रूप में मानते हैं। जिसकी टीक साधनभाव से मानव-हृदय को आकर्षित करती रहेगी। यही कारण है कि उन्होंने "अपने समय में उड़ी हुई किसी बात हवा की ज्यैक में प्राचीन धर्म काम्यों के पूर्णतया निरिष्ट स्वरूप वाले धारक पात्रों को एकत्र कोई नया नमना रूप देना चारणी के पवित्र-महिर में स्पर्श यदक यचना" २) बताया है। युक्त की की यह मान्यता उनके परम्परागत संस्कारों की निरिष्ट पर आधारित है। इसी आधार पर वे उन कवियों की कुरवा करते हैं जो केवल अपने समय की भावना में पुष्पी चारणा छोड़ने की बहुरी विज्ञाने का हम्न करते हैं। बंध बापा के प्रविष्ट कवि नाइकेल मधुबनरत तथा मनीनकराव ने कमल 'मेवनाह-ब' और कुरखेन' में उनके मायकों का चरित्र जिन मनीन रूपों में चित्रित किया है। उन्हें युक्त की हमारी चिरंतन संस्कार-सापेक्षता के धार्मिक अनुकूल नहीं मानते हैं। युक्त की की इस धासा को लेकर चले ही कोई मनीनमानावी विचारक इसे उनकी परम्परागत मान्यता का ही प्रतिफल धिख करे, किन्तु साहित्य का उत्कृष्टि के साध जो एक चिरंतन तथा अपरिहार्य सम्पन्न है, उसकी उत्पत्ति युक्त की की उत्पन्न चारणा में निहित है, ऐसा चेष्ट मत है। सब तो यह है कि प्रत्येक देश की एक सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा होती है, जिसको युवचरिणी बनाते हुए उसे नया रंग मके ही प्रदान किया जा सकता है।

११ धार्मिक युक्त ने साहित्य की संतुष्टि में क्षोभनीय नहीं कहा जा सकता। ३) धारक कल्याण और प्रेम को संवत्त-विधान के धामन्य साधनों के रूप में स्वीकार किया है। वे लोक में रंजन की समया में रखल को प्राथमिकता देते हैं। और उसकी प्रत्यक्षता में कल्याण की स्थिति स्वीकार कर साधनावस्था का प्रत्यक्ष-पक्ष को लेकर चलने वाले काम्यों को धर्मिक की स्थिति स्वीकार कर धार्मिक गुहात्र समझते हैं। उन्होंने मनुष्य के धारी के रहस्य और धाम पक्षों की योग्य हृदय के भी क्षोभ और कठोर तथा मधुर और टीकल पक्ष निरिष्ट कर इन दोनों के समन्वय में काम्य की रमणीयता धनवा मंसल-जीवन का विकास अनुबद्ध किया है। यही कारण है कि टाक-स्टाय की एकांकी भावसंवादिता और आधुनिकता की भावना भी उन्हें एक प्रकार के साम्प्रदायिक-सी बनी है और वे उसके निमित्त धार्मिक-धर्म का स्वरूप नहीं समझते। उनका तो स्पष्ट मत है कि विवेकी धर्म में प्रचलित धार्मिक-धर्म का जो प्रकार हमारी

१ ४० एकत्र हृदय रस-मर्मवस पृष्ठ १२।
२ यही, पृष्ठ १४

साधुनिक हिन्दी-साहित्य में समाशोचना का विकास

ऐसी भाषाओं में हो रहा है उसके नितांत बहिष्कार की प्रार्थना की जा रही है।¹

[illegible][illegible]

काव्य-समीक्षण समासोधना का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय
१४ आचार्य शुक्ल ने साहित्य की अत्याम्य विधायाँ की प्रेरणा काव्य पर ही अधिक विवेचन किया है। नाटक उपन्यास कथा-साहित्य आदि पर उन्होंने सवे हाथ कुछ बहू दिया है पर काव्य के लक्षण कुछ धोर नैसिप्य का निर्वो कर उसके लक्ष्य का तद्वान्तिक निष्पण करते हुए उसे तीन भागों में विभक्त किया है जैसे एम्ब-विन्यास आर्य बोधा का एयल प्राकपित करना भावों का रक्कम प्रत्यक्ष करना तथा माना पदावों क साथ उनका प्रहृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना। के तीरहे लक्ष्य को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं क्योंकि इसमें वचि की रणपामिक दृति को अधिक

१. प्रयोगांशः एकः २२।

१. एत-मोमोसो : १-२
२. एत : १-२

२. श्री : वृद्ध भवः ।
३. श्री : वृद्ध भवः ।

१. बही : दफ्तर् अर्थात् ।
२. बही : दफ्तर् अर्थात् ।

सम्पूर्ण भाव-व्यक्तिता मिलती है तथा इसमें रस-निष्पत्ति के अधिक धक्कास रहते हैं। उन्होंने बताया है कि लक्ष्य की दृष्टि से बड़ी काव्य अधिक प्रभावपूर्ण या व्यापक हो सकता है जिसका विभावपक्ष अधिक से अधिक मानव-जाति के भावों को संस्पर्श करने वाला हो तथा जिसके धातुमय की उत्कृष्टता विशेषत्व को लिए हुए हो। उनके मतानुसार रामायण महाभारत तथा पद्यविवेक उदाहरणों में वर्णित महापुरुषों के जीवन को लेकर जिन महाकाव्यों का सूत्रम हुआ है वे अपने धातुमय की सर्वप्रथमता के कारण ही हमारा धार्मिक भाव प्रसारण कर पाते हैं। रीति-ग्रन्थों की कठिणता ने जीवन की व्यापकता की वासना की संकीर्ण भावियों में धक्का कर उसका काव्य की लोक-व्यापक भावभूमि से जो सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया था उसका धार्मिक ने सोचा-हरण समीक्षण कर सिद्ध किया है कि वह प्रकृति किसी भी रूप में जनकस्यासकाटी नहीं करी जा सकती है। पुस्तक की का स्पष्ट वक्तव्य है कि रीति-काल की कविता को केवल बाह्य मनोरंजन तथा धर्मोपदेश के लोभ तथा विज्ञान की सामग्री बनाने के फलस्वरूप कवियों द्वारा उसका जो दुष्प्रयोग किया गया वह उसे काव्य के पावन लक्ष्य से भ्रष्ट बनाने का कारण बना और उसमें रसात्मक प्रतीति का वह स्वरूप नहीं आ सका जिससे पूर्ण रस की निष्पत्ति तथा विभाव-व्यापार का साधारणीकरण होता है। उन्होंने रीतिकालीन कवियों की चमत्कारवादिनी वक्तव्यों को उदात्त करने के कारण उन्हें सुविधा कहना है और उनकी अच्युतता में काव्य-धर्म का प्रभाव माना है। इसी प्रकार वे काव्य का लक्ष्य केवल प्रसारण व्यापारों में ही संकीर्ण न कर उसका क्षेत्र साधारण-प्रसारण दोनों के सामन्तस्वपूर्ण ध्येय में निहित करते हैं। यदि ऐसा न हो तो केवल प्रसारण का प्रामाण्य-क्षेत्र को केवल व्यापकमाना या मुनाईसमाह बना दे। इस प्रकार स्पष्ट है कि धार्मिक सुत्र के मतानुसार काव्य का धार्मिक स्वरूप धातुमय या रस है और प्रसारण उसके बाह्य मय बन कर पाते हैं। अतः कवि को वस्तुता अपने हृदय को मुक्त रस में मग्न कर लोक-सामान्य भावभूमि पर जीवन तथा वस्तु के प्रत्यक्ष ही अपने विषय का प्रसार करने का सम्प्रयत्न करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि पुस्तक की का इस प्रकार काव्य-विश्लेषण एक ऐसी धार्मिक-भूमि है जिस पर उनकी रस-मीमांसा प्रबलित है।

विभाव और भाव का प्रापेक्षिक क्षेत्र तथा उनके विविध पक्ष

१५. पुस्तक की इस विषय में स्पष्ट बारम्बार की कि कोई भी साहित्य-मीमांसक काव्य के उपादान-मय को लेकर जाहे जितनी कलाकारी और मनोविकृता का स्वांग भरे, किन्तु कवि कर्म विधान विभाव और भाव-पक्ष के परिवेद्यमय से भ्रष्ट धिक्क सत्ता में ही ही नहीं सकता।^१ उन्होंने विभाव-पक्ष में तो मनुष्य से लेकर सृष्टि के छोटे-बड़े सभी प्राणियों और पदार्थों को परिमिश्रित किया है किन्तु भाव-पक्ष में केवल हृदय-सम्पन्न मनुष्य को ही।^२ उन्होंने प्राकृतिक दृश्य विधान को काव्य के उद्दीपन रूप में ही नहीं अपितु धातुमय रूप में भी धातु बतला कर उसके संक्षिप्त विधान में विमिश्रण की ध्वनि मानी है और कहा है कि उसकी प्रीति में मानव-जीवन का वातावरण होता है बड़ी हमारे हृदय को मुक्त रस में प्रविष्ट कर उसका साधारणीकरण कर सकता है। वे प्राकृतिक वस्तु के मूल में भी रसोद्बोधक प्रतिभाव निहित कर उनका स्वतंत्र रूप भी सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके दृश्य प्रभाव विधान से जो हर्षोद्भावन होता है वह उस प्रतिभाव का धर्म धनुर ही होता है। जिन रीतिकाली विचारकों ने प्रकृति-विधान को केवल उद्दीपन या प्रसारण विधान के रूप में ही सीमित कर दिया था उन्हें वे संकीर्ण दृष्टि से परिमिश्रित सिद्ध करते हैं और उनके विवेचन को रस-विवेचन के विस्तार-क्षेत्र में प्रत्यक्षोपलब्ध कहते हैं।

१ 'रस-मीमांसा' पृष्ठ १६।

२. वही, पृष्ठ १६।

२१. आचार्य सुक्त का 'काव्य में प्राकृतिक हस्त' विधान विषयक जो धर्मित वा उसका विस्तारपूर्वक विवेचन तो उन्होंने अपने 'काव्य में प्राकृतिक हस्त' खींचकर समालोचनात्मक निबन्ध में किया है^१ किन्तु उसके प्रमुख अंगों के प्रति अपने निर्धारित दृष्टिकोण की भूलक पञ्चानुर प्रत्येक समालोचना ग्रन्थ में ही है। वे काव्य में प्राकृतिक हस्त विधान को व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित करना अधिक समीचीन समझते हैं। यही कारण है कि उन्हें उसके मधुर और भीषण दोनों पक्ष समान रूप से मुख करने वाले विषय छाने हैं। उन्होंने फारस की उस काव्य-पद्धति की तिरा की है जिसमें यूरोप और भारत की यांति मनुष्य को प्रकृति के विधात प्रेमण में बिखरस करने का बहुत कम अवकाश दिया गया है तथा जो केवल ऊमरी चटक-मटक और कलाबाजी को ही अपना कर चली है।

२७. सुक्त जी मान-वश के पन्तर्गत केवल अवाचारकृत्य प्रदर्शन की छिप को उसकी सहृदयता की बहिष्कार नहीं समझते।^२ उन्होंने प्रकृति के कुले लज में बिखरस करने वाली मानव जाति की बंधपरम्परागत बाधनाओं के बिषय में ही सहृदयता का स्वरूप निरूपित किया है और बतलाया है कि जो व्यक्ति अपनी रसात्मकता इति का जितना अधिक बलपूर्वक समन्वय उसके साम कर पाता है वही उतना अधिक काव्य की रस-कोटि को पहुँच सकता है। जिन महाकवियों की बाणी में जीवन जगत् और प्रकृति का संस्मृत विधान मिलता है, उनकी कृतियों की उन्होंने सुरि-सुरि प्रशंसा की है। महर्षि वाल्मीकि कालिदास और भवभूति इसी कारण उन्हें अधिक पुजा दिये हैं। इस विवेचन से सुक्त जी की प्रकृति से सम्बन्धित काव्य की विधात विषयक धारणा का सहज ही बोध हो जाता है। उन्होंने बतलाया है कि विधात को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए जिस प्रस्तुत-विधान वा प्रसंकार-विषय को महत्त्व दिया जाय वह अधिक से अधिक विम्व प्रहृष्ट करने वाला हो। केवल नाम-परिगणन की परम्परायुक्त प्रणाली से धावार-धावेय की वह संस्मृत योजना नहीं प्रस्तुत की जा सकती जो हमें रसोद्घोषण करा सके।

२८. आचार्य सुक्त को हिन्दी काव्य के प्राकृतिक हस्तों के विषय में वह सूत्रमता नहीं मिलती जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में उपलब्ध है। ऐतिहास्य में प्रकृति-विषय को जो बिकृति प्रदान की गई थी उसकी तो उन्होंने बड़ी मुत्सही की है। एक प्रकार से उस काव्य के कवियों ने प्रकृति के स्वयं धामन्वग-स्वरूप को तो पूर्णतः छत-विछत कर उसे केवल अपनी भोवमृति का निम्निय साधन मात्र बना लिया था। दूर, तुलसी केवल और नायबी के काव्यों में विभाक-गय के पन्तर्गत प्राकृतिक हस्तों का केँठा विधान हुआ है, उनका धारण्य वे सर्वोत्तीर्ण विवेचन किया है। वे इसी विवेचन के ऐतिहासिक मनुष्य से बढ़ते-बढ़ते गारतेनु बाधु इतिहास तक जाने हैं और उन्होंने धम्यक का से इस विषय का यथेष्ट स्पष्टीकरण कर दिया है कि हिन्दी काव्य में प्रकृति के स्मृण और सूत्रम कवियों का संघाटन कहाँ तक संस्मृत विषय के रूप में है और कहाँ तक परम्परायुक्त धम्यक बमरकारोत्पादक प्रसंकार-प्रणाली के रूप में। वे बार-बार इस विधान का धारण करते हैं कि काव्य में धामन्वग विधात को सबतोयावेन प्राधान्य मिलना चाहिए और जो कवि धर्म-विषय से सम्बन्धित वस्तुओं और व्यापारों के दम्य-विषयकित कर पाठक या श्रोता को भाव-जादृति करा देता है वही सफल काव्यकार है। इस प्रकार सुक्त जी का विधात-वश रहस्यवादी और धामावादी कवियों की धर्मोक्तिता और प्रमूर्तता से विम्व केवल जीवन और धर्म की परिधि में समावेष्टित ऐसा धाकार और स्मृण विधान है जिसमें नायबी लोक की दृष्टि-कल्पना के लिये अवकाश नहीं है।

५९ वहाँ एक काव्य के भाव-मूल का सम्बन्ध है सुकन भी 'काव्य का सभ्य भावों के अनुकूल विषयों को सामने रख कर सुष्टि के माता कर्णों के साथ मानव-हृदय का धामर्भस्य स्थापित करना' मानते हैं।^१ उन्होंने भाव को ही कर्म के मूल प्रवर्तक और छीस संस्थापक^२ कहा है और उनके प्रतीक मानव-जीवन की सच्ची मूलक देना ही काव्य का धर्म सत्य सिद्ध किया है। भाव और वाच्यता के मौलिक अंतर को स्पष्ट कर सुकन भी ने मनोविज्ञान के माध्यम पर साहित्य की भूमिति की विवेचना की है और बतलाया है कि भाव को 'मन की वैयक्तिक' अवस्था-विशेष कहा जा सकता है जो क्षुत्पिपासा कायवेग आदि खरीर रेयों से भिन्न है।^३ वे सम्मता और ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ मानव-व्यापार की कठिनाता और भावों की संकुचता में स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित कर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हैं कि सम्मता की वृद्धि काव्य की धात्वस्मकता और कवि-धर्म की कठिनाता की वजहवारी है। उनका तो यह विश्वास है कि भाव का सम्मताविभासी मनुष्य अपने भावको प्रकृतिवत्त्व स्वाभाविक संस्कारों से बाड़े कितना ॥ हर रचने का प्रयास करे, किन्तु काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषय के मूल और आदिम कर्णों तक जाना ही होगा और वे रूप निरूपण ही मूल और पोषक होंगे। इस प्रकार उनके मतानुसार भाव में प्रत्यय-बोध अनुसूति और वैयक्तिक प्रकृति^४ इन दोनों का मूल संस्लेषण अवश्य रहना चाहिए किन्तु वेदता के भीतर धातुबल भावि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित हो सकें ॥

६० सुकनजी ने इस निष्पत्ति से सम्बन्धित भावों के मुख्य उपादान उनके स्वायत्त और संचारित्व तथा वर्गीकरण भावि का विवेचन भारतीय परम्परा और प्राकृतिक मनोविज्ञान के माध्यम पर किया है। वे भावों की स्थायी रसा का निर्वहण कर उसके अनुक्रम में भारत और विश्व का मौलिक विवेक भी स्पष्ट कर सके हैं और दोनों तत्व-निरूपणों की विधिप्रकृति को भी पट्टिबान सके हैं। उनका भावों को प्रकृतिवत्त्व हो जाने की अवस्था को लेकर किया गया 'छीस-रसा' का विवेचन अपने निजी दृष्टिकोण से ठीका है और इस प्रकार भावों की भाव रसा स्थायी रसा और छीसरसा का पारस्परिक संबंध भी उनके द्वारा स्थिर कर दिया गया है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि काव्य में इन दोनों रसाधों का उपयोग किस प्रकार होता है और विवेकत गोस्वामीजी के पानचरित मानस में उनका किस प्रकार से सम्बन्ध निर्वाह हुआ है।^५

६१ आचार्य सुकन ने जिस दृष्टिकोण से भावों का वर्गीकरण किया है, वह भारतीय विचारधारा के अधिक अनुकूल है। साथ ही साथ उसमें पारंपार्य मनोविज्ञान का भी छूट है। सर्वप्रथम उन्होंने भावों (इमोक्षन्) को मुखारमक और हुकारमक इन दो वर्गों में विभक्त कर उनके वैयक्तिक कारण या प्राप्त्यजन (कापनिधन) इच्छा या संकल्प (कानेधन) कामिक पति या प्रकृति (दिग्धेन्धी) आदिबक लक्षण (सिम्प्टम्) भावि का निरूपण किया है और इस प्रकार मुखारमक वर्ग में पंग हास उरसाह और धातुबल को रखा है तथा छीस लोभ भय और कुपुष्पा को हुकारमक वर्ग, के अन्तर्गत।^६ उन्होंने काव्य को उत्तारमक कहकर रख को पाशात्मक सिद्ध किया है और उनके साथ जीवन की संवेदना प्रथम सहजानुभूति को अधिकोद्योग भाव से स्वीकार किया है। उनके निरूपण-क्रम में संवारी भावों का भी व्यापक विश्लेषण हुआ है और वे पारंपार्य विचारक

१. रस-मीमांसा भाव विवेचन पृष्ठ १९९।

२. वही पृष्ठ १९२।

३. रस-मीमांसा पृष्ठ संख्या २४५।

४. वही पृष्ठ संख्या १९८।

५. वही पृष्ठ संख्या १७५-१८६।

६. रस-मीमांसा भावों का वर्गीकरण पृष्ठ १९९ १६९।

घेड़ की विचारधारा का भी विवेचन कर सके हैं। उन्होंने स्वर्णन विषय वाले भावों मन के देशों प्राप्य प्राप्त करछ-भूतियों तथा भागसिक और धारीरिक व्यवस्थाओं की भी घोषाहरण व्याख्या की है और अन्त में यह बतलाया है कि काव्य में असंबद्ध भावों का रसवत् प्रहस्य किस प्रकार होता है। भाष्य प्राप्तबन और श्रोता की दृष्टि से जिन-जिन परिस्थितियों में रस-विरोध होता है, उनका विचार-विमर्श करते हुए आचार्य ने कतिपय उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया है कि साहित्य में इस प्रकार की परम्परा किस रूप में रही है और काव्यकारों ने उनका किस प्रकार निरूपण किया है।

भावों का आसम्बन्ध-विस्तार और उसके रूप-विधान

१२ मुख्तबी की इस विषय में यह सुझाव धारणा है कि हमारे प्रेम भय आश्चर्य क्रोध और कस्तुरा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मुख आसम्बन्ध इसी चारों ओर फँसे हुए कमरमक जगत् से मिल किसी सौकीनिक तथा धारीमित्रिय जगत् के नहीं हो सकते और जो भोग कल्पना या समाजना के द्वारा भागसिक रूप-विधान भी करते हैं, वह भी बाह्य जगत से सम्पृक्त होकर ही व्यक्त होता है।^१ उन्होंने प्रत्यक्ष स्मृत और संभावित या कल्पित सद्भा से तीन प्रकार के रूप विधानों का उल्लेख किया है और बतलाया है कि इन तीनों में भावों को इस रूप में आवर्तित करने की शक्ति होती है जिससे वे रस-कोटि में आ सकें।^२ उनके मतानुसार संभावित या कल्पित रूप-विधान द्वारा भागरित मार्मिक अनुभूति को सर्वत्र काव्यानुभूति या रसानुभूति मानी जाती है किन्तु प्रत्यक्ष या स्मरतु द्वारा आवर्तित वास्तविक अनुभूति भी विशेष बसाधों में ही रसानुभूति की कोटि में आ सकती है।^३ आचार्य ने इन तीनों रूप-विधानों का व्याख्यात्मक और निरूपणपूर्वक विवेचन कर बतलाया है कि 'भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मुख आश्चर्य या उपाधान प्रत्यक्ष रूप ही हैं और इनकी जिनमें जितनी अधिक मार्मिक अनुभूति होती है उतने ही अधिक रसानुभूति के उपयुक्त सिद्ध होते हैं।'^४ आचार्य के दृष्टिकोण से काव्य में रूप विधान की महत्ता आसन्न दान से स्वीकार्य समझी जानी चाहिए अन्यथा केवल सामाजिक विमर्श और कमापूर्व पटक-पटक साहित्य को लोका-भूति मात्र बना देगी। वे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'कला' शब्द की व्याख्या से चिढ़कर उसका साहित्य-जगत् के विषयों से क्षीमाविषीय छुटकारा करना चाहते हैं और उसे काव्य कोटि से अलग मशी का समझते हैं, जिसका अन्ततः प्रमाण तो यही है कि हमारे प्राचीन साहित्य-मीमांसकों ने काव्य को १४ कलाओं में गिनना उचित नहीं समझा।

१३ आचार्य मुख्तबी ने प्रत्यक्ष रूप-विधान के अन्तर्गत रसानुभूति की उक्त विशेषता पर भी विचार किया है जो उसे प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति से प्रयुक्त करती हुई प्रतीत होती है। इस विशेषता का निरूपण उन्होंने साधारणीकरण के अन्तर्गत किया है और बतलाया है कि जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं मारा जाता कि वह सामान्यतः सब के उरी भाव का प्राप्तबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं पाती। रवी रूप में धारा धारा हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।^५ मुख्तबी इस सिद्धांत-निरूपण के पश्चात् सच्चा कवि केवल उसे ही मानते हैं जिसे सोच-हृदय की पहिचान हो तथा जो अनेक विशेषताओं

१ रस-मीमांसक, पृष्ठ २३६ २३

२ वही पृष्ठ २३ ।

३ वही, पृष्ठ २३ ।

४ रस-मीमांसक, "प्रत्यक्ष-रूप-विधान" पृष्ठ २३७ ।

५ वही, पृष्ठ संकल २३३ ।

धीरे विविधताओं के बीच से मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को प्रभाव करके देस सके। इस प्रकार हृदय में हृदय के सीन होने की रक्षा को ही ने रक्ष-रक्षा कहते हैं।^१

साधारणीकरण' और रसानुभूति के विविध स्वस्व

१४ युक्त जी का साधारणीकरण विषयक विवेचन इस बात का प्रामाण्य देता है कि वे सत्ता या व्यक्ति के स्थान पर प्रभाव का साधारणीकरण मानते हैं।^२ उनका मत है कि माघ धीरे विचार के सामंजस्य के प्रभाव में सभी धीरे पूर्ण रसानुभूति हो ही नहीं सकती। माघपूर्ण काम्यों में मोठा या पाठक को अपनी धीरे से अपनी भावना के अनुसार भावजन का आरोप करना ही पड़ता है। वे साधारणीकरण स्वस्व का ही मानते हैं व्यक्ति या वस्तु का नहीं। उनका साधारणीकरण से सीधा परिणाम यही है कि किसी काम्य में बलिष्ठ भावजन केवल भाव की व्यंजना करने वाले माघ (माध्य) का ही न रह कर प्रत्येक पाठक या मोठा का भावजन हो जाय और वह निविशेष मूढ धीरे मुक्त हृदय से उनका रसात्मक अनुभव कर सकें।^३ युक्त जी का मतव्य है कि यह स्थिति पाश्चात्य धर्मोदा-पद्धति में धर्म का निर्वर्तन धीरे निर्व्यवस्था (इम्परसेनेमिटी एन्ड डिटेक्नेन्ट) की स्थिति कहलाती है, जिसे चाहे रस का मोकोत्तरण कह दिया जाय प्रकृति का सीधा-धारा यही धर्म लेते हैं कि वह हृदय की मुक्त रक्षा से सम्बन्धित हो। पाश्चात्य समीक्षा में डा ब्रैन्ले धारि के लक्ष्योत्तर पदावलियों में 'कला कला के लिए' के प्रसंग में काम्य की मोकोत्तरता की भी व्याख्या की है, उसे वे "धर्मसुख भाषास्मर" से अधिक महत्त्व नहीं देते धीरे रस-भाषा के प्रसार में किसी भी भी इस प्रकार के मधुर भाषा प्रसार पा रहे हैं, उन्हें बाह्य रूप से ठोस बहत्तरण के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानते हैं। वे तो बार-बार इस बात का उल्लेख करते हैं कि "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सब के सभी भाव का सामान्य हो सके तब तक इसमें पूर्णतया तल्लीन करने की क्षिति नहीं रहती।"^४

१५ आचार्य युक्त जी ने रचित इस कस्या क्षेत्र यय पुस्तिका धीरे तथा प्रवृत्ति के नामों को लेकर बतलाया है कि वे किस प्रकार हमें विभाषानुसार संघारियाओं के संयोग से रसानुभूति करते हैं। इस प्रसंग में वे कस्य-रस को लेकर अपनी एक माध्यता का निवेदन करते हुए लिखते हैं कि मोलम कस्यरस-माना गायकों के वर्णों के धर्मियों के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि "मान्य ने भी तो धर्म पाते हैं वे एक प्रकार से बात टाकते हैं।"^५ युक्त जी की तो माध्यता है कि वर्णक वास्तव में युक्त ही का अनुभव करते हैं, किन्तु हृदय की मुक्त रक्षा में होने के कारण वह युक्त जी रसात्मक होता है। सारांश यह है कि युक्त जी के मत से 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा भिन्न कोई धर्मवृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त धीरे प्रभाव स्वस्व है और वस्तुतः भावना रूप में स्थित भाव ही रस-रूप में प्रया करते हैं। मत इन भावों का

१ रस-मीमांसा "ज्येष्ठ रूप विषय" पृष्ठ संख्या २६६

२ श्री. पृष्ठ संख्या २६६।

३ रस-मीमांसा पृष्ठ २६८-२६९।

४ श्री. पृष्ठ २६६।

५ श्री. पृष्ठ २००।

६ श्री. पृष्ठ २०२।

आधारित व्यवस्था में माना ही एक सफल काव्याकार का प्रमुख कार्य होगा चाहिए और इसे ही साधारणीकरण की व्यवस्था कहना चाहिए।^१

स्मृत कल्प-विधान

१९ आचार्य मुकुल ने प्रत्यक्ष कल्प-विधान की भाँति स्मृत कल्प-विधान में भी रसानुभूति मानी है। स्मृति के अन्तर्गत उन्होंने विपुल स्मृति और प्रत्यक्षाभित (निमित्त) स्मृति या प्रत्यभिज्ञान नामक दो उप-विभाग किए हैं। उन्होंने बतलाया है कि जैसे सो स्मरण संचारी भावों के अन्तर्गत आता है, किन्तु जब उसका सम्बन्ध किसी स्थायीभाव से हो जाता है तो वही रस-कोटि में पहुँच जाता है। विपुल स्मृति में उन्होंने प्रिय-जन वास्य-काल यौवन-काल तथा अतीत जीवन के स्मरण को रखा है और प्रत्यभिज्ञान में प्रत्याश कल्प में स्मृति का प्रत्यक्ष कल्प तथा अधिकांश कल्प में स्मरण कल्प निर्दिष्ट किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों के काव्यांशों के उदाहरण देकर बतलाया है कि वे किस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वल्प का बराबर विधान करते रहे हैं। उनके मतानुसार प्रसिद्ध धोंरे कवि दोहरेस्मिन् की ऊँड़ धाम (देवदत्त बिजेज) नामक रचना हमें प्रत्यभिज्ञान द्वारा ही रसात्मक अनुभूति कराती है। आचार्य का मत है कि स्मृत कल्प-विधान के अतिरिक्त हमारी स्मृत्यापाद कल्पना भी रसानुभूति का साधन बनती है जिसका साधार या तो प्राप्त बचन या इतिहास होता है यथवा कुछ अनुमान-मात्र। उन्होंने प्राप्त बचन या इतिहास द्वारा प्राप्त बातों की पूर्ण भावना तथा कुछ अनुमान मात्र से प्राप्त कल्पना हम दोनों में जीवन की साक्षिकता और तल्लीनता के उत्पन्न पाये हैं और हममें भी रसानुभूति की व्यवस्था का उन्मेष किया है। इस प्रकार मुकुल जी के मत से 'स्मृत कल्प-विधान में भी रसानुभूति प्रधान करने की अपूर्व शक्ति है'।^२

कल्पित कल्प-विधान

१७ मुकुल जी के मतानुसार कल्पित कल्प विधान रसानुभूति की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके निर्माण में कल्पना-शक्ति का प्रयोग बाँझनीय है। कल्पना का यह क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें प्रस्तुत कल्प-विधान तथा अप्रस्तुत कल्प-विधान इन दोनों का समावेश हो जाता है। आचार्य मुकुल उसी कल्पना को काव्य के लिए उपयोगी समझते हैं जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर प्रस्तुत का सम्बन्ध विधान कराती है। उनके मतानुसार साध कल्प-विधान कल्पना ही के द्वारा होता है और अप्रस्तुत योजना में भी उसका अन्वेषण प्राप्त होता है। इसके द्वारा भाषा-संकीर्ण में व्यञ्जकता साक्षिकता और अवलोक्यपूर्णता की वृद्धि होती है। धातुनिक काव्य-वारा में जिस साक्षिकता का समावेश हुआ है उसमें भी कल्पना का अन्वेषण प्राप्त है। आचार्य मुकुल ने कविवर भगवानन्द तथा भी सुमित्राचरण पंत के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि उनके काव्य में साक्षिकता तथा व्यञ्जना शक्ति का प्रसार किस प्रकार संवर्धित है और उनकी कल्पना किन-किन रूप-विधों द्वारा हमें भावों का चित्र प्रकट कराती है।

प्रस्तुत कल्प-विधान

१८ रस-मीमांसा के विषय में आचार्य मुकुल ने प्रस्तुत कल्प-विधान पर भी पर्याप्त विवेचन किया है। इसके विभाजन-पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने धामन्य और उदीपन को प्रतिष्ठित कर बतलाया है कि कवि-कल्पना हमें किस प्रकार का कल्प-विधान कैसी-कैसी अभिव्यक्तियों से कराती है। वे इसमें प्रयुक्त कल्पना को केवल उही अर्थ तक प्राप्त समझते हैं जिस अर्थ

^१ रस-मीमांसा, पृष्ठ १७५।

^२ रस-मीमांसा पृष्ठ १७६।

तक वह थोटा या पाठक के मन में कोई भावना जगा सके और जीवन का जगत् का कोई भाषिक रहस्य सामने रख सके। वे प्रस्तुत विचारों के अन्तर्गत प्रयुक्त कल्पना और व्यक्तित्व की उस प्रतिरक्षा का कठोर विरोध करते हैं जो पश्चिमी साहित्य-समीक्षा-क्षेत्र में अपनी एकाधिकारिक प्रभुता के अनेक प्रकार का बहुकमिवापन दिखाती रही है तथा जिसके कारण काव्य का विस्तृत क्षेत्र राजनीति की भाँति बाँटो का शिकार बन रहा है। वे देखते-सोचते धार्मिक के अभाव और अभिव्यक्ततावाद के आह्वानपूर्ण पक्ष का उद्घाटन कर उनकी एकदलीयता सिद्ध करते हैं और वर्तमान हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में समीक्षा की अभावता के स्थान पर अभावप्रतिष्ठा धार्मिक से अन्वयित या प्रभाव लेती बन पड़ी है, उसे इसी पारंपार्य प्रवृत्ति का अनुकरण कह कर साहित्य के स्वतंत्र इतिहास के लिए विघटनकारी समझते हैं। उनकी तो यह दृढ़ धारणा है कि साहित्य में वैयक्तिकता को महत्त्व देने वाले समालोचक कुछ भी नहीं, किन्तु इस सत्य का कदापि विवेक नहीं किया जा सकता कि काव्य में विवेक साधारणीकरण कहा गया है वह विचारों के आधार का ही होता है और उसमें अनुस्यू की लोक-साधना का तत्त्व प्रयुक्तता सम्मिलित रहता है। हाँ यह बात अवश्य है कि काव्य का विषय रहेगा सदा विवेक ही और वह व्यक्ति ही सामने लायेगा न कि सामान्य जाति।^१ वे आधुनिक कला-समीक्षा के इस सिद्धान्त का साम्य हमारे यहाँ प्रतिपादित साधारणीकरण से करते हुए लिखते हैं कि साधारणीकरण का प्रतिपक्ष भी यही है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विवेक या वस्तु-विवेक आती है वह जैसे काव्य में नलित सामान्य के भाव का आत्मन्य होती है वैसे ही सब बहुवच्य पाठकों या श्रोताओं के भाव का आत्मन्य हो जाती है।^२ इस प्रकार वे साधारणीकरण आत्मन्यत्व बर्णन का मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि "आत्मन्यत्व का ही प्रतिष्ठित व्यक्ति सामान्य प्रधान वाले कुछ बर्णों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आत्मन्य हो जाता है।"^३

व्यक्तिवाद की एकाधिता

१६ साधारणीकरण के विरोध के अग्रगण्य धार्मिक धूल ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्र में पुनरुत्थान-काल के पश्चात् सर्वप्रथम "व्यक्तिवाद" की एकाधिता और अग्रगण्य को पर्याप्त वादा में लिखा की है। इस व्यक्तिवाद की वे साधारणीकरण से सर्वथा विपरीतभासी निर्दिष्ट करते हैं। उनका कहना है कि नवी व्यक्तिवाद स्वच्छंदता के आह्वान (रोमैन्टिक सुबनेट) के उत्तर-काल में इतना अधिक विस्तृत हो गया कि उसके द्वारा यूरोपीय काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त प्रभाव का होने लगा। उसके समकालीन युग में नवीयता और भौतिकता के नाम पर और भी अनेक पाद वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित होते रहे किन्तु उनकी वास्तविकता बोझ-बोझे समय के पश्चात् ही प्रकट होती गई और वे अस्तित्वहीन बनते गये। धार्मिक धूल ने ऐसे अलोक धारा विकसित करने वाले बर्णों में रहस्यवाद, प्रत्येकवाद, भूतलंकारवाद तथा कलावाद की वसुधा की है। उनका कथन है कि भाव भी वही क समीक्षा-क्षेत्र में अभिव्यक्ततावाद (एक्सप्रेसिविज्म), आत्मिका-प्रवृत्ति (वियो-विजिनिज्म) भूतलंकारवाद (इमेजिनिज्म) लंबेकलावाद (इम्प्रेसिनिज्म) और नवीय परमात्मवाद (न्यू क्लासिजिज्म) धार्मिक प्रमुख पाद बन रहे हैं, जो अपनी अस्वकालीन अथक-अथक दिखाकर एक दिन गच्छ हो जायेंगे। पुनः ही के अग्रगण्य इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में बाँटो का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सार-सत्ता को गच्छ कर देता है और सोप कविता न लिख कर वाद लिखने लगते हैं।^४ उन्हें इस बात का हार्मिक बोध है कि 'पश्चिम में जो साहित्य प्रवाद गच्छ भी हो गये उनके

१. ए. सी. मॉरिस, पृष्ठ ३३।

२. वही, पृष्ठ १११।

३. वही, पृष्ठ १११।

४. वही, पृष्ठ १११।

प्राप्यतः प्रवस्था में ज्ञाना ही एक सफल काव्याकार का प्रमुख कार्य होना चाहिए और इसे ही साधारणीकरण की प्रवस्था कहना चाहिए।^१

स्मृत कल्प विधान

६१ धार्मिक युक्त ने प्रत्यक्ष कल्प-विधान की भाँति स्मृत कल्प-विधान में भी रसानुभूति मानी है। स्मृति के घटवर्त उन्हीं विभूत स्मृति और प्रत्यक्षधित (मिथित) स्मृति या प्रत्यक्षिज्ञान नामक दो उप-विधान किए हैं। उन्होंने बतसाया है कि जैसे तो स्मरण संघारी भावों के प्रत्यक्ष घटा है किन्तु जब उसका सम्बन्ध किसी स्थायीभाव से हो जाता है तो वही रस-कोटि में पहुँच जाता है। विभूत स्मृति में उन्होंने प्रिय-जन वास्य-काल योवन-काल तथा घटीत जीवन के स्मरण को रखा है और प्रत्यक्षिज्ञान में प्रत्याय कल्प में स्मृति का प्रत्यक्ष कल्प तथा अधिकांश कल्प में स्मरण कल्प निर्दिष्ट किया है। उन्होंने प्राचीन कवियों के काव्यों के उदाहरण देकर बतसाया है कि वे किस प्रकार प्रत्यक्षिज्ञान के रसात्मक स्वल्प का बराबर विधान करते रहे हैं। उनके मतानुसार प्रसिद्ध अश्वि कवि मोरारिधर की ऊँच धाम (डेवर्टेड विवेक) नामक रचना हमें प्रत्यक्षिज्ञान द्वारा ही रसात्मक अनुभूति कराती है। धार्मिक का मत है कि स्मृत कल्प विधान के चरित्रिक हृदय स्मृताभास कल्पना की रसानुभूति का साधन बनती है जिसका आधार या तो प्राप्य वचन या इतिहास होता है प्रपदा युक्त अनुमान-मात्र। उन्होंने प्राप्य वचन या इतिहास द्वारा प्राप्त बातों की मूर्त भावना तथा युक्त अनुमान मात्र से प्राप्त कल्पना हम दोनों में जीवन की मामिकता और तन्मयता के लक्ष पाये हैं और इनमें ही रसानुभूति की प्रवस्था का उल्लेख किया है। इस प्रकार युक्त की के मत से 'स्मृत कल्प-विधान' में भी रसानुभूति प्रधान करने की प्रवृत्ति स्थित है।^२

कल्पित कल्प-विधान

६२ युक्त की के मतानुसार कल्पित कल्प विधान रसानुभूति की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके निर्माण में कल्पना-धर्म का प्रयोग बाध्य है। कल्पना का यह क्षेत्र प्रत्यक्ष व्यापक है। इसमें प्रस्तुत कल्प-विधान तथा अप्रस्तुत कल्प-विधान इन दोनों का समावेश हो जाता है। धार्मिक युक्त जहाँ कल्पना को काव्य के लिए उपयोगी समझते हैं वो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर प्रस्तुत का सम्यक् विधान करती है। उनके मतानुसार सारा कल्प-विधान कल्पना ही के द्वारा होता है और अप्रस्तुत योवन म भी उसका अव्यक्त हाथ रहता है। इसके द्वारा भावा-ध्वनी में व्यञ्जकता मामिकता और चमत्कारपूर्णता की वृद्धि होती है। धार्मिक काव्य-राश में जिस साधुसिद्धता का समावेश हुआ है उसमें भी कल्पना का अव्यक्त हाथ है। धार्मिक युक्त ने कविबल पनामन्द तथा भी सुमित्रावदन पद के काव्य से उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि उनके काव्य में साधुसिद्धता तथा व्यञ्जकता-धर्म का प्रसार किस प्रकार सम्मिलित है और उनकी कल्पना किन्-किन् कल्प-विधानों द्वारा हमें भावों का चित्रण प्रह्लाद कराती है।

प्रस्तुत कल्प विधान

६३. रस-मीमांसा के विषय में धार्मिक युक्त ने प्रस्तुत कल्प विधान पर भी पर्याप्त विवेचन किया है। इसके विभाजन-पद के घटवर्त उन्हींने ध्यात्मन और उद्दीपन को प्रतिष्ठित कर बतसाया है कि कवि-कल्पना उनमें किस प्रकार का कल्प-विधान करती-करती चरित्रव्यञ्जनाओं से कराती है। वे इसमें प्रयुक्त कल्पना का केवल जहाँ पक्ष तक साह्य समझते हैं, जिस पक्ष

१ रस-मीमांसा, पृष्ठ १७१।

२ रस-मीमांसा पृष्ठ २०६।

तक वह मोठा या पाठक के मन में कोई आशय बना सके और जीवन या जगत् का कोई भागिक रहस्य सामने रख सके। वे प्रस्तुत विधान के अन्तर्गत प्रयुक्त कल्पना और व्यक्तित्व की उस प्रतिरेक्या का कठोर विरोध करते हैं जो पश्चिमी साहित्य-समीक्षा-शास्त्र में अपनी एकाधितापन्न अनेक प्रकार का बहुकल्पियापन दिखाता रही है तथा जिसके कारण काव्य का विपुल क्षेत्र राजनीति की भाँति बाँटों का पट्टा बन रहा है। वे सबसे ज़ोरे पारि के कलावाद और अभिव्यञ्जनावाद के आह्वानपूर्ण पक्ष का उद्घाटन कर उनकी एकदलीयता सिद्ध करते हैं और वर्तमान हिन्दी समासोचना के क्षेत्र में समीक्षा की यथार्थता के स्थान पर कलाप्रियता आदि से सम्बन्धित जो प्रभाव खेमी बन पड़ी है, उसे इसी पारचात्य प्रवृत्ति का अनुकरण कह कर साहित्य के स्वयं इष्टिकोण के लिए विचटनकारी समझते हैं। उनकी तो यह हड़ धारणा है कि साहित्य में व्यक्तिरेक्या को महत्त्व देने वाले समासोपेक्ष कुछ भी नहीं किन्तु इस तथ्य का कदापि निवेध नहीं किया जा सकता कि काव्य में बिदे साधारणीकरण कहा गया है वह विभाजन व्यापार का ही होता है और उसमें मनुष्य की लोक-साधना का तत्त्व पूर्णतया अन्निहित रहता है। हाँ यह बात अवश्य है कि काव्य का विषय रहेगा सब बिदेय ही और बहुव्यक्ति ही सामने लायेगा न कि सामान्य जाति।^१ वे धातुनिक कला-समीक्षा के इस सिद्धान्त का सम्यक् हमारे यहाँ प्रतिपादित साधारणीकरण से करते हुए सिद्धते हैं कि “साधारणीकरण का अभिप्राय भी यही है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष घाती है वह जैसे काव्य में बहिष्ठ प्रामाण्य के भाव का प्रामाण्य होती है वैसे ही सब सङ्ख्येय पाठकों या श्रोताओं के भाव का प्रामाण्य हो जाती है।”^२ इस प्रकार वे साधारणीकरण प्रामाण्यत्व बर्णन का मानते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि “प्रामाण्यत्व रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का प्रामाण्य हो जाता है।”^३

व्यक्तिवाद की एकाधिता

१२ साधारणीकरण के विवेचन के समानान्तर आचार्य ध्रुव ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्र में पुनस्तान-काल के पश्चात् उद्भूत “व्यक्तिवाद” की एकाधिता और असाह्यता की पर्याप्त मात्रा में निन्दा की है। इस व्यक्तिवाद को वे साधारणीकरण से सर्वथा विपरीतवादी निरिष्ट करते हैं। उनका कहना है कि यही व्यक्तिवाद स्वच्छता के आम्बोजन (रोमैण्टिक युवमेष्ट) के उत्तर-काल में इसका अधिक विवृत हो जना या कि उसके द्वारा यूरोपीय काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में अत्यन्त प्रभाव सा होने लगा। उसके समकालीन युग में मनीषता और मौखिकता के नाम पर और भी अनेक बार वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में प्रक्षलित होते रहे किन्तु उनकी वास्तविकता बोड़े-बोड़े समय के पश्चात् ही प्रकट होती गई और वे अस्तित्वहीन बनते गये। आचार्य ध्रुव ने ऐसे अनेक धारणा बिकीर्ण करने वाले बाँटों में रहस्यवाद प्रतीकवाद भुवतल्लंघनवाद तथा कलावाद की बख्सा की है। उनका कहना है कि धारा भी वहाँ के समीक्षा-क्षेत्र में अभिव्यञ्जनावाद (एक्सप्रेसिज्म) जर्जकाल प्रकृति (वियो-वियेजिज्म) मूर्तिमत्तावाद (इमेजिज्म) सबलतावाद (इम्प्रेसिज्म) और मनीष मर्वासावाद (म्यू कलासिज्म) आदि प्रमुख बार बन रहे हैं जो अपनी अस्तकालीन चमक-दमक दिखाकर एक दिन नष्ट हो जायेंगे। ध्रुव जी के मतानुसार इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में बाँटों का प्रसार बीरे-बीरे उसकी शार-सत्ता को नष्ट कर देता है और लोग कविता न लिख कर बार लिखते लगते हैं।^४ उन्हें इस बात का हार्दिक शोक है कि “पश्चिम में जो साहित्य-महाद नष्ट भी हो गये उनके

१ एम्. एम्. ए. १९४१।

२ एम्. ए. १९११ १९१२।

३ एम्. ए. १९११।

४ एम्. ए. १९११।

प्रेत बपना घोर उसके माध्यम से हिन्दी-जगत् में ज्वाला मचाने से बाध नहीं पाते।^१ ये लोक मयल घोर काव्य की पावन-स्पर्शी में उमका यह पर-निर्भय काव्य-रचना तथा समाजोपना के लिए पर्यस्त भयावह समझते हैं क्योंकि इनमें मानव-सत्ता की शक्ति तथा शक्तों की पवित्र भूमि को शक्ति तथा पवित्र बनाने का एकापी पुराणवद् जीवन-विचारक बनकर सामने आता है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने यूरोपीय साहित्य-क्षेत्रों में प्रचलित इन बातों का सामान्य परिचय देकर उनके प्रति अपनी अभिरुचि व्यक्त की है और कहा है कि मार्क्सवाद की प्रवृत्ति को कपटें बूक हैराकल मोनरो तथा डी मा मेयर ने किस प्रकार प्रकृति का चित्र से सामान्य सेना कहकर निरूपित किया तथा अंतिमत्तावाद के विरोधक एक एस फिमस्ट और एम्बिंगटन तथा वाट्सन आदि ने किस प्रकार मूल-भावना खड़ी करने वाले धर्म को ही काव्योपयोगी ठहराया। इसी प्रकार समाजवाद के विरोध में उन्होंने ई० कमिन्स की "सन सेट" कविता को लेकर उनकी विचार-सरणि उपस्थित की। अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी ने पश्चिमी जगत में प्रचलित इन काव्यवादों का स्वल्प-विधान विवेचित कर इस बात का भी उल्लेख कर दिया है कि वे बाद मार्क्सवाद किस प्रकार पश्चिमी संसार में भी अपना सम्मान खोने लगे हैं और उनकी एकापी प्रवृत्ति वहाँ के भीमांतक किस प्रकार पहिचानने लगे हैं। प्रस्तुत रूप विधान-विवरण के अन्तर्गत आचार्य का यह निष्पत्ति हमें तो सन्तुष्टता से प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने लिखा है कि "कविता या उसकी समीक्षा जब तक भेद भाव का आधार हटाकर अन्ध-भाव के आधार पर प्रस्तुत होती तब तक उसका स्वल्प उसी प्रकार अन्ध घोर जीवनान में पड़ा रहेगा। अन्ध भाव की भूमि तैयार करने का नाम ही आधारहीनता है।"^२

काव्य में वास्तविक रूप-विधान-विवरण

७ आचार्य शुक्ल जी की काव्य के रूप-विधान-विवरण के विषय में यह पुराण मान्यता थी कि अभिव्यक्तिवादी अने ही काव्य में कोई वस्तु या विषय न स्वीकार करें और केवल तथा उक्ति-वैचित्र्य को ही काव्य का सत्य मानते रहें किन्तु इस धर्म का कदापि निषेध नहीं किया जा सकता कि काव्य में जगत् या जीवन के सम्बन्धित कोई न कोई वस्तु अवश्य तथ्य अवश्य रहता है। जो लोक काव्य की स्थिति वस्तु अवस्था तथ्यविहीन वाता में देखते हैं उन्हें वे "बैठकवाजी" से अधिक घोर कुछ नहीं कहते। वे काव्य के प्रभाव को अधिक से अधिक बम्पीर घोर अस्तित्व-स्पर्शी मानकर उसे जीवन की एक शक्ति सिद्ध करते हैं, जिसके अन्तर्गत जगत् या जीवन का कोई तथ्य तथा उसके प्रति किसी प्रकार की अनुभूति का सम्बन्ध अवश्यमेव रहता है। यहाँ तक कि शुक्ल जी के मतानुसार तो आध्यात्मिक कविताएँ भी धर्मवत् की ओर उल्लेख करने वाले किसी तथ्य का निरूपण अवश्य करती हैं। इस प्रकार उनके मत से काव्य में जगत् या जीवन को लेकर प्रस्तुत विधान तो होता ही चाहिए। हाँ यदि उसके प्रतिरिक्त उसकी दीप्ति के लिए अप्रस्तुत विधान भी हो जाय तो कुछ नहीं है, क्योंकि वह धर्मकार अपना लक्षण के रूप में आकर काव्य के भाव औचित्य अवस्था वस्तु-निरूपण को अधिक उत्कर्ष प्रदान करता है।

७१ आचार्य शुक्ल ने अप्रस्तुत रूप-विधान के अन्तर्गत बताया है कि इनमें उपमा रूपक उपेक्षा अन्धेह अप्रस्तुत प्रसंगादिक धर्मकारों को लेकर भी वस्तु-योजना की जाती है उसका आधार या तो सादृश्य होता है या साधर्म्य। साथ ही साथ इन दोनों में प्रभाव-साम्य भी अन्तर्निहित रहता है। उनके मतानुसार सिद्ध कवियों में ऐसी प्रतिभा होती है, जिसके हाथ वे प्रस्तुत सामान ही अप्रस्तुतों के औचित्य कोयसता प्रकटता अर्थात् का विधान करते हैं और जिनमें केवल

बाह्य साम्य न होकर आन्तरिक प्रभाव साम्य रहता है। उन्होंने बतसाया है कि साम्यवादी प्रभाव साम्य को लेकर जो धर्मस्तुत कल्प-विधान होता है वह या तो उपसंस्कृत के रूप में रहता है या प्रतीकवादी। इसी प्रकार कभी-कभी धर्मस्तुत की योजना एकदोसीय सुख तथा सुखित किन्तु मर्म व्यक्त साम्य के रूपसे आधार की लेकर भी की जाती है। इन दोनों प्रकार के विधानों के सुसम की ने उदाहरण दिये हैं जैसे प्रतीकवादी धर्मस्तुत विधान में सुख के लिए 'प्रसात' तथा जीवन के लिए 'मधुकाल', इसी प्रकार एकदोसीय रूप में सरस कोमल भावना के लिए 'नहर' का प्रयोग पावि। पंत के काव्य में उन्हें इस प्रकार के धर्मस्तुत-विधान बहुत अधिक मिले हैं।

साम्यविश्व और धर्मस्तुत कल्प-विधान

७२ सुसम जी ने धर्मस्तुत कल्प-विधान के उन मनमाने धाराओं को मान्योत्कर्ष के लिए हीन छोटि का नामा है जो सर्वस्वीय न होकर केवल वैश्व या कुल-हित-मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। उन्हें यह बात कम प्यो है कि धर्मियों का 'मन'ों के बाह्य' कदा बाय और प्रकृति के नामा रूपों के जीवन की भावना सर्वत्र स्वी-जीवन्य' का धारण करके ही की जाय। उनका तो स्पष्ट दस्तव्य है कि जब प्रकृति की गाना वस्तुओं और व्यापारों का अपना अलग-अलग जीवन है तो उसे एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के धारण द्वारा समन्वित करना उसे सकीर्तता प्रदान करता है। हिन्दी की नवीन काव्य-बाध न सम्योक्ति-वृत्ति के रूप में जो साम्य दिखाया जाता है, उसे सुसम जी ने अपना उल्लेख पावि धर्मकारों के र्थों में इसी ही धर्मस्तुत-बोवना से अधिक परिष्कृत पद्धति स्वीकार किया है।^१

७३ धर्मस्तुत कल्प-विधान के विवेचन के धर्मगत सुसम जी ने बतसाया है कि धर्मकारों को लेकर जो साहस्य-बोवना हो वह या तो स्वल्प-बोध के लिए होनी चाहिये वा भाव की सीध करने के लिए। उसके द्वारा जहाँ धर्मस्तुत-विधान के प्रकृत स्वल्प की प्रतिष्ठा होती है वहाँ साहस्य वस्तु के कल्प द्वारा सम्योचर तथा साम्याविवेक रूपों का भी बरतवावृत्त स्वीकारण हो जाता है, जैसे माया को उबिनी कहना अथवा संसार को नायका और ईश्वर का पति बतसाना। अतः धार्मिक क मतानुसार कर्मात्मक रसात्मक अर्थों में प्रवृत्त धर्मस्तुत (व्यमान) की इसी प्रकार के भाव के अलोचक हों जिस प्रकार के भाव के अलोचक प्रस्तुत होते हैं। इस कार्य में प्राचीन परम्परा में प्रसिद्ध उपमान भी रसानुवृत्ति में बहुत सहायता करते हैं, यदि उन्हें प्रतिरेकता और पुनरावृत्ति की नीरसता में न प्रवृत्त किया जाय। सुसमजी ने अपनी कवि-कल्पना इसी बात में मानी है कि धर्मस्तुत के मेक में जो धर्मस्तुत रखा जाय वह विचारार्थक और प्राकृतिक हो और अपनी व्यापार समष्टि में इसी प्रकार का भाव बताने वाला हो जिस प्रकार का धर्मस्तुत।^२ इस प्रकार सुसमजी के अनुसार कवि-परम्परा में प्रसिद्ध धर्मस्तुत वस्तु की योजना में अनेक बार ऐसा भाव-सीधक नहीं आ पाता जैसा मानिक स्वल्प किसी रस-बंधन उक्ति में जाता है। स्पष्ट है कि धार्मिक ने केवल विद्वानों पादि के काव्यों में धर्मस्तुत विधान की जहाँ जहाँ केवल परम्परा-वृत्ति अथवा प्रत्युक्ति के रूप में योजना पाई है, वह उन्हें अनेक स्वल्पों पर मान्योत्कर्ष अथवा रसानुवृत्ति के स्थान पर केवल उद्गारमक ही मनी है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि कवि नायिका की विमोक्ष मृदार-रसा का चित्रण करना चाहता है, किन्तु वह हम उसकी संबेचना देने के स्थान पर धार्मिक में बसतिष्ठ कर देता है। उर्दू-अरबी की धामरी में इस प्रकार की प्रवृत्ति बहुत पाई जाती है। इसी प्रकार जो कवि भी अपना भिड़ या ठठिया से बैठे हैं वह भी उन्हें कोई मोहक नहीं लगती

१ रस वीर्यस्य ५५ ११८-११९

२ रस वीर्यस्य १५५ १५६ १५७

क्योंकि उसमें प्राबल्यपूर्ण प्रपञ्च कवि की कमनीयता का दिग्गज नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार गूढार के अन्तर्गत विरह-वधा का विषय करते समय फारस के साहित्य में मवाद नून हुई। फलसे पारि के जो बीमल वृष्य सामने साय धाते हैं, वे भी रसपूर्ण ही होते हैं। प्रसिद्ध यह कि युक्त जी की दृष्टि से काव्य में अग्रस्तुत रूप-विधान के लिए बाहे प्रसन्न प्रणाली का प्रयोग किया जाय बाहे लक्षणा-वर्णित का वह वस्तुतः होनी ऐसी बाहिए जिसके द्वारा साहित्य का चरम सक्षय सिद्ध हो। यही कारण है कि प्राच्य ने प्रसिद्धता या स्मृता सुचित करने के लिये अक्षरमय या वस्तु-व्यञ्जनात्मक लेखी का विधान कविता में तीन प्रकार का मानकर ही उस लेखी को अधिक प्राप्त समझा है जिसमें ऊहा की धाराप्रभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य रहे, किन्तु उसके हेतु की कल्पना की गई हो। वे कवि-जीवित-सिद्ध ऊहा की धाराप्रभूत वस्तु के प्रत्यक्ष को लेकर विहारी के उन काव्यांशों के उद्धरण देते हैं जिनमें भाषिका के विरह-राग के विषय में पदोत्तियों को जी जाड़े की रातों में बेचैन करने की बात कही गई है। इसी प्रकार ऊहा की धाराप्रभूत वस्तु के स्वरूप को सत्य या स्वतः सम्मयी कह कर बिना किसी कल्पना के उसका विषय उनकी दृष्टि से मध्यम श्रेणी की लेखी का काव्य है^१।

रस-मीमांसा से सम्बन्धित अन्य विचार

७४ प्राचार्य युक्त ने रस-मीमांसा का विषय काव्य के लक्षण विभाज्य तथा उसके सैद्धान्तिक स्वरूप का निरूपण कर भाष विभाज्य के व्यापक विवेचन के साथ स्पष्ट किया है और बतलाया है कि रसानुभूति के प्रमुख ऐतिहासिक धाधार कीन-कीन से होते हैं। 'रस-मीमांसा' के अन्तर्गत उन्होंने अक्षर-वर्णित के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृत साहित्य-शास्त्र के प्रमुख विवेचन कर प्रसिद्ध लक्षणा और तात्पर्य-वृत्ति का भी समीक्षण किया है। उनका यह विवेचन प्राचीन बखस्य ग्रन्थों पर आधारित है। वे 'साहित्य-दर्पण' तथा काव्य प्रकाश' के उदाहरणों द्वारा उनकी पुष्टि करते हैं। साथ-ही-साथ पश्चिमी समीक्षा और मनोविज्ञान की दृष्टि भी उनके विवेचन-मार्ग में पयास्तान धाती रही है। उनका व्यञ्जना सम्बन्धी विवेचन सर्वथा परम्पराप्रसूत-सा है और अक्षर-निरूपण भी सादृश्य है। संकर और संश्लिष्ट अक्षर तथा गुणीभूत व्यञ्ज के परभाव उन्होंने बतलाया है कि व्यञ्जना की स्थापना किस प्रकार होती है और धार्मिक मनोविज्ञान से किस विधान से ग्रहण करता है। युक्त जी का रस-निरूपण तथा रस-वक्त्र सम्बन्धी विवेचन भी पठनीय है। रस-मीमांसा के परिशिष्ट में उनके उद्धरण के लिए दिये हुए उदाहरण तथा काव्य बासी पुस्तक के लिए मनोविज्ञान सम्बन्धी टिप्पणियाँ भी रचनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचार्य युक्त इस विषय को अधिक-से अधिक व्यापक और पूर्ण बना कर अधिव्यक्त करना चाहते थे किन्तु उनके प्रसामयिक लिपण से उनकी यह योजना उनके जीवन के साथ ही समाप्त हो गई। वे पाश्चात्य और भारतीय विचारकों की साहित्यिक समीक्षाओं और विवेक-वृद्धि का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के साक्षात्की भी थे। वस्तुतः वे ऐसा कर पाते तो हमारा धार्मिक समासोपना-साहित्य प्रपूर्व धामा से धामोचित हो उठता। उन्होंने अपनी कार्य-निराणति की योजना में जो धर्मजी के कुछ-मोट तैयार किये थे उनका भी एक स्थायी महत्त्व बना हुआ है और वह विवेचन अभी समासोपना के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य करता है। वस्तुतः उसके अन्तर्गत समासोपना के भावी विकास के लक्ष्य सुनिश्चित हैं और यदि उनके धर्मोपासी उनके इस प्रपूर्व कार्य को विकसित तथा पूर्ण बनाने में सक्रिय प्रयत्नशील हों तो निरपय ही वे प्राचार्य के प्रति अपने वास्तविक शिष्यत्व का निर्वाह कर सकेंगे।

रस-मीमांसा का मूल्यांकन

७५. प्राचार्य युक्त ने साहित्य के ऐतिहासिक निरूपण की एक प्रमुख प्रज्ञा की।

उन्होंने सन् १९२२ के साठ-पाठ काव्य-मीमांसा सम्बन्धी विभिन्न धीर्बर्कों में अपने फुटकर लेख लिखे थे जिनका पारस्परिक सम्बन्ध भी था।^१ प्रायेः जसकर उनके उन निबन्धों की बहुत सामग्री बहुशक्तिर बतकर प्रकाशित हुई किन्तु उसके अनेक अंश अप्रकाशित ही रहे। उन्होंने दम्भ-सक्ति का विचार भी टिप्पणियों के रूप में किया था और वे टिप्पणियाँ अंग्रेजी में थीं। उनकी इस उपादेय सामग्री का यथोचित संयोजन उनके सुयोग्य सिध्यर्प विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'रस-मीमांसा' नामक पुस्तक के रूप में किया जिसमें सुबस जी की रसोन्मुखी काव्य-सम्बन्धी विचारधारा की सारी सामग्री आ सकी। कहा जा सकता है कि सुबस जी की सैद्धांतिक समीक्षा का प्रायः सम्पूर्ण विधान इस ग्रन्थ में आ गया है और इसके अध्ययन के पश्चात् यह जानने की कम प्रवृत्ति रहती है कि प्राचार्य का साहित्य के प्रतिमान के विषय में क्या दृष्टिकोण था और वे भारतीय तथा पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र को रस तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से कितना निकट ला सके थे। यह एक उत्सन्न की बात है कि उनके कुछ ध्येयार्थों ने उन्हें एक रुढ़िवादी और परम्परा-पुस्तक विधान में रसकर उनके स्वच्छन्द चिन्तक के रूप को धूमिल बना दिया है तो उनके कुछ प्रवक्तव्य उनकी सीमाओं और मर्यादाओं का विचार बिना ही उन्हें सर्वानुरूपता से घोट-घोट सिद्ध करते हैं। उभय पक्षों में अपने-अपने समर्थन की भाषा का ही प्रारम्भ विशेष है। अतः प्राज्ञ की बड़ी धाबक्यता यह थी है कि सुबस जी के साहित्यिक भुस्वांकन का निष्पन्न निर्याप किया जाय और हमारी प्रस्तुत मनेषणा का यह प्रयास है कि उन्होंने समालोचना को किस स्तर पर लाकर छोड़ दिया है उसे किस प्रकार प्रयत्तिमान और प्रीड़ बनाया जा सकता है।

शुमल जी की समालोचना का यावहारिक क्षेत्र

(अ) 'गोस्वामी तुलसीदास और उसकी समीक्षा-शैली

७६. सुबस जी ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक समीक्षा-ग्रन्थ में विद्युत् सावधानतात्मक दृष्टि से गोस्वामी जी के काव्य-विषयों से सम्बन्धित जिन प्रश्नों का व्याख्यात्मक प्रणाली से विवेचन किया है, वे उनकी व्यावहारिक समीक्षा के उच्च अद्यतन के प्रतीक हैं। उक्त पुस्तक के प्रथम संस्करण में गोस्वामी जी का जीवन-वृत्तांत भी सम्मिलित था किन्तु संशोधित संस्करण (पन मही सन् १९९१) में उसे स्थान नहीं दिया गया है, जिसका कारण यह है कि सुबस जी की मुख्य प्रवृत्ति गोस्वामी जी के साहित्य-मूल-विवेचन की ओर ही अधिक थी। यद्यपि सुबस जी ने अपनी बासीगदा और विद्वत्जन-मुलज विमर्श-सावनाबध अपनी इस समीक्षा-कृति को 'गोस्वामी जी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं के प्रवर्धन का लघु प्रयत्न मात्र'^२ कहा है, किन्तु उसमें विवेचित गोस्वामी जी की सकृतिपद्धति 'प्रकृति और स्वभाव' 'लोक-धर्म' 'वर्म और बासीगदा का समन्वय' 'संगभाषा' 'लोकनीति और मर्यादावाद' 'श्रीम-साधना और भक्ति' 'ज्ञान और भक्ति' 'तुलसी की काव्य-महति' 'तुलसी की भावुकता' 'कील-निरुद्ध और चरित्र विचार' 'बाह्य इत्य-विषय' 'अलंकार-विधान' 'उक्ति-वैविध्य' 'भाषा पर अधिकार' 'कुछ बटफने वाली बातें' तथा 'हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान' विषयों पर जो गम्भीर और तार्किक विस्लेषण हुआ है, वह हमारे समालोचना साहित्य का पौरव है। इस विवेचन में सुबस जी ने दास्त्रीयता व्याख्यात्मकता तुलनात्मकता निर्यातमकता और प्रमाणाधिक्यकता आदि विभिन्न शैलियों के नाम से परिपरित होने वाली समीक्षा-पद्धतियों का यथोचित संयोजन और समन्वय करने की प्रवृत्तनीय दिष्टा की है। तुलसी की सकृति-पद्धति के विस्लेषण में उन्होंने ऐतिहासिक प्रणाली का अनुसरण कर देश की उत्काशीन

१. वे निरुद्धप्रकाश मिश्र : 'रस-मीमांसा' प्रकाशक पृष्ठ ४।

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल गोस्वामी तुलसीदास, संशोधित संस्करण का कवच।

राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के मध्य होने वाले भक्ति के विकास को उसकी पूर्व-परम्परा का अनुसन्धानपूर्ण विवेचन कर स्पष्ट किया है और बताया है कि विभुत भारतीय दृष्टि से भक्ति का क्या स्वरूप है और गोस्वामी जी की काव्य-कृतियों में उनका किस रूप में निर्वाह हुआ है। मुक्त जी के इस विवेचन से उनके छात्रापीठ प्रभार्यन और मौलिक विद्वान का भी सहज ही आभास हो जाता है। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी समुदाय भक्ति की ओर विशेष ध्यानपूर्वक भी और वे निरुपेक्ष भक्ति-परम्परा में अपने मानविक उद्देश्य के उपरान्त बहुत कम ध्यान देते थे। गोस्वामी जी के भक्ति विषयक विश्लेषण को पूर्ण बनाने के लिए हमोंने निरुपेक्ष भक्तों और सुक्तियों की साधना-प्रवृत्तियों का भी व्यापक विवेचन किया है। उनके मतानुसार 'भक्ति रासात्मिका दृष्टि है हृदय का एक भाग है। प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुण समूह पर टिक सकता है जो हमें हरष जगत् की ओर आकर्षित करता है।'^१

गोस्वामी जी के साहित्य-विश्लेषण के विविध पक्ष

७७ मुक्त जी ने गोस्वामी जी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि और बहिर्दृष्टि के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें प्राधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रवर्तन तथा उपवेदन का भले ही वास्तविकता न हो, किन्तु उनके द्वारा कवि की प्रकृति और काव्य-निर्माण के अन्तर्दृष्टि युक्त का उद्घाटन प्रयत्न आश्चर्य से उपलब्ध होता है। इसी विवेचन में उन्होंने उन भावित्यों का भी निराकरण करते का प्रयत्न किया है जो गोस्वामी जी की अन्तः प्रकृति का सम्यक विचार किये बिना साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित हो गई हैं। पुस्तक की लोक-धर्म विषयक विवेचन तो अत्यन्त ही प्रीति और आत्म-सम्मत है। उन्होंने कर्म ज्ञान और उपासना को लोक-धर्म के प्रमुख अवयव निर्धारित कर^२ इस विषय का ऐतिहासिक अनुसन्धान किया है कि भारतीय जीवन परम्परा में उनके अनुमित और समर्थित विकास का किस रूप में विधान रहा है और गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में उनका किस प्रकार निर्वाह किया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि गोस्वामीजी ने 'भक्ति और प्रेम के पुष्पाक्षरों द्वारा धर्म को रासात्मिकता के साथ सम्मिश्रित करके एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्ममार्ग से कष्ट और पाप न जान पड़े और सोय मानस तथा उत्साह के साथ उसकी ओर स्वतः प्रवृत्त हो'।^३ बल्लुत उन्हें गोस्वामी जी की रचनाओं में धर्म और आध्यात्म का ऐसा सुन्दर सम्मेलन मिला है जिसके कारण संगतापी की उपलब्धि और लोकगीत तथा मयशाबाद की पुष्टि हुई है। हमोंने इसी विवेचन में उन दोनों का पण्डित किया है जो 'विद्यान्त और धर्मशास्त्र में वेद तत्त्वमन्त्र के कारण गोस्वामी जी की रचितियों की लेकर उनमें परस्पर विरोध पादि दिखाया करते हैं'। सच तो यह है कि मुक्त जी को गोस्वामी जी के काव्य में सील साधना और भक्ति का ऐसा अपूर्व सामंजस्य प्रदर्शित हुआ है जिसके द्वारा उन्होंने पीछे रहित और लोकधर्म के लोकमनकारी स्वरूप की नम्य प्रतिष्ठा की है। मुक्त जी का ज्ञान और भक्ति विषयक विवेचन भी समन्वयपूर्ण है। उनका यह दावा विरमण्डल इतना अधिक ठारतमपूर्ण है कि उसमें कहीं पर भी असम्पत्ता नहीं पा सकी है और विद्वान् समासोपना ने गोस्वामी जी को विभुत भक्ति-मार्गी सिद्ध किया है 'जिनकी वाणी में भक्ति के बूँद रहस्यों को ईदना ही अधिक फलदायक होना ज्ञान मार्ग के विद्वानों का ईदना नहीं।'^४ चाये

१. पृ. १५५-५६ : 'गोस्वामी मुक्तजीराय संश्लिष्ट संस्करण दृष्ट है।

२. पृ. १५६-५७।

३. पृ. १५६-५७।

४. पृ. १५६-५७।

५. पृ. १५६-५७।

बसकर सुन ली है काव्य के अनुकूल या प्रकृत (इमीटेडिव धीर रियसीस्टिक) तथा प्रतिरक्षित या प्रवीण (एम्बारेडेडिव धीर सीरिकल) नामक दो स्वल्प निर्धारित कर प्रथम रूप में कवि की मातृकता की सबसे मूलक भावी है^१ धीर सही के आधार पर मोस्वामीजी की काव्य-प्रवृत्ति का विवेचन किया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सुन ली अपनी मान्यताओं के प्रति कितने दृढ़ थे धीर उन्हें वहाँ अपने मनोनुकूल विचारों धीर भावभावों का प्रभाव मिला था वहाँ वे उसका विरोध करने के लिए कितने अधिक तीव्र हो जाते थे। वास्तव में सुन ली को मोस्वामी जी के काव्य में उच्च कोटि की मातृकता मिली है, जिसका परीक्षण उन्होंने अपने इस सिद्धान्त पर किया है कि प्रबन्धकार कवि की मातृकता का सब से अधिक पता यह देखने से लग सकता है कि वह किसी वाक्यान्त के अधिक समस्यवासी स्वरों का पहिचान सका है या नहीं।^२

रससिद्ध समालोचना और निरुपात्मक प्रवृत्ति

७८. सुस्वजी की व्यावहारिक समालोचनाओं में रससिद्ध समालोचक की मातृकता का भी समावेश है, किन्तु वे कहीं पर भी उसके प्रवाह में ऐसे नहीं बह गए हैं कि उनकी धृष्टी में 'बाह्यवादी' प्रवृत्ति महसूसी तब या वही हो धीर उनका समालोचक-व्यक्तित्व कुटिल हो गया हो। जो लोग प्रभावविशेषकता को समालोचना का प्रधान बुद्धि मानते हैं उन्हें उसका घापीन स्वल्प सुन ली द्वारा लिखे गए 'सुन ली की मातृकता' कीर्णक विवेचन में मिलेगा। न जाने सुस्वजी कितनी बार इस विवेचन में घापीन से हो गए हैं। उन्होंने मोस्वामीजी की मातृकता का स्पष्टीकरण करने के लिए 'राम का घोषा-राम' धीर 'अधिक के रूप में वन-वन' 'विषय में वरुध धीर राम का प्रितन' 'रावरी का घातिव्य' 'अस्मत् को अस्ति अपने पर राम का विज्ञाप' तथा 'वरुध की प्रवीणा' धारि प्रमुख स्थल चुने हैं धीर उन पर उन्होंने मोस्वामी जी की मातृकता का रंग बढ़ा कर अपनी मानसिक धर्मस्थिति व्यक्त की है। इसी विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने मोस्वामीजी द्वारा किए गए सम्बोधन धीर व्यापार-वोधन का भी विश्लेषण किया है धीर इस दृष्टि से भी उन्हें महान् कवि सिद्ध किया है। धीर-निरुपात्मक धीर परिष्कृत-विषय की दृष्टि से तो मोस्वामी जी उन्हें हिन्दी के अष्टादश कवि प्रवीण हुए हैं। उन्होंने 'मानस' के विविध पात्रों को लेकर अपने कथन की गति की है धीर बतमाना है कि उनके विश्लेषण में मोस्वामी जी ने कितने व्यापक ढंग में अपनी जीवन-अनुभूति का सफलतापूर्वक संचार किया है। सुन ली के ये सारे विवेचन मोस्वामी जी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का धर्मव्यञ्जन करने वाले हैं। इसके परिणामतः उन्हें बाह्य हस्त विषय के रूप में मोस्वामी जी द्वारा वर्णित प्रकृति विषय का विश्लेषण भी अवश्य सजीव धीर प्राकृतिक लगा है क्योंकि उसमें केवल वस्तु-नाम परिवर्तन की प्रवृत्ति न होकर हस्त का मूर्त-विधान करने का प्रमुख प्रभाव है। इसी प्रकार सुस्वजी ने 'मात्रों का उत्कर्ष दिखाने धीर वस्तुओं के कम गुण धीर किया वा अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति भी प्रयोज्य है'^३ कहकर इसी दृष्टि से मोस्वामी जी का प्रत्यक्ष विधान स्पष्ट किया है। जिस उक्ति-वैधर्म्य को कुछ विद्वान् काव्य का सर्वत्र माल कर उसकी विवेचना करते हैं, उसका संयमित स्वल्प विवेचित कर सुन ली ने मोस्वामी जी में उसका भी प्रभाव पाया है। इसी प्रकार उन्होंने मोस्वामी जी का भाषा पर प्रभावधारा अधिकार सिद्ध कर उनके काव्य में ऐतिहासिक दृष्टि की स्पष्टता अति सम्प्रदाय वालों की दृष्टि की कुछ भक्तमाली कथाओं पर उनकी भावना मान-प्रदान को राम-प्रदान से बढ़ा कहने की प्रवृत्ति बोझों धीर सबैयों में मात्रा-वोध तथा अंग धीर राग अंग में राजसभा के गौरव तथा सम्पत्ता का प्रभाव धारि कुछ

१ ८० एम्बरेडेडिव, गो सुन ली, संशोधित संस्करण, १९६३ ई. पृष्ठ ७३।

२ धीर, पृष्ठ ८८।

३ धीर, पृष्ठ १६१।

राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के मध्य होने वाले भक्ति के विकास को उसकी पूर्व-परम्परा का अनुसंधानपूर्ण विवेचन कर स्पष्ट किया है और बतलाया है कि विमुक्त भारतीय दृष्टि से भक्ति का क्या स्वरूप है। और गोस्वामी जी की काव्य-कृतियों में उनका किस रूप में निर्वाह हुआ है। मुक्त जी के इस विवेचन से उनके छात्रापीठ अध्ययन और मौलिक विम्वन का भी सहज ही धामास हो जाता है। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी सगुण भक्ति की ओर विशेष अभिरुचि की ओर के निर्मुख भक्ति-परम्परा में अपने मानसिक उत्साह के उपरान्त बहुत कम सामग्री पाठे थे। गोस्वामी जी के भक्ति विषयक विश्लेषण को पूर्ण बनाने के लिए उन्होंने निर्मुख भक्तों और सूक्तियों की सामना-पद्धतियों का भी यथाप्रसंग विवेचन किया है। उनके महा मुधार 'भक्ति रागात्मिका कृति है हृदय का एक भाव है। प्रेमभाव उसी स्वरूप और उसी गुण समूह पर टिक सकता है जो हमें हृदय अलग की ओर आकर्षित करता है।'^१

गोस्वामी जी के साहित्य विश्लेषण के विविध पक्ष

७७ मुक्त जी ने गोस्वामी जी की प्रकृति और स्वभाव के सम्बन्ध में आत्मसंस्मि और बहिर्सांस्म के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें प्राथमिक मनोविश्लेषण-शास्त्र के पक्षधरता तथा उपधरता का भले ही अध्य-विधान न हो, किन्तु उनके द्वारा कवि की प्रकृति और काव्य-निर्माण के अन्तर्गत सूत्र का उद्घाटन अत्यन्त प्रोत्साहक से उपसम्पन्न होता है। इसी विवेचन में उन्होंने उन भावितियों का भी निराकरण करने का प्रयत्न किया है जो गोस्वामी जी की काव्य-प्रकृति का सम्यक् विचार किये बिना साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित हो गई हैं। मुक्त जी का मोक्ष-धर्म विषयक विवेचन तो अत्यन्त ही ग्रीह्य और सास्त्र-सम्मत है। उन्होंने कर्म-ज्ञान और उपासना की लोक-धर्म के प्रमुख अवयव निर्धारित कर^२ इस विषय का ऐतिहासिक अनुसंधान किया है कि भारतीय जीवन-परम्परा में उनके समुचित और समर्पित विकास का किस रूप में विधान रहा है और गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में उनका किस प्रकार निर्वाह किया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि गोस्वामीजी ने 'भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिकता के साथ सम्मिश्रित करके एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से बमबाग में कष्ट और धान्ति न जान पड़े और सोम आनन्द तथा उत्साह के साथ उसकी ओर स्वयं प्रवृत्त हो'।^३ वस्तुतः उन्हें गोस्वामी जी की रचनाओं में धर्म और वादीयता का ऐसा सुन्दर सम्मेलन मिला है जिसके कारण संवत्साया की उपसम्पन्न और लोकगीति तथा मर्यादावाद की पुष्टि हुई है। उन्होंने इसी विवेचन में उन दोनों का उल्लेख किया है जो 'विद्वान्त और धर्मवाद में भेद न समझने के कारण गोस्वामी जी की रचितियों को लेकर उनमें परस्पर विरोध धारि दिखाया करते हैं'।^४ जब तो यह है कि मुक्त जी को गोस्वामी जी के काव्य में धीम-साधना और भक्ति का ऐसा अग्र्य सामन्तत्व प्रदर्शित हुआ है जिसके द्वारा उन्होंने हीन धर्म और सोन्य के लोकमर्मकारि स्वरूप की नम्य प्रतिष्ठा की है। मुक्त जी का ध्यान और भक्ति विषयक विवेचन भी अत्यन्तपूर्ण है। उनका यह धारा विरलेपण इतना अधिक आरतम्पूर्ण है कि उसमें कहीं पर भी अस्पष्टता नहीं पा सकी है और विद्वान् समालोचक ने गोस्वामी जी को विमुक्त भक्ति-मार्गी सिद्ध किया है 'जिनकी बाणी में भक्ति के मूढ़ रहस्यों को दूँडना ही अधिक फलदायक होता जान मार्ग के विद्वान्तों का दूँडना नहीं।'^५ धाने

१. ई. एम्. ए. गान : 'गोस्वामी जी-गीता' संशोधित संस्करण पृष्ठ ६।

२. श्री, पृष्ठ १३।

३. श्री, पृष्ठ १६।

४. श्री, पृष्ठ २७।

५. श्री, पृष्ठ ७४।

बसकर युक्त जी ने काव्य के घनद्वय या प्रकृत (इमीटेडिब और रियलीस्टिक) तथा प्रतिरंजित या प्रवीण (एम्बारेडेडिब और लीरिकल) नामक दो स्वल्प निर्धारित कर प्रथम रूप में कवि की भावुकता की सच्ची प्रकृत मानी है^१ और उसी के आधार पर पोस्वामीजी की काव्य-प्रकृति का विवेचन किया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि युक्त जी अपनी मायमाधों के प्रति कितने दृढ़ थे और उन्हें जहाँ अपने भगवानुक्त विचारों और भावधारणों का प्रभाव मिश्रता वा वहाँ ने उसका विरोध करने के लिए कितने अधिक तीव्र हो जाते थे। वास्तव में युक्त जी को पोस्वामी जी के काव्य में उच्च कोटि की भावुकता मिली है, जिसका परीक्षण उन्होंने अपने इस सिद्धान्त पर किया है कि 'प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से लगा सकता है कि वह किसी भावधान के अधिक मनस्वनी स्पर्शों को पहिचान सका है या नहीं।'^२

रससिद्ध समासोचना और निरुपात्मक प्रवृत्ति

७८. युक्तजी की व्यावहारिक समासोचनाओं में रससिद्ध समासोचक की भावुकता का भी समावेश है, किन्तु वे कहीं पर भी उसके प्रवाह में ऐसे नहीं बह गए हैं कि उनकी धृति में 'बाह्यवाही' अपना बहुमूल्य ठाँव या पई हो और उनका समासोचक-व्यक्तिगत कृति हो गया हो। जो लोभ प्रनाभाविव्यंजकता को समासोचना का प्रधान गुण मानते हैं उन्हें उसका वाचीन स्वल्प युक्त जी द्वारा लिखे गए 'युक्तजी की भावुकता' शीर्षक विवेचन में लिखा है। वे जानते थे कि युक्त जी कितनी बार इस विवेचन में आत्मलीन हो गए हैं। उन्होंने पोस्वामीजी की भावुकता का स्वीकरण करने के लिए 'राम का प्रयोजना-स्थाय' और 'पथिक के रूप में बल-गमन' 'विश्रपट में भरत और राम का मिश्रण' 'द्वंद्वी का प्रातिभ्य' 'भक्त्यण का कथित समय पर राम का विलाप' तथा 'भरत की प्रवीणा' आदि प्रमुख स्वल्प पुनः हैं और उन पर उन्होंने पोस्वामीजी की भावुकता का रंग बढ़ा कर अपनी मानसिक अभिव्यक्ति व्यक्त की है। इसी विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने पोस्वामीजी द्वारा किए गए स्वल्प-सोचन और व्यापार-सोचन का भी विस्लेषण किया है और इस दृष्टि से भी उन्हें महान् कवि सिद्ध किया है। शीन-निरुक्त और चरित्र-विश्रपट की दृष्टि से तो पोस्वामीजी उन्हें हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि प्रवीण हुए हैं। उन्होंने 'मागस' के विविध पात्रों को लेकर अपने कथन की पुष्टि की है और बतलाया है कि उनके विस्लेषण में पोस्वामीजी ने कितने व्यापक धर्म में अपनी जीवन-अनुभूति का सञ्चलतापूर्वक प्रकाश किया है। युक्त जी के ये सारे विवेचन पोस्वामीजी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का अभिव्यंजन करने वाले हैं। इसके प्रतिरिक्त उन्हें बाह्य रूप विचल के रूप में पोस्वामीजी द्वारा वर्णित प्रकृति चित्रण का विम्व-विधान भी अत्यंत सजीव और आकर्षक लगा है क्योंकि उसने केवल वस्तु-नाम परिवर्तन की श्रुती न होकर इसका मूर्त-विधान करने का प्रमुख प्रयास है। इसी प्रकार युक्तजी ने बावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप भूषण और जिया या अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति भी प्रयुक्त की है^३ कहकर इसी दृष्टि से पोस्वामीजी का प्रसन्न-विधान स्पष्ट किया है। जिस उचित-वैधिय को कुछ विद्वान् काव्य का सर्वस्व मान कर उसकी विवेचना करते हैं उसका संश्लिष्ट स्वल्प विवेचित कर युक्त जी ने पोस्वामीजी में उसका भी प्रभाव पाया है। इसी प्रकार उन्होंने पोस्वामीजी का भाषा पर प्रभावपूर्ण प्रतिकार सिद्ध कर उनके काव्य में ऐतिहासिक दृष्टि की गहनता जितन सम्प्रदाय बावों की हजर की कुछ महत्त्वमयी कथाओं पर उनकी आस्था नाम प्रदान की राम-प्रताप से बड़ा कहने की प्रवृत्ति रोहों और सर्वेषों में माना-सोप तथा अथर्व और रावण संवाद में रामसभा के गौरव तथा सम्मता का प्रमाण आदि कुछ

१ ५० एकत्र युक्त जी काव्य-प्रकृत, संश्लिष्ट संस्करण १९११ ई. पृष्ठ ७२।

२. अ. १५ पृष्ठ ८८।

३. अ. १५ पृष्ठ १९१।

बट करने वाली बातें' भी बतलाई हैं किन्तु उनके द्वारा योस्वामी जी की प्रभाव रत्न-राशि में उन्हें कोई स्थान नहीं मिलती जिससे उनके योग में कमी घटी हो। अपने व्यापक विस्लेषण और गम्भीर चिन्तन के बल पर ही सुक्ल जी ने अन्त में हिन्दी साहित्य में योस्वामी जी का स्थान निर्धारित करते हुए यह निर्णय लिया है 'यदि कोई पूछे कि जगता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भाण्ड-हृदय भारती-कंठ मन्त्र-पूजामणि योस्वामी तुलसीदास।'^१

(घा) 'जायसी-प्रभावसी' की भूमिका और उसकी समीक्षा-पद्धति

७६ सुक्ल जी की व्यावहारिक समालोचनाओं में 'जायसी-प्रभावसी' की भूमिका का भी अत्यन्त महिमायुक्त स्थान है। इसका प्रथम संस्करण कृष्ण-जन्माष्टमी सन् १९८१ में उस समय प्रकाशित हुआ जब हिन्दी-समालोचना में इस प्रकार की विस्तृत और गम्भीर समीक्षाएँ मिलने के बहुत कम प्रयत्न हुए थे। सुक्ल जी ने प्राचीन उपलब्ध प्रतियों के आधार पर जायसीक लिपिखिनी तैय्य हुए उसके मूल पाठ का सम्पादन तो किया ही है, किन्तु उसके प्रारम्भ में भूमिका के रूप में जो विस्तृत समालोचना बोझी है उससे न केवल जायसी का काव्य-चरित्र ही साहित्य जगत के सम्मुख प्रकट हो सका है अपितु उसके द्वारा प्रेमपाथा की परम्परा और सूफी काव्य की विभिन्न विशेषताओं का भी सम्यक् उद्घाटन हो गया है। अन्त समीक्षा-कृतियों की भाँति इस समालोचना में भी सुक्ल जी अत्यन्त संतुष्टि और सुनम्न हुए हैं। प्रारम्भ में जायसी की प्रवृत्तियों के पूर्व हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कर सुक्ल जी ने एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर ली है जिसके आधार पर उन्हें जायसी का सांस्कृतिक मूल्यांकन करने में अधिक सुविधा रही है। उनके मतानुसार जैसे तो और भी आधुनिक मुसलमान 'प्रेम की पीढ़' की कल्पना लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे किन्तु जायसी का महत्त्व समझें इसलिए विशेष है कि 'कबीर ने केवल भिन्न प्रवृत्ति होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास प्रदर्शित किया किन्तु प्रत्यक्ष जीवन की एकता का हृदय सामने रखने की जो आवश्यकता मनी हुई थी वह जायसी द्वारा पूरी हुई।'^२

८ सुक्ल जी ने प्रेमपाथा की परम्परा का विकास लोक-जीवन के साथ संयोजित कर उसकी कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है और अनुपराध प्राप्त सूत्रों के आधार पर जायसी का जीवन-वृत्त भी प्रस्तुत किया है। 'पद्यावत की कथा' तो केवल कहानी का सारांश उपस्थित करने के लिए लिखी गई है जिसके बीच-बीच में उसके ऐतिहासिक सूत्रों का अन्वेषण करने का भी प्रयत्न है। वस्तुतः उनकी समालोचना का व्यवस्थित पथ तब से आरम्भ होता है, जब वे पद्यावत की प्रेम-पद्धति का निरूपण करते के पूर्व कवियों द्वारा वर्णित साम्प्रदायिक प्रेम के प्राथमिक की विभिन्न प्रणालियों का विवेचन करने के लिए उद्यत हुए हैं। सुक्ल जी ने पद्यावत को उस प्रणाली के अन्तर्गत माना है जिसमें 'पुरुष-अवस्था विन-वर्धन स्वप्न-वर्धन आदि से बँटे-बिठाए प्रेम उत्पन्न होता है और नायक या नायिका को वह संयोग के लिए प्रयत्नवान करता है।'^३ उनके मतानुसार जायसी शृंगार के विषय में मानसिक पक्ष को प्रधानता तथा धार्मिक पक्ष को पीछे छोड़ कर उस प्रेम-पद्धति में विशेषता भी ला सके हैं।^४ वे जायसी के प्रेम-विषय में केवल इसके के साक्षात् बाली मसनवी

१. ५ रामकृष्ण सुक्ल योस्वामी तुलसीदास, संयोजित संस्करण सन् १९९२, पृष्ठ १८८-८९।

२. यही पृष्ठ १९१।

३. ६ रामकृष्ण सुक्ल : अन्तर्गत प्रभावसी भूमिका प्रथम संस्करण सं. २ "सि. १।

४. यही, पृष्ठ ४२।

५. यही, पृष्ठ ९८।

६. यही, पृष्ठ ९८।

पठति ही नहीं पाठे अपितु उन्हें उसमें भारतीय जीवन के लोकोपलब्ध का भी दर्शन हुआ है।^१ बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता' यह कह कर शुक्ल जी ने पहले से ही रहस्यवाद के प्रत्यर्पण बणित की जाने वाली प्रज्ञा के प्रति साक्ष्य का चयन करने के लिए एक प्रकार से भूमिका-सी प्रस्तुत कर ली है। उन्होंने जायसी के संन्यास-भ्रमर और विप्रसम्भ भ्रमर का सांख्यीय तथा मनोवैज्ञानिक प्रणाली में विवेचन किया है और बताया है कि जायसी ने वर्णन में अभ्युक्ति होने पर भी किस प्रकार शास्त्रीय पद्य बना रहा सका है और वे विहारी साहिब कवियों की भाँति केवल अद्वैतवादी चमत्कार के ढेर में क्यों नहीं पड़े हैं। अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए शुक्ल जी ने 'धार्मिक या मूल्यवादी सूचित करने के लिए अद्वैतवादी या वस्तु-व्यवहारवादी सीरी का कवियों में पाए जाने वाले विधान' का भी विवेचन किया है।^२ और जायसी में पाए जाने वाले अद्वैत के लक्ष्य स्वयं की प्रशंसा की है जिसकी आधारभूत वस्तु का स्वयं तो सत्य होता है किन्तु जिसमें उसके हेतु की कल्पना कर ली जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी के काव्य-समीक्षण प्रतिमान में इस प्रकार की व्याख्या का भी विशेष महत्त्व था और वे सभी कवियों का काव्य-समीक्षण करते समय इस बात स्वयं का प्रामाण्य सर्वत्र प्रयोग किया करते थे। उन्होंने अपने कथन की पुष्टि के लिए विवेचन के प्रसंग के प्रत्यर्पण जायसी के अनेक काव्यांशों के व्याख्या-पुरस्सर उद्धरण लेकर उनका चोखन स्पष्ट किया है। उन्होंने जायसी के विप्लव-वर्णन में प्रयुक्त बाह्यमात्रा को 'धार्मिक मासुकी' का निर्वन्धन प्रभाव न मानकर हिन्दू दृष्टि की विप्लव वाली मानी है जिसका सांख्यिक मर्माह्वान मासुकी परम मनोहर है।^३ इसी प्रकार शुक्ल जी ने संन्यास-भ्रमर के विस्लेषण में पद-कृत-वर्णन का विवेचन उसके उद्दीपन स्वयं के प्रत्यर्पण किया है और पद्यावत में उसकी स्वयं-संपत्ति सिद्ध की है।

जायसी की समीक्षा के मुख्य उपादान और उनका विवेचन

२१ जायसी की समीक्षा में शुक्ल जी ने पद्यावत में प्रयुक्त 'ईश्वरोन्मुख प्रेम' की विशेषता बताते हुए लिखा है कि एक प्रबन्ध के भीतर श्रुत भाव के स्वयं का ऐसा उत्कर्ष को पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर आकाशवादी लोक में जाता दिखाई पड़े जायसी का सत्य है।^४ उनका एतद्-विषयक उत्तरवर्ती विवेचन केवल इस कथन की पुष्टि के लिए हुआ है और उन्होंने अंग्रेजी के कवि बर्ट्रैंड रसेल तथा अन्य भारतीय आध्यात्मिकारों द्वारा सूचित प्रणालियों का तुलनात्मक विस्लेषण कर जायसी के मनोवैज्ञानिक प्रेम-तत्त्व की बड़ी प्रशंसा की है।^५ कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्ल जी ने पद्यावत में प्रयुक्त भावों के मनोवाक्यों का विस्लेषण जिस सूक्ष्म बुद्धि और सरस भावुकता से संवर्धित होकर किया है वह वस्तुतः पठनीय है। इसी प्रकार किसी भी चोखे महाकाव्य के लिए प्रावस्थिक प्रबन्ध-कल्पना और सम्बन्ध-निर्वाह के लिए भी उन्होंने अपना एक निश्चय प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार किसी भी चोखे प्रबन्ध-काव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण हृदय-विधान करने के लिए उसमें 'वैद्यार्थी की सम्पन्न भुविशा और स्वाभाविक क्रम के छिन्न-छिन्न निर्वाह के तात्पराप हृदय को स्पर्श करने वाले लगे लागे भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रबंधों का समन्वय रहना चाहिए।^६ उन्होंने प्रबन्ध-कल्पना के सम्बन्ध-निर्वाह के लिए भी यात्रा का धारण प्रयुक्त किया है।^७ सब तो यह है कि शुक्ल जी के मत से प्रबन्ध-कल्पना के सम्बन्ध-निर्वाह के लिए

१. स. एम. ए. ए. ए. जायसी काव्य-समीक्षा, पृष्ठ १००० पृ. १२।

२. पृ. १००० पृ. १२।

३. पृ. १००० पृ. १२।

४. पृ. १००० पृ. १२।

५. पृ. १००० पृ. १२।

६. पृ. १००० पृ. १२।

७. पृ. १००० पृ. १२।

प्राधिकारिक और प्राथमिक कक्षाओं की शैक्षणिकता और रसात्मकता के सम्बन्ध में एक ऐसा अन्तर्ग्रह रचना चाहिए जिससे इस विषय का स्पष्ट निष्कर्ष हो सके कि कवि द्वारा चरु-वर्तुला तथा पात्र द्वारा मान-सम्बन्धना में किस प्रकार का संयुग्म हो सका है और कथा-क्रम में किस प्रकार का प्रवाह पा सका है। अपने इसी प्रतिमान के आधार पर मुक्त जी ने 'पद्यावत' महाकाव्य का व्यापक रूप से परीक्षण किया है जो समालोचना के व्यावहारिक पक्ष का अत्यन्त भव्य निरर्घन है।

८२ मुक्त जी ने जायसी के पद्यावत की विवेचना में काव्य के बहिरंग पक्ष से सम्बन्धित अलंकार-विभाग का भी व्यापक विवेचन किया है। उनकी काव्य में अलंकार-विषयक क्या बारखा भी इसका विवेचन उनकी समालोचना के सैद्धांतिक पक्ष के अन्तर्गत किया ही जा चुका है, यद्यपि उनके पिछले पक्ष की हय यहाँ आवश्यकता नहीं समझते। यहाँ तो हमारे कथन का मूल समिप्राय इतना ही है कि मुक्त जी ने जायसी के काव्य में छात्र-सूक्त अलंकारों के अन्तर्गत परिचित होने वाले सप्ताह रूपक सन्देश के योरोपयोरों का विवेचन केवल भारतीय पद्यों पर ही नहीं किया है, अपितु उसे महीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी देखा है। उनके विवेचन में अतिप्रयोगित उद्बुद्ध अत्योक्ति अलंकार-व्यतिरेक, विरोध प्रवर्तनीक इत्यादि अतिप्रयोगों की विवेचना भी हुई है और वे जायसी के काव्य में इनकी सुविध-संपत्ति का राष्ट्रीय भाषाओं पर सुलभात्म भी कर सके हैं। जायसी ने इन अलंकारों के प्रयोग में यहाँ केवल अत्युत्पन्न चमत्कार ही प्रदर्शित किया है, यहाँ मुक्त जी को उनमें एक समशीलता नहीं मिली है और वे इस विवेचन में प्राचीन तथा समकालीन कवियों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत कर सके हैं। उन्होंने प्रथम-काव्य में स्वभाव-सम्बन्धना की विधियों का उल्लेख कर जायसी को इस क्षेत्र में अधिक उत्कृष्ट नहीं माना है, क्योंकि उनकी भावनी प्रकृति-विषय की ओर कदाचित् प्रवृत्ति ही नहीं थी। इस सम्बन्ध में मुक्त जी का मूल मंतव्य मोस्वामी जी की एतद्विषयक उत्कृष्टता का विचारण लेकर बड़ी ठिठ करना रहा है कि जायसी में बिना बिना परिस्थितियों की अलंकारिता का सूक्ष्म निरीक्षण बहुत कम है।^१

८३ मुक्त जी ने जायसी के मठ और विद्वान्त का विवेचन करने के पूर्व उन भाषा-सूत्रों का प्रथम विकास स्पष्ट किया है जिनका जायसी की आस्थाओं के निर्माण में हाथ रहा है। इस विवेचन में एक ओर भारतीय मठवाद तथा साधविक विचारवाच का विस्लेषण है तो दूसरी ओर वैगम्भीरी एकेसरवाच तथा सुषी भावनाओं का। मुक्त जी ने तत्प्रवाहिणी बुद्धि द्वारा दोनों प्रकार की मूल भावनाओं का अन्तर स्पष्ट करते हुए यह स्पष्ट करते की पूर्ण चेष्टा की है कि जायसी के मठ और विद्वान्त के निर्माण में इन साधनिक प्रपत्तियों का कितना पक्ष है। प्रसंगवत् उन्होंने पारचात्न दर्शन तथा कुछ प्रसिद्ध कवियों की काव्य-कृतियों का उल्लेख कर उनमें अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने की चेष्टा भी की है। इस सम्बन्ध में मुक्त जी ने ज्ञान, कर्म तथा उपासना के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष क्षेत्रों का निष्कर्ष कर रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रायः ये ही बातें कही हैं जो उनके 'इतिहास' काव्य में 'रहस्यवाद' तथा 'रस-नीयाता' के अन्तर्गत विकसित हैं। तब तो यह है कि मुक्त जी को इस विषय में इस विचारण है कि 'ज्ञानकोश' के निर्माण बड़ा को यदि उपासना-क्षेत्र में ने जायसी तो उसे सगुण करना ही पड़ेगा।^२ उन्होंने जायसी के ग्रन्थों से विभिन्न काव्यांशों का चयन कर यह भी स्पष्ट किया है कि उन पर भारतीय तथा सुषी भावना का किम किम स्तरों पर केला प्रभाव है। जो मूल काव्य में रहस्यवाद का निष्कर्ष करते हुए उनके अन्तर्गत उपनिषदों के मठवाद की स्वाभाविकता अनिवार्य समझते हैं उनके प्रति इस विवेचन में भी मुक्तजी के कठोर स्पष्ट है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'मठवाद' मूल में साधनिक विद्वान्त है, कवि अन्तरा या

१ ६० पृष्ठ-३ पृष्ठ जायसी संस्कृति की बुद्धि, संस्म संस्करण २ = १९४१

२ ६ पृष्ठ-३ पृष्ठ, जायसी संस्कृति की बुद्धि, संस्म संस्करण, १०००, १०१५।

जायगी का विचार नहीं।^१ इस निर्लुप्त द्वारा उन्होंने व्युत्पत्त्याव की भरीय प्रकृतियों के प्रति अपना विरोध प्रकट किया है जिसका विवेचन इनके 'काव्य में व्युत्पत्त्याव' विषयक विचारों के प्रसंग में किया जा चुका है।

जायसी के काव्य-समीक्षण के अन्धान्य ग्रंथ

४४ जायसी-ग्रन्थावली की सूचिका का अध्ययन करने से पता चलता है कि शुक्ल जी ने उसके प्रमुख प्रसंगों के साथ-साथ कुछ कम प्रसंगों की भी चर्चा की है। जैसे पद्यावत में वर्णित राज महिमा, इक्ष्म-महिमा तथा विजय इत्यादि। इस प्रकार के विवेचन का उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि शुक्ल जी जायसी की बहुलता का आभास देकर यह बतलाना चाहते थे कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने बहुसुत ज्ञान का किस प्रकार प्रयोग किया है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने पूर्ण प्रचलित काव्य-पद्धतियों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किस रूप में किया और उनसे किन किन स्थानों पर मुक्त भी हो गई। जैसे तो पंक्ति पद्यविह्वल चर्मा ने भी बिहारी की बहुलता सिद्ध करने के लिए अनेक विषयों के प्रति उनका ज्ञान प्रदर्शित किया था किन्तु उनके विवेचन में अक्षत-शून्य की भाषा ही प्रचलित थी। शुक्लजी ने ऐसा कहीं पर भी नहीं किया। जायसी की साहित्य विषयक प्रविष्टता पौष्पणिक कृत्यों और ऐतिहासिक घटनाओं की जानकारी धीमौलिक ज्ञान आदि के सम्बन्ध में शुक्लजी ने कहीं उनकी प्रशंसा की है वहाँ उनके एतद्विषयक ज्ञान की ओर भी संकेत किया है। यह सारा विवेचन इस बात का छोटा है कि शुक्ल जी अपनी सक्ति और प्रतिभा के अनुकूल सत्य का प्रकाशन करने में क्यावि नहीं हिचकिचाते थे और उन्हें समीक्षा-क्षेत्र में अपने और प्रमाण करने में उनकी यह प्रवृत्ति भी एक प्रमुख कारण थी।

४५ शुक्ल जी ने जायसी की भाषा के सम्बन्ध में भी विवेचन किया है वह भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। चूँकि जायसी ने अपनी काव्य-रचना अपनी भाषा में की थी अतः उन्होंने प्रारम्भ में अपनी भाषा की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का विवेचन सदा सर्वनाम विधेयस्य क्रिया विण बचन और अव्यय आदि व्याकरणांशों की दृष्टि से किया है और तदुपरान्त यह बतलाया है कि जायसी की भाषा में विद्युत्ता के प्रतिमान से इनका किस प्रकार परिपासन हुआ है। उनका यह विवेचन इस बात का निर्देशक है कि शुक्लजी न केवल काव्यात्मा के ही पारखी थे अपितु भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी अपना व्यापक अधिकार रखते थे। आनन्द शूर तथा तुलसी आदि कवियों के भाषा-विषयक बोध प्रवर्णों में जैसे ही विस्तार का स्वल्प अधिक मिले किन्तु उनमें शुक्लजी के एतद्विषयक विवेचन की ठोसता तथा समीचीनता का अभाव ही मिलेगा। इसी विवेचन में उन्होंने तुलसी की भाषा के साथ जायसी की भाषा की तुलना कर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए मानो प्रेरणा स्रोत प्रदान किया है। अंत में कहा जा सकता है कि प्रायः २६ पृष्ठों में जायसी के काव्य की विस्तृत समीक्षा कर शुक्ल जी ने सक्षिप्त समीक्षा के रूप में जायसी के उन गुणों और विशेषताओं का भी सार-तत्त्व प्रस्तुत कर दिया है जो उनके काव्यों में उपस्थित हैं।^२ अन्धान्य कवियों की समासोपनाओं की बांति इस समासोपना में भी उनकी निर्लुप्त प्रवृत्ति परिलक्षित हुई है और उन्होंने "प्रबन्ध के भीतर आई हुई मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न रसाओं के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य बिठा सके वही गुरु और सच्चा कवि है"^३ के सिद्धांत के आधार पर प्रबन्ध क्षेत्र में बोस्वामी जी को तो सर्वोच्च स्थान दिया ही है किन्तु अन्त में यह निर्लुप्त भी कर

१. ३० एमकर हास जायसी ग्रन्थकरी: भूमिका विषय संस्करण २ पृ. १२६।

२. वही, पृ. २६।

३. वही, पृ. २६।

दिया है कि आपसी का लेख तुमही की धोखा परिमित है पर प्रेम-लेखना उनकी प्रत्यक्ष गूढ़ है ।^१

(इ) 'अमरगोतसार' की भूमिका और सूर का काव्य-विश्लेषण

८१. मुक्त जी ने 'अमरगोतसार' की भूमिका के रूप में महाकवि सुरदास की विशेषताओं का ग्रन्थपण करने के लिए एक समासोचनात्मक मिश्रण सिद्धांत या सो उनकी व्यावहारिक समासोचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण घटक है । इस समीक्षा में भी मुक्त जी की बड़ी समीक्षा-प्रवृत्ति है जो तुमही तथा आपसीका काव्य-विश्लेषण करते समय प्रयुक्त हुई थी । इस विश्लेषण में भी मुक्त जी ने सर्व प्रथम ऐतिहासिक प्रणाली का अनुसरण कर सूर के पूर्ववर्ती तथा समकालीन वातावरण का एक सामान्य चित्र प्रस्तुत कर कृष्णोपासक वैष्णव कवियों की यह विशेषता बतसाई है कि उन्होंने 'मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और मानुषपूर्ण पक्ष को दिखाकर जीवन के प्रति अनुपम दृष्टांत या कम-से-कम जीने की चाह जगी रखने की ।'^२ ऐसा लिखते हुए मुक्त जी ने सूर काव्य के भाव-पक्ष का विश्लेषण करने के लिए एक सूक्ष्म-भूमि प्रस्तुत कर ली है, क्योंकि इसके अनन्तर ही वे वास्तविक तथा जीवन काम की मनोहारिता के प्रति अपना सहज मार्गदर्शक दृष्ट कर अपना यह निर्णय है उनके हैं कि 'वास्तव्य और श्रृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उच्चाटन सूर ने अपनी रंग रसों से किया सतना किसी और कवि ने नहीं । इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे भ्रष्ट माने । उक्त दोनों रसों के प्रबल रसिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और रसार्थों का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सक उतनी का और कोई नहीं । हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसप्रबल बहि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया वो सूर ने ।'^३

८२. कहा जा सकता है कि मुक्त जी का सूर के सम्बन्ध में यह निर्णय उनकी सूर विषयक समासोचना का मुभाधार है और साथ-साथ यह उन्होंने विविध तर्कों और उदाहरणों द्वारा इसी निर्णय का एक प्रकार से भाष्य किया है । इस विश्लेषण के बीच उन्होंने पण्डित रूप से उन कवियों के काव्य के प्रति भी व्यंग्य किया है जो केवल 'विभावै हुए संसारियों' के अन्तर्गत ही काव्य-मार्ग का प्रवाह मानते थे तथा जिन्हें उनकी व्यापक भाव-मार्ग के प्रति भावना नहीं थी । मुक्त जी का यह समीक्षण अत्यंत मार्गप्रणाली और विचारपूर्ण दोनों है । विशेष-तः उनके हाथ से कहीं पर भी नहीं छूटी है जिससे प्रभाव वाली समासोचना के एकान्वी दृष्टिकोण का विधान उन्हें नहीं हो सका है । मुक्त जी ने अपने विश्लेषण को धारणीय बनाने की भावना से भाव-पक्ष और विचार-पक्ष के अन्तर्गत माने वाली वस्तुओं के स्वभावों का विश्लेषण कर यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि सूर के काव्य में उनका किन कवियों में और किस स्तर पर निर्वाह हुआ है । इस विश्लेषण में वे यह भी स्पष्ट कर सके हैं कि किन-किन कारणों से सूर ने अपने काव्य के लिए परिमित क्षेत्र चुना और उस में भी वे किस प्रकार का अद्वितीय कौशल प्रदर्शित कर सके । कहने की आवश्यकता नहीं कि मुक्त जी के इस विश्लेषण में व्याख्यात्मक प्रणाली का पूर्वाप्य संयोजन है जिसके हाथ वे सूर काव्य के बर्ण विषय तथा उसकी परिमितता का विश्लेषण और अधिक साक्षिण्या से कर सके हैं । इस विश्लेषण के अन्तर्गत उनका व्यापक अपने मानस त्रिय महाकवि तुमहीदास की व्यापकता की ओर बचकर बना रहा है, जिसका काव्य मुक्त जी के साहित्य-प्रतिपालन का मुभाधार था ।

सूर-काव्य की विशेषताएँ तथा उनका मिश्रण

८३. मुक्त जी ने सूर की रचनाओं की सामान्य दृष्टि से बरीया करने के पश्चात् उनकी

१. १ रामकृष्ण मुक्तः आपसी-ग्रन्थपत्रिका भूमिका बंका संस्करण, पृष्ठ ११

२. २ रामकृष्ण मुक्तः, अमरगोतसार की भूमिका बंका संस्करण, पृष्ठ १

३. ३ पृष्ठ १०१

का भी विवेचन किया है और सूर की सहृदयता तथा भावुकता के साथ-साथ उनकी चतुरता और भाविकता का भी विवेचन किया है। अपने विवेचन की पुष्टि के लिए उन्होंने 'मूरसावर' से ऐसे घनेक रत्न छीप निकाले हैं जो सूर-काव्य के प्राण और भावुकता के लिए सर्वस्व हैं। अन्त में उन्होंने सूर-काव्य के सम्बन्ध में अपना मत भी स्पष्ट किया है और उपासना-पद्धति की दृष्टि से उनकी तुलसी के साथ तुलना कर उन प्रसंगों का भी विवेचन किया है जो सूर तथा तुलसी के सम्बन्ध में भ्रातृ धारणाओं के कारण बने हुए थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस विवेचन में भी सुस्तजी का ध्यान फिर एक बार सूर के काव्य-सौन्दर्य को छोड़ कर तुलसी की ओर जाता गया है और तुलसी के प्रति भक्त बना हुआ उनका मन "सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की घनेका प्रतिक है"^१ कहने से भी नहीं झुकाया है। तदनन्तर सूर काव्य के संगीत की प्रशंसा कर सुस्तजी ने सूर के अमर भीत के विभिन्न पक्षों का सौन्दर्य विवेचित किया है। सारांश यह कि सुस्तजी का यह विवेचन उनकी व्यावहारिक समीक्षा का अत्यन्त भव्य स्वरूप है और हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि सुस्तजी ने एक ओर वहाँ काव्य के छद्मान्तिक पक्ष का विवेचन कर अपनी सम्प्रदाहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया था वहीं दूसरी ओर वे अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं द्वारा भी समासोपना का प्रतिमान बहुत उच्च और व्यापक बना सके थे।

शुक्ल युग के प्रमुख समालोचक

१ डा० गुलाबराय

समासोपना दृष्टि और उसके क्षेत्र

१। बाबू गलाबराय जी (अब डाक्टर) का धार्मिक हिन्दी-समासोपना के विकास-क्रम में महत्वपूर्ण स्थान है। उन्हें शुक्ल-युग के प्रमुख समालोचक कहा जा सकता है। अपने जीवन-काश में उन्होंने हिन्दी-युग से लेकर अद्यावधि अपने बायीं साहित्य-प्राचार्यों का प्रत्यक्ष मनस्विता में व्यवहार किया है और धार्मिक युग की प्रायः समस्त साहित्य-प्रवृत्तियों और प्रविकाओं पर एक ठोस नीतिपरक दृष्टि का रूप में अपनी चम्पीर मनेपणाएँ प्रस्तुत की हैं। यह उनके सम्पन्न और चिन्तन का ही परिणाम है कि वे प्रत्येक विषय को अधिकधिक स्पष्टता से समझने के पश्चात् ही उसे लेखन करना समीचीन समझते हैं जिससे न तो उनके पाठकों को ही मतिभ्रम होता है और न उनके मन में ही ऐसी कोई झुंझा रह जाती है जिसके कारण वे पूर्णतया भुलकर अपनी मान्यताओं का स्पष्ट विवेचन न कर सकें। अपने जीवन के विविध कार्य-क्षेत्रों की भाँति उनकी साहित्यप्रवृत्तियों में भी प्रारम्भ ही से सम्भववादी नीति रही है। जैसे तो वे शुक्ल-युग की उपज हैं किन्तु उसके परवर्ती काल में विकसित होने वाली रचना और समासोपना की विभिन्न विधाओं के साथ भी उनकी घनिष्ठ सहानुभूति रही है। उनकी समासोपनाओं में कदापि ही ऐसा कोई अवसर आया हो जब उन्होंने अत्यन्त तीव्र दृष्टि में किसी साहित्यकार अपना उसकी कृति का आलोचक बिना बिरोध किया हो। उन्हें हिन्दी का भक्ति-काव्य भी अपना ही प्रिय है, जिसका प्रभावकारी युग। इसी प्रकार वे प्रवृत्तियों की भी अन्यायित प्रशंसा करते रहे हैं तो प्रयोगकारियों के सम्बन्ध में भी कई स्थलों पर अपना आलोचनात्मक व्यक्त कर उनके मान्यता की उच्चतम उपलब्धि की प्रशंसा रख कर मीन हो जाते हैं। उनका हृदय में भारतीय साहित्य-प्राच के प्रति भी आदर है और उनकी विचारधारा के प्रति भी। ज्ञान राशि की उपलब्धि नहीं हो वे उसे प्राप्त करने के लिए सर्वत्र उत्पन्न रहें हैं। यदि उन्हें किसी विचारधारा का बिरोध भी करना पड़ा है तो उस उन्होंने अत्यन्त मृदु दृष्टि से व्यक्त किया है। फिर भी उनके साहित्य के सम्पन्न से यह तो

स्पष्ट हो ही जाता है कि वे एकल बी के अधिकारित समुदायी हैं, किन्तु परिवर्तित युग की विकास मान परम्पराओं के साथ एहूँकर वे उनसे अधिक उदार और संवेदनशील भी बन गये हैं।

१२ बाबूजी की समासोपनाएँ एक कुक्षय अभ्यापक की परिष्कृत सेवानी से निकली हुई समासोपनाएँ हैं। यद्यपि उनमें व्यवस्था के विकास के साथ-साथ अध्ययन चिन्तन और मनन में भी उत्तरोत्तर बुद्धि और प्रोक्षि धाती गई है फिर भी उनमें प्रस्तुत एक व्यापक दृष्टिकोण का सूक्ष्म आभास या लेना तत्पर्यो पाठकों के लिए सर्वथा सुगम कार्य है। समासोपना जैसे मोक्षिक और तत्त्व-निष्पन्न विषय को उन्होंने जिस सुबोध सरल सरस और स्पष्ट अभिव्यक्ति-से ही विवेचित किया है वह उनके तत्त्व निर्णायक स्वभाव का ही प्रतिफल है। वे अपनी मान्यताओं में कहीं पर भी उनसे हुए नहीं हैं और उन्हें जो विषय जिस रूप में दृष्टिगोचर हुआ है उसे उन्होंने यही सपाईं और ईमानदारी से बिस्लेषित किया है। उनमें न तो निष्पाद्यिमान की प्रवृत्ति है और न पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन करने की ही भावना। यही कारण है कि वे हिन्दी की उत्पत्ति कथाओं के छात्रों को भी उत्तरे ही प्रिय हैं जिससे यन्त्र और विचारकों को। उनके विवेचन में परावित ज्ञान राशि का उपयोग उसे मोक्षिक का सा रूप लेकर किया गया है। एक उदार और सुसंस्कृत समासोपन के हृदय में समासोपन विषय के प्रति जिस प्रकार की सहजनुमति और निष्पक्षता होनी चाहिए, वह बाबूजी में पर्याप्त मात्रा में है। उनकी समासोपनाओं की मूल विधि उनका अध्ययनपूर्ण अध्ययन ही है, जिसके द्वारा वे विभिन्न विचारकों की मान्यताओं में घुलुलन तथा समन्वय स्थापित करने में भी समर्थ हुए हैं। उन्होंने अपने इसी अध्ययन के रस पर ही अपने प्रतिपादन में यथासम्भव वास्तव्यता और परम्परा का आचार मिया है। वे एकल बी की भाँति साहित्य-शास्त्र का मन्त्रन कर किन्हीं नवीन उद्भावनाओं की सृष्टि तो बहुत कम कर सके फिर भी उन्होंने साहित्य-समीक्षण की सैदा नितकता और व्यावहारिकता में एक सुलभ रूप दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनकी समासोपनाओं से वह स्पष्ट प्रसक्त है कि बाबूजी के मन में तत्त्वोपनिधि की वीह साक्ष्य है और वे उसका निष्कर्ष अपने पाठकों तक पहुँचाने के लिए विशेष रूप से साधायित हैं। रक्षण-शास्त्र के अध्ययन ने उन्हें तत्त्व-ग्रहण की जो परिमात्रित प्रका प्रदान की है उसका उपयोग उन्होंने अपनी प्रायः समस्त समासोपनाओं में ही किया है। इन सब बातों के होने पर ही बाबूजी को 'अध्ययन-समासोपन' कहना ही उचित प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने आचार्य के सिद्धांश पर धासीन होकर कहीं पर भी अपने कथने नहीं दिये हैं। हाँ यह बात प्रसक्त है कि उनकी समासोपनाएँ मात्रा अध्ययन वार्ता और समीक्षा के लिए प्रेरणा तथा उनके द्वारा सुझाये हुए क्षेत्र में विकासमान बनने का कारण रही हैं।

१३ बाबूजी की समासोपनाओं में सैदान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का समन्वय है। क्रम के रूप तथा 'विज्ञान और अध्ययन' उनकी सैदान्तिक समासोपना के चरम निदर्शन हैं। इनकी रचना कर बाबूजी ने साहित्योपनिधि की मूल वला म एक नवीन कड़ी जोड़ी है। इन समासोपनाओं का प्रयोजन उन्होंने अपने दृष्टिकोण में प्रकट कर दिया है। डा० स्वामिनन्दनराय के 'साहित्योपनिधि' के पश्चात् उनके इन्हीं ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें भी बाबूजी का समन्वयकारी दृष्टिकोण प्रकट हुआ है। इनके कुछ परिष्कृत तो विभुज समासोपनात्मक निष्पत्ति हैं और कुछ छात्रोपनिधि की व्याख्यात्मक। यद्यपि बाबूजी ने विवेचन के प्रत्यक्ष अपनी वीह क्लिष्ट अभिव्यक्ति भी प्रकट की है, किन्तु वह कहीं पर भी धासीनता से विहीन नहीं है। इसका मूल कारण उनकी प्रास्तिक बुद्धि और शास्त्र-निष्ठा है। उन्होंने अपने बिस्लेषण में पश्चिमी साहित्य शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है और भारतीय काव्यालोचन की परम्पराओं में भी उनकी गहन देखी है। उनकी मान्यता है कि "भारतीय समीपियों से जो सैदान्तिक चिन्तन किया है, वह किन्हीं पक्षों में तो नवीन सिद्धान्तों से धासी मड़ा हुआ है और कम-से-कम उसके साथ

टक्कर देने में समर्थ है।^१ कहना होया बाबूजी की इस भारखा को सम्पुष्टि सबकी एस० के ३ कामे कीब संकरन बासमुप्य राबबन् जैसे संस्कृत-साहित्य के प्राधुनिक विद्वानों तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे हिन्दी-समीक्षकों के विवेचन से भी मिली है।

शुक्ल-युग की साम्यताओं में उबार दृष्टिकोण का समावेश

१४. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि मुसावराय की प्राधुनिक हिन्दी समासोचना के शुक्ल-युग की उपज है किन्तु अपने दृष्टिकोण में विशेष उबार भी है। उनकी समासोचना का सैद्धांतिक पक्ष मुख्यतः साहित्य के स्वल्प-विवेचन से सम्बन्धित है जिसमें ह्रस्व काव्य और मध्य काव्य की विभिन्न विधाओं का विरोध हुआ है। 'काव्य के रूप' की ध्येक्षा सिद्धान्त और अध्ययन में उनका विवेचन अधिक गम्भीर है क्योंकि उसमें उन्होंने केवल काव्य की विधाओं पर ही समास्य सैद्धांतिक निष्कर्ष ही नहीं किया है अपितु प्रसंगानुसार अपनी 'साम्यताओं' का एक दृष्टिकोण भी प्रकट किया है। 'काव्य के रूप' की रचना में तो उनकी कृत्रिम-हितकारी भावना ही अधिक झलकी है। एक प्रकार से काव्य के रूप को उनके सिद्धान्त और अध्ययन का पूर्वार्थ भी कहा जा सकता है। इसमें बाबूजी ने समासोचना की सर्वप्रथम ज्ञान-राशि का पूरा-पूरा उपयोग करने का प्रयत्न किया है।

१५. बाबू मुसावरायजी की समासोचना-विषयक साम्यताओं में उनके जीवन-दर्शन और संस्कारों का भी बड़ा हाथ है। अपने पारिवारिक जीवन और शिक्षा-बीसा से भी उन्होंने साहित्य परीक्षण का मानक निर्धारित किया है। उनमें समासोचकोचित सद्गुणसृष्टि और उदात्ता भी कम नहीं है यहाँ तक कि उन्हें वृषि कृतियों में भी कुछ-न-कुछ सार मिल ही जाता है। उन्होंने यथा सम्भव सांस्कृतिक प्राचारों पर अपना समीक्षण-कार्य किया है किन्तु उसमें व्याख्यात्मक प्रयासों का समावेश कर उसे अपना सैध्दय्य प्रदान कर दिया है। एक कुशल अध्यापक में कठिन-संकटित विषय को भी सरल और सुबोध बनाने की कोशिश होनी चाहिए, वह बाबूजी में पर्याप्त मात्रा में है। प्राधुनिक समासोचना के सैद्धांतिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में चलने वाली प्रायः समस्त प्रवृत्तियों का यथोचित विवेचन उन्होंने 'साहित्य-समीक्षा' के सम्पादन-काल में तथा फुटकर निबन्ध रचनाएँ करते हुए भी किया था किन्तु उन सब में उनका सुलभ हुआ दृष्टिकोण अन्य समासोचकों से विशिष्ट श्रेणी का ही रहा है। उनकी समासोचना प्रणाली में यथाप्रसंग सांस्कृतिक प्रभावनिष्पन्न व्याख्यात्मकता और ऐतिहासिकता का प्रयोग भी है जिसके द्वारा वे समासोच्य-विषय की पहचान में जाने के लिए सबैक सचेष्ट रहें हैं। उनकी समासोचना-प्रणालियों में एकानिता यथा कठिणप्रसूता तो कहीं पर भी देखने की नहीं मिलती। उन्होंने ज्ञान-चेतना का यथा-सम्भव प्रयोग अपनी सभी प्रकार की समासोचनाओं में किया है। वे सुसंयोजित-युग से विशेष रूप से प्रभावित समास सांस्कृतिक और मनोविश्लेषणाधी समासोचना-पद्धतियों के भी निष्कर्ष नहीं है, किन्तु उनकी सीमाओं से भी भ्रमशून्य नहीं है। अपनी सारसाहिष्ठी प्रज्ञा के बल पर उन्होंने इन पद्धतियों से भी उत्पन्न पथन कर अपनी समासोचना के सांस्कृतिक पक्ष को और अधिक सम्पुष्ट बनाया है और इस प्रकार उनके द्वारा हिन्दी-समासोचना की प्रणालियों में भी समन्वय लाने की चेष्टा हुई है। बाबूजी में पुनः-पुनः की समासोचना का किस स्तर तक परिष्कार हो सका है इसका अन्ततः निर्दण्ड उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक समासोचनाएँ हैं। कहा जा सकता है कि बाबूजी ने अपना समासोचक-व्यवस्था बहुत अधिक संशोधन युक्त-युग की मनोवृत्तियों से नियंत्रित करते हुए भी उसमें यथासम्भव व्यापक

ग्रहण का क्षेत्र रहा है। यही कारण है कि वे सुनहली की भाँति केवल प्रबन्ध-काव्य समुदाय और लोक-मन के एकमात्र दृष्टिकोण तक ही अपने को सीमित न रखकर मुक्तक काव्य-परम्परा निर्गुण बन्ति तथा काव्य की आध्यात्मिक स्थिति की भी प्रशंसा कर सके हैं। निस्सन्देह बाबूजी में सौन्दर्य-बोध और कला-परीक्षण की स्वच्छन्द दृष्टि थी है किन्तु वह कहीं पर भी पाश्चात्य बयद में बसने वाले साहित्यिक बाबा-प्रवाहों से निर्मित न होकर भारतीय धारण के नैतिक मूल्यों पर अधिक आधारित है जिसमें पाषाणकाल का मध्य-भाग अधिक सफलता के साथ हो सका है।

१६ बाबू साहब ने 'रस और मनोविज्ञान' के विमर्शपूर्ण में भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं का निष्पत्ति कर अपना प्रतिपाद प्रकट किया है। उन्होंने अपने विवेचन का मूल आधार प्रत्यक्ष-भूति के नाट्यसात्व' को माना है और बतलाया है कि हमारे जीवन में भाव और मनोवैशेषों का किन्तु अधिक महत्त्व है। वस्तुतः रस को 'मनोवैशेष नहीं बल्कि मनोवैशेषों का आत्मबल' मानते हैं और साधारणीकरण द्वारा बुद्धि में भी जो सुख की अनुभूति होती है उसे विचारबल व्यापार का ऐसा रसायन बतलाते हैं जिसके द्वारा मनोवैशेषों से 'ममेति वा परमेति' का सुप्रत्यक्ष रूप कर दिया जाता है।^१ उन्होंने रस के साथ मनोविज्ञान का सहज सम्बन्ध जोड़कर पाश्चात्य विज्ञान विविध वेम्ब यैकद्वयुक्त तथा खैर धादि की साम्यताओं का भी विवेचन किया है और उनका भारतीय रस-सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर यही निर्णय प्रदान किया है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल रस-सिद्धान्त की पूरी-पूरी व्याख्या नहीं हो सकती है क्योंकि भाव का मनोविज्ञान केवल सादक या धार्य-विज्ञान के सीमित रूप तक ही रह जाता है जबकि हमारे यहाँ रस का सम्बन्ध धार्य-वर्धन के सहज धान्य के साथ है।^२ रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में बहु सोलसट संकुल बहु नायक तथा प्रतिनयुक्त की साम्यताओं का समीक्षण करते हुए उन्होंने भारतीय साहित्य की सामान्य साम्यता के अनुस्यू यही स्वीकार किया है कि 'वह (रस) जो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्बोधित एक रजोगुण समोपुण-विमुक्त समोपुण प्रधान आत्मप्रकाश से समनवाते हुए सहजय के नाट्यगत स्वाधीनता का आत्मावबन्धन धान्य है।'^३ इसी प्रकार साधारणीकरण के विषय में भी उन्होंने महानायक के विभावन व्यापार पर की गई आचार्य युक्त तथा वा श्यामसुन्दरवास की विवेचनाओं का साधन उपस्थित कर इस सम्बन्ध में परिष्करी साहित्य-साहित्यिकों के भाव-साहाय्य (एम्परी) का विमर्शपूर्ण कर धर्म में अपना यही निष्पत्ति दिया है कि 'साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं बल्कि उसके सम्बन्धों का होता है। उनमें न मन्त्र आत्म बुद्ध और न परचयन्य ईर्ष्या भावों की सुबाध्य रहती है। पाठक का साधारणीकरण इस धर्म में होता है कि वह अपने व्यक्तिगत के कुछ कथनों को छोड़कर लोक सामान्य भाव-भूमि में जा जाता है। भावों का साधारणीकरण इस धर्म में होता है कि जनसे भी 'मम निज' परो वा' की भावना जाती रहती है।'^४

१७ समालोचना-साहित्य के विकास में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि बाबू गुमावराय जी ने भी इन्हीं में होने वाले द्वितीय साहित्य सम्मेलन की साहित्य-परिषद् में पढ़े जाने के लिए 'रसवाद' पर भी एक निबन्ध लिखा था जो प्रकाशित नहीं जा सका। उनके

१ य. एम्बराल 'सिद्धान्त और काव्य' प्रथम संस्करण पृष्ठ १५।

२. यही, पृष्ठ १५।

३. यही, पृष्ठ २।

४. यही, पृष्ठ ४०।

५. यही, पृष्ठ ४४।

उसी निबन्ध का परिचरित और डा० धम्मपुनाय पाण्डेय द्वारा सोलाहुरण व्याख्या सम्पादित-स्वरूप 'रहस्यवाद और हिन्दी कविता' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है जिससे पता चलता है कि बाबूजी में उस समय की रहस्यवाद के मूल सिद्धान्त का विस्तेरण करने की फिरती पथिक प्रतिमानी थी। रहस्यवाद की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है

"रहस्यवाद उस मान-अमान मनोवस्था की धार्मिक अभिव्यक्ति को कहते हैं जो व्यक्ति और विश्व के मूल में स्थित चरम सत्ता के अभ्यन्त या व्यक्त रूप के साथ राक्षसमय सम्बन्ध स्थापित करने पर या करने की इच्छा से प्राप्त होती है।"

६८ बाबूजी की इस परिभाषा में रहस्यवाद के भाव-मूल की प्रायः सभी विशेषताओं का सामान्य उल्लेख हो गया है और उससे यह स्पष्ट होता है कि उनकी यह परिभाषा बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह के रहस्यवाद का विपुल स्वल्प विवेचित करने में पर्याप्त समर्थ है। उन्होंने प्रारम्भ ही में रहस्यवाद की भाव प्रधान मनोवस्था कह कर उसका सम्बन्ध चरम सत्ता के अभ्यन्त और व्यक्त रूप दोनों रूपों के साथ जोड़कर विश्व राक्षसमय सम्बन्ध का संकेत किया है, जो उसे बौद्धिकता के स्थान पर हृदय की संवेदनाओं के साथ निकटतर रखने वाला है, जिसका अभिप्राय यह है कि वे काव्य की इस चार के नैसर्गिक विभाग के प्रति किसी भी प्रकार की कोटा संका नहीं रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि धार्मिक भुक्त की ने कविता का सम्बन्ध केवल ब्रह्म की व्यक्त सत्ता समझा चारों ओर घेरे हुए शीघ्र चरम के साथ जोड़कर अभ्यन्त सत्ता से उसका कोई प्रयोग नहीं रखा जा और यही चारखा उन्हें रहस्यवाद की प्रवृत्तियों का विरोध करने के लिए बाध्य कर रही थी। जबकि बाबूजी ने अत्यन्त उदारता से अभ्यन्त का समावेश भी रहस्यवादी कविता के लिए आवश्यक निर्दिष्ट कर अपने विवेचन को और अधिक व्यापक बना दिया। उनके विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे रहस्यवाद को मुक्त प्रतुष्टिबन्ध और आबाधित मानते हैं तथा सत्ता-साधना और हठयोग की निरस्त और अस्पष्ट प्रवृत्तियों को उसकी कला तथा अभिव्यक्ति में कोई स्थान नहीं देते। उन्होंने रहस्यवाद के स्वरूप तथा उसकी साहित्यिक परम्परा का विस्तेरण करने में बेहो उपनिषदों तथा संतों और सूफी कवियों के जीवन-दर्शन का भी विस्तेरण किया है जिससे भारतीय साहित्य में रहस्यवादी परम्परा का विकास और अधिक वैज्ञानिक तथा साहित्यिक पूर्णविधि से हो सका है।

६९ बाबूजी द्वारा लिखी हुई समालोचना का कुठकर स्वल्प उनके उन लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों में मिलता है जो उन्होंने 'साहित्य-सन्धे' के सम्पादन-काल में लिखे थे। उन लेखों में सम-सामयिक साहित्य वर्गों के साथ-साथ प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन का भी यथोचित प्रयास हुआ है। उनमें ऐकान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समालोचना का समावेश है। साधुनिक काव्य में प्रचलित वाद-समीक्षा के साथ-साथ उन्होंने प्राचीन साहित्य-साहित्यों द्वारा निर्धारित समालोचना के मानदण्डों का भी विस्तेरण किया है। ऐसी आलोचनाओं में धार्मिक विवेकी तथा पुरुष जी के कार्यों का मूल्यांकन प्रसार जी की काव्य-प्रतिमा तथा विवेचन पक्षित हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की प्रमुख प्रवृत्तियों कुछ प्रमुख कृतियों का काव्य-मौल्य-कल्पित साहित्य-साक्ष्य का प्रचलित सूचितियों का स्पष्टीकरण यदि अनेक विषयों का समावेश है जिनसे उच्चतम कक्षाओं के छात्रवर्ग का भी कम कल्याण नहीं हुआ है। इन सभी विवेचनाओं में बाबूजी का दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट और सदा हुआ है। यथोचित यह है कि बाबूजी मुक्त-मन के एक समन्वयकारी समालोचक हैं जिनके विचारों में सभी हुई पालीयता और संयम-भावना का सुन्दर समावेश है और वे अपनी मानसिक भूमिका के अनुकूल सर्वत्र वास्तविक-भावना को हाँ सेकर चले

१ डा. पुष्पाशुन : रहस्यवाद और हिन्दी कविता प्र संस्करण १, १९, १९६१।

२. ५ समन्वय द्वारा 'काव्य में रहस्यवाद' १९६१।

हैं जिनके फलस्वरूप उनका किसी भी प्रकार के मतवालों से कोई स्पष्ट विरोध नहीं है।

२ पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

समासोचना में प्रवेश

१० पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का समासोचना-क्षेत्र में साधनगत उसी समय से समझना चाहिए जब विरह-विद्यासयों की उन्नततम परीक्षाओं में हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्पन्न-सम्भावना को वाद्यक्रम में स्वीकार किया गया था। यह समय मात्र से प्रायः ३२ वर्ष पूर्व का था। इन्हीं दिनों बाबू स्थानसुन्दर दास और पं० रामकृष्ण शुक्ल जैसे साहित्य-मीमांसक अपने निरन्तर अध्ययन-प्रयत्न के द्वारा हिन्दी-साहित्य को समासोचनायत विभिन्न विषयों से युक्त बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। साधारण हिन्दी की प्रौढ़ प्रतिभा इन्हीं दिनों अपनी प्रखर उत्पत्ति बिकसित कर रही थी। शिलीमुख भी वे ऐसे ही समय में पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर में समासोचनात्मक निबन्धों के द्वारा अपनी विचार धारा का अभिव्यञ्जन किया जिसमें उस युग की वैज्ञानिक दृष्टि और आधुनिक भाविकता के प्रसंग समाहित थे। उन्होंने प्राचीन कवियों के साम-साध आधुनिक जीवन साहित्यकारों पर भी अपने विचार निर्भीक भाव से व्यक्त किये जिनमें उनकी अपनी सुन्दर-सुन्दर और चमकती हुई उन्मादना मिलती है। प्रसाद के नाटकों और प्रेमचन्द के उपन्यासों पर अपनी विस्तृत समासोचना प्रस्तुत करने के साथ साथ उन्होंने ११ कवियों की समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं उनकी प्रशंसा पं० रामकृष्ण शुक्ल ने भी अपने इतिहास में की है।^१ अपनी आधुनिक दृष्टियों के रूप में शिलीमुख की जिस प्रकार की समासोचना-दृष्टि लेकर साहित्य-क्षेत्र में प्रवेशी हुई वे उसका यदि उनकी मेहनती द्वारा क्रमिक विकास किया जाता तो वे साहित्य-क्षेत्र तथा समासोचना-क्षेत्र में और भी उच्च स्थान के अधिकारी हो सकते थे।

११ शिलीमुख की की समासोचनाओं में विद्यान्त-पक्ष और प्रयोग-पक्ष का सुन्दर सम्बन्ध हुआ है। वे किसी भी सांकोष्य दृष्टि के कुल-शेष का निष्कर्ष करने के पूर्व उसके उपयुक्त एक प्रतिमान प्रस्तुत कर लेते हैं जिसके आधार पर विशिष्ट दृष्टि का समीक्षण अधिक स्पष्ट रीति से हो जाता है। उदाहरणार्थ उन्होंने गोपालचरण सिंह की 'मावनी' की समासोचना^२ करने के पूर्व काव्य की सद्य पर निर्वृत्ति और 'सद्यो निर्वृत्ति' नामक दो खेसियाँ बनाकर मावनी में प्रथम खेसियों के काव्य की प्रशानता गानी है और उसे कलकाली काव्य की उस खेसियों से उच्चतर चिह्न किया है जिसका प्रस्तुतन उन्हें रीति-काव्य की भाँति आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भी कम नहीं मिलता।^३ निष्कर्ष ही उनका 'मावनी'-समीक्षण कवि की काव्य-दृष्टि और प्रतिभा काव्य-चिन्ता और रच-संयोजना प्रबन्ध-विधान और भाषा-सौष्ठव सम्बन्ध-माधुर्य और कवि-कल्पना भाषा विभिन्न दृष्टिकोणों से ध्यानपूर्वक सारग्राहिणी प्रकृति में हुआ है, जिससे 'मावनी' के सुख-विवेचन के साथ-साथ समासोचना की प्रत्येक सैद्धांतिक कक्षाओं का भी बोध हो जाता है।

१०२ शिलीमुख की की समीक्षात्मक निबन्धों का प्रचुर दाय हिन्दी के वर्तमान साहित्य के प्रत्यक्ष प्रेमचन्द-साहित्य की विवेचना को ही सर्वप्रथम रख कर निर्मित हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिलीमुख को का प्रेमचन्द की के प्रति उत्तार दृष्टिकोण में था और वे उन्हें प्रचारसारक साहित्य-सृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। उन्होंने उनके 'वेदासक्त' उपन्यास की समासोचना^४

१ पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' का इतिहास, नया संस्करण पृष्ठ २३६।

२ मराठी दृष्टि 'पृष्ठ ३' संस्करण।

३ पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' 'शिलीमुख' में संस्करण पृष्ठ १६३। पृष्ठ १३-१६

४ सत्येन्द्र-संस्करण भाग १ संस्करण ३ और ४।

करते हुए उसमें ऐसे साहित्य का समावेश पाया है जो मानव-जीवन की विरतन शक्तियों और रहस्यों का उद्घाटन करता हुआ बसता है। बसुत^१ उन्हें प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में उस समय देख में बसने वाले प्रसहयोग साम्यवाद का ही प्रभाव प्रभावित^२ दृष्टिकोण हुआ है जिसके कारण प्रेमचन्द जी प्रम्य समालोचकों द्वारा अपने युगवर्ती साहित्य के कारण अधिक प्रशंसा प्राप्त कर सके थे। चिन्तीमुख जी का दृष्टिकोण प्रम्य समालोचकों से भिन्न है। वे भारतीय और पश्चात्य दृष्टि से किसी भी श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ प्रपञ्च साहित्य-कृति का विश्लेषण करने के मूल में साहित्यकार की सज्ज बेलना कल्पना और मनोवैय को अधिक महत्त्व देते हैं।^३ यही कारण है कि प्रेमचन्द जी उन्हें अधिक नहीं गुना सके और उन्हें उनमें उपदेश-वृत्ति सर्वप्रथमता गुरुत्व और बाह्य-विरोधी भावना ही मिली। प्रेमचन्द जी की कहानियाँ तो चिन्तीमुख जी को फिर भी ठीक लगी हैं किन्तु उनका उपन्यास-साहित्य तो उन्हें हमकी बेसी का ही प्रतीत हुआ है। इसी प्रकार 'बाँह' के पत्रों में प्रकाशित प्रेमचन्द जी का 'कहानी की उपयोगिता' चीपक लेख भी उन्हें किन्हीं तथ्यपूर्ण चर्चों का विश्लेषण नहीं प्रतीत हुआ है। हाँ नाटक-साहित्य के क्षेत्र में किन्ने बड़े प्रेमचन्द जी के प्रयोग को उन्होंने जिस रूप में प्रशंसा बतलाया है वह पूर्वापहर्षित और अधिक प्रामाणिक है।

१०१ विवेचन के प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि जिस समय चिन्तीमुख जी ने प्रेमचन्द जी के विषय में आलोचनाएँ लिखीं उस समय (सन् १९११ के आसपास) प्रेमचन्द जी के साहित्य की लेकर समालोचना-क्षेत्र में एक बड़े धोर का संकट चल रहा था जिसमें एक धोर तो उनका प्रशंसक समाज मुँही जी की सृजन-प्रतिभा का दृष्टिचयोक्तिपूर्ण बणन करने में नहीं बसता था तो दूसरी धोर उनका विरोधी बल उनमें अनेक प्रकार की वर्तवारी और साम्यवादी आलोचनाएँ पाठा था। प्रेमचन्द जी के 'सिवाचरण' और 'प्रेमाश्रम' के विद्यापनों और बाबू रामदास चौक की लिखी हुई प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की भूमिकाओं को लेकर अनेक प्रकार की प्रशंसात्मक और विरोधात्मक समालोचनाएँ साहित्य-जगत में चल रही थीं। इन आलोचनाओं में विपुल आलोचना-प्रवृत्ति का प्रभाव और वैयक्तिक आक्षेपों का आभाव होता था। उन दिनों की पत्र-पत्रिकाओं में प्रेमचन्द-साहित्य बड़ी हलचल का विषय था। पंडित अरब उपन्यास न पण्डित के चिन्हों द्वारा हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का एक नया ढंग निकालकर प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की तुलना पश्चात्य कृतियों से की तो पं. हेमचन्द्र जोशी इसाचन्द जोशी तथा राजबहादुर लमरोड़ा आदि ने उनके साहित्य की अपने ढंग से प्रशंसा की। श्री रामचन्द्र टंडन न भी इस प्रकार के बल विवाद में भाग लिया किन्तु वे इन सबकी अपेक्षा अधिक संयत और साधु पंथी में विवेचन करते हुए बने। चिन्तीमुख जी के समालोचक-व्यक्तित्व को तरकारी समालोचना के इस ज्वलंत विषय (प्रेमचन्द-साहित्य) से विशेष प्रेरणा मिली और वे और अधिक विस्तार के साथ प्रेमचन्द-साहित्य की विवेचना करने के लिए उद्यत हुए। उन्होंने प्रेमचन्द जी की कसा^४ में अपनी मानविक प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया कि किसी भी साहित्यकार के लिए साहित्य की निविकार स्वल्प में ग्रहण करते हुए बसना ही अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि प्रेमचन्द जी हमारे साहित्य के प्रमुख आचक हैं, किन्तु उन्में ऐसी अनेक प्रचलित^५ भी हैं जिनका विश्लेषण किन्ने बिना हम उनके साथ स्याय आचना का निर्वाह नहीं कर सकते। उन्होंने प्रेमचन्द जी की 'उपदेश-वृत्ति' और 'बीचसाहद' का आभास उनकी उन चेतनामार्गों के उद्धार देकर दिया जो प्रेमचन्द जी ने 'समालोचक' आदि पत्रों में लिखी थीं। वैसे में क्या आमस हारी से कुछ कम है मैं कोई सड़का या नया लेखक नहीं गुरुना गुरुदत्त हूँ आदि। अतः में चिन्तीमुख जी

१ < रामचन्द्र टंडन 'सिद्धिमुखी' पृष्ठ ६५६-६५७ पृष्ठ १६।

२. < प्रेमचन्द टंडन : 'संस्कृति' पृष्ठ ३ संख्या २।

ने प्रेमचन्द जी को एक हितचिन्तक समासोचक के रूप में यही परामर्श दिया है कि वे अपनी साधारण कृतियों और कट्टरताओं से ऊपर उठकर और अधिक उन्नत रूप में हमारे सामने पायें और झूठी मानुषता में अपना समय और शक्ति नष्ट न करें।^१ कहना होगा कि सीमुख जी के इस निर्देश का प्रेमचन्द जी पर बाये बसकर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ोश रूप में प्रभाव भी पड़ा जिसका प्राधात हमें उनकी उत्तरवर्ती कृतियों के अध्ययन से मिला सकता है।

१४ पिंसीमुख जी ने प्रेमचन्द जी के पाँचवें उपन्यास "कामाकस्य" की समासोचना प्रायः तीस पृष्ठों में की है, जिसमें विज्ञान समासोचक ने अपनी साहित्य-विश्लेषण की व्यापक दृष्टि से प्रेमचन्द जी की लेखन कला का समीक्षण किया है। उस युग में इस प्रकार की समासोचनाएँ बहुत कम निकलती थीं। पिंसीमुख जी ने काव्य का रसात्यक दृष्टिकोण अभिव्यक्त कर पहले समासोचना की पृष्ठभूमि के रूप में प्राच्य और पारश्चात्य काव्य-कला और कल्पना का सामंजस्य-पूर्वक निष्पत्ति किया है और उपरान्त 'कामाकस्य' उपन्यास के कथानक को लेकर उसके सामाजिक पक्ष का स्पष्टीकरण हुआ है। उन्होंने उपन्यास के प्रमुख चरित्रों (बक़्श और मनोरमा) के साथ-साथ अन्य नीस चरित्रों का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर 'कामाकस्य' की उन साधारण भूतों पर भी दृष्टिपात किया है जो लेखक द्वारा बोड़ी समासानी रखने पर हुए की जा सकती थीं। उपन्यास में प्रयुक्त सुन्दर लोकोक्तिओं और मुहावरों की साधारण जानकारी करछे हुए पिंसीमुख जी ने उसकी प्रापा-विषयक समुद्धियों का भी विवरण दिया है। पिंसीमुख जी को तो उपन्यास का नामकरण 'कामाकस्य' भी उपयुक्त नहीं मना है क्योंकि उपन्यास के कथानक का विषय कामाकस्य घन्व की धार्मिकता सिद्ध करने में असमर्थ है।^२ इस प्रकार हमें 'कामाकस्य' पर उस युग में पिंसीमुख जी की प्रस्तुत समासोचना अपना वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान रखती हुई प्रशंसित होती है।

१५ प्रेमचन्द जी के उपन्यास-साहित्य के साथ-साथ पिंसीमुख जी ने उनके कथा-साहित्य का भी समीक्षण किया है। उन्होंने प्रेमचन्द जी के 'प्रेम प्रमोद' उपहृ की पहली कहानी 'विस्वास' की प्रत्यक्ष छठी और कटु समासोचना की है।^३ उन्होंने हालकेन के प्रसिद्ध उपन्यास 'इटर्नल सिटी' की छाया पर इसका वस्तुपटल निर्दिष्ट कर पर्याप्त उदाहरणों द्वारा उन दोनों का साम्य प्रदर्शित किया है, जिसका मुख्य पाद्य यही है कि प्रेमचन्द जी ने उस प्रसिद्ध उपन्यास के कथानक को उड़ाकर ही इसकी रचना की है, जिसमें किसी प्रकार की भौतिक विशेषतायें नहीं हैं। पिंसीमुख जी का दावा है कि "प्रेमचन्द जी उसका आधार लेकर भी देशकालीन परिस्थिति के अनुसार उन्हें नहीं हल सके और उनकी यह कृति कई वर्षों में दोपपूर्ण हो रही।" साथ-ही-साथ पिंसीमुख जी ने 'प्रेम-प्रमोद' की दूसरी प्रधान कहानी "बीजल"^४ की भी प्रसंग क कथाकार 'बाइकि मोनास' का अनुबाध-मात्र कहा है जिसमें कोई भौतिक विशेषता नहीं है। अपने कथन की पुष्टि में पिंसीमुख जी ने अनेक प्रमाण भी उद्धृत किये हैं।

१०६ पिंसीमुख जी द्वारा "प्रेमचन्द जी की समास-माधना और उनके भावपूर्णता"^५ को लेकर लिखा गया समासोचनात्मक विवाच विशेष गंभीर और पठनीय है। उसका मूल अभिप्राय यही सिद्ध करने का है कि प्रेमचन्द जी में किसी व्यापक मानव-समाज की कोई स्पष्ट भावना नहीं

१. श्री रामकृष्ण राय : 'पिंसीमुखी' में, उत्तराखण्ड पृष्ठ ४०।

२. उत्तराखण्ड, प्रेम २६, संख्या ६-४।

३. श्री रामकृष्ण राय : 'पिंसीमुख', प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७६।

४. "सुख" वर्ष १, पृष्ठ १, संख्या ३।

५. श्री रामकृष्ण राय : 'पिंसीमुख', पृष्ठ ६१।

६. "सुख" वर्ष १, पृष्ठ १, संख्या ४, पृष्ठ ४०२५।

७. उत्तराखण्ड, प्रेम १, संख्या १।

की धीरे-धीरे विभाग में समाज के सब विद्याओं का ही बना हुआ है।^१ उनके प्रादर्शवाद की सिद्दीमुख भी ने काव्यमय धीरे-धीरे बस्तु ही माना है और उन्हें प्रेमचन्दकी की मर््या भावना भी प्रत्यक्ष समीक्षा सगी है। सिद्दीमुख की के यथानुसार प्रेमचन्द की का प्रादर्शवाद वास्तव में एक 'प्रेसेवर का प्रादर्शवाद' है जिसमें किसी स्वास्थप्रव मानसिक विकास का स्वल्प उपलब्ध नहीं है।^२ इस प्रकार सिद्दीमुख की का यह निबन्ध प्रेमचन्द-साहित्य की विचारधारा को कठिणप्रसता से प्रत्यक्ष हटकर समीक्षा करने की प्रेरणा देता है। बस्तुतः इसमें ऐसी धनेक विचारप्रसता बाँटी है जिनको स्वीकार करने के पूर्व एक बार प्रेमचन्द की के कथा-साहित्य को निष्पक्ष-भाव से ठटोसने की आवश्यकता है।

प्रथम समालोच्य निबन्ध धीरे 'प्रसाद की की नाट्य-कला'

१०७. सिद्दीमुखकी ने उच्च कोटि के समालोचनात्मक निबन्धों के प्रतिरिक्त छात्रो-पयोवी दृष्टि से भी कुछ निबन्ध लिखे हैं, किन्तु इनका समालोचना-साहित्य के सर्वान में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। ऐसे निबन्धों में 'वर्तमान हिन्दी' 'लुक्सीबास की का रामचरितमानस में सुन्दर कांड' 'राष्ट्रमाया का प्रश्न 'भारतीय नाट्यकला' 'साहित्य धीरे साहित्य-सात्त्व' साहित्य में कहानी धीरे उपन्यास' 'नाटक की सामाजिकता' धीरे 'हिन्दी में जनप्रवर्ध' प्रादि प्रमुख हैं। इन निबन्धों में अधिकारित छात्रोपयोवी दृष्टि से ही विवेचन किया गया है और इनका संग्रह 'निबन्ध प्रवर्ध' नामक पुस्तक में हो चुका है। इनके प्रतिरिक्त सिद्दीमुख की ने काव्य में रच-निष्पत्ति की प्रख्याती तथा सामारणीकरण पर भी कुछ विचारालम्बक निबन्ध लिखे हैं जिनमें सांस्कृतिक पद्धति से प्रमुख पात्राओं के मर््यों का निष्कर्षमान किया गया है। इनमें मौलिकता का समावेश बहुत कम है, पर हमें इनकी विवेचना की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'निबन्ध-प्रवर्ध' के प्रतिरिक्त 'कला धीरे सौन्दर्य' नामक पुस्तक में सिद्दीमुख की के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक मर््यों का संग्रह है जो समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे थे। इनमें पुरातत्व विषय के साव-साव साहित्य-विज्ञा प्रम्पारम धीरे संस्कृति-विषयक निबन्ध भी हैं। इन निबन्धों में 'कला धीरे सौन्दर्य' साहित्य के गुण' 'पिछा धीरे संस्कृति' 'बीचन धीरे साहित्य' भाषुनिक कहानी' 'पादशास्य देशों में वेदोंका प्रम्पयन' प्रादि हैं। सिद्दीमुखकी के इन निबन्धों का इस दृष्टिसे मने ही महत्त्व स्वीकार कर लिया जाय कि वे जिस समय लिखे गये थे उस समय इनका पत्र-पत्रिकाओं कक्षेवर में विशेष स्वागत रहा हो किन्तु भाषुनिक युग की विकसित परम्परा में वे बहुत पीछे रह गये हैं। हाँ इन निबन्ध संग्रहों की समता में इनके 'सिद्दीमुखी' में संकलित निबन्धों का अवश्य ही विशेष महत्त्व है क्योंकि इनमें इनके समालोचक-व्यक्तित्व का गंभीर पक्ष अधिक स्पष्टता से व्यक्त हो सका है।

१०८. सिद्दीमुख की द्वारा लिखी गई समालोचनाओं में 'प्रसाद की नाट्य-कला' नामक कृति व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। इसके लिखने की मूल प्रेरणा पद्यि उन्हें इन्टरमीडियेट तथा बी ए के विद्यावियों से मिली थी किन्तु विद्वान् समालोचक ने इसमें मर्यादायान गंभीर विवेचना भी प्रस्तुत की है। इसके प्रारम्भ में प्राथ्य धीरे पादशास्य नाट्यकला पर जो सामान्य विवेचन हुआ है, वह लोगों प्रकार की मादक-रचना प्रस्तावियों का सामान्य बिज उपस्थित करने में पूर्ण समर्थ है। सिद्दीमुख की ने अनुकराष्ट की नाटक की मूल प्रवृत्ति बतलाकर कथोपकथन नृत्य धीरे संघीत को नाटक के तीस मूल तत्व माने हैं धीरे वे भी

१. १. उमरुप गुणः : शिक्षासुख, प्र संस्करण पृष्ठ ११।

२. पृष्ठ ११।

१. १. उमरुप गुणः : शिक्षासुख, 'प्रसाद की नाट्यकला' प्र संस्करण निदेशन।

भारतीय परम्परा के अनुसार वस्तु, सेवा और रस को नाटक के तीन प्रधान धर्म मानते हैं। उन्होंने वस्तु के प्रकार, धर्म प्रकृतियाँ पंचसंधिर्षा नाट्य-वस्तु के विभिन्न प्रसंग धारि का भी सामान्य परिचय दिया है और पारम्पर्य नाट्य-साहित्य में निरूपित कथिनी और द्वैविधी धारि का भी सामान्य विस्लेषण किया है। जिस समय उनकी 'प्रसाद की साध्य-कला' नामक कृति का प्रकाशन हुआ इस प्रकार की समालोचनाएँ बहुत कम मिली जाती थीं भवत इस दृष्टि से पिनीमुक्ती की इस रचना का विशेष महत्त्व है। उन्होंने प्रसादजी की नाट्यकला का विस्लेषण कला रचना-सैली का विकास विचारवादा रहस्यवाद वस्तु और घटना-संयोजन प्रयुक्त और विभिन्न कथोपकथन चरित्र-चित्रण साध्य और धर्मिण्य धारि दृष्टियों से किया है और धर्म में 'प्रसाद वस्तु' नाटक की समालोचना विशेष रूप से की है। इस विवेचन में भारतीय तथा पारम्पर्य दोनों प्रकार की नाट्य-समीक्षा-व्यवधियों का प्रयोग किया गया है। प्रसाद की की विचारवादा का विस्लेषण करते हुए उन्होंने उसके मुक्तान्त का आधार विचारवादा माना है और उसके विभिन्न रूपों का भी विवेचन किया है। इसी प्रकार पिनीमुक्ती की प्रसाद के धारवादा का धर्म रूप पारम्पर्य धारवादा मानते हैं। प्रसाद के नाटकों को 'प्रसाद' कहते की परम्परा का प्रवर्तन उन्होंने ही किया है, जिसका उल्लेख धार भी हमारे सुखी समालोचक सम्मानपूर्वक करते हैं।

३. ५० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

१०२. ५ विश्वनाथप्रसाद मिश्र के समालोचक-व्यक्तित्व का निर्माण द्विविधी-युग और युक्त-युग के पूर्वजोड़ी रंजीनी मूर्तों के संयोजन से हुआ है। वे इन दोनों युगों के बीच की एक ऐसी विचारवादा लेकर बसे हैं जो नवीन युग की प्रेरणा मध्यकालीन और स्वच्छन्दता का प्रेरणा साक्षीयता के धर्मिक निरुद्ध है। मिश्र जी के साहित्यिक जीवन के प्राथमिक वर्षों में साक्षात् मयबानदीन की मान्यताओं का धर्मिक प्रभाव रहा और उपरान्त वे पं. उदयचन्द्र मुक्त के अनिष्ट धर्मों में धार्ये। अतः इन दोनों धारवादाओं के धर्मिक और व्यक्तित्व का उनके मानसिक संस्थान पर स्वल्पमुक्त प्रभाव पड़ा। उस प्रभाव से वे धार्ये भी मुक्त नहीं हैं, जिसका एक उदाहरण प्रमाण तो बड़ी है कि उनकी समालोचनाओं में युक्त-परिस्थिति के अनुक्त विधेय परिवर्तन नहीं हुआ है और वे साक्षात्, प्रवर्तित और कलावाद के प्रति धार्ये भी वे ही धारवादाएँ रखते हैं जो उनके प्रवर्तन-काल के समय उनके माल में थीं।^१

११ विश्वनाथप्रसाद जी की समालोचनाओं का धर्मिक संवेदन मध्ययुगीन द्विविधी-काव्य का मूल्योक्त रहा है। युगल विहारी केन्द्र परमाकर, रसवाणि, विचारवादा और चरित्रांत उनके धर्मिक धर्म हैं। इन कथियों के काव्य में जिस प्रकार का रचना-कोट्य और धार-सौन्दर्य प्रतिष्ठित है, उसी के अनुक्त उन्होंने अपने समीक्षा-विधानों का निर्माण किया है। मिश्र जी किसी भी कृति का नास्तिक मूल्योक्त करने के विधे संस्कृत-साहित्य धार्ये यं निर्वाचित प्रतिमालों को धर्मिक उपयुक्त समझते हैं और उन्हें पारम्पर्य पद्धति के कला-विवेचन तथा सौन्दर्य-विधान में किसी भी प्रकार का समीचीन विधान नहीं मिलता। अपनी समालोचना के मान्य के धार्ये उन्होंने नाम माया धर्मिक, और रस धर्मिण्य युक्त और धर्म धारि ही रखे हैं। 'विहारी की नास्तिक' नामक उनकी समालोचना-कृति ऐसे ही निर्धारित धर्मों में अनुक्त होकर विवेचना का विधे बनी है। अतः मिश्र जी ने विहारी की संक्षिप्त जीवन, उत्कालीन लोकधर्म मयार-

१. धर्मिण्य उदयचन्द्र मुक्त 'द्विविधी' पृष्ठ ११।

२. ५ विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'द्विविधी का धर्मिक धारि', पृष्ठ १२ तथा 'प्रसाद-विचार', मय संस्कृत पृष्ठ १४५-१४६।

बाबता मुस्तक रचना बाहरी प्रमाण ससई की परम्परा प्रसंग-विधान बोहे की समासपद्धति बिहारी की जानकारी प्रसकार-पोचना और प्रस्तुत-विधान रूप-विधान और अनुमान-विधान प्रेम का संशोधन-पद्य विप्रलम्भ एवं विरहवर्धन मक्ति-भावना भाव-व्यंजना भावबोधन और उचित वैश्व्य भावा दोष-वर्धन बिहारी का प्रमाण बिहारी-सम्बन्धी साहित्य तथा बिहारी का महत्त्व प्रादि विषयों पर ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक पक्षों के आधार पर विवेचन किया है। उनकी इस प्रकार की समासोचनाओं से स्पष्ट है कि वे समासोचना में भी रचनात्मक साहित्य की भाँति स्पष्टता और सुबोधता चाहते हैं, यह उन्होंने अपने दृष्टिकोण से जिस विषय को जिस विधान में बाँट समझा है, उसका विस्लेषण उसी के अनुसार कर दिया है। इन्हें स्वर्ण के उदाहरणों में पढ़ना समासोचना के क्षेत्र में नववर्धनसा उत्पन्न करना लगता है। यही कारण है कि अपनी व्यंजना में स्पष्ट भावपूर्ण पर प्रविष्टित कवि ही इन्हें विशेष मुना लगे हैं। यह एक बड़े महत्त्व की बात है कि वे रामचन्द्र सुक्त की कामांतर में स्वामाधिक रहस्य-भावना को अत्यंत उमसीय और यशुर मानकर बसने लगे थे और उसकी वास्तविक अनुभूति केवल उन्म धारियों के कवियों के बस की ही बात समझते थे किन्तु मिथ जी ने उसे सुक्त जी के ज्ञात और मजात का उदाहरण लेकर केवल वर्धन-व्याप्तन के विषय तक ही सीमित रखा है।^१ वे भाव भी अपनी माम्यताओं के प्रति इष्ट हैं, जिसका प्रमुख कारण उनकी विविष्ट मनोरथा ही है, यन्वचा ऐसी कोई बात नहीं कि युव-परिस्थिति के अनुकूल विभिन्न भोज लेने वाली साहित्यिक प्रवृत्तियों के साथ साम्यजस्य नहीं स्थापित किया जा सके।

१११ हिन्दी के ऐतिहास के विवेचन में मिथ जी की समासोचनाओं की विशेष देन है।

इसे उन्होंने युग की प्रथम भावना के अनुकूल 'शृंगारकाल'^२ की संज्ञा दी है। सुक्त जी के सम्मुख भी इस काल की रस की दृष्टि से 'शृंगारकाल' कहने का आधार था और उन्होंने अपने इतिहास में इस और संकेत भी किया था किन्तु उस काल की परम्परागत प्रणाली और विधेय प्रकार की विनय-विचित्रता उसे उन्हें 'ऐतिहास' कहना ही समुचित प्रतीत हुआ। मिथ जी ने सुक्त जी की माम्यताओं के निकट रह कर भी ऐतिहास की 'शृंगार-काल' की संज्ञा दी है और अपने पद्य सम्बन्ध में अनेक ठाँव भी प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार उनका शीरगाथा-काल का विवेचन भी कई अंशों में उनल जी के बिहारी की ही उद्धारली-गान है। भाव इतिहास के जोषकताओं द्वारा हिन्दी साहित्य के प्रादिकाल व शीरगाथाओं की परम्परा के पूर्व जिस विद्व-साहित्य जैन-साहित्य और अपभ्रंश-साहित्य के तभीन उपकरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका मिथजी ने कोई विशेष विवेचन नहीं किया है। उनका साहित्य के इतिहास के प्रति कई स्वसों पर ऐसा दृष्टिकोण बन गया है जिससे उसकी जनक प्रवृत्तियों के समीक्षण में अपूर्णताएँ भी रह गई हैं।

११२ मिथ जी की समासोचनाओं पर काला अवतारहीन की मान्यताओं और पद्धतियों का भी बहुत प्रभाव है। इन्होंने भी अपने इष्टगुण की भाँति 'बीतावनी' 'कवितावनी' और 'सुखमा चरित' प्रादि काम्य-गुस्तकों की टीकाएँ लिखी हैं जिसका उपयोग छात्र-वर्ग के लिए विषय रूप से है। इन टीकाओं के प्रारम्भ में मिथ जी ने विवेच्य कवियों के सम्बन्ध में भूमिकाएँ भी लिखी हैं जिससे उनके काम्य का सामान्य परिचय प्राप्त हो जाता है। मिथ जी की समासोचनात्मक कृतियों में 'पानात-कविता' 'पद्माकर-व्यामृत' 'मगामन्द-वीर-मगामन्द' 'बिहारीदास-मगामन्द' 'केपव मगामन्द' 'मुपल-मगामन्द' 'बिहारी-ससई-वीर-हमीर-हठ' की भूमिकाएँ तथा उनका स्वतन्त्र विस्लेषण

१ ५० मिस्त्रमस्तर मिथ दक्षिण विदर्भ, प्रथम लक्षणा, पृष्ठ २३०।

२ २१० पृष्ठ १८२।

३ ५० पञ्चम पृष्ठ : हिन्दी साहित्य का इतिहास, नवीं संस्करण, पृष्ठ २२१।

काव्य-स्वरूप और समासोपना से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याओं और मान्यताओं का भी सामान्य रेखाचित्र उपस्थित हो गया है। इस विवेचन में प्रसंग प्राप्त विधि में काव्य और कथा काव्य और सोम्य काव्य और अभ्यास काव्य की प्रतीकिकता काव्य और व्यक्ति काव्य की प्रमि-
 व्यञ्जना काव्य और रहस्यवाद, काव्य और लोकजीवन तथा काव्य के प्राप्य विषयों पर निम्नो के विचारों का सारांश है जिनका अध्ययन करने पर इस विषय का पूर्ण प्रमाण मिल जाता है कि उनकी विचारधारा के निर्माण में पं रामचन्द्र शुक्ल के दृष्टिकोण का कितना अधिक हाथ रहा है और वे पुस्तक की की मान्यताओं के कितने अधिक निकट हैं। वस्तुतः काव्य-शास्त्र का यह सैद्धांतिक पराङ्मुखी के बाह्य विमर्श के समर्पण की उन पक्षियों का स्मरण दिला देता है जो उन्होंने स्वर्गीय पाचार्य रामचन्द्र शुक्ल को समर्पित करते हुए लिखी थी कि 'तेरा तुम्ह को सौपते क्या लाये है मोर'। यन्त्रे बसकर विमर्श की ने साहित्य का इतिहास भाषा-विज्ञान और भावरी निधि के सम्बन्ध में जो विमर्श किया है वह विवेचन ऐसी की दृष्टि से मजे ही मौखिक कहा जा सके किन्तु उसमें सामान्यतः वे ही प्रसिद्ध बातें हैं जिनका अन्तर्गत समासोपना के साधारण स्वरूप विवेचन में किया जाता है। अविश्रय यह है कि विमर्श की का 'बाह्य विमर्श' इस दृष्टि से तो प्रबन्ध महत्त्वपूर्ण है कि उसमें एक ही स्थान पर बाह्य के विभिन्न पक्षों के विषय में सुलभ रूप विचार मिल जाते हैं किन्तु उनके द्वारा समासोपना को विकास की कोई नवीन दिशा मिली है ऐसा सहसा नहीं कहा जा सकता।

११४ विमर्श द्वारा लिखित 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' उनके समय-समय पर लिखे गये सामयिक साहित्य से सम्बन्धित लेखों का संकलन है जिसमें वर्तमान साहित्य के सामान्य स्वरूप का विहासोक्त करने की चेष्टा की गई है। यदि इसमें विमर्श-समय के लेख हैं प्रत्येक स्थानों पर पुनरुक्ति भी होती गई है। उन्होंने अपने लेखों के प्रस्तुत संकलन के 'निवेदन' में उन लेखकों पर व्यंग्य भी किया है जिनके रूप के बात नहीं पिये किन्तु उनके संग्रह-संकलन बढ़ाने से निकल रहे हैं और उनके भी ब्राह्म-नाटक हैं। ऐसी स्थिति में विमर्श की ने अपने लेखों के प्राप्य पर प्रस्तुत संकलन का प्रकाशन करना समुचित समझ है। इस संकलन के विवेक विषय साहित्य और लोकजीवन आरंभिक दृष्टिकोण पाचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी बाबू स्वामिन्दर राय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हरिद्वीप की की लोकहित, मुन्नाजी की साहित्य-शास्त्राचार्य वर्तमान काव्य-शास्त्र महा-
 वेदी की का रहस्य काव्य अग्रचक्र प्रसाद प्रवर्धन कथा-कहानी स्केच या रत्नामाला निबन्ध पुस्तकालोचन और निबन्ध कविता प्रादि है। परिशिष्ट के अन्तर्गत काव्य-मुद्रण व नाटक ब्रह्मोक्ति और प्रमि-
 व्यञ्जना हिन्दी भाषा विविध रूप तथा साहित्य में व्यष्टि और समष्टि का विचार किया गया है। लेखों का प्रकार-प्रकार अत्यन्त सीमित और व्यवस्थित है जिसमें विमर्श की ने अपनी सुखी हुई दृष्टि से साहित्य-विज्ञानियों के लिए मनन करने योग्य सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इन निबन्धों द्वारा भले ही नवीन उद्घाटनार्थों की श्रुति स्वरूप न मिला हो किन्तु समासोपनाओं में जिस प्रकार का स्पष्ट प्रतिमान होना चाहिए वह भली भाँति प्रमि-
 व्यञ्जित है। निस्संदेह विमर्श की का शुक्ल-गुण के समासोपन के रूप में प्रमुख व्यष्टित्व है। वे केवल समासोपन ही नहीं अपितु अपने विषय के अत्यन्त कुशल अभ्यास भी हैं। अपने पालीन और अमुर व्यक्तित्व द्वारा वे अनेक उरी पमान लेखकों को निरन्तर प्रोत्साहन देते रहते हैं। उनकी मान्यताओं पर शुक्ल की की विचारधारा का पूर्ण प्रभाव है और वे उनकी निष्पत्तियों का आत्मचरित्र की भाँति सम्मान करते हैं। उनके द्वारा प्रकाशित कवियों के साहित्य का पाठालोचन तथा समीक्षा अत्यन्त प्रबल स्वरूप में हुआ है। एक वाक्य में उन्हें शुक्ल की का वास्तविक उत्तराधिकारी कहा दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा क्योंकि इस कथन में उनके व्यक्तित्व का भूतभूत स्वरूप प्रकट हो जाता है।

१. वाक्यसंग्रहः

मुर्षांगु जी ने सीमर्य और आनन्द, सीमर्य में निवास काव्यानुभूति और साधारणीकरण काव्यानुभूति और रसानुभूति काव्य में जातीयता संस्कार और रसानुभूति रसानुभूति के बोध कथानक प्रकृति-वैविध्य और भासम्बन्धन बर्णन का काव्यगत पात्र के साथ साक्षात् साक्षात् और सीत-सर्जन सांस्कृतिक रसानुभूति और अन्तर्दृष्टि का सीमर्य प्रतिपादित सीमर्य और रसानुभूति वैविध्य का साक्षात्कार, आनन्दपूर्ण प्रभाव तथा प्रभाव रसानुभूति के स्वल्प आदि विभिन्न नवीन का पात्रपात्र तथा भारतीय विचारकों के उद्धरणों द्वारा उद्धृत कर इस विषय का विवेचन इस से प्रतिपादन किया है कि रस का मूल प्रयोजन क्या है और उसके नवीन ढंग से विवेचन की कैसे आवश्यकता है। इसी प्रकार उन्होंने धर्मकार और प्रमाण का निरूपण धर्मकार का उद्देश्य और मित्र-मित्र क्षेत्रों में उसका प्रयोग बतलाकर क्षेत्रों के उस मूल का स्पष्टीकरण किया है जिसके अनुसार वह धर्मकार और धर्मकारों में कोई श्रेष्ठ नहीं पाया।^१ वे क्षेत्रों के इस प्रकार के विवेचन से सहमत नहीं हैं, क्योंकि भारतीय दृष्टि से धर्मकार बाहरी के केवल उत्कर्ष-विधायक और घोषाकारक बाह्य धर्म ही चिह्न होते हैं। उन्होंने दूर, सुखी वैविधीकरण युक्त निराला और पत के काव्याचारों के उद्धरण देकर धर्मकारों की उपयोगिता और उनका प्रभाव विवेचित किया है और कुछ ऐसे उदाहरण भी दिये हैं जिनसे धर्मकारों की प्रभाव-हीनता भी चिह्न होती है। उनका धर्मोक्ति एक और अपना धर्मकार-विषयक निष्कर्ष विशेष महत्वपूर्ण है। वह तो यह है कि मुर्षांगु जी धर्मकार को रस के सहायक-मात्र मानते हैं और यदि किसी धर्मकार से रसानुभूति में बाधा पहुँचती है तो उसे धर्मकार की संज्ञा देना स्वयं समझते हैं।^२ उन्होंने आधुनिक काव्य में प्रवर्तित प्रतीक-बोझता और उपमाओं के भेदोपदेश तथा उनकी विशेषताएँ निरूपित कर बतलाया है कि उनके द्वारा काव्य में किस प्रकार साक्षात्कृता और प्रभावान्वित की वृद्धि हुई है। वस्तुतः वे काव्य में नवीन प्रतीकों और उपमाओं की प्रत्यक्ष आवश्यकता समझते हैं जिससे उनकी रसाभिव्यक्ति में और अधिक उच्छेद का संसार हो सके।^३ इस दृष्टि के उन्हें पत और प्रभाव का काव्य पर्यन्त सम्बन्ध और प्रभावपूर्ण प्रतीक हुआ है। आधुनिक काव्य में सांस्कृतिक प्रयोगों को महत्व प्रदान करते हुए जिस प्रकार की सृजितता का विश्लेषण किया जाता है, उसे मुर्षांगु जी सांस्कृतिक विकास का श्रेष्ठ स्वल्प मानते हैं और उस पर विवेची साहित्य की प्रकृतियों का भी आधार स्वीकार करते हैं। वह तो यह है कि उन्हें काव्य में प्रयुक्त मूर्त का अपूर्ण विधान और अपूर्ण का मूर्त विधान सांस्कृतिक प्रयोगों की दृष्टि से अपूर्ण लगा है किन्तु वे भी आचार्य पुस्तक भी की भाँति उसकी महिरेकता में विद्वान नहीं करते। धर्मकर्म विवेची साहित्य के अनुकरण कर हमारे काव्य में जिस प्रकार की धर्मिकता-विषयक प्रकृतियों की वृद्धि हो रही है उसका निरूपण मुर्षांगु जी ने अनेक काव्याचारों के उदाहरण देकर किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुर्षांगु जी का यह समस्त विवेचन क्षेत्रों के धर्मिकतावाद के ही अनुसरण पर न हाकर भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति के अनुसरण ही हुआ है और इसी द्वारा वे हिन्दी-काव्य की सांस्कृतिक विशेषताओं का अधिकाधिक निरूपण कर सके हैं। अपने प्रायः दैर्घ्य ही युक्त के विवेचन में मुर्षांगु जी ने काव्य में धर्मिकतावाद से सम्बन्धित जो विचार-साधनी प्रदान की है, वह पर्यन्त बमोर है और वर्ष १९३९ के मासपात्र इस प्रकार के निरूपण में जो रसका प्रमुख महत्व रहा है। उनकी इस दृष्टि का मान भी कम उपाय नहीं है, क्योंकि इसमें पूर्णतः-रहित वृत्ति से विवेचन को अधिकाधिक समुचित बनाने की चेष्टा लेखक का प्रयत्न पर्यन्त रहा है।

११७ मुर्षांगु जी ने "जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त" नामक अपनी आत्म-कथा की

१. अन्तर्भावपूर्ण उद्धरण : काव्य में धर्मिकतावाद : प्रतीक संस्करण अध्या ९, पृ. १५८।

२. पृ. १५१।

३. पृ. १५१।

प्रवर्तन-सूत्रों का पर्याप्त ध्यान उनकी इस पुस्तक में मिलता है। उनकी भाषा-सैमी पर भी बरिचनी विचारकों और विद्व-कवि रवीन्द्र का प्रभाव अनुसंधित है। काव्य नाटक, कथा-साहित्य और निबन्ध-समालोचनाओं के विश्लेषण में उन्होंने अपनी 'मनुष्यवृत्ति' का ही सामान्यतः परिचय दिया है, जिससे उनकी बहु-प्रसीत प्रवृत्ति का विजया-परिचय मिलता है, उतना स्वच्छ विमल का नहीं। प्रत्येक स्वर्गों पर तो वे अपने प्रकृत विषय विवेचन का सम्यक निर्वाह भी नहीं कर सके हैं।

१२१. बकसीजी ने कई वर्षों तक 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन भी किया है। परन्तु उनके सम्पादक-व्यक्तित्व के ध्याने उनका समालोचक-व्यक्तित्व सब भी गया है। सम्पादन-कार्य से उन्हें बहु-साधन व्यवस्था हुआ कि वे सम-सामयिक परिस्थितियों से बराबर परिचित रहे और उन्हें साहित्य-क्षेत्र में समीक्षित करने की और भी ध्यान दे सके। बसपि उनके मानस में भारत के स्वल्पित अतीत के प्रति विशेष मोह रहा है। फिर भी वे पारचात्य साहित्य की परिचा को भी बराबर स्वीकार करते हुए चले हैं। अपने इष्टिकोश की उदारतावश ही उन्होंने उस युग की भावनाओं से ध्याने बढ़कर सामाजिक कवियों की संबोधित धर्म्यवर्षा की है। सन् १९३ के माघमास उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के जो सम्पादकीय लेख लिखे हैं उनमें अधिष्ठात विचारचार से वे भाज भी प्रतिक्रिया-सूत्र नहीं है। 'विद्व-साहित्य' के अतिरिक्त 'प्रवक्-परिचा' 'साहित्यविद्या', 'हिन्दी कथा-साहित्य' 'पंचपाव' कुछ प्रदीप और कुछ प्राहि उनके साहित्यिक निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनसे उनकी समालोचना-व्यक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। बकसीजी की समीक्षा-साहित्य को कोई विशेष मौलिक रैन नहीं है। किन्तु द्वितीय-युग के प्रवक्ता और मुक्त-युग के प्रारम्भ में जो समालोचक अपना स्थान बना रहे वे उनकी समता में इनका भी बहस है। परन्तु युक्त-युग के समालोचकों की नाम-नसला से उन्हें पूरक नहीं समझा जा सकता।

६ डा० पीताम्बरदत्त बड़धवाल

१२६ डा० बड़धवाल ने 'हिन्दी काव्य की निर्गुण मक्ति-वार्ध' पर अपना प्रवेष्टा-तमक प्रवक्ता प्रवेशी भाषा में प्रस्तुत कर हिन्दी विषयविद्यालय काशी से पी. एड. की उपाधि वर्ष १९३३ में प्राप्त की। उसके पश्चात् ही उन्होंने अपने समालोचनात्मक और प्रोबुद्ध निबन्ध लिखे जो उनके पुराने काव्य-वर्षों के बीच अस्त-व्यस्त रूप में पड़े हुए थे। डा० भीरव मिश्र ने उस विमल हुई सामग्री का संग्रह 'मकरन्द' नामक निबन्ध-संग्रहण में किया है, जिसमें छोटे-बड़े सब मिलाकर षेडस लेख हैं। संग्रह के सम्पादक ने अपने बहस्य में संकलित लेखों के विषय में सामान्य परिचय दिया है और स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि इन लेखों को किसी विशेष पारतम्य से न छाकर उपलब्ध सामग्री के रूप से प्रकाशित किया गया है। उनी लेखों के धीरे-धीरे डा० बड़धवाल के ही दिग्ग ने हैं। कबल पुस्तक के अन्तिम लेख को सम्पादक महोदय ने विषय सामग्री के अनुरूप 'हिन्दी काव्य की निर्जन-वार्ध' से अधिहित किया है।

१२७ मकरन्द में संकलित निबन्धों की सामग्री प्रकीर्ण समालोचना के रूप में ऐसी बड़ की जा सकती है। भाषण में योग अर्थों का सहज ज्ञान उत्तराखण्ड के अर्थों में औरतबाध औरतबाध तथा हिन्दी काव्य की निर्जन पाठ्य धीरे-धीरे निबन्धों में डा० बड़धवाल की साहित्यिक प्रवेष्टा और प्रोबुद्ध चेतना प्रकाशित है। अस्तुतः स्वर्गीय डा० साहू का भाषण और सन्तमार्ग का विशेष अध्ययन था। यही कारण है कि इन विषयों पर वे जो कुछ सामग्री प्रदान कर सके हैं, उसका भाज भी अनुत्पन्नवश महसूस बना हुआ है।

१२८. 'माँची और कबीर' धीरे-धीरे निबन्ध में डाक्टर बड़धवाल ने तुलनात्मक समालोचना का एक मार्ग प्रस्तुत किया है। 'मूल मोसाई' अति और राजनरीष निपाटी नामक निबन्ध में समालोचना की पंहुन-महल प्रवृत्ति का अधिष्य है। 'माँचाई कवि कपलवाट' 'नृपल का अकाली

व्यापार है जिसके द्वारा हम विभिन्न-विभिन्न भावों को विकसित करने में समर्थ होते हैं।^१ महाकाव्यों की महत्ता उन्होंने इसीलिए मानी है कि उनके द्वारा हम जीवन की विविधताएँ ग्रहण करते हैं जिनके द्वारा हमें विश्व-जीवन को धारण करने की प्रेरणा मिलती है। उनके मत से सच्चा कवि प्राणमयी धीर विचार को प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष मानसिक कृतियों के रूप में पिघला करने की प्रेरणा दोनों में एक ऐसा व्युत्पन्न सांस्कृतिक मिश्रण देने की चेष्टा करता है, जिससे पाठक का मन उसमें प्रत्यक्ष होकर तात्कालिक अनुभव करने लगता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुभाषु भी की इस प्रकार की काव्य रस-ग्रहण-विषयक मान्यता प्राचार्य युक्त भी की भावभूमि के अनुरूप विकसित है।

१२१ सुभाषु की अपने सैद्धांतिक विवेचनमें प्रत्यक्ष स्पष्ट है। वे यन्मीर से यन्मीर विषय का विस्तारण इष्टाव्यों की योजना करते हुए सत्य भाव से कर देते हैं। काव्य के प्रवर्धन के सम्बन्ध में उन्होंने बुद्धितत्त्व की प्रेरणा हृदय रस को महत्त्व दिया है क्योंकि अनेक रचनाओं का जन्म ही हमें पूर्व-प्रवर्धन न हो किन्तु वे हमारे हृदय के साथ धारण करने की चेष्टा करती हैं। सुभाषु भी ने 'किसी रचना का प्रिय सपना ही जीवन के साथ उसके साहित्य सम्बन्ध का सौष्ठव' बतलाया है और इस कथन की पुष्टि करते हुए यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'वस्तु' हृदय के भाव हैं वे किसी-किसी रूप में हृदय में स्थान देने का प्रयत्न प्रयत्न करते हैं।^२ वे काव्य के प्राणमयी सम्बन्ध हमारे जीवन की प्रत्यक्षता के साथ जोड़कर उसके प्रवर्धन को उसका कोई प्रभाव नही मानते क्योंकि उसके द्वारा हमारा मन केवल वैचित्र्य मात्र से प्रेरित होकर केवल हेतुभास हो कर सकता है सच्ची रस प्रतीति नहीं। सच तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कृति संस्कार का विचार-प्रवृत्ति के अनुकूल ही काव्य का बोध होता है यदा सुभाषु की के मत से 'नवीन धीर तीव्र अनुप्राणित' काव्य के मर्म को समझने के लिए केवल विद्वत्ता का उच्च विद्या का प्रेरणा नहीं रखी व्यक्तिव्यक्ति करने वाले हृदय के साथ जिसकी पूर्ण सहानुभूति रखी नहीं उस कविता के मर्म को सच्ची तरह समझ सकता है।^३

१२२ काव्य की प्रेरण-प्रवृत्ति प्रायः सभी देशों के साहित्य में समीक्षकों के विचार का विषय रही है, जिस पर उन्होंने विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने विचार प्रकट किये हैं। सुभाषु की ने जीवन और उसके रहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए धारम-विस्तार को ही जीवन का सत्य बतलाया है जो पुष्पा-वस्तु के रूप से विचारानंद से ग्रहणान्व की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करने का प्रयत्न करता है। आचार्य दृष्टि से प्रत्येक का कार्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही होता है किन्तु यही उसका एकमात्र लक्ष्य नहीं है। वास्तव में व्यक्ति की धारम प्रसार की याचना में विश्व-वस्तुत्व प्रवर्धन वस्तु-वस्तुत्व का दृष्टिकोण भी रहता है यदा सुभाषु की ने काव्य दृष्टि तथा साधारणिकता का काव्य यदा तात्पर्य यही बतलाया है कि व्यक्ति उसके द्वारा अपने धारम-विस्तार को मानवता की एक सामान्य कोटि में स्थिति करने की चेष्टा करे और वह प्रत्येक में एकत्र धर्म के लिए प्रयत्न हो।^४ वस्तुतः सुभाषु की के मतानुसार काव्य-मूलन की मूल प्रेरणा सत्य के प्रत्यक्ष में निहित धारम-विस्तार की याचना ही है। उन्होंने प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष कृतियों का विवेचन कर भावों की विभिन्न कोटियाँ विकसित की हैं और बतलाया है कि प्रत्यक्ष जीवन और काव्य में भावों की

१ अष्टमीप्रकरण सुभाषु जीवन के उन और काव्य के सिद्धांत द्वितीय संस्करण १९३१ पृष्ठ ७१।

२ श्री पृष्ठ ७४।

३ श्री पृष्ठ ७५।

४ श्री, पृष्ठ ११।

प्रवर्तन-सूत्रों का पर्याप्त ग्रंथ उनकी इस पुस्तक में मिलता है। उनकी भाषा-संसी पर भी परिचयी विचारकों और विषय-कवि रवीन्द्र का प्रभाव अनुसंधित है। काव्य नाटक कथा-साहित्य और निबन्ध-समासोचनाओं के विस्तेषण में उन्होंने अपनी 'मनुष्यवृत्ति' का ही सामान्यतः परिचय दिया है, जिससे उनकी बहु प्रवीण प्रवृत्ति का बिजना परिचय मिलता है उतना स्वतन्त्र बिस्तन का नहीं। अनेक स्थलों पर तो वे अपने प्रकृत विषय विवेचन का सम्यक् निर्वाह भी नहीं कर सके हैं।

१२५. बख्सीजी ने कई वर्षों तक 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन भी किया है। यद्यपि उनके सम्पादक-व्यक्तित्व के भावे इनका समासोचक-व्यक्तित्व सब भी गया है। सम्पादन-कार्य से उन्हें यह नाम प्रबल्य हुआ कि वे सम-सामयिक परिस्थितियों से बराबर परिचित रहे और उन्हें साहित्य-क्षेत्र में समीक्षित करने की और भी ध्यात वे सके। यद्यपि उनके मानस में भारत के स्वतन्त्र प्रतीक के प्रति विवेचन मोह रहा है फिर भी वे पाश्चात्य साहित्य की गरिमा को भी बराबर स्वीकार करते हुए चले हैं। अपने दृष्टिकोण की उदारतावत् ही उन्होंने उस युग की साम्यताओं से घाने बढ़कर छायावादी कवियों की यथाचित सम्मर्चना की है। सन् १९११ के घासनाथ उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के जो सम्पादकीय लेख लिखे हैं उनमें अधिष्ठात विचारधारा से वे मात्र भी अधिक विकासोन्मुख नहीं हैं। 'निबन्ध-साहित्य' के अधिकृत प्रबन्ध-परिचय 'साहित्यसिद्धा' 'हिन्दी कथा-साहित्य' 'पंचपात्र' कुछ प्रवीण 'और कुछ' आदि उनके साहित्यिक निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनसे उनकी समासोचना-वृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। बख्सीजी की समीक्षा-साहित्य की कोई विशेष मौलिक रंग नहीं है। किन्तु द्वितीय-युग के प्रवृत्ति और युक्त-युग के प्रारम्भ में जो समासोचक अपना स्थान बना रहे वे उनकी समता में इनका भी महत्त्व है यद्यपि युक्त-युग के समासोचकों की नाम-गुस्ता से उन्हें पुष्प नहीं समझा जा सकता।

६ डा० पीताम्बरवत्त बड़प्पास

१२६ डा० बड़प्पास ने 'हिन्दी काव्य की निर्मूलक वृत्ति-प्राप्त' पर अपना गवेषणात्मक प्रबन्ध संवेदी भाषा में प्रस्तुत कर हिन्दू विश्वविद्यालय कापी से ही मिट्टी की उपाधि सन् १९३३ में प्राप्त की। उसके पश्चात् भी उन्होंने अनेक सासोचनारमक और सोचपूर्ण निबन्ध लिखे जो उनके पुराने कामज-वर्गों के बीच प्रसिद्धि-व्यस्त रूप में पड़े हुए थे। डा० मदीरय मिश्र ने उस बिलरी हुई सामग्री का संग्रह 'मकरन्द' नामक निबन्ध-संकलन में किया है जिसमें छोटे-बड़े सब मिठाकर रचित लेख हैं। संग्रह के सम्पादक ने अपने वस्तुत्व में संकलित लेखों के विषय में सामान्य परिचय दिया है और हाट्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि इन लेखों को किसी विषय उत्तरव्य से न सजाकर उपलब्ध सामग्री के रूप से प्रकाशित किया गया है। सभी लेखों के शीर्षक डा० बड़प्पास की ही रीति में हैं। केवल पुस्तक के अन्तिम लेख को सम्पादक महोदय ने विषय-सामग्री के अनुकूप हिन्दी काव्य की निरञ्जन-प्राप्त' से सम्मिश्रित किया है।

१२७ मकरन्द में संकलित निबन्धों की सामग्री प्रकीर्णक समासोचना के रूप में थोड़ी बड़ की जा सकती है। नायपथ में वान सन्तो का सहज ज्ञान उत्तरव्य के मर्मों में मोरवनाथ औरवीनाथ तथा हिन्दी काव्य की निरञ्जन प्राप्त शीर्षक निबन्धों में डा० बड़प्पास की साहित्यिक गवेषणा और सोचपूर्ण चेतना प्रदर्शित है। वस्तुतः स्वर्णयडा साहजकानायपथ और सन्तमार्ग का विशेष अध्ययन था। यही कारण है कि इन विषयों पर वे जो कुछ सामग्री प्रदान कर सके हैं, उसका मात्र भी अनुमग्नानपत्त नहरव बना हुआ है।

१२८. 'गांधी और कबीर' शीर्षक निबन्ध में डाक्टर बड़प्पास ने तुलनात्मक समासोचना का एक पारदर्श प्रस्तुत किया है। 'भूल बोलाई' खरित और रायनरेख बिपाठी' नामक निबन्ध में समासोचना की चरम-मदन प्रवृत्ति का आधिकार है। आचार्य कवि कणवदास 'भूषण का घसनी

नाम' तथा 'भूपण की शृंगारी कविता' में ऐतिहासिक सामान्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण के पश्चात् जगत कवियों की विशेषताओं का उल्लेख है। बङ्गभासत्री ने भूपण की शृंगारी कविता की विवेचना करते हुए अपनी तबीन खोप के द्वारा इस मायता का संस्थापन किया है कि जो लोग भूपण को केवल नर-रस का ही कवि समझते हैं, वे भ्रांति में हैं क्योंकि ऐतिहासिक शृंगारी प्रवृत्तियों से शृंगारी छन्दों में मेलक ही गई थी। कीर्तिमता की भाषा' समझाया और रसकसव' 'त' का हिन्दी उच्चारण बङ्गवासी भाषा के परभावों' और 'मेल्लो की जीवन कथा' धीरे-धीरे निबन्धों को साहित्यिक समालोचना की प्रयोगा भाषा-वैज्ञानिक प्रक्रिया के अधिक निकट रखा जा सकता है। स्वर्णमय रामचन्द्र मुकुट' निबन्धकार हिन्दी' बाब्टर हीरामाल 'बाबू रामचन्द्रदास की हिन्दी-सेवा' और 'गारा पाण्डेय धीरे-धीरे निबन्ध परिचयारणक समालोचना के समूचे हैं। सारलेख 'हरिश्चन्द्र को एक नवीन रस के उद्घाटक कह कर उन्हें देखभक्ति की याचनाओं से घोर-श्रेष्ठ छिड़ दिया गया है। 'हमारी कला और शिक्षा' उनका १९४ ई की कोट्यार धाममुबार प्रवृत्ति के प्रसर पर विज्ञान-विनाय की प्रवृत्ति का उद्घाटन करते समय दिया गया निश्चित आयु है जिसमें डा बङ्गभास ने सम्यता और संस्कृति के सारलभ्य को लेकर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। धर्मिग्राम यह है कि मकरन्द' के संकलित निबन्धों में सद्यपि हमें डा बङ्गभास का साहित्य-समीक्षण विषयक साहित्यिक दृष्टिकोण तो नहीं ज्ञात होता किन्तु पक्षेपण की दृष्टि से इन निबन्धों का विचार संयमन समालोचना के क्षेत्र में अपनी परिकल्पित देन रखता प्रत्यक्ष है। इन निबन्धों की विवेचना-संली और चिन्तन-संलित से इतना प्रत्यक्ष अनुमान किया जा सकता है कि यदि डा बङ्गभास हमारे बीच ध्यान तक बिचमाल रहते और उन्हें सम्मान में ही काल-क्रमवित न होना पड़ता तो वे निश्चय ही समालोचना के क्षेत्र-क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की शक्ति साकर अपना और भी महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकते थे।

१२६ डा बङ्गभास के मातृ-गण्य और सत्य-मार्गी समालोचनायक निबन्धों का एक महत्त्व यह भी है कि वे उनके शोध-कार्य के द्वारा हमें निगुली तन्त्र कवियों की पूर्ववर्ती वृष्ट्युनि को स्पष्ट कर ऐतिहासिक समालोचना की प्रतिकृति में सहयोग देते हैं। वस्तुतः उस समय तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इन क्षेत्रों में बहुत कम काम किया था अतः इतिहास-निर्माण में भी इन क्षेत्रों का प्रत्यक्ष महत्त्व छिड़ होता है। 'युस योशई चरित' और 'त' के उच्चारण को लेकर बङ्गभासजी ने जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट होता है कि उनमें सामयिक साहित्य प्रवाहों और समसामयों को लेकर व्यङ्ग्यपूर्ण विधि से विरोधी पक्ष की धारणाओं को व्यङ्ग्यपूर्ण करने की विवर्ती प्रक्रिया समझा थी वे तुलनात्मक दृष्टि का निर्वाह भी जतनी ही प्रकृति से किया करते थे। इन निबन्धों से उनकी सहज मानुषता का भी पता चलता है और संस्मरण सिद्धने की योग्यता का भी। निश्चय ही उनमें एक पर्याप्त विवेक-संश्लिषि भी बिचके कारण वे सत्य की खोज में कभी पीछे नहीं हटते थे और डा धर्मोत्तर मिश्र ने उनमें एक साहित्यिक व्यक्ती की जो साधना देखी है वह यथार्थ है। वस्तुतः डा बङ्गभास के देहावसान से हिन्दी-साहित्य के समालोचना-जगत को बड़ी हानि हुई है। इसमें सन्देह हो ही नहीं सकता।

७ डा० रामकुमार वर्मा

११ डा रामकुमार वर्मा धारकल हिन्दी एकांकीकारों की श्रेणी में अपना प्रथम्य स्थान रखते हैं, किन्तु इनका कवि और समालोचक का व्यक्तित्व भी अपने ही का धनुष्य वर्माजी का साहित्य-क्षेत्र में सर्वप्रथम धारमन रहस्यवादी कवि के रूप में हुआ था किन्तु धर्मो-धर्मो के विरवविवासायी धर्मयन-धर्मयन के द्वारा समालोचना के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शित

करने लगे। 'साहित्य-समामोचना' उनकी प्रारम्भिक समीक्षा-कृति है जिसमें उन्होंने काव्य, नाटक सम्प्रदाय और समामोचना प्रादि विभिन्न साहित्यान्तों पर वैज्ञानिक विस्लेषण किया है। उनके विस्लेषण पर पाश्चात्य समामोचना-मन्यति का अधिक प्रभाव है और उनकी यह पुस्तक भी एक प्रकार से निम्नविद्यालयों के स्नातकों के लिए ही लिखी हुई प्रतीत होती है। इसमें रमणीय वनेपदा के स्थान पर साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों का ही सुबोध विस्लेषण हुआ है। डॉ. रामकुमारजी की भावप्रवण भाषा श्रेणी का प्रभाव इस पर अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

१११ डा० वर्मा के समामोचक-स्वरूप का परिष्कारण हमें उनकी 'कबीर का रहस्य-वाद' नामक पुस्तक में मिलता है। अस्तुल कबीर-साहित्य के अनुशीलन में ही उन्हें साहित्य-वस्तु का समामोचक बनाया था। उसमें कबीर का प्राभाणिक जीवन प्रस्तुत करने का जो प्रयत्न है ही किन्तु उसके साथ-साथ उनके काव्य के आधार पर रहस्यवाद, धार्मिक विवाद, हठमय सूक्ष्मता तथा कुछ और विभिन्न चर्चों का भी सख्त सुलभ हुआ विवरण है। इस पुस्तक की रचना में वर्माजी ने संशेकी तथा बंधन के अनेक ग्रन्थों का भी आधार लिया है, वह उनके उद्धरणों और प्रमाणों से सिद्ध होता है। प्रायः कबीर के जीवन-दर्शन और साहित्य-समीक्षण को लेकर धार्मिक हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने एतद् विषयक ध्वंश की दिशा को बहुत धाये बढ़ा दिया है, किन्तु किसी समय रामकुमारजी का कबीर का 'रहस्यवाद' कबीर-विषयक समीक्षाओं में सर्वोपरि स्थान रखा था। इसके प्रतिरिक्त वर्माजी ने 'हिन्दी साहित्य का समामोचनात्मक इतिहास' भी लिखा है जिसके साथ प्रकरणों में हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास सिद्ध त्रैल साहित्य चारुकास और अन्तिकाल की प्रवृत्तियों और कृतिकारों का व्यवस्थ विषय-विशेषण किया गया है। उन्होंने अपने इस इतिहास ग्रन्थ से पूर्व किए गए साहित्येतिहासों का क्रमबद्ध विस्लेषण कर इतिहास ग्रन्थ से सम्बन्धित प्रायः समस्त उपनयन सामग्री का संकलन एक ही पुस्तक में कर दिया है, जिसके कारण साहित्यानुशीलक को इतर उतर घटकने की आवश्यकता नहीं रहती। उनके पूर्व इस प्रकार का प्रयत्न किसी अन्य विद्वान् द्वारा नहीं किया गया था। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ और उन्हें इसी पर नागपुर विद्याविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि भी प्रदान की। हमें यादा की कि वर्माजी इसी प्रकार का विवरण प्रयत्न विवेचन हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध भाषा-ऐति-काल और भाषुनिक काम पर भी करेंगे किन्तु अभी तक उनका नेपथी से इस ओर किसी भी रचना के रूप में इसके पुरक ग्रन्थ का प्रकाशन नहीं हुआ है। इस प्रकार उनके इतिहास-लेखन का यह कार्य अधूरा-सा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्माजी ने किन्हीं विषय प्रकार की परिचिन्तियों से अभिभूत होकर ही इस समामोचनात्मक इतिहास की रचना की किन्तु कालान्तर में उन्हें इसकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील होने की कोई आवश्यकता नहीं अनुभव हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके इस ग्रन्थ में साहित्य के इतिहास-लेखन की किसी व्यक्तिगत प्रधान-संगुमित शैली का निर्वाह बहुत कम हुआ है अतः इसे साहित्येतिहास-विषयक भावपूर्ण रचना कहने में संकोच रहता है।

११२ साहित्य-शास्त्र डा० वर्मा के पुष्पसार-पुष्प की समामोचना-कृति है। इसमें उन्होंने 'पूर्व और वर्तमान के सांत्वना सिद्धान्तों की समीक्षा में हिन्दी-साहित्य की मूल प्रकृति पर नीतिक विवेचना' प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्य के इतिहास तथा समामोचना का एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करने के साथ-साथ यह भी प्रतिपादित करना है कि हिन्दी-साहित्य में समामोचना की सम्यग्दृष्टि क्या होनी चाहिए। लेखक ने अपने शोध श्रमों के समामोचना-विद्वान्तों के सम्पादन की अनुमति का निपाड़ इस पुस्तक में भर दिया है। इसका प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः साहित्य है जिसका घट सम्बन्ध जीवन एवं और विज्ञान से जोड़ने के परचाइ इस विषय की भी विवेचना की गई है कि उसकी मूलभूत मूल

नाम' तथा 'भूपण की शृंगारी कविता' में रीतिकासीन सामान्य प्रवृत्तियों के विवरण के पर्याप्त उक्त कवियों की विशेषताओं का उल्लेख है। बङ्गप्पासत्री ने भूपण की शृंगारी कविता की विवेचना करते हुए अपनी नवीन शोध के द्वारा इस मायवा का संस्थापन किया है कि जो भोग भूपण को केवल रस रस का ही कवि समझते हैं, वे भ्रान्ति में हैं, क्योंकि रीतिकासीन शृंगारी प्रवृत्तियों से वे भी प्रतापमान नहीं रह सके थे और उनके फुटलन ध्वनों में तत्कालीन युग-चेतना की भ्रमक शृंगारी चरों में भ्रमक ही नहीं थी। कीर्तिलता की भाषा 'ब्रजभाषा और रसकमल' 'ज' का हिन्दी उच्चारण ब्रजभाषी भाषा के पराशरा' और मेरुण की जीवन कथा' दीपक निबन्धों की साहित्यिक समालोचना की प्रस्ता भाषा-वैज्ञानिक प्रक्रिया के अधिक निष्ठ रखा जा सकता है। स्वर्णम 'रामचन्द्र पुनल' निबन्धकार शिबेरी' डाक्टर हीरामास 'बाबु स्वामिमुन्दररास की हिन्दी-सेवा' और 'छात्र पाठ्ये दीपक निबन्ध परिचयात्मक समालोचना के नमूने हैं। भारतेंदु हरिश्चन्द्र को एक नवीन रस के उद्भावक कह कर उन्हें देशभक्ति की भावनाओं से प्रेरित-प्रोत्त सिद्ध किया गया है। 'हमारी कला और शिक्षा' उनका १९४० ई. की कोटिदार ग्रामशुभार प्रवृत्ति के प्रबल पर शिक्षा-विभाग की प्रवृत्ति का उद्घाटन करते समय दिया गया निश्चित भाषण है जिसमें डा बङ्गप्पास ने सम्यता और संस्कृति के तारतम्य को लेकर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। अधिप्राय वह है कि नकरत्न' के संकलित निबन्धों में यद्यपि हमें डा बङ्गप्पास का साहित्य-समीक्षण विषयक साहित्यिक दृष्टिकोण तो नहीं प्राप्त होता किन्तु नवेयणा की दृष्टि से इन निबन्धों का विचार सद्यस समालोचना के क्षेत्र में अपनी यत्किञ्चित् देन रहता प्रत्यक्ष है। इन निबन्धों की विवेचना-सूत्र' और चिन्तन-सन्धि से इतना प्रत्यक्ष अनुमान किया जा सकता है कि यदि डा बङ्गप्पास हमारे भी मान तक विद्यमान रहते और उन्हें अस्यायु में ही काल-कमलित न होना पड़ता तो वे निश्चय ही समालोचना के शोध-क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की प्रौढ़ साकर अपना और भी महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकते थे।

१९१ डा बङ्गप्पास के माध-गन्ध और सञ्ज-भार्यी समालोचनात्मक निबन्धों का एक महत्त्व यह भी है कि वे उनके शोध-कार्य के द्वारा हमें निम्नोली सञ्ज कवियों की पूर्ववर्ती पुष्टमूर्ति को स्पष्ट कर देतिहासिक समालोचना की अधिवृद्धि में सहयोग देते हैं। वस्तुतः उस समय तक हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इन क्षेत्रों में बहुत कम काम किया था अतः इतिहास-निर्माण में भी इन क्षेत्रों का प्रत्यक्ष महत्त्व सिद्ध होता है। मूल घोषार्थ परित और 'ज' के उच्चारण को लेकर बङ्गप्पासजी ने जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट होता है कि उनमें सामयिक साहित्य-प्रवर्तकों और समसामयों को लेकर व्यम्पपूर्ण विधि में विरोधी पक्ष की धारणाओं को अधिव्यक्त करने की विवर्ती अधिक समता थी वे मुलभारमक दृष्टि का निर्वाह भी उतनी ही प्रबलता से किया करते थे। इन निबन्धों से उनकी सहज भावुकता का भी पता चलता है और सस्मरण भिन्नने की योग्यता का भी। निश्चय ही उनमें एक प्रस्तुत विवेक-शक्ति थी जिसके कारण वे सत्य की शोध में कभी पीछे नहीं हटते थे और डा भमीरण मिश्र ने उनमें एक साहित्यिक तपस्वी को जो साधना देखी है, वह प्रमाण है। वस्तुतः डा बङ्गप्पास के देहावसान से हिन्दी-साहित्य के समालोचना-व्यवस्था को बड़ी हानि हुई है इसमें सन्देह हो ही नहीं सकता।

७ डा० रामकुमार वर्मा

११ डा रामकुमार वर्मा भाषकस हिन्दी एकाकीकारों की श्रेणी में अपना प्रत्यक्ष स्थान रखते हैं, किन्तु इनका कवि और समालोचक का व्यक्तित्व भी अपने अर्थ का अनुभव है। वर्माजी का साहित्य-क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रथमम रहस्यवादी कवि के रूप में हुआ था किन्तु धर्म-धर्म-धर्म के विस्मयिधायनी धर्मपन-व्यपान के द्वारा समालोचना के क्षेत्र में भी अपनी कविता प्रवृत्ति

राजस्थान के प्राचीन साहित्य की खोज और कथाओं तथा बातों का चयन करने की ओर ही विद्येय रहा है। हाँ उन्होंने 'साकेत' के नवम सर्ग का काव्य-वैभव जिस व्याख्यानमय प्रस्तावो में निभा है वह विद्येय महत्त्वपूर्ण है। कामायनी-वर्धन' प्रो० विजयेन्द्र स्नातक के छात्र मिथी हुई उनकी समीक्षा-कृति है जिसमें प्रसादजी के साहित्य का विश्लेषण धर्मव्यवहार-साधक किया गया है। वैसे राजस्थान की कहानियों पर अपना खोज-प्रबन्ध प्रस्तुत कर उन्होंने धर्म-प्राचीन साहित्यों की कहानियों पर भी इसी प्रकार का खोज कार्य करने की एक प्रेरणा दी है।

१११ की कृष्णचंद्र शुक्ल की प्रसिद्धि का मूल कारण उनका प्राधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास है जिसमें उन्होंने पं रामचन्द्र शुक्ल के पद्यनिष्ठों का अनुपमन करते हुए ही प्राधुनिक युग की विभिन्न प्रवृत्तियों और साहित्यचार्यों का विश्लेषण किया है। साहित्यकारों के विवेचन में उनकी दृष्टि आचार्य शुक्ल जी के ही अधिक अनुक्रम है और उसी में ही उसी का अनु करता है। हाँ छायावादी और रहस्यवादी कवियों के प्रति वे आचार्य से कुछ उधार रह सके हैं। वैसे इनकी मान्यताएँ जो सात्त्विक और नवीन की धर्मव्यवहार से संरक्षित हैं। 'केवल की काव्य-कला' नामक कृति तो शुक्ल-युग में विद्येय सम्पादन प्राप्त पुस्तक रही है और आज भी उतना महत्त्व है। 'कवि-रत्नाकर' का भी उन्होंने जो विस्तृत विवेचन किया है, वह विकास-काल की समालोचना के उदात्त मानदण्ड का प्रतीक है।

११२ डॉ० लक्ष्मीनारायण माधुल्य का प्रमुख लेख सन् १९१७ की राज्य-कमिटी के पञ्चाय माधुल्य-युग तक के साहित्य का खोजपूर्ण और सम्पन्नक सम्पादन करना रहा है। विस्म-विद्यालयों के स्नातकों ने प्राधुनिक रूप की वैज्ञानिक प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए जिस प्रकार की सम्पन्नक ऐतिहासिक पद्धति को अपनी समालोचनाओं का विषय बनाया वा उनमें माधुल्य की का स्थान प्रमुख है। फोर्टे नियम कामेश्वर (१८२२ से १८२४ तक) पर सब से अधिक ध्यान देने लगे हैं। सन् १८३७ से १८३७ तक निकलित होने वाले हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका का विश्लेषण कर उन्होंने प्रभाव विश्वविद्यालय से भी विद् की उपाधि प्राप्त की है। प्राधु-निक हिन्दी साहित्य तो उनके ही किस की नींव का ही हिन्दी कलाकार है। जिसमें सन् १८३२ से १८३२ तक हिन्दी साहित्य की प्रमुख साहित्य-विचारों के विकास का विश्लेषण किया गया है। खोज-कार्य के लिये जिस प्रकार की व्यवस्थित और संयत खोज लगी होती साहित्य, वह माधुल्य की की रचनाओं में उपलब्ध है। माधुल्य हरिवंश तथा उनकी विचारधारा पर भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण समीक्षा किया है। साहित्य-विमर्श और 'निबन्ध-नवनीत' उनके चिन्तन-मिलन समर्थों पर निम्न गये निबन्धों के संग्रह हैं जिसका प्रमुख विषय प्राधुनिक हिन्दी साहित्य ही है। वस्तुतः माधुल्य की का विश्लेषण खोज भी हमारा प्राधुनिक काल ही है। उन्होंने 'माधुल्य-वर्धन' और 'आशा-वर्धन' का सम्पादन कर माधुल्य-युग की माधुल्य-वर्धन और इन कृतियों का विश्लेषण भी किया है। धर्मोदास ही में उनका खोजपूर्ण विचार-वर्धन माधुल्य के हिन्दी साहित्य के इतिहास का अनुवाद 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जो एक धर्मव्यवहार महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

११३ इसी प्रसंग में डॉ० भी कृष्णसाध का माधुल्य-वर्धन करना भी आवश्यक है। डॉ० माधुल्य ने प्राधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास को अपने खोज-कार्य द्वारा सन् १८३२ तक साफ़ छोड़ दिया या उसको धारण करने का कार्य डॉ० साध ने किया है। "प्राधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास" उनकी डॉ० फिल० की नींव है जिसमें सन् १८३२ से १८३२ तक की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण हुआ है। उनकी अन्य खोजपूर्ण-कृतियों में 'मानव-वर्धन' 'धर्मवर्धन' धारि है। वे हिन्दी कहानियों की प्रमुख कहानी-संग्रह की भूमिका भी पढ़नी है।

११४ डॉ० मधुल्यचंद्र मिश्री ने ही वे ही प्रमुख-युग के समालोचक हैं, किन्तु उनकी विचार

प्रेरणा क्या है और उसमें रस तथा मनोविज्ञान की स्थिति किस रूप में रहती है। इनके प्रतिरिक्त इन्होंने साहित्य का प्रयोजन और इष्ट साहित्य की धर्मिता तथा उसके विस्तार की दृष्टि का भी विस्लेषण किया है। इसका अनिश्चित साहित्य धीरे-धीरे प्रकरण भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इस कृति में यन्त्रीय व्यवस्था और सुबोध चिन्तना तो नहीं मिलती जिसके आधार पर बर्माजी ने समासोचना के सैद्धांतिक पक्ष में कोई अभिनव मान्यताओं का प्रस्तुत किया हो किन्तु इसके प्रतिपादन में जिस भावधर्म की मजबूती का सरस प्रवाह है वह निरर्थक ही मौलिक और हृदयहारी है। उनका साहित्य का मूर्धाकृत विषयक दृष्टिकोण भी अत्यन्त व्यापक है और इसके अध्ययन में कई स्वतंत्र रचनों के नाम से भी प्रकाशित हुई हैं किन्तु उनके एक-एक पाठककार के व्यक्तित्व के धारने उनकी समासोपक्रम-प्रतिभा हृदयप्रभ है। जैसे वे प्रभाव विस्मयिणीय में हिन्दी प्राध्यापक होने के कारण समयानुक्रम साहित्यालोचन करने में बराबर उद्यत रहते हैं।

प्राधान्य समासोपक्रम

१११ विकास-काल के धर्म समासोपक्रमों में डा० केसरीनाथराय सुबोध डा कन्हैया साह सहज की कृप्यान्वय पुस्तक की कृप्यान्वय पुस्तक डा सतीशचन्द्र रायचौधरी डा कीकृष्णसाह की मण्डलसंकर विवेकी पं चन्द्रबन्दी पाण्डेय डा बल्लभ प्रसाद वर्मा डा० रीतबन्धन पुस्तक पं परमुचय चतुर्वेदी डा कीरेन्द्र वर्मा डा मनीरम मिश्र की प्रमुचयसिद्धि वित्त डा माता प्रसाद पुस्तक डा सोमनाथ पुस्तक डा गुप्तीराय वर्मा डा देवराज उपाध्याय डा० देवराज की पुस्तक सांस्कृतिक डा० रायचन्द्र बटनार पं रामनरेश बिप्राठी पं रामनरेश मिश्र प्योहार हैं। इनमें से धर्मिक विद्वान् विस्मयिणीयों में हिन्दी-साहित्य के प्राध्यापक हैं और उन्होंने लोक-कार्य के माध्यम से ही हिन्दी-समासोचना को विकसित बनाने का प्रयत्न किया है। बर्मा तक देविहासिक और विवेकनात्मक प्रणाली से समासोपक्रम विषय का सम्पूर्ण विस्लेषण करने का क्षेत्र है, इन विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। डा केसरीनाथराय पुस्तक ने सुबोध-सुधीन मान्यताओं और परम्पराओं का अनुबन्धन करते हुए 'भाषा-वैज्ञानिक' नामक धर्म प्रणीत शोध-कृति प्रस्तुत की है, जिसमें भाषा-वैज्ञानिक पुस्तक के विभिन्न उत्पत्तियों का देश की राजनीतिक सामाजिक धार्मिक प्राचिनक धर्मिक विद्वानों में विशेष महत्त्व है। यद्यपि इसके विस्लेषण में वैज्ञानिक धर्मिक महत्त्वपूर्ण कृति नहीं बना है, फिर भी प्रतिपादन की स्पष्टता और सुबोधता की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके प्रतिरिक्त केसरीनाथराय जी ने 'भाषा-वैज्ञानिक' नामक धर्म पुस्तक की 'साहित्य' के निबन्ध 'किञ्चल' नामक की कमी भूमिका तथा क्वी साहित्य नामक धर्म पुस्तक की विद्वानों की निरिष्ट करने वाली रचनाएँ हैं।

११४ डा कन्हैयासाह सहज राजस्थान के एक उद्योग-धर्म समासोपक्रम हैं। ने कई बर्णों से 'साहित्य-संग्रह' पत्र में अपने स्पष्ट समासोपक्रमिक विषय लिखते रहे हैं, जिनके धर्मिक धर्मिक निबन्धों के सङ्ग्रह पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुए हैं। समासोचना के पक्ष पर 'समीक्षा' 'दृष्टि कोण' तथा 'विवेचन' इसी प्रकार के निबन्धों के सङ्ग्रह हैं, जिन में उनकी स्पष्ट समासोपक्रम-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। उनकी समासोचना के विषय सामाजिक तथा सामाजिक-धर्मिक साधारणीकरण रसायनिक तथा रासायनिकों पर भी उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु उनमें मौलिक उद्भावनाएँ बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि सहज जी का धर्मिक धर्म

समालोचना का प्रसार-काल—१

(सुक्सोत्तर-युग)

प्रसार की विकासमान दिशा

१ 'सुक्सोत्तर-युग' वस्तुतः प्रागुक्त हिन्दी-समालोचना का प्रसार-काल है। इस युग के समालोचकों में सुक्सवी के कृतित्व और व्यक्तित्व के समान बने ही प्रौढ़ न मिले किन्तु इस तथ्य का भी निषेध नहीं किया जा सकता कि उनके द्वारा जीवन के विकासमान दृष्टिकोणों को साहित्य-क्षेत्र में प्रकीर्ण करने की स्वतन्त्र चेष्टाएँ की गई हैं। वर्तमान जीवन दर्शन के प्रत्यक्ष सौष्ठव-विधान-संयोजन तथा स्यादुपात्तमीय और मनोविस्फेकवादी व्यवस्थाओं का प्रस्तुरण जिस रूप में हुआ है वह इस युग की समालोचना का मूलधार है। इनके साथ ही साथ इस युग ने साहित्य-क्षेत्र को कड़ि-परम्परा से मुक्त कर उसे एक सौम्य-विचारक प्रतिमान से समीक्षित करने का भी दृष्टिकोण प्रदान किया है जो कतिपय समालोचकों की दृष्टि से सौष्ठववादी विधान कहा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग की प्रवृत्तियों द्वारा सुक्स-युग का विकास प्रसारित हुआ और उसमें व्यापकता भी पाई किन्तु समालोचना के क्षेत्र में जिसे प्रौढ़-बहिष्कृत का निर्मास कहा जा सकता है, वैसा कतिपय उत्थाननिवेष्टी समालोचकों की कृतियों को छोड़कर पक्षिक नहीं हो सका। माना कि इस युग ने प्राचीन परम्पराओं और मान्यताओं की संकीर्णता को दूर करने में ध्वज प्रयत्न किये किन्तु साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी जो सम्मिलन और समन्वय की भावभूमि का महत्त्व होता है, वह बाईपक्षाओं की प्रवृत्तियों के कारण पक्षिक संघों में उद्घाटित नहीं हो सका। इसका एक प्रमुख कारण तो यही प्रतीत होता है कि इस युग के समालोचकों के मानसिक पटलस के मूल में प्रप्ययन का विधेय बस तो है किन्तु उनमें चिन्तन और मनन की उस पर्वण-शक्ति की म्युनता है जो उन्हें स्वतन्त्र प्रतिमान-सुजन के सिध्द भावन-वृत्ति प्रदान करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग की मान्यताओं का स्पष्टीकरस्त 'व्यवकीर्ण' समालोचनात्मक निबन्धों के कतेवर में ही संकेन्द्रित हो गया जिनमें विष्ट वेपथु और पुनरावृत्ति के पक्ष भी समाविष्ट हैं, किन्तु सब कुछ होते हुए भी इस युग की समालोचना को प्रसारपूर्व मानना सबका सुचित्वगत ही है क्योंकि उसके द्वारा हमारा समालोचना-साहित्य निरवयव ही अपने विकास की परवर्ती स्थिति उपलब्ध कर सका है।

नामकरण और प्रसार-काल के दृष्टि बिन्दु

२ प्रागुक्त हिन्दी समालोचना के प्रसार काल को 'सुक्सोत्तर-युग' के नाम से अभिहित करने का प्रमुख कारण यही है कि इस युग में सुक्सवी के समकक्ष ऐसा कोई व्यक्तित्व दृष्टि योग्य नहीं होता जिसकी समन्वयकारिता और प्रभावित्युत्ता के आधार पर यह कह दिया जाय कि उसमें युग-संचालन की पूर्ण शक्त है। इस युग के व्यवकीर्ण समालोचक अपनी-अपनी मान्यताओं और जीवन पास्याओं में संवस्त होकर केवल एकपक्षीय प्रतिमानों से ही साहित्य-समीक्षा करते हैं, जिसका स्पष्ट पाथय यही है कि उनमें युग-नेतृत्व की क्षति की म्युनता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक विचारक की भाँति समालोचक का भी एक मानसिक पटलस होता है जिसका

धारा मध्यकालीन साहित्य का तत्त्वान्वेषण करने में अधिक सहायगुणित वा सक्षी है। धीरे-काव्य संत-काव्य धीरे प्रेमपावा-काव्यों के सप्रहों की भूमिकाएँ इसका प्रमाण हैं। उनकी प्रतिपादन-सैली में समासोचना की उस सर्वप्रथम पद्धति का ही परिपालन हुआ है, जिसमें किसी भी समासोपक प्रपञ्च कृति का विशेषण भारतीय परम्परा के प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। वं परमुराम चतुर्वेदी को भी मध्यकालीन साहित्य-कोष का ही पारखी समासोपक कहा जा सकता है। सुधी काव्य 'संत-काव्य मध्यकालीन प्रेम-साधना 'हिन्दी काव्य-भारत में प्रेम प्रवाह कबीर-साहित्य की परख' तथा भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा' इनकी समासोपनारमक पुस्तकें हैं। वैसे 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' लिखकर इन्होंने इस क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है।

११८. भक्ति काल की कृष्णभक्ति शाखा के प्रमुख धर्म बल्लभ सम्प्रदाय धीरे पञ्च छान का दो भागों में व्यापक अध्ययन प्रस्तुत कर डा दीनदयाल गुप्त ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनके पूर्व इस प्रकार के अध्ययनों की कोई समुच्च परम्परा नहीं थी। उन्हीं के क्षेत्र में श्री प्रभुदयाल मिश्र का 'अष्टछाप-परिचय' भी गण्यमान विवेचन है। बल्लभा साहित्य का नायिका भेद तथा 'बल्लभा साहित्य का ऋतु दीर्घ' मिश्र जी की महत्वपूर्ण समीक्षा कृतियाँ हैं। सुरदास के सम्बन्ध में की गई खोजों का समुपयोग करते हुए इन्होंने 'सूर-निर्णय' नामक पुस्तक भी लिखी है जिसमें खोज प्रिय छात्रों को सूर विषयक सभी प्रकार की प्रावश्यक सामग्री का समन्वय मिल जाता है। डा धीरेन्द्र वर्माने भी अष्टछाप धीरे सुरदास-साहित्य की वैज्ञानिकसरति से प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रयास किया है। डा माताप्रसाद गुप्त ने तुलसी-साहित्य डा मुन्शीराम शर्मा ने सूर-साहित्य और डा भवीरव मिश्र ने रीतिकासीन काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। डा सत्येन्द्र की 'गुप्त जी की कला' और 'साहित्य की मही' भी विकास-काल की मज्जी रचताएँ हैं। डा जयन्ताब प्रसाद शर्मा ने प्रसाद के नाटकों का भारतीय अध्ययन' प्रस्तुत कर इस विद्या में कार्य करने वाले अनुसन्धाताओं को नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुक्त युग में हिन्दी-समासोचना का जो विकास हुआ है उसे अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी अधिरक्षि और क्षमता के अनुसार सहयोग दिया है। इन समासोपकों धीरे खोज-कृतियों का समीक्षण-कार्य अब भी चल रहा है किन्तु अपनी विचारधारामें धीरे विशेषण-प्रवृत्तियों में वे मुक्त-युग के अधिक निकट होने के कारण ही इस विकास-काल के अन्तर्गत ही विवेचित किये गये हैं बिन पर विधि निर्धारण की सीमा का कठोर सिद्धान्त के रूप में संभलन करना समुचित नहीं है।

के प्रसार-काय की प्रमुख प्रकृति माना है। इस ओखी की समाजीकना के इनायी विकास-परम्परा को किंच प्रकाश माने बढ़ाया इसका निवेदन यथास्थान किया जायेगा। यहाँ पर ही केवल इसी बात का सामान्य संकेत करना समीप्य है कि जीवन-वर्धन और काव्य-निर्माण के स्वाभाविक क्रम के अनुसार ही हिन्दी-समाजीकना को भी 'विकास' के 'प्रसार' की विशेषमन्त्रि हुई है।

प्रसार-काल को अन्तर्द्वेषतना और उसके विशिष्ट स्वक्य

४ सुस्त-युग की मायताओं को उसके परवर्ती कुतधीतर-युग ने बिन काटखों से स्वीकार नहीं किया, उसका एक सांस्कृतिक, साहित्यिक और सामाजिक आचार भी है। बात यह है कि समाजीकना-क्षेत्र में सुस्त-युग का प्रवर्तन बिन-जीवन-मायताओं के अनुसार हुआ था उनमें देख की परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार उत्पन्न होने लगी थी। राजनीतिक बातावरण में घटपटा महात्मा गांधी के जीवन-वर्धन के जिस प्रकार की विचारवादा को अधिक प्रथम दिया उसका साहित्य-परिदृष्टाओं के मानस पर भी विशेष प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप साहित्य की मनोवृत्ति में अन्तर माने गया। साथ ही साथ अन्तराष्ट्रीय बातावरण और जीवन प्रतिमानों ने भी उसमें परिवर्तन के प्रचलन समर्थन कर दिये जिसकी प्रतिक्रिया साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी हुई। यही समय था जब विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' की युग साहित्य-विकास में बच गई, जिससे अन्तर्भावित रहना साहित्यकारों के लिए असम्भव था। इस समय तक विभिन्न वर्गों में अनेकी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी धारा के कवियों जैसे सर्वस्वर्ष कीदृश लैली तथा टीनीसन आदि काव्य-कृतियों का पाठ घर पर बड़कर बोलने लगा था अतः वे स्वभावतः उनकी भाव-भाषुरी और काव्यनिकटा की ओर आकर्षित होने लगे। अपने जैतिक जीवन की प्रतापता और विश्व की वैयक्तिक विषमता के काव्यकारों को अन्तर्जन्म की ओर विशेष उन्मुख किया, जिसके कारण वे कल्पनाजीवी बनकर अन्तर्लोक से अपना सम्बन्ध जोड़ने लगे। इन काव्यकारों की पीठिक जीवन की स्वार्थपूर्ण दृष्टि में ऐसी व्युत्पत्ति मिली जिसके कारण वे अपने को पुसावा देकर अन्तर्लोक की ओर बढ़े। रहना होना इस आन्तरिकता में नास्तिकता की भ्रष्टति तो बहुत कम लोगों में थी किन्तु सुप्त-प्रभाव में वैयक्तिक अनुवृत्ति का सुस्वयं भी कम नहीं हुआ। इस प्रकार का परिवर्तित बातावरण साहित्य-समाजीकना के क्षेत्र में भी किसी अमिश्र भाव को प्रवृत्त करने की प्रेरणा का कारण बना जिसके फलस्वरूप एक नूतन भाव-जीवी और रचना-प्रक्रिया की सृष्टि अनिवार्य हो गई। सुस्त-युग के उत्तरवर्ती युग की समीक्षाओं में विकास की इस विधा का अनुसन्धान सामाजिक-क्रम में किया जाना सर्वथा सम्भव है।

५ प्राबुनिक हिन्दी-समाजीकना के प्रसार-काय में बिन प्रमुख समाजीकनों को स्थान दिया गया है, वे भाव भी अपने समीप्य-कार्य में वसति हैं और उनके द्वारा सामाजिक साहित्य जीवन के उपयुक्त मार्गानुसन्धान के प्रयास अब भी निरन्तर बति से चले जा रहे हैं। वैसे तो इस समाजीकनों का साहित्य-क्षेत्र में प्रभाव हिन्दो-युग तथा सुस्त-युग में ही हो गया था, किन्तु उन युगों में इनके व्यक्तित्व का ऐसा निर्माण नहीं हो सका जो प्रोढ़ तथा स्थायी कहा जा सके। हिन्दो-युग में तो इन समाजीकनों ने कमजोर कृष्णी सीखी ही थी और सुस्त-युग में वे १० राज-बाद युग की प्रसार प्रविष्टा के माने हृतप्रथ के धरा के समाजीकना-साहित्य की उस समय ऐसी उपलब्धि नहीं प्रदान कर सके जो साहित्य के सुस्वाक्य का महत्वपूर्ण प्रविमान बन सकने में समर्थ हो। इन समाजीकनों में स्वच्छन्दतावादिता की प्रकृति शरम्भ ही के रही किन्तु प्राबुनिक वर्गों में यह स्वच्छन्दता के प्रोढ़ निर्माण का स्वक्य नहीं प्रवृत्त कर सकी। समी-समी-क्षेत्र के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों ने उसे अपनी गभीर विधा में ही विकासोन्मुख बनने की प्रेरणा दी जिसकी परिणति बनाने में उत्तमजीव रचनात्मक साहित्य भी सहयोगी बना।

परिस्थिति में काव्य-लेख में नहीं बचने दिया। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए छायावादी कवियों को प्राचाय महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा अन्यथा समालोचकों से अपेष्ट संघर्ष सेना पड़ा और वे अनवरत परिश्रम और निरंतर अध्ययन का काम पर ही अपनी सत्ता स्थापित कर सके। छायावादी कवियों की विचारणा और मान्यताओं में वस्तुतः पाश्चात्यसूचि की व्यंग्यता का प्राचाय या और उनके स्वर में नैतिकता प्राचाय और सुधारवादिता की प्रतिरेफ़ुस वस्तुपरकता के प्रति विशेष-सा था। अतः युग की वांछनीयता को उसमें स्वेच्छावादिता के प्रति एक समझ-ही मिसी और तराफ़नीय साहित्यानुशीलन-कर्म अपने सहज भाव से उसकी ओर झुका हो गया। सुतराम छायावाद के नाम पर साहित्य में रचनात्मक और विचारपरक साहित्य की वृद्धि होने लगी जिसके द्वारा विचार-लेख और भाव-सौक में शक्ति का सूत्रन हुआ। निश्चय था कि इस छायावादी प्रवृत्ति के कर्म से हमारा समालोचना-साहित्य भी बलि पाता और उसके दृष्टिकोण में नवीनता का संचार होता और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। समावाद ने अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के द्वारा अतिप्रसन्न शास्त्रीयता को एक कोने में धकेल कर अपना विच्छिन्नता करना आरम्भ किया और उसकी स्थिति मुड़क बननी गई। कहना होगा इस युग की रचनात्मक प्रवृत्तियों के साथ-साथ समालोचनात्मक मान्यताओं में ऐसे भाव-स्फूर्तिमय प्रोत्साहित हो उठे थे जिनमें साम्यात्मिकता काव्य-वैयर्थ्य स्वच्छन्दवादिता और सौन्दर्य भावना की व्यापकता और प्रीति थी। अतः उसने निश्चय ही हम विकास के बिन्दु प्रदान किए। अभिप्राय यह है कि छायावादी काव्य द्विवेदी-युग की साहित्य प्रक्रियाओं को विकासोन्मुख बनाने का एक सुन्दर प्रयास था जिसका सूक्ष्म-संचालन काव्यकारों के रूप में प्रसादजी पंथवी निरालाजी और महादेवीजी ने किया तो उनके प्रसक्त समालोचकों के रूप में पं० लक्ष्मणलाल बालमुनी और श्री चान्तिमय द्विवेदी धारि प्रमुख व्यक्ति आए।

८. छायावाद-युग के प्रवर्तन से जैसे नवीन कविता द्विवेदी-युग का प्रचल छोड़ कर अपने रूप-रंग बेध चुका और आकृति-प्रकृति में अपने पूर्ववर्ती युग से भिन्न प्रणाली धारण कर ली वैसे ही उसके समानांतर चलने वाली समालोचना ने भी अपना नूतन परिप्रेक्ष्य ग्रहण किया। रचनात्मक साहित्य की प्रति समालोचना-साहित्य भी इस समय वैयर्थ्यता और व्यापकता की नई मान्यताओं और विवेचन की नूतन धर्मियों के रूप में प्रस्तुतित हुआ। यद्यपि अपने प्रारम्भिक रूप में छायावादी काव्य-दृष्टि में कोई शास्त्रीय आधार प्रकृति सर्वमान्य प्रवृत्ति नहीं आ सकी थी किन्तु कालक्रम से उसका विकास प्रगट्य होता गया और विभिन्न आलोचकों ने दिनमें प्रमुखता छायावादी कवियों की भी थी—अपनी अनुसूचियों और संवेचनाओं का आन्तरिक लेखा-बोखा करते हुए उन्हें निर्मास्य की एक निश्चित अवस्थिति देने का प्रयास किया। उनके विद्याभिनिकषण में वैयर्थ्य और समीक्षा-दृष्टि में अन्तर्गत धर्म्यत्व होते हुए भी काव्य-मरीचक का ऐसा सर्वग्राह्य प्रतिमान प्रत्यक्ष प्रवर्धित होने लगा जिसमें वैयर्थ्यता की परिधि को व्यापक दिया में प्रमुख बनाने का जो प्रयत्न किया गया वह कोई शास्त्रीयता से वीर्यमय न होकर अपनी अनुभूतिजन्य विपुल सौन्दर्य भावना और विकासोन्मुख संस्कृतकता के आधार पर अवलम्बित था। वस्तुतः इन आलोचकों ने काव्य का निकषण किसी भीति प्रकृति आदर्श को उपलब्ध बना कर नहीं किया बलितु उसे प्रकट स्वयम् में ही परिभाषित करने की चेष्टा की। उनकी विवेचना में एक ओर जहाँ जगत् और जीवन से साम्यव्यवस्थापन का प्रयत्न था तो दूसरी ओर उस साम्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित करने की सक्रिय चेष्टा भी थी। यदि इस युग के रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य का प्रकटन विशेष प्रामाण्य दृष्टि से किया जाय तो यह सत्य सहज भाव से असक नापया कि इस युग के सुप्ता और विचारक दानै-धने द्विवेदीजी और सुकेशजी के निर्धारित प्रतिमानों से दूर रह कर किसी व्यापक वस्तुतः की ओर प्रवर्तमान हैं, जिसमें सौन्दर्य और कला को उसकी विपुल प्रवृत्ति में स्वीकार करने का अधिक धारण है। उनके विवेचन में साहित्य-मरीचक

कहना होता पुस्तक-रूप के व्यवसाय के कुछ पूर्ण साहित्य में जिस सौन्दर्य-विशालिनी और प्रगतिवादी विचारधारा का प्रकाशन होने लगा था उसमें इन समालोचकों को परम्परा का परित्याग कर साहित्य के प्रति मानव जीवन की मूल मान्यताओं को लेकर चलने का इष्टिकोण प्रदान किया और वे समीक्षक परार्थ की मनोभूमि में उतर कर अपना सौन्दर्य-परक समानतावादी और मनोवैज्ञानिक विस्लेषण करने लगे। इन समालोचकों ने केवल राष्ट्रीय साहित्य-काल की सैद्धांतिक परम्परा को ही पूर्ण नहीं माना, अपितु वे वास्तव्य साहित्यालोचन की ओर भी मधुरी निजाला से अनुपातित हुए। यद्यपि इन समालोचकों में प्रतिक्रिया केवल पश्चिम की मनीषा चमक-दमक से चकित होकर उन्हीं के प्रचारों को साहित्य-समीक्षण का धनी मानकर चलने लगे किन्तु कतिपय ऐसे समालोचक भी रहे जिन्होंने अपनी मातृभूमि और विद्यमान पर विवेक का संकुच रखते हुए दोनों में अपेक्षित समन्वय और समुत्पन्न होने का भी प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि तब तक विश्वात्मक में विकसित होने वाली समालोचना-प्रणाली पर भी विविध प्रकार की मान्यताओं की छाया प्रतिबिम्बित होने लगी थी यद्यपि इन समालोचकों ने भी अपने मानसिक स्तर के अनुकूल सबसे उपयोगी विचार-सामग्री ग्रहण की। इन समालोचकों ने अधिकतर साहित्यालोचन की निष्कर्ष-प्रणाली में ही अपनी समीक्षाएँ प्रस्तुत की थीं यद्यपि उनमें पुस्तोत्तर-रूप की विभिन्न व्याख्याओं का प्रकाशन व्यापक मिला। यही कारण है कि मैंने प्रसार-रूप की प्रमुख प्रणितियों के साथ उन समालोचकों का प्रथम-प्रथम मुखांकन कर इन प्रणितियों के विस्लेषण के पश्चात् ही उनका समीक्षण किया है जिसके द्वारा इस विषय की अधिकता में कोई कठिनाई नहीं हो कि उनकी विचारधारा पर मनो-विस्लेषणवाद का अधिक प्रभाव है या समानतावादीय प्रगतिवाद का। वैसे तो समालोचना के इस प्रकार-काल की अधिक समालोचनाओं की संख्या में भी पर्याप्त प्रचार हुआ है किन्तु उनकी वैज्ञानिक उपस्थिति हमारी प्राथमिक समालोचना की एक विचारणीय विषय-वस्तु बनी हुई है। यद्यपि केवल उन्हीं समालोचकों पर विमर्श किया है जो अपनी किन्हीं विशेष मान्यताओं पर आधारित प्रचार-काल की प्रकाश-काल की समालोचनाओं का युग प्रेरक थी काल्य-साहित्य ही रहा है, जिसका उन्होंने पर भी इस युग में सैद्धांतिक निष्कर्षण हुआ है, किन्तु प्राप्य काल्य-साहित्य का ही है। एक प्रकार से इस युग की समालोचनात्मक मान्यताओं और विस्लेषण-प्रणालियों का निर्माण भी काल्य साहित्य के माध्यम से ही हुआ। यद्यपि मैंने उनकी अपने विवेचन का केन्द्र-बिन्दु बनाकर इस युग की चार प्रमुख प्रणितियाँ मांगी हैं, किन्तु मैंने छायावादी प्रगतिवादी मनोविस्लेषणवादी और प्रयोगवादी प्रणितियाँ कहा गया है। इन प्रणितियों द्वारा हिन्दी समालोचना को जो कुछ भी उपस्थित हुई है, उसमें कुछ तो अधिक महत्त्वपूर्ण है और कुछ केवल अनुकरणमूलक है। इनमें कुछ प्रणितियाँ तो अब भी प्रगता स्वयं-निर्माण करने की ओर उन्मुख हैं। भाग्य के दृष्टों में इन प्रणितियों का सामान्य विस्लेषण कर यही स्पष्ट किया जाना कि उनकी मौल-मौल ही विशेषताएँ यद्यपि स्पष्टताएँ हैं तथा वे हमारे साहित्यालोचन के विकास में कहीं तक सहायक बनी हैं।

छायावाद-युग और सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी समालोचना

७ द्वितीय-युग की इतिवृत्तात्मकता और बाह्य निष्ठा की प्रतिक्रिया में जिस छायावाद का कग हुआ उसे प्राग्भ में अपनी स्थिति की मुहक बनाने के लिए बड़ी कठिनाई भोगनी पड़ी क्योंकि उसके विरोध में समालोचकों का ऐसा प्रबल दल उठ बैठा हुआ था जिसने उसे किसी भी

विशेष प्रकार की प्राथमिकीयता और भावमयता का पुट भी स्वाम-स्वान पर है, जिसे केवल प्रभाववादी समीक्षा के क्षेत्र तक ही परिधीमित नहीं किया जा सकता अतः जिसमें पशुभूति और संवेदना के माध्यम से सन-सन विस्फेक-प्रवृत्ति के द्वारा सांस्त्रीय संस्थाओं के निष्पत्तय पहुँचने की भी चेष्टा है। उनके विस्फेक में काव्य के घोरतम और बहिरंग प्रवृत्तियों का भावमय संस्पर्श भी है और उसके वस्तु-संपर्क और रचना-कौशल का विशेषण भी। अभिप्राय यह है कि छायावादी-युग की समालोचना अपने रूप और प्रकार में प्राचार्य युग की मान्यताओं को धाने बढ़ाने वाली और प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता की ओर धार्मिक परिमाण में उन्मुख है और उसके द्वारा जहाँ एक ओर रचनात्मक साहित्य को सौष्ठव-विधि से समझने और हृदयवादी बनाने का कार्य हुआ है वहाँ दूसरी ओर नवीन संज्ञा और प्रेरणा का प्राबुल्य भी होने से नहीं बच सका है। यद्यपि इस प्रख्याती की समालोचना को सुनसीधर मुख अथवा प्राबुलिक हिन्दी समालोचना के प्रचार-काम की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप से मान्यता प्रदान करना सर्वथा ग्यावसयत है।

११ छायावादी युग की स्वच्छन्दतावादी साहित्य-समीक्षा मुख्यतः काव्यसमीक्षण के रूप में ही रही है। इस युग के प्रतिमान बहुत कुछ स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमांटिक हैं किन्तु स्वका रोमांचक स्वभाव किसी पाश्चात्य परिपाटी का प्रतिफल न होकर भारतीय जीवन के अन्तर्गत निष्पत्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के समालोचकों की दृष्टि में साहित्य के भौतिक उपकरण बहुत स्थूल अथवा सत के और वे मानव-धैर्यसत्त्वों अथवा चेतों के रहस्योद्घाटन की प्रथा निकार समीक्षण-क्षेत्र में आने बढ़ना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रतिमान-निर्धारण में जीवन की व्यापक संवेदना को महत्व दिया और सांस्त्रीयता का संपादक भी उनकी मूल्योक्त की कसौटी में प्रमुख-प्रवृत्ति के अभिव्यक्ति के स्थान पर एक साक्षरतावादी मनोवृत्तिका के संपर्क में हो सका जिसमें निरपेक्ष ही सुख-दुःख की अपेक्षा धार्मिक समीक्षापन था।

१२ छायावादी-युग की समीक्षा न केवल रचनात्मक साहित्य की प्रथा समस्त उद्भावनाओं का समावेश है। इसका विशेषण हिन्दी-युग की स्थूल मान्यताओं की प्रारम्भिकीयता के स्थान पर घटती की सुन्नता को अपनी पीठिका बना कर चला है जिसमें कल्पना स्वच्छन्दता प्राबुल्यता आत्मनिष्पत्ति तथा अतिरिक्त जीवन-वर्णन और जीवन मूल्योक्त की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के निर्माण के उक्त युग के साहित्यिक वातावरण और वादीवाद की स्पर्शा का भी बड़ा हाथ है जिससे वे छायावादी काव्य-समीक्षक किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सके हैं। इस युग के कवि-समीक्षकों ने काव्य-वर्णन पर प्राथमिकता का एक हुरका या घावेष्टन दर्ज रखा है, जिसका प्रमाण उनकी काव्य-संज्ञाएँ और उनकी वाक्य-व्यवस्था हैं। वैसे ही इस युग के छायावादी समालोचकों की दृष्टि में अवातर वर्णन भी है किन्तु अब बिलाकर वे साहित्य-वर्णन के उद्भावन में एक-ही आत्म-वर्णन पाते हैं।

१३ छायावादी काव्य-समीक्षा में अपने युग की अन्य प्रवृत्तियों की ओर झुकने की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार की समीक्षा का प्रतिपाद विषय साहित्यिक क्षेत्र में काव्य-साहित्य का सौष्ठव निर्दिष्ट कर देने का ही दृष्टि से अत्यधिक उच्च अथवा प्रशान करना रहा है। वे समीक्षक युग-परिचित की बहुता एक सीमा तक ही स्वीकार कर चल सके हैं। प्राबुलिक साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों का और भी इनका ध्यान गया है और वे उनके वैज्ञानिक और व्यावहारिक पक्षों के विवरण की ओर भी उन्मुख हुए हैं। काव्य की धीति तथा सुवक्त्र प्रवृत्ति की ओर इनकी विशेष रुचि है। प्रवृत्तिवादी और मनोविरतत-साहित्यों के यथार्थ से इनका विरोध है। उन्हें अपना काव्य-प्रवर्तन सभी दृष्टियों से स्वाभाविक और प्रकृतवादी भूति पर आधारित लगता है। पश्चिमी काव्य-साहित्य में प्रवर्तित कला और अभिव्यक्ति के विज्ञानों का भी इन पर प्रभाव है। वे समालोचक काव्य प्रेरणा की दृष्टि के स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक की भाँति एक वैज्ञानिक दृष्टि के रूप

का मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोण भी है जबकि किन्तु उसमें वैसा उधार नहीं मिलता जैसा उसके परवर्ती काल में दृष्टिकोण होना है। इतना ही नहीं इस युग के विद्वत्ओं ने काव्य के परम साध्य रस और धान्द को भी किसी मर्यादा की संकीर्णकारण में बाध न समझकर उसके चिरन्तन स्वस्म में देखने का प्रयास किया है। वस्तुतः इन सामोचकों की अभिव्यक्तियों में साहित्य को सामाजिकता और राजनीतिकता के बाह्य परिवेश में न ग्रहण कर भाव और कला की ऐसी नीटिका में विवक्षित किया गया है जिससे कोई भी साहित्य और संस्कृति भ्रमर बन सकती है।

६. यह तो एक स्पष्ट सत्य है कि छायावाद-युग की समामोचना अपने रचनात्मक साहित्य की भाँति बहुप्रस्तुत सास्त्रीयता का निर्मोक्त छोड़ कर पड़ी है किन्तु उसकी उन्मादनात्मक स्वयं काव्यान्तर में अपना सास्त्रीय-भाषार निर्माण कर सकी ऐसी अनुमान अवश्य किया जा सकता है। प्रायः छायावाद का युग संपाप्त हो चला है किन्तु उसका एक निश्चित स्वस्म और निर्धारित प्रतिमाल भी बन सका है इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। सब तो यह है कि छायावादी समीक्षक के मतदास से ऐसे मूलभूत तथ्यों की उल्लेख अवश्य की जा सकती है जो मने ही रस और प्रसन्नता की प्राचीन धर्म का परिचायक कर चली हो किन्तु जिसका मूल में भावनात्मकता और मनोवैज्ञानिकता की ऐसी शीघ्र अवस्था है जिसके आधार पर उसका परिष्कृत संज्ञानात्मक निष्पन्न सास्त्रीयता की माननीय धारण कर सका है। इस युग की समामोचना का प्रार्थन्यक हर्ष रस प्रसन्नता की स्फूर्त प्रत्यासी तथा निर्धारित लक्षण-वृत्ति का मने प्रभाव न दे सके किन्तु उसके धर्मपर्यंत समीक्षित साहित्य के कल्पना-पक्ष भाव-सौन्दर्य और कला-वैशिष्ट्य का सांस्कृतिक मनोभावनाओं के अनुक्रम को विस्मरण हुआ है, वह निश्चय ही अपनी अभिव्यक्ति में प्रत्यन्त मनोरम और भाव्य है। इस युग की समीक्षा का एक सत्य तो यह है कि उसके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती समामोचकों ने उसके एकान्ती और पलायनकारी दृष्टि-रिक्त का भी संकेत देने के स्वार्थ पर भ्रष्टानुपूर्व्य धर्मों में किया था उसका कसारमक परिवार इस युग के समीक्षकों ने प्रस्तुत कर दिया है। वे अपने युग की स्वच्छन्दवादी भावुकता और प्रत्यक्षता का भाषार सांस्कृतिक सामाजिक और राजनीतिक पदार्थ से भी स्पष्ट कर सके हैं।

७. छायावाद की समामोचना का विकास उसकी रचनात्मक साहित्य प्रक्रिया के समानान्तर भी हुआ है। जैसे इस युग की साहित्य-कृतियों में काव्य की वस्तुपरकता कविम आत्मकारिता सास्त्रीयता कविभावना का एकांत धारा है वैसे ही इस युग की समामोचना में भी विषयों की नवीनता भावों की स्वच्छन्दवादिता भाषा की लाक्षणिकता और कल्पना की प्रचुरता तथा अभिव्यक्ति की विविधता पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस युग की रचनात्मक और विचारमय दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को पाश्चात्य साहित्य-धारा और चिरन्तन भावना न भी प्रभावित किया और साहित्य के विविध विषयों की भाँति समामोचना के प्रतिमानों में भी नवीनता और व्यापकता का समावेश हुआ। काव्य-दृष्टि में आत्मविश्लेषण और व्यक्तिपरकता का समावेश भी इस युग की एक विशेषता है। प्रथम-काव्य के स्थान पर मुक्तक-काव्य और इतिवृत्त के स्थान पर गीत परम्परा का ग्रहण भी इसी युग में हुआ था। इस युग के समामोचकों ने अपने प्रापक केवल सामयिक साहित्य तक ही सीमित रखा हो एही बात भी नहीं है। वे परम्परागत साहित्य प्रतिमानों को नवीन शीघ्र में ग्रहण करने की धारा भी उन्मुख हुए हैं और उनके द्वारा प्राचीन साहित्य का अध्ययन और अनुसंधान भी किया गया है। प्राचीन कविता की कृतियों में उन्हीं वही भाव प्रचलता और लोभन की भाषा अपने विपुल स्वरूप में मिली है उनके काव्य-सौष्ठव में भी वे आत्म-विमोह होते हुए चलें हैं। यह इस युग के समीक्षकों की ही बात है कि समामोचना के प्रथम प्रयोगों और जीवन की मूल प्रवृत्तियों का चित्रण करने वाले काव्य के प्रथम-काव्यों और नाटिकाओं साहित्य-सृष्टि के लक्षणपर स्थान प्रदान किया गया है। उनको समीक्षण-पद्धति में एक

सत्ता की सम्पादन की कोटि में प्रतिष्ठित कर तथा कवि को श्रुति की समता में उपस्थित कर के एक घोर उधे बड़ा मूर्त घोर समूर्त की सीमित परिधि से उच्च स्थान प्रदान करते हैं, वहाँ दूसरी घोर कामसूत्र में दक्षिण संकीर्ण बिन्न तथा दम्पत्य कक्षाओं के साथ 'काव्य-समस्यापूर्व' की संयोजना कर उसे कसा की साधारण भेरी में भी निहित करते हैं जिसका स्पष्ट भाव्य मही है कि काव्य घोर कसा के स्वल्प-विधान के विषय में पाश्चात्य विचारधारा घोर भारतीय दृष्टिकोण में तात्त्विक प्रत्यक्ष की वस्तुस्थिति का उन्हें पूर्ण मनबोध है।

काव्य की परिभाषा घोर कसाओं का क्षेत्र

२१ प्रसार का काव्य घोर शास्त्र-विषयक विकसल सत्यतः सुलभ हुआ है। उसका एक शास्त्रीय तथा सांस्कृतिक आधार है। काव्य को 'आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति' कह कर वे उसे विस्लेषण विकसल तथा विज्ञान से भिन्न मानते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि 'आत्म में अर्थ का आकात्मक ऐहिक घोर धार्मिक विवेचन होता है घोर काव्य में अर्थ घोर प्रेम दोनों का सामंजस्य होता है। शास्त्र भाष्य-समाज में व्यवहृत विचारों के संकलन है। उपयोगिता उनकी सीमा है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का मित्य नया-नया रूप खोजने में प्रयत्नशील है, क्योंकि आत्मा को अनोख वास्तव घोर साधनमा माना गया है।^१

२२ काव्य की परिभाषा में प्रसारकी द्वारा प्रमुख आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति पर विचार महत्वपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण में किसी प्रकार का उत्पन्न-भय न हो जान, यतः ऊहनि स्वयं इसकी विवेचना कर ही है। उनके मतानुसार आत्मा की मनन-शक्ति की वह प्रसाधारण प्रवस्था को अंतःकरण को उसके मूल कारण में सहसा ग्रहण कर लेती है काव्य में संकल्पनात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।^२ इस विस्लेषण में प्रसाधारण प्रवस्था का उल्लेख इसलिए किया गया है कि वह (प्रसाधारण प्रवस्था) युवों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है क्योंकि सत्य प्रवस्था अंतःकरण कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं वह एक शास्त्र-वैयर्थ्य है या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी विविध रूप से विद्यमान रहती है।

२३ प्रसारकी ने यद्यपि ज्ञान की अखंड सत्ता स्वीकार की है घोर वे देशकाल घोर परिस्थिति के कारण समूर्त सांस्कृतिक कवि मेर के अनुसार इसके व्यावहारिक मेर भी मुनासत समस्त हैं, किन्तु उन्हें भारतीय दृष्टि में जो भौतिक-चित्त घोर प्रतीक-विधान मिला है वह पश्चिमी विचारकों की नाम्यताओं से निश्चय ही बहुत ऊँचा है। हमारे यहाँ ब्रह्म की मूर्त घोर समूर्त इन दोनों रूपों में कल्पना होने के कारण उसे मित आध्यात्मिक आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया है, वह प्रसारकी की संवर्धन घोर आत्मशास्त्री विचारधारा के अत्यंत निकट है। यही कारण है कि वे मूर्त घोर समूर्त की दृष्टि से कसाओं का भेरी-विभाजन उचित नहीं समझते, क्योंकि कसाओं के मूर्ताक का यह कोई सर्वसाधारण प्रतिपाद नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में उनका यह निष्कर्ष अत्यंत सम्भीर घोर स्पष्टपूर्ण है कि "सौम्यवेद्य विना रूप के हो ही नहीं सकता। सौम्य के अनुभूति के साथ ही साथ हम अपन संवेदन की आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के

१ अन्तरात्मा सत्ता काव्य घोर कसा काव्य चन्द्र निकम, पृष्ठ ३३३।

२ श्री, पृष्ठ १०।

३ श्री, पृष्ठ १०।

४ श्री, पृष्ठ १०।

में स्वीकार करते हैं और अन्तर्धर्म का बहिर्धर्म के साथ साम्य-संस्वापन काव्यगत उच्चता का एक मुख्य उपादान मानते हैं। इन समीक्षकों में जन-जन भावुकता भी दृष्टिकोण होती है और शैली-सौष्ठव तथा धर्मिण्य-जन-कीर्तन भी मिलता है। प्रभाववादी समालोचना की परिभाषा भी इन काव्य-समीक्षकों को प्राप्त है। कृतिकार की मनःस्थिति का निष्पन्न कर उसमें पाप विनोद होते हुए इन समीक्षकों ने अपनी समीक्षाओं का एक उद्देश्य यह भी रखा है कि उसका प्रेरण रसक पाठक के हृदय तक अधिक से अधिक संवेचनात्मक अनुभूति से करा दिया जाय। समालोचना के सैद्धांतिक निष्पन्न की धारणा ये समालोचक धारण-प्रणों से न लेकर जीवन से लेते हैं क्योंकि उनमें रस-ग्रहण की एक ऐसी क्षमता है जिससे जीवन-रस का सहज भाव प्राप्त किया जा सकता है। इस मतप्रवाह में कदाचित् ही किसी को वापस हो कि छायावाद-युग की समीक्षा-दृष्टि द्विवेदी-युग और भुक्त-युग की परम्परागत धारणाओं और आदर्शवादी धारणाओं से अधिक विकसित है, जिसमें समालोचना को बौद्धिक रसानुभूति प्रदान करने का सुष्ठ, प्रयास है।

१४ छायावाद-युग और उसके काव्यालोचन के सम्बन्ध में जो कुछ पूर्वोक्त पक्ष-सम्बन्ध किया गया उसका यह परिणाम नहीं कि इस युग की काव्य-विषयक धारणाएँ और सर्वनात्मक प्रवृत्तियाँ विवृष्ट काव्य-दृष्टि से उतने उच्च स्तर की थीं कि उसमें किसी प्रकार की एकानिता का अवकाश ही न था। वास्तविकता तो यह है कि इस युग की साहित्य-समीक्षा ने काव्यालोचन के मानक को कहीं-कहीं इतना अधिक धारणपरक और सध्यात्ममूलक बना दिया जिससे उसका समाजवादीय प्रवृत्ति ऐतिहासिक पक्ष बन सा गया। यद्यपि इस युग की समीक्षा-दृष्टि कसामक और सौर्वर्ण्यपूर्ण अधिक थी जिससे जीवन की वचार्थ ओसमूषि को अधिक उपलब्धि नहीं हुई। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि छायावादी काव्य की प्रति उसकी समालोचना भी कई स्तरों पर हृदय और धार्मिकता के दृष्टि से व्याप्त केवल बुनियाद धारमूर्ति ही बन गई जिसमें सध्यात्मक का संघ भिन्ननिमाते जायकी लक्षणों के बीच विमल कर रख पया जिसमें उसके विरोधी समालोचकों को या मुखावा देने की प्रवृत्ति ही अधिक मिली और उन्होंने उसे पक्षान्तरवादी कह कर सामाजिक-दर्शन प्रवृत्ति सामाजिक-वाक्यों से विहीन सिद्ध किया। यह साक्ष्य छायावादी काव्य और उसकी समीक्षा प्रवृत्ति की अविवेकतायक ही किया गया था। यदि छायावादी काव्य-समीक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण की प्रवृत्तिवादी कुछ स्थिर बचपन पर होती तो संभवतः उससे ठिकानत करने का कम अवसर होता पर दृष्टिस्थितिबद्ध ऐसा नहीं हो सका। यही कारण है कि छायावादी काव्य प्रवृत्ति और समीक्षा-दृष्टि के विपरीत चलने वाली समालोचना ने छायावाद को सर्वथा व्यक्तित्ववादी दृष्टि से देखा है और उस काव्य में उसे बहुत और रसस्वाध के महत्त्व का कोई संकेत नहीं मिला है। उसके विरोधी समालोचकों ने उसे शैली या पारसीक प्रयत्न पर स्वीकार करना किसी भी तर्क पर समुचित नहीं समझा है, क्योंकि वे प्रकृति में वैतनसत्ता का आरोप और प्रेम-निष्पन्न को बहुत विषयक धर्मिण्यस्ति स्वीकार करना किसी भी आधार पर उचित नहीं समझते और उन्हें छायावादी काव्य दृष्टिकोणिक प्रेम और सौन्दर्य भावना से प्रभाव ही नहीं मयता।

१५ छायावादी कवियों ने अपनी काव्य-कृतियों की मूयिकाओं तथा स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में प्राकृतिक हिन्दी-साहित्य के उत्कर्षत समालोचना का विकास करने में महाम् योग दिया है। इनकी समालोचनाएँ धारणीयता की परम्परागत दृष्टिबद्ध प्रवृत्ति से विहीन और कीरी सस्य निष्पन्न प्रवृत्ति से रहित हैं। इन कवियों के काव्य-समीक्षक का दृष्टिकोण साहित्य को उसके विवृष्ट संवेदनशील स्वरूप में ग्रहण करने का रहा है और वे धर्ममूर्ती साधना की स्वच्छन्दताविता को सौष्ठवपूर्ण विधि से धर्मिण्यरुत करने में ही साहित्य की परम विधि समझते रहे हैं। इन कवियों की समालोचना का एक पक्ष अपनी धारणाओं और विचार धारणों को जीवन के चिरतन तथ्य के साथ संघटित कर उन्हें व्यक्त करना तथा अपने-अपने

रहस्यवाद का उद्गम और उसकी भारतीय प्रवृत्ति

२१ सैद्धांतिक समासोपना की दृष्टि से प्रसादजी का रहस्यवाद विषयक विषयन प्रत्यक्ष प्रौढ और शास्त्रसम्मत है। इसके विवेचन का मूल प्रयोजन रहस्यवाद को काल में घातमा की संस्कारमय मूल अनुभूति की मुख्य धारा निर्दिष्ट कर इस भ्रान्ति का निराकरण करना है कि उसका मूल उद्गम सैद्धांतिक धर्म थावना है और इसीलिए भारत के लिए यह बाहर की वस्तु है।^१ सामी धर्मों में रहस्यवाद की साम्प्रदायिक भूमि धर्म मानवता के लिए कोई स्थान नहीं था घट जब वही की धार्मिक मान्यताओं के विशद करने का साहस ईसा शताब्दी तथा मंसूर जैसे तत्व दसियों में अपने को ईश्वर का पुत्र तथा प्रमत्तहृत् घोषित करते हुए किया तो उन्हें प्राण-वन्द्य दिए गए, क्योंकि उनकी विचारधारा भारतीय रहस्य-भावना के अधिक निकट की। यद्यः प्रसादजी की दृष्टि में भारतीय रहस्यवाद ठीक मेसोपोटामिया से आया है यह कहना बँधा ही है जसा देशों को 'लुमेरियन हाफ्टमेन्ट' सिद्ध करने का प्रयास।^२ इससे यह समिप्राय नहीं कि प्रसादजी आधियों के पारस्परिक साहचर्यवश विचार-विमर्श के क्षेत्र में होने वाले आदान प्रदान के रूप को मस्तीकार करते हैं। उनका तो स्पष्ट आशय यही है कि जिस धर्म में रहस्यवाद की विदेशी प्रवृत्ति कहा जाता है वह प्रसमीपीन है क्योंकि वैदिक काल की ऋचाओं से लेकर अष्टम युग के साहित्य निर्माण पर्यन्त उसके विकास-तंतुओं का सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की क्रमागत निधि में स्वाभाविक विधान में किया जा सकता है।

२२ रहस्यवाद के स्वरूप-विवेचन के अन्तर्गत प्रसादजी ने ऐतिहासिक अनुशीलन के आधार पर विभिन्न भारतीय धर्मों और विचारकों की उद्धरणियाँ प्रस्तुत कर भारतीय विचार-वाद के अन्तर्धर्मों में आने वाले परिवर्तनों का जो सम्पूर्ण विश्लेषण किया है वह उनके प्रमाद पारिदश्य तथा मौलिक चिन्तन का पारिचायक है। उसके द्वारा इस विषय की उपलब्धि में हमें विषय आवास नहीं करना पड़ता कि रहस्यवादी काव्यधारा भारत की निजी सम्पत्ति है। उन्होंने शोधपूर्ण दृष्टि विधान से शास्त्रानुमोदित प्रमाण जुटा कर हिन्दी के उन सम्प्रदाय आलोचकों की मान्यताओं का भी खण्डन किया है जो रहस्यवाद की वर्तमान प्रवृत्ति को विदेशी प्रयासित करने के लिए सबसे सन्ध्या सम्प्रदाय विषयों पर भी विदेशी छाया का प्रभाव निर्दिष्ट करते हैं। यद्यपि प्रसादजी ने अपनी आशीनतावश ऐसे समासोपनाओं के नाम निर्दिष्ट करते हुए प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत आक्षेप नहीं किए हैं किन्तु उन्होंने उनकी जिन उपपत्तियों को भाविप्रस्तुत बतलाया है, वे साहित्य समीक्षक में अब पुनः स ही रहना अधिक और प्रमाण करती आ रही हैं कि सम्प्रदायिक साहित्य विज्ञानार्थी को उनकी आक्षेप विवृति का ज्ञान हुए बिना नहीं रहता। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य प रामचन्द्र दुर्गा ने 'काव्य के रहस्यवाद' शीर्षक विस्तृत निबन्ध में लोकसामान्य आक्षेपों की मूल विचारणा के आधार पर रहस्यवाद की अस्तित्वता में जिन विदेशी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया था उनका समाहार प्रसादजी ने प्रस्तुत विवेचन में मुख्य रूप से किया है। एसा करने में उनका श्रुतमन् व्यतिरिक्त और शास्त्र ज्ञान बहुत सहायक हुआ है।

रहस्यवाद विषयक अन्य मान्यताएँ

२३. प्रसादजी ने रहस्यवाद की मूलतः भारतीय काव्य-परम्परा में स्थान देना के लिए उन प्रसंगों का भी विवेचन किया है, जिनका उपजीव्य बनाकर उनके विरोधी विचारका ने उस साम्प्रदायिक और विदेशी छाया में पनपन बापा सिद्ध किया था। यद्यपि वहम उन्होंने रहस्यवाद

१. काव्य और काल का सम्बन्ध निम्न, एक तत्त्व २।

२. २६१, २६२ पृष्ठ

लिए शाय्य हैं। इसलिए धर्मूर्त सोम्वर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।^१ इस प्रसंग में ब्रह्माचार्य तत्त्व-दर्शन का मूर्त और धर्मूर्त विषयक विवेचन अत्यन्त पठनीय बन गया है और वे काव्य-दर्शन के विषय में एक प्रकार से मूर्त और धर्मूर्त का सम्बन्ध ही उभास कर सकने में सक्षम हुए हैं।^२

२४ 'कला' के सम्बन्ध में भारतीय साम्यता का क्या दृष्टिकोण है। इसका सामान्य निर्देश प्रसादजी ने कई प्राचीन धार्मायों के मतानुसार किया है। वस्तुतः भारतीय दृष्टि कला को उपविद्या के अन्तर्गत संयोजित कर उसे विज्ञान के निकट उपस्थित कर देती है जिसका प्रमाण हमारे यहाँ काव्य-समस्या-मूलक कलाशास्त्र तथा विषय के विषयों को "काव्योपयोगी कला के शास्त्र" के निकट रख कर देखा है। इसी प्रकार दण्डी ने भी मूल्य-नीति-प्रभृति कलाओं को कामार्थ संक्षेप कहा है और भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त भी कलाओं की श्रेणी में गीत नाच प्रादि की ही गणना करते हैं। धार्मायों बावजू भी काव्य का विषय सम्बन्धी विनाशजनक करत हुए नहीं प्रतिपादित करते हैं कि काव्य का एक विषय कला भी हो सकता है। प्रसादजी ने इन धार्मायों के मतों का उल्लेख तो किया ही है, किन्तु साथ ही साथ वे वैदिक-मतों के अतीत तत्वों में प्रतिपादित कलावैयक्तिक तत्व की महत्ता पर विशेष बल देते हैं क्योंकि उनके विवेचक क्षेमराज ने द्विवचन विमर्शनी में "कसवति स्वस्वक्यावेक्षेन उत्तमवस्तु परिष्कृतमिति इति कलाभ्यापारः" कह कर उसका सम्बन्ध आत्मानुभूति के साथ जोड़ दिया है। प्रसादजी ने आत्मानुभूति की व्यञ्जना में 'स्व' को कलन करने का उपयोग धनुकुल प्रतिष्ठुष और यदुष्टुष नामक तीन प्रतीक-विधानों में निहित किया है जो उनके मतानुसार क्रमशः धारयबाह यथातथ्यबाह और व्यक्तिबाह के मूल अङ्गम' कहे जा सकते हैं।^३ इस प्रकार कला के सम्बन्ध में उनका यह दृष्टिकोण अत्यन्त मन्मीर और दार्शनिक विचारबाध का परिणामक है कि कला और आत्मानुभूति दो अभिन्न वस्तुएँ हैं जिनके लिए "सम्बन्ध-विन्यास-कोष्ठल तथा ध्वन्य प्रादि की सामान्य आवश्यकता नहीं।

२५. काव्य और कला का इस प्रकार भारतीय स्वस्व निर्धारित कर प्रसादजी ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। यह यह कि काव्य में कुछ आत्मानुभूति की प्रधानता है या कोष्ठलयन प्रकारों या प्रयोगों की।^४ इसके उत्तर में उन्होंने महाकवि सूर और तुलसी के काव्य विषय को लेकर यही साम्यता स्थापित की है कि काव्य-सूचन में आत्मानुभूति की ही प्रधानता होती है और उरी के कारण अविश्वसित में भी वास्ता तथा गुणों का संचार हो जाता है। सूर के वास्तव्य-वर्णन में सकलार्थक यौगिक धनुमूर्ति की तीव्रता भी जिसके कारण वे कृष्ण के सिद्धु रूप का अधिक मनस्पर्शी चित्र चित्र कर सकें जबकि बोस्वादीधी के हृदय में बबबान राम की "भक्त रसल समर्थ बसमुता और स्वाभूर्त ईश्वरता" का प्राचुर्य वा जिसके कारण वे उनका केवल सर्वोच्च-पुण्योत्तम रूप ही चित्रित कर सकें। प्रस' प्रसादजी के मतानुसार धनुमूर्ति और धनि स्थिति काव्य के अन्तर्गत और बहिरंग हैं जिनका सम्बन्ध अपरिहार्य है और कला को केवल प्रसंसार, बल्लेवित गीत तथा ध्वन्य-विन्यास-कोष्ठल में ही ध्वनेवित करवा उसके प्रधान तत्व की प्रवृत्ति करना है क्योंकि "काव्य में जो वाक्ता की यौगिक धनुमूर्ति की प्रवृत्ति है वही सोम्वयमया और संकल्पनात्मक होने के कारण अपनी भवस्थिति में हमलीय आकार में प्रकट होती है।^५

१. अमरं प्रसाद, काव्य और कला तथा अन्य विषय पृष्ठ १५।

२. सी. १, ३ १५।

३. सी. १, ५५ ४५ ४६।

४. सी. १, ५५ ४५-४६।

५. सी. १, ५५ ४५।

अभ्युत्थान होने के कारण जब उसमें हैत भावना-धीर समर्पण-बुद्धि का आधिनय रहा तो निरपेक्ष प्रेममूलक रहस्यवाद के विकास के लिए अधिक अवसर उपस्थित हुए। सन-सन रहस्यवाद कई बाराघा में विवक्षित होकर हिन्दी काव्य भारों की कृतिवर्षों में विकसित हुआ जिसका भावि-स्वकम विद्वान् माधवधियों और कबीर प्रादि संतों की वास्तवियों में मिलता है। इस प्रकार प्रसादजी ने रहस्यवाद को काव्य में भावना की संक्रमात्मक मूल अनुभूति की मुख्य बाध छिड़ कर भारतीय साहित्य में उसका नैसर्गिक विकास प्रतिपादित किया है। ऐसा करने में उनके काव्य के प्रति बने हुए आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने पूर्वपीठिका प्रस्तुत की है।

विरोधी समासोचकों को प्रत्युत्तर और रहस्यवाद का प्रकृत स्वकम

११ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि प्रसादजी रहस्यवाद को काव्य की प्रकृत बाधबाध मानते थे अतः उनके विरोधी समासोचकों ने जब उन पर कई प्रकार के घालेप क्रिये तो उन्होंने अपने आत्मीय ज्ञान के आधार पर उनका निराकरण करने का प्रयत्न किया। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि आचार्य पं. रायचन्द्र शुक्ल रहस्यवाद की कई प्रवृत्तियों को विरोधी मानते थे जिनका प्रत्युत्तर प्रसादजी ने अपने विवेचन के प्रसंग में दिया। उदाहरणार्थ उन्होंने कबीर प्रादि संतों को छटपटी वाणी का प्रबोध करने वाले कहा तथा ज्ञान उपासना और कर्म को सर्वथा प्रथम-प्रथम कम में निरिच्छ कर रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान-काव्य से जोड़ा जिनके लिए प्रसादजी ने वैश्व और उपनिषदों के उद्धरण देकर उनकी वास्तवता का उद्घाटन किया। हाँ यह बात प्रत्यक्ष है कि ऐसा करने के पूर्व प्रसादजी ने पृथिवी की भी संक्रमात्मक काव्य कहकर कविर्मनीषी की अनेकता स्वीकार कर ली थी। इस सम्बन्ध में अपनी ओर से अधिक कुछ न लिखकर स्वयम् प्रसादजी के उद्धरण देना प्रस्तुत कथन की वास्तविकता स्पष्ट कर देना—

१२ (घ) जो लोग यह सोचते हैं कि आदेश में छटपटी वाणी कहने वाले वाणी पैदावार ही वे वे क्याचित् यह नहीं समझ सके कि वैदिक ऋषि भी कुछ बातों को अमलकारपूर्व सांकेतिक भाषा में कहते थे। 'अधामेका सोहितसुखसङ्गम्याम् तथा तमेकनेनि निवृत्तं वोढवन्तं अतार्क्यम्' इत्यादि मन्त्र इसी तरह के हैं।^१

(ग) "यह भी कहा जाता है कि यहाँ उपासना कर्म के वाच ज्ञान की बाध विमुक्त रही और उसमें आराध्य से मिलने के लिए कई कक्ष नहीं बनाये गये। किन्तु आत्मोन्मत्त में बिना मूल्य आकाश का उन्मेष बहुउपासना में हुआ है। उन्मत्त से बोधों के मूल्य और धामनों की मूल्य भूमिका का सम्बन्ध है। फिर कबीर की मूल्य महत्तिया धाम देश की धीमात कैसे कही जा सकती है? अतियों में नीवारमूकवत् लम्बी शिक्षा के मध्य में परमात्मा का जो स्थान निरिच्छ किया गया है, वह मन्दिर या मन्त्र कहीं बिसेध से नहीं धामा है। धामनों में तो इस रहस्य-भावना का उन्मेष है ही।"^२

(ङ) "वैश्व उपनिषदों और धामनों में रहस्यमयी धामन्य-साधना की परम्परा के उन्मेष है। अपनी साधना का अधिकार उन्होंने कम नहीं समझा था। धाम तुमसी साहब के 'जिन जाना दिन जाना माही' इत्यादि को देखकर इसे एक बार ही धाम देश से घाई हुई समझ लेने का जिन्हें आग्रह हो उनकी ही बात है। छुछपी है, किन्तु केनोपनिषत् के 'यस्यामर्त उत्प मर्त मस्य न खेद स' का ही अनुकरण यह नहीं है यह कहना अस्य से दूर होना। परदेह तदनुच यदनुच' इत्यादि पृथि में बाहर और भीतर की बिज और ब्रह्माण्ड की एकता का जो प्रतिपादन किया गया

में निरूपित सूक्ष्म-सम्प्रदाय की धर्म-भावना की भारतीय दर्शन की ओर में मनमन बाकी निरूपित कर आचार्य धर्म की इस मायता का कथन किया है कि यह भारत के लिए निवेदी वस्तु है। इसी प्रकार उनका दूसरा धर्म्य उन लोगों के प्रति है जो मेरीपोटासिया या बाबिलन के बास ईस्टर प्रभुति देशवासियों के मन्त्रियों में रहने वाली वेद बाधियों को ही धार्मिक प्रेम का उद्गम^१ बतलाकर 'वहीं से धर्म और प्रेम का निष्पन्न' तथा उपासना में कामोपयोग इत्यादि धर्माचार का प्रारम्भ मानते हैं तथा जिनके मत से 'यह प्रेम ईसाई धर्म के द्वारा भारतवर्ष के वैष्णव धर्म को मिला' है। प्रसादजी ने ऐसे लोगों का कथन 'काम' को प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप कहकर उसकी व्यापकता की प्रशंसा करते हुए किया है। कामान्तर में 'काम' शब्द की महत्ता समझते विवेकवादियों की धारणा भावना के कारण कम हो गई अतः प्रसादजी उसकी उपासना की सौन्दर्य आनन्द तथा उग्रम नाव की साधना-प्रणाली से संयुक्त कर इस मत की प्रतिष्ठा करते हैं कि इतने वैदिक काम की प्रथम शास्त्रों में काम-कला के रूप में उपासना भारत में निरूपित हुई थी जो कामान्तर में अन्य देशों की साधना पद्धति में कुछ भिन्न स्वल्प कारण कर स्वीकृत हुई।^२

२१ प्रसादजी भारतीय विचारधारा में रहस्यवाद का प्रमुख स्थान मानते हैं और जो लोग उसमें सेमेटिक भावना पाते हैं उसका प्रमुख कारण वे उन लोगों की धार्मिक धारणादिता और जातिगत निरीयता बतलाते हैं। उनका तो इस विषय में एक विश्वास है कि धर्मों के जीवन में आनन्द उत्साह और प्रमोद के संस्कार प्रारम्भ ही से रहे हैं जिनका रहस्यवाद के आनन्दप्रसंग से सहज सम्बन्ध है। इतना ही नहीं वैदिक-कालीन प्रकृतिपूजा और बहुदेवोपासना में भी उन्हें आनन्द वाली धारणावादी धारा के वर्णन हुए हैं जिसकी प्रतिष्ठा देवराज इन्द्र ने की तथा जिसका विरोध कामान्तर में विवेकवादी शास्त्रियों ने किया। उनकी इस प्रशंसा में एक मौखिक मायता यह भी है कि पिछले काल में भारत के धार्मिक धर्मात्मवादी ही अस्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ।^३ ऐसा कहते हुए भी वे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि आनन्दवादवासी मुख्य अन्तर्धार में भक्ति का विकास एक दूसरे ही रूप में हो चुका था।^४ वैदिक काल के पश्चात् उपनिषद्-काल तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी धर्मों की आनन्दवादी विचारधारा का पल्लव बढ़ता गया जो क्रमशः मूढ़ और रहस्यपूर्ण बनने लगी। भुक्तियों और निमग्न-काष्ठ के पश्चात् आनन्द-दर्शन में भी यह धारणावादी आनन्दमयी धारा विकसित होती रही जिसका कामान्तर में सिद्ध-सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पड़ा। सिद्ध वाधुपद-योग की प्राचीन साधना-पद्धति के उपासक ने और उन्होंने धर्म की प्रतिष्ठा के साथ आनन्द की योजना करने के लिए काम उपासना-प्रणाली भी इष्टांत के रूप में स्वीकृत की थी।^५ इस प्रकार प्रसादजी के मतानुसार आनन्द और धर्म भावना का स्वल्प भारतीय साधना में वैदिक काल ही से रहा है जिसकी धार्मिकता पर रहस्यवाद नहीं की प्रमुख कामधारा सिद्ध होती है।

२ प्रसादजी ने रहस्यवाद के भुल में भारतीय दर्शन के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कर उसके आनुवंशिक रूप में रचित प्रीति सौन्दर्य तथा धर्म अस्ति का भी सामान्य निरूपण किया है। उन पर सेवापद-दर्शन का तो इतना अधिक प्रभाव है कि वे सर्वप्रमुख रहस्यवाद के व्यावहारिक रूप में विश्व को धारणा का अभिन्न धर्म पाते हैं और बगल तथा धर्मधारा की व्यावहारिक प्रवृत्ति में आनन्द की सहज भावना का विकास^६ पाते हैं। पौरस्तिक-युग में कल्प-भक्ति का

१ काम और कला तथा काम विवेक, पृष्ठ ४०।

२ वही, पृष्ठ १२।

३ वही, पृष्ठ ११।

काम और कला तथा काम विवेक, पृष्ठ १०।

४ वही, पृष्ठ १०।

५ वही, पृष्ठ १०।

६ वही, पृष्ठ १०।

सांख्यिक धर्मकार मठ से सम्बन्ध किया। अभिनवभूषण ने अश्वमेधयज्ञ आनन्दपत्र नामे संवाहीतबार के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की।^१ अभिप्राय यह है कि प्रसादवी के मतानुसार रस के सम्बन्ध में की गई आनन्दवाकियों की व्याख्या सबसे अधिक पूर्ण और सांख्यिक है और उनके रस-सिद्धान्तों में साहित्य दर्शन का जो समुद्र-समन्वय है वह बार्हणीक रहस्यवाद से दूर हटा हुआ नहीं है।

१६ बैसे तो प्रसादवी ने रस का विवेचन अधिक विस्तार में नहीं किया है किन्तु फिर भी उसमें जो सत्तन वैशिष्ट्य और सांख्यिक निष्कर्ष हुआ है वह समुद्रपूर्ण है। वे पादशास्त्र दृष्टि के अनुसार कला को अनुकरण-भाव नहीं मानते क्योंकि ऐसा मानने से भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार साहित्य में अभेदपूर्ण बार्हणीक सत्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। उन्होंने बस्तुतः काव्यात्मक को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की तत्त्व-योजना से संयुक्त कर नाट्य रसों में आत्मा के प्रतिभाव को वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप में ग्रहण करने की सृष्टि की है।^२ वे अभिनवभूषण आदि प्रमुख आचार्यों की भाँति सामाजिकों नदों तथा कवि इन तीनों में रसानुभूति का साधारणीकृत विभूत मानते हैं जिसके अनुसार इन तीनों में अभेद भाव से एक रस हो जाता है। उनके मत से रसानुभूति फलयोग्य की दृष्टि से सर्वत्र पूर्ण होती है यद्यपि उसमें निम्नोन्नत कोटियों के व्यवहार का कोई अवकाश नहीं रहता यद्यपि जो लोग स्वयं पर अभिनीत किये जाने वाले किसी प्रत्याचारी के प्रत्याचार को देखकर अपनी सत्सृष्टि के कारण मठ से साधारणीकरण न होने के कारण उसमें निम्नकोटि की रसानुभूति की कल्पना करते हैं, उनका प्रसादवी खण्डन करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्लजी ने तुलसी की काव्य-रचनाओं का विवेचन करते हुए जिस प्रकार की निम्न कोटि की रसानुभूति का विश्लेषण किया था उसका प्रसादवी ने इस कथन द्वारा खण्डन किया है। वे तो बार-बार 'भारतीय रसवाद में निम्न अभेद कुछ की सृष्टि को मुख्यता देते हैं' जिसमें लोक मनस की कल्पना भी प्रखण्डन रूप से अस्वीकृत रहती है। उनका रसवाद के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है, इसका सूत्र रूप में निम्नरूप इस प्रकार है—

'रसवाद में वासनात्मकतया स्थित मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं, इसलिए वह वासना का मद्योपन कर के उनका सामाजिकीकरण करता है। इस समीकरण के द्वारा जिस अभिनिष्ठा की रससृष्टि वह करता है उसमें व्यक्ति की विभिन्नता विधिपूर्वक हटा जाती है और साथ ही सब तरह की भावनाओं को एक धरातल पर हम एक मानवीय बस्तु कह सकते हैं। सब प्रकार के भाव एक दूसरे के पुरक बनकर चरित्र और वैशिष्ट्य के आचार पर रूपक बनाकर रस की सृष्टि करते हैं। रसवाद की यही पूर्णता है।'^३

१७ प्रसादवी ने रस-विवेचना के प्रथम में उसका यक्ति के साथ भी सम्बन्ध-मूल जोड़ने का प्रयास किया है। वे भावनों में प्रतिपादित अर्द्धत-मूला व्यक्ति के मधुर-सम्प्रदाय में रस-परिपाक की प्रत्युत्तिता पाते हैं और परकीया प्रथम में बार्हणीक दृष्टि से जीवन और ईश्वर की अभिनिष्ठा के लिए तीव्र-संदेहों की योजना के अधिक अवसर देखते हैं किन्तु उनकी दृष्टि से ईश्वर भाव की भक्ति कथन रसाभास ही करा सकती है। उनका तो रस-सम्प्रदाय की अर्थव्यवस्था पर इसका अधिक विरवाद है कि वे व्यक्ति की प्रतिपादित और व्यक्ति पर उसकी प्रभु-व्यवस्था स्वीकार करना समुचित समझते हैं। यद्यपि यह है कि एक प्रकार से उन्होंने रस और धर्मकार की कोटियों में ही साहित्य

१. काव्य और कला तथा कल्प निर्देश, पृष्ठ ७१-७२

२. वही, पृष्ठ ७१

३. वही, पृष्ठ ७२

६. संत-मठ में उठी का अनुकरण किया गया है।^१”

११ प्रसादजी ने रघुस्यार का एक स्वरूप प्रकटिमुखक भी माना है और उसे स्वाभाविक रूप में विकसित बताया है। रघुस्यार की चारा में उन्हें भारतीय तत्त्व-समितिद्विष्टि इतनी अधिक उपलब्ध होती है कि वे तुलसी जैसे सगुण भक्त कवियों में भी उसका आभास पा लेते हैं। कृष्ण-भक्त कवियों के प्रेम में उन्होंने विरह और माधुर्य की परोक्ष अनुभूति का जो निष्कर्ष किया है वह अत्यंत तात्त्विक है। इसी प्रकार छिटा की सम्प्रा भावा में भी उन्होंने आनन्दवाद की अन्तर्दृष्टि दे दी और पक्षी परम्परा में तुलसीविरि और खानविरि पादि उन्हें कुछ रघुस्यारी कवि लगे हैं जिनकी साधनियों में आनन्द और घईत का सर्वत्र समावेश है। प्रसादजी के मतानुसार रघुस्यार के स्वरूप का स्पष्टीकरण निम्नलिखित चरित्रण से और अधिक तारतम्यपूर्ण विधान से हो सकेगा—

‘साहित्य में विस्मयकारी प्रकृति में वेतनता का भारीत संतुष्ट आद्यम में प्रकृत्या से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अपना पवित्र का रघुस्यार सौन्दर्य-नदरी के छरीर त्वं सम्मो का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस घईत रघुस्यार की सौन्दर्यमयी व्याख्या होने लगी है वह साहित्य में रघुस्यार का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा प्रहम् का द्वय से अवलम्ब करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ विरह भी प्रेम की बेरता के अनुकूल विमल का सामान बनकर इसमें सम्मिलित है।’^२

रस-विवेचन के सम्बन्ध में प्रसादजी के विचार

१४ प्रसादजी की समानोपमा का एक प्रमुख विषय रस-विवेचन भी है। इसका निष्कर्ष करने में उन्होंने काव्य के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित सूत्राचार्यों की आनन्दवादी चारा का उपयोग किया है। जैसे दो ‘रसो नै व’ के अनुसार रसवाद की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा भरत मुनि ने अपने ‘नाट्यशास्त्र’ में की जिसका कारांतर में विभिन्न परवर्ती प्राचार्यों ने अपनी-अपनी विचारचाराओं के अनुसार विस्तारित किया। प्रसादजी ने उन प्राचार्यों की मान्यताओं का सामान्य उल्लेख कर मुख्य रूप से अभिनवगुप्त आनन्दवर्द्धन तथा बहिरास जयन्ताय के इन दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है जिनके अनुसार रस काव्य की आत्मा सिद्ध होता है तथा जिस की अनुभूति आनन्द-रस से सम्मिलित होती है। ऐसा करते हुए उन्होंने इस चारणा पर विवेक बस दिया है कि रसवाद मूलतः आनन्दपरक है और उसकी नाट्यमन्त्रण उद्भावना केवल इस लिए की गई है कि उसके द्वारा सर्वसाधारण में भी धार्मिक नृदिधारियों से विभिन्न कोटि में आनन्द-प्रसार किया जा सके।

१५ प्रसादजी ने रस-विवेचन के प्रसंग में इस विषय का भी निष्कर्ष किया है कि रसवाद के विरोध में अक्षरकारवाद की स्थापना क्यों हुई और पीछे तथा अक्षरान्ति सम्प्रदाय ने किस प्रकार अपनी विकसित दृष्टि से काम लेकर अपने विवेचन को व्यापक बनाने का प्रयास किया। उनके मतानुसार ‘आनन्द परम्परावाले सूत्राचार्यों की मान्यता में प्रकृत रस की सृष्टि सहीच थी। रस की दृष्टि और आनन्दवादी व्याख्या हुई। भट्ट नामक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रचारित किया जिसके द्वारा भट्ट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता गन्त होकर, लोकसाधारण प्रकाश-आनन्दनय आराम वैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई।’^३ ‘आनन्दवर्द्धन ने आनन्दानुपामी आनन्द सिद्धान्त के रस को

१ काव्य और कला तथा काव्य निर्णय, पृष्ठ ६४

२ की, पृष्ठ ६१।

३ काव्य और कला तथा काव्य निर्णय, पृष्ठ ७१-७२

४ वैसे तो प्रसादजी ने छायावाद की अभिव्यक्ति में बहुत कुछ सिखा है और वे उसके अनुभूति तथा अभिव्यक्ति पक्ष की विशेषताओं को किसी भी माया-साहित्य के लिए बरतान-स्वरूप समझते हैं, किन्तु वे इस तथ्य से भी अनभिज्ञ नहीं हैं कि 'जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तात्पर्य नहीं कर पाया हो वहाँ अभिव्यक्ति बिगड़ जान हो गई हो' सम्बन्धों का चुनाव ठीक न हुआ हो इसके से उसका स्पर्श न होकर गतिष्क से ही मेक हो गया हो परन्तु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ प्रत्यक्ष छायाभाज हो वास्तविकता का स्पर्श न हो वही छायावाद है।^१ इसी प्रकार वे छायावाद और रहस्यवाद में भी भौतिक संतर मानते हैं और जो विचारक 'प्रकृति को विस्तारमा की छाया या प्रतिबिम्ब कहकर उसकी काव्यगत व्यवहार में से धाने में ही छायावाद की सृष्टि' समझते हैं उनकी बारछा को निम्ना सिद्ध करते हैं क्योंकि 'प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।'^२

५ प्रसाद जी का छायावाद-विषयक विवेचन अत्यन्त सारगर्भित और तथ्यपरक है। उसमें इस बात से सम्बन्धित उन समस्त विशेषताओं का उल्लेख हो गया है जिनकी प्राचार्यशिक्षा पर इस प्रवृत्ति की काव्यसाधन प्रवृत्ति है। वैसे तो छायावाद युग की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए प्रभावपूर्ण समालोचकों ने भी अनेक विस्तृत निबंध और स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु जो धुनबद्ध निष्कर्ष प्रसादजी ने प्रस्तुत निबंध में किया है वह अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक है। उनका निम्नलिखित निष्कर्ष इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है —

"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की अभिमा पर अधिक निर्भर करती है। स्वभावगतता साक्षरिगता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-बद्धता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह झोंकर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया काव्यमयी होती है।"^३

६ यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है कि प्रसादजी मूलतः छायावाद के कवि होने पर भी अत्यंत बन्नीर अभ्येता वे और अपने युग की विभिन्न प्रवृत्तियों से भी परिचित थे। साहित्य के इतिहास का उन्हें सम्यक बोध था और उसकी ओड़ में उन्होंने नुन जीवन की परिस्थितियों को समझा था। यही कारण है कि वे अपनी समीक्षाओं में भारतीय काल का आधार लेते हुए भी उदार दृष्टिकोण को अपना कर काम सके हैं और छायावाद के साथ-साथ जनजन का यथार्थवाद का स्वस्व-विवेचन भी निष्पन्न-विधि से कर सके हैं। संभवतः प्रसादजी हिन्दी के प्रथम समालोचक हैं जिन्होंने आर्येन्दु-युग को साहित्य का पुनरुद्धार काल कहकर इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि आर्येन्दुजी के समय से ही 'राष्ट्रीय वेदना का साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरम्भ' हो गया था। इस प्रकार उन्होंने यथार्थवाद की धक्कारेखा के उपरान्त उस पृष्ठभूमि का भी ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है जिसके कारण प्राबुद्धिक हिन्दी-साहित्य में उसके परभावित होने के अधिक अवसर था सके। उनका यथार्थवाद का स्वस्व विवेचन भी अत्यंत तार्किक और बिलगपूर्ण है और उन्होंने उसके जो सख्त निष्कर्ष दिए हैं वे प्रायः ही प्रकट्य हैं। वे यथार्थवाद की प्रमुख विशेषता का विवेचन करते हुए लिखते हैं—

"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है सज्जता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। सज्जता से मेरा तात्पर्य है

१. अर्थात् प्रसाद छाया और कविता का भन्ना निर्वह, पृष्ठ ११०।

२. वही, पृष्ठ ११०।

३. वही पृष्ठ ११०।

४. वही १११।

का निराकरण किया है जो समग्र आत्मत्व और विवेक वाले धर्मित और दैत वर्णन से अनुप्राणित है। इस प्रकार प्रसादजी का रसावाद विषयक विवेचन अत्यन्त तार्किक और संश्लेषक है जिसकी साम्यताओं को लेकर धर्म भी साम्य की पुंजायत बनी हुई है।

परमार्थवाद और छायावाद का विश्लेषण

३५ प्रसादजी का रसावाद और छायावाद-विषयक विवेचन अत्यन्त समुचित और सारवर्धित है। उसमें उन्होंने इन बातों के स्पष्ट-निर्माण में धर्मव्याप्त सूत्र का तार्किक विवेचन कर दोनों की मूलबली प्रकृतियों का सामान्य परिचय अत्यधिक सही हुई सीमा में दिया है। जिस समय उनके एतद्विषयक विचारों का मुलाख हिन्दी जगत का मिला हमारे साहित्य का विचार-मंडल कई विषयों में बुराप्रही बनकर बस रहा था। प्रसादजी ने आत्मीय ज्ञान के आधार पर छायावाद को भारतीय साहित्य की परम्परा में नैसर्गिक महत्ता प्रदान की और उसके अनुप्राणित तथा अभिव्यक्ति वक्तों का सबसे सर्वश्रेष्ठ किया। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे छायावाद को चेतना के आधार पर स्वातन्त्र्यमयी अभिव्यक्ति^१ मानते हैं, जिसका दृष्टिकोण निरवयव ही बाह्य वर्तुल प्रदान करिताओं से भिन्न है। कहने की आवश्यकता नहीं कि छायावादी काव्य का सृजन विवेकी मुक्त की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में हुआ था और उसमें स्फुट के प्रति सूक्ष्म का विरोध का प्रस प्रसादजी ने उसके विकास-क्रम को एक मनोवैज्ञानिक विवृति की प्रदान की है। छायावादी काव्य में प्रयुक्त 'आन्तरिक सूत्र भावों' मनीन वाक्य-विन्यासों तथा गूढतम सम्बन्ध-विन्यासों को उन्होंने हिन्दी में मनीन अभिव्यक्ति के उपकरण निर्दिष्ट कर उन्हें काव्य-वस्तु के लिए अत्यन्त अनिवार्य बत लाया है। छायावादी वैशिष्ट्य के प्रति उनका सहज धारणस्य इसलिए थी है कि वे उसमें प्राचीन प्राचाओं द्वारा निरूपित काव्य-स्वरूप का सौन्दर्य भी पाते हैं, क्योंकि छायावादी काव्य में 'सम्बन्ध और धर्म की स्वाभाविक वक्त्या-विनिश्चिति' 'स्वानुपम संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति' 'आंतर धर्म-वैशिष्ट्य' तथा 'अनुप्राणित आत्मत्व' के लिए अधिक अवकाश है। 'छाया' सम्बन्ध की गम्भीर धर्म-व्यवस्था में उन्हें संस्कृत काव्य-साहित्य का अत्युन्नत काल इतिवृत्तों पर हुआ है तभी वे वे उसे काफ़ू या स्नेह की सामान्य व्यक्तित्व से भिन्न तथा 'आन्तरिक स्पर्श से पुनर्कृत' मानते हैं। इस प्रकार प्रसादजी के मतानुसार छायावादी काव्य पौराणिक मुक्त की किसी कृता प्रवृत्ति-विरोध की मुम्बरी के बाह्य वर्तुल से भिन्न है^२ और उसकी अभिव्यक्ति में जो विविध प्रकार की विधि तथा मिलती है, उसका मूल कारण आन्तरिक सूत्र भावों की प्रेरणा ही है।

छायावाद की नवीन व्याख्या और उसका सौन्दर्य

३६ छायावादी काव्य को प्रसादजी ने प्राचीन साहित्य में एक स्वाभाविक क्रम में निरूपित किया है। उनका 'छाया' शब्द का विवेचन आत्मीय और प्रयास-सम्मत है, जिसमें छायावाद की विशेषताओं का सौन्दर्यपूर्ण संयुक्त है। वे व्यक्तिकार के मत से बहुमत होते हुए 'छाया' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"मोदी के भीतर छाया की जैसी तरसता होती है वैसी ही काव्य की तरसता धर्म में साधन करी जाती है। इस साधन की संस्कृत-साहित्य में छाया और विनिश्चिति के द्वारा कुछ सोचों ने निरूपित किया था। सम्बन्ध और धर्म की यह स्वाभाविक वक्त्या विनिश्चिति छाया धर्म काव्य का सृजन करती है। इस वैशिष्ट्य का सृजन करना विरक्त कवि का ही काम है।"^३

१. काव्य और कला तथा धर्म निर्णय १९११।

२. वही १९११।

३. वही १९११-१२।

प्रगतिशील विचार हैं किन्तु अधिक उछलने में स्वस्थान का भी भय है। साहित्य में पुनः की प्रेरणा भी भारतीय है किन्तु इतना ही प्रसन्न नहीं। जब हम यह समझ मते हैं कि कत्ता को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हम को वर्तमान सम्प्रदाय का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण अग्रगण्य हो जाता है। प्रसीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है, इसलिए हमको साहित्य में एकान्वी भय नहीं रखना चाहिए। पश्चिम में भी अपना सब कुछ छोड़कर भय को नहीं पाया है।^१

समासोपन विधियों का मूल्यांकन

४६. अब तक प्रसादजी के काम का रहस्यवाद छायावाद मर्यादावाद रसवाद तथा धामन्यवाद आदि जिन विचार-धाराओं का विवेचन किया गया वे उनके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करने के साथ-साथ समासोपना-साहित्य के मानदण्ड-निर्धारण में भी सहयोगी बन हैं। उनके द्वारा साहित्य-वर्त्मन को द्विवेदी-युग से अधिक व्यापक और गम्भीर दृष्टि मिली है। काम्य और धामन्य को समकक्ष निर्दिष्ट कर उन्होंने धामन्य और विवेकवादी दृष्टिकोण से समीक्षण का जो प्रतिमान निर्धारित किया है वह अप्रतुल्य है। इसी प्रकार उनके द्वारा प्रमुख धर्मिष्ठान्त-सैमी साहसीय छन्द-योजना तथा पाण्डित्य-पद्धति उनकी उभय-साहित्यी मेधा-व्यक्ति की परिचायक है। उनके समान साहित्य और दर्शन का स्वस्थ समन्वय करने वाले समासोपन हिन्दी में बहुत कम हुए हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने कुछ ही लेखों में ज्ञान-राशि की जो प्रभुत्व सामग्री घोष कर प्रस्तुत की है वह परिमाण में कम होने पर भी बृहत्-परिमाण में प्रप्रतिष्ठ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसादजी ने मात्र से मात्र पञ्जीस बंध पूर्व जिस समय अपने इन समासोपनान्तक निबन्धों की रचना की हिन्दी समासोपना में या तो केवल पश्चिमी विचारों की उद्धरण ही रही थी या पुरातनता का पक्षा कक्ष कर पकड़ा हुआ था। उस समय दोनों प्रकार की विचारधाराओं में समन्वय करने की सफल चेष्टाएँ बहुत कम हुई थीं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रसादजी इस प्रकार का सर्वो-कीण समन्वय मात्र सके फिर भी उन्होंने भारतीय काव्य-युग को केवल कविप्रतिष्ठ रचना अनुचित समझ कर उसे व्यापक परातल पर धक्का ही उपस्थित किया। उनकी समीक्षाएँ ऐसे घनेक साहित्यिक प्रवाहों का खंडन करती हैं जो उस समय सुधी समासोपना द्वारा कई बार तो अपनी हठधर्मों का पालन करत हुए कैसा दिये बने थे। इसमें मेरा यह प्रतिपाद नहीं कि प्रसादजी की नायकताएँ सर्वथा विश्व-जनीन और अनन्त हैं, किन्तु इतना प्राथम्य धरम्प है कि उनमें प्रतिपादित स्वयं को सहसा पक्षीकार करना विरोधी विचारक के लिए भी सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में प्राचार्य पं. नन्दकुमार बाजपेयीजी के इस निर्णय से हम पूर्णतया सहमत हैं कि "साहसीय वस्तु को ही उन्होंने इतिहास और नायक-व्यक्तिगत के बोहरे धर्मों से ध्यानकर उद्गृह्य किया है। इस धनी हुई वस्तु को प्रभुत्व या प्रभाषाणिक कहने के लिए साह्य चाहिए।"^२

(२)

श्री सुमित्रानन्दन पंत

मामासिक चेतना और व्यक्तित्व निर्माण

४७. पंतजी धार्मिक हिन्दी-काव्य के सीधे-प्रभुत्व कलाकार ही नहीं प्रत्युत धरमन्त मूलमी हुई दृष्टि काय मन्वीर विचारक भी हैं। युग जीवन और सांस्कृतिक जागरण की धमक उनके धानीय व्यक्तित्व पर प्रारम्भ ही से पड़ती रही है जिसके कारण वे अपने मानविक

१. आ. कर्तव्य प्रकाश : काव्य और कला तथा अन्य विषय, पृष्ठ १०५।

२. पं. नन्दकुमार बाजपेयी काव्य और कला तथा अन्य विषय, प्रकाशन, पृष्ठ १।

साहित्य के माते हुए विद्यालय के अनुसार महत्ता के काव्यनिक विनय से प्रतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुर्घातों और अन्यायों का वास्तविक उन्मेष ।^१

यथार्थवाद का संघर्ष लिखपत्र

४१ यद्यपि प्रसादजी ने यथार्थवाद पर अधिक नहीं लिखा है फिर भी उनके लघु विवेचन में बहुत बार से उल्लिखित प्रायः समस्त मुख्य तथ्यों का उद्घाटन हो गया है। उन्होंने भारतेन्दुजी की इस प्रकार के काव्य-निर्माण का प्रथम सूत्रधार कह कर उस यथार्थवादियों का मुँह बन्द कर दिया है जो छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रवृत्तिवाद तथा यथार्थवाद की धारा का प्रवर्तन समझते हैं। वस्तुतः यथार्थ की प्रवृत्ति साहित्य में पर्याप्त प्राचीन है जिसका पुनरुद्धार भारतेन्दुजी ने सामाजिक वस्तुपरिस्थिति से प्रेरणा लेकर किया। यद्यपि प्रसादजी का यथार्थवाद के मूल प्रवर्तन के सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धृत व्याख्यान के रूप में ही प्रकट किया जा सकता है—

“भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में प्रतिस्पर्धा होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पठन में और विवेकबद्ध पुस्तक-पाठ्यक्रमों ने प्रपचारों में कोई कक्षा नहीं छोड़ी। एक राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्व स्थापित हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले सोच-विचार समझते थे वही झुठला में महान् विद्वत्ताई पढ़ने लगा। उस व्यापक दुःख-सम्पन्न मानवता का स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में प्रभाव पठन और वेदना के बीच प्रचुरता से होते हैं।”

४४ प्रसादजी के यथार्थवाद-विषयक विवेचन में उनकी स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण परिलक्षित है तथा ही वे उनके निर्माण में सामाजिक कर्षणों तथा प्रतिक्रियाओं की प्रतिक्रिया स्वाभाविक समझते हैं। उनके मतानुसार ‘जाति’ में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर साधारण स्वयं बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है।^२ इसी प्रकार वे मानवीय पूर्णता की स्वाभाविकता को स्वीकार कर वेदना को यथार्थवाद की मुख्यभावना मानते हुए उसे मुहूर्त के साथ-साथ महानों का साहित्य मानते हैं क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो कोय यथार्थवाद केवल कल्पना और धार्मिक प्रवचन का ही विषय बन कर रह जाता। वस्तुतः उनके मतानुसार धार्मिक और यथार्थ दोनों साहित्य के अनिवार्य पक्ष हैं और उन्हीं के अनुसार वे साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

“दुःखदाम जगत् और धार्मिकपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इसीलिए असत्य और अचरित घटना पर कल्पना की जाती महत्त्वपूर्ण स्थान देती है जो निजी सौन्दर्य के कारण उदय-वध पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्व-संभल की भावना मोत प्रोव रहती है।

४५ प्रसादजी धारम्य परम्परा और सामाजिक विचारक थे। वे यथार्थता की भौतिक में बहने वाले किसी भी साहित्यिक प्रभाव को उचित स्वीकार नहीं करते व जब तक उन्हें उसकी अपादेयता और अ-व्यतिरिक्त का पूर्ण विश्वास नहीं हो जाता। उनके समय में प्रवृत्तिवाद का सामाजिक प्रारम्भ हो गया था किन्तु वे उसकी विशेष वर्णन भावनाओं के कभी समर्थक नहीं बने। वस्तुतः उन्हें प्रवृत्ति की किसी बाध-विरोध क कठिनाई में बंध कराना असोझनीय लगता था। प्रवृत्ति के व्यापक विधायन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण इस प्रकार का था—

१ जो लघु-कृत प्रकाश काव्य और कथा तथा अन्य निबन्ध इ. १९०१।

२. श्री. इ. १९११।

३. श्री. इ. १९११।

४. श्री. इ. १९११।

मही है, किन्तु उन्हें युग-साक्षान के कारण लड़ी बोली का पक्ष-समर्थन अधिक समीचीन लगा है क्योंकि 'यह भाषा के कृष्ण न मुरली छोड़ पोषण्य छठा दिया सुप्त बेध की सुप्त वाली बाधत हो उठी लड़ी बोली उस जागृति की शब्द-ध्वनि है। ब्रजभाषा में नींद की मिठास भी इसमें जागृति का स्पन्दन उसमें राशि की प्रकर्मण्य स्वप्नमय ज्योत्स्ना इसमें विषय का स्रष्टव्य कार्यभार प्रकाश।'^१

भाषा और काव्य-विषयक दृष्टिकोण

११ पंतवी ने ब्रजभाषा से अभिप्राय 'प्राचीन साहित्यिक हिन्दी' से लिया है और ऐसा करते हुए 'धबधी' को भी उसके धर्मवर्त सम्मिश्रित कर दिया है जो भाषा-विज्ञान के तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से चिन्त्य है। वस्तुतः ब्रजभाषा और धबधी हिन्दी-प्रवेश की दो विन्न-विन्न विभाषाएँ हैं जिनका स्वस्व-संगठन अलग रचना किया-यह तथा वाक्य-योजना में पर्याप्त अन्तर रहता है। समझ है पंतवी ने मध्ययुगीन साहित्य में धबधी की समता में ब्रजभाषा का सार्वभौम प्रहल और प्रकार देखकर उसे अंगीकार में निश्चित करना अनुचित न समझा हो और वे इन्हीं काव्य की भाव-माधुरी के चित्रण में इस पक्ष की उपेक्षा कर गये हों। उन्होंने इस विवेचन की ऐतिहासिक पीठिका की शान्तिपूर्ण व्यवस्था के अन्तराल में सूर, तुलसी देव बिहारी और केशव प्रभूति काव्यकारों के रचना-सौष्ठव और भाव-वश का विश्व सम्मेलन से चित्रण किया है वह अपनी रस-विक्षुध मधुरिमा में हमें गद्य-काव्य की सी छटा प्रदान करता है। स्पष्ट है कि इस निष्कर्ष में पंतवी ऐतिहासिक स्फुटित वाक्य-रचना-प्रणाली के उन दुर्लभ पक्षों का उद्घाटन भी कर चुके हैं जिनके कारण वह तीन फुट के गद्य-विषय के संसार के भीतर सिमट कर रह गई थी और जिसका प्रस्तुत-अप्रस्तुत-विज्ञान परम्परामुक्त प्रवृत्तियों से बहुत कम ऊपर उठ सका था।

१२ पंतवी के इस भाषा-विषयक विवेचन में सामयिकता की भी छाप है। उनकी दृष्टि उस युग के एक स्वतंत्र प्रसन्न 'राष्ट्रभाषा' की प्रावश्यकता पर भी गई है। वे मध्य और पक्ष के लिए विन्न-विन्न भाषाओं के प्रयोग को सर्वथा कृत्रिम और समझ-बाध निरिष्ट कर लड़ी बोली में युग भावों के बहान का पूर्ण सामर्थ्य मानते हैं क्योंकि उसने अपने अस्तकालीन विकास में उन अस्ति-वर्तों का पर्याप्त संयोजन कर लिया है जिनके कारण किसी भाषा में व्यापक चेतना का संचार होता है। इस प्रसंग में उन्होंने ब्रजभाषा पर जो कठोर व्यंग्य किये हैं वे अत्यंत निर्मम हैं। सैदांतिक समासोचना के लिए अपेक्षित विशेष विशेष स्वभावों पर जिन पारिभाषिक धर्मों के सहाय निष्कर्ष की प्रावश्यकता होती है, उनकी व्याख्या भी पंतवी ने इसी प्रसंग में अपने स्वतन्त्रतावादी दृष्टिकोण से की है, जो सास्त्रीय परिभाषा प्रणाली पर अनेक ही बलिष्ठ न हो किन्तु जिसका काव्यमय विकास अक्षय ही दुर्लभकारी है। जैसे—

(घ) भाषा संचार का माध्यम बिना है अनिमित्त स्वस्व है। वह बिना क हठभी की अंकार है जिसके स्वर में वह अभिप्रायित पाता है।^२ धादि।

(घा) 'अविता हमारे परिपुल छाणों की वाली है। हमारे जीवन का पूरा रूप हमारे अन्तराल प्रदेश का सुखमाकाश ही सगीतमय है अपने उत्कृष्ट शब्दों में हमारा जीवन एक ही में बहने समता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता स्वरूप तथा संयम था जाता है।'^३

'प्रवेश' में काव्य का अहिरण परीक्षण

१३ पंतवी का 'प्रवेश' मुख्यतः काव्य के अहिरण पक्ष का समीक्षण करता है। पक्ष

१ धी मुनिचन्द्र-इन १११ गद्य-वचन 'यवत' १३३ २।

२ वही १३३ १४।

३ वही १३३ १५।

संसार की क्रमशः पुष्ट और ग्रीष्म बनाने में समर्थ हो सके हैं। 'पथि' से लेकर प्रायः तक उनके जितने काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनके प्रारम्भ में संलग्न भूमिकाओं द्वारा वहाँ एक और हमें उनकी पंथवेष्टता और कवि-स्वरूप की समुचित का बोध होता है वहाँ कुछी और वे हमें उनकी समासो-चना प्रज्ञा का भी ध्यासाध देती हैं। इन भूमिकाओं के कनेकर में पंथजी ने सामान्य रूप से ध्यासाध के प्रवर्तन-काल से लेकर ध्यासाधिक पुनः पर्यन्त होने वाले परिवर्तनों का विवेक वास्तविक प्रवृत्तियों के साथ साहित्यिक प्रक्रियाओं का स्वतन्त्र प्रगति-चक्रण करते हुए दिया है। उसके यह प्रकरणा स्पष्ट हो जाता है कि पंथजी की प्रकर बुद्धि में उत्पन्न हुए की कितनी अधिक धार्मिक धारणाएँ हैं और वे अपने धार्मिकचिन्तन में प्रकृति-सौन्दर्य स्थायी प्रवृत्तिवाद धार्मिक धारणाएँ धारणित हैं और वे अपने धार्मिकचिन्तन में प्रकृति-सौन्दर्य स्थायी प्रवृत्तिवाद धार्मिक धारणाएँ धारणित हैं। उनके बौद्धिक विकास को समझने में धार्मिकधारणी द्वारा प्रसारित उनकी धार्मिक धारणाओं में प्रकाशित लेख-मालाओं तथा सांस्कृतिक और साहित्यिक धारणाओं पर प्रबल प्रवर्तनों का भी स्पष्ट उपबोध किया जा सकता है।

समासोचना की आधारभूत सामग्री

४८ पंथजी की समासोचनाओं की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि उनमें उनके जीवन दर्शन का उत्तरम्बधुनी बिधि से विवेचन हुआ है। उनके काव्य-संग्रहों की प्रारम्भिक प्रस्तावनाएँ इसका प्रमाण हैं। सन् १९२९ में 'पल्लव' की भूमिका द्वारा उन्होंने मुख्य रूप से काव्य के बहिर्मुख का विवेचन किया था। उसके प्रायः पन्नाह वर्ष परचाह सन् १९४१ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित धातुनिक कवि (भाग २) के 'पर्यालोचन' में उन्होंने अपने विकास को सीमाओं के भीतर से काव्य के प्रवर्तन का विवेचन किया। इस विवेचन में उनके काव्य की मार्गा को स्पष्ट और सम्पूर्ण रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास है तथा उनके दृष्टिकोण को समझने में भी सहजता मिल सकती है।

४९. 'पर्यालोचन' के प्रायः छ वर्ष परचाह पंथजी की 'पुष्पाणी का पृथीय उत्तरण' प्रकाशित हुआ। उसका दृष्टिपाठ पंथजी की इस कृति के 'कलापन' के साथ-साथ 'पुष्प-दर्शन' के प्रमुख उत्तरों पर भी प्रकाश डालने वाला है। उपरान्तर पंथजी ने जनवरी सन् १९४९ में अपने काव्य-संग्रह 'उत्तरा' की 'प्रस्तावना' लिखी जिसका उद्देश्य 'कम से कम छन्दों में अपने दृष्टिकोण' को इस रूप में उपस्थित कर देना है जिससे उनकी 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णभूमि' नामक काव्य-कृतियों को लेकर उनकी काव्य-वेष्टता के सम्बन्ध में प्रचारित धारणाओं का मिटाकरण किया जा सके। समग्र है पंथजी का सभी काव्य-संकलन उनके 'पुष्पाणी' की उत्तरकर्त्ता रचनाओं के सम्बन्ध में बिरतुन धार्मिकधार्मिक निबन्ध प्रस्तुत कर जैसा कि उन्होंने अपनी 'प्रस्तावना' में इस धोर उचित किया है।

५०. पंथजी के काव्य-संग्रहों की भूमिकाओं से उनके समासोचना-व्यवस्थित का कविक विकास सभी धार्मिक समझ का सकता है। उनमें उनके काव्य-वर्तन के साथ-साथ पुनः-जीवन का भी सांस्कृतिक निरूपण हुआ है। धातु के प्रायः बलीय वर्ष प्रकाशित 'पल्लव' का प्रवेश कवि के केवल किशोरकाल का ही स्पर्शक नहीं धारणित उसकी उस सम्बन्धित धार्मिक धारणा का भी परिचायक है जिसके द्वारा उसने धार्मिक धातुनिक काव्य कविलेखण की भूमिका प्रस्तुत की है। इस 'प्रवेश' साहित्य का सिद्धान्तोक्त कर धातुनिक काव्य कविलेखण की भूमिका प्रस्तुत की है। इस 'प्रवेश' में पंथजी ने ब्रजभाषा बनाम बड़ी बोली के महत्त्व निर्धारण विषयक वाद-विवाद के सम्बन्ध में भी अपनी सुविधपूर्ण प्रवृत्ति का परिचय दिया है। वे ब्रजभाषा की काव्य-धातुनी पर भी कम मुक्त

साव्यवाच्यों का ही प्रतीक है। हाँ, उन्होंने ऐसा इतीहासिक कथामय सजी पीपुप-व्यपण ग्रन्थ रचिका जलजम आदि हिन्दी के प्रचलित छन्दों के विषय में जो बाबानुक्रम आत्मव्यवस्था है, वह अव्यत सुग्राह्य है। उसके द्वारा कवि-समालोचक की तथ्य निरूपिणी पंथदृष्टि का बोध स्पष्ट मान से हो जाता है।

१९ जिस समय पंथजी ने पस्तक का 'प्रवेश' लिखा हिन्दी-काव्य मुक्त-छन्दों की धीर गति लक्ष्य से घाले नज़र रहा था। वस्तुतः परम्परागत छन्द-प्रणाली के प्रति यह एक बहुत बड़ा उल्लेखोद्देश्य था। छायावादी कवियों ने जिस प्रकार 'आध-जगत्' में मोठरस्पर्श करते हुए, वांछि की ही सही प्रकार भाषा-पक्ष में छन्दों की मुक्तताबस्था की घोषणा कर उन्हें निरन्ध बना दिया था। इससे दिवेदी-मुख की आदर्शवादी साम्यवाच्यों के हाथ उनका विरोध किया गया और कई वष्यमान आलोचकों ने मुक्त छन्दों को रबर-छन्द, कंबाक-छन्द आदि व्यर्थपूर्ण नाम से सम्प्रि किया। इस प्रकार की प्रवृत्ति में वं० महावीरप्रसाद दिवेदी ने मुकवि 'किन्नर' आदि प्रच्छन्न नामों से 'सकसे अधिक भाव दिया था। ऐसी स्थिति में मुक्त छन्दों के रचयिता-कवियों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे स्वयम् इन छन्दों की विशेषताओं का उद्घाटन करें। पस्तक की रचना के समय पंथजी छन्द में 'तम' की प्रामाण्य देखे हुए मुक्त छन्दों के प्रति विशेष आकृष्ट हो चुके थे। पंथ उन्होंने इस विषय का विस्तारपूर्वक निवेदन किया कि मुक्त छन्द अपनी रचय तब पति तथा स्वर-योग्यता के कारण किसी भी भाषा-काव्य के लिए गौरव हो सकते हैं और उनमें किसी भी प्रकार की दोष दृष्टि का सम्प्रेषण करना अनुचित है। इसी प्रसंग में उन्होंने छायावाद के सम्प्रथम कवि वं० मुक्तान्त निपाटी निरासा के छन्दों को लेकर यह लिखा कि 'उनके कुछ छन्द अपना ही तरह अद्वयमयिक रूप पर, कुछ हिन्दी के तुल्य-वीर्य मानिक संपीठ पर चलते हैं, तथा कुछ इस प्रकार अपने विविध हैं कि उनमें कोई भी नियम नहीं मिलता'^१ जिसका प्रतिकूल रूप निरासाजी द्वारा लेखी गई 'पंथजी और पस्तक' टीपक समीक्षा जिसमें निरासाजी ने पंथजी के पस्तक की अव्यत अनु आलोचना कर अपने छन्दों की धीमिकता का प्रतिपादन किया था। इस प्रकार पंथजी ने 'प्रवेश' के पंथगत काव्य में छन्द-स्थिति का जो मुख्यांकन किया है वह मुक्तवाच की विकासोन्मुख मान के साथ साथ समालोचना के रचनागतक पक्ष का भी अनुप्रेरक है।

२० पंथजी के 'प्रवेश' का मुख्यांकन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह उस युग की समीक्षा है कि जब हिन्दी में संवेदी रंन की समालोचना का प्रचार विशेष रूप से होने लगा था और साहित्य-विचारक ज्ञान् छन्दों आस्थीयता का प्राचीन निर्बोके छोड़कर नवीन रचिमानों की ओर बढ़ने लगे थे। स्वभावतः पंथजी की भी नवीनता की ओर अधिक प्रवृत्ति थी। वे भी समालोचना में समग्रानुभूत कथान्तर चाहते लगे। इससे उन्होंने 'रच-संवाधर' काव्या र्थों आदि प्राचीन काव्यप्रास्थीय पक्षों के दृश्य की समालोचना प्रणाली का विरोध किया। इस विरोध का एक प्रमुख कारण उनका जीवन के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण तो था ही पर दूसरा कारण यह भी था कि वे उस समय पर्यन्त उन प्राचीन छन्दों की नज़ीर-परिभा में केवल पंथु रीध-मान हैं कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो वे यह नहीं लिखते—

रच-संवाधर, काव्यार्थ आदि की सीखा के शर पुराने हो गये व स्याही बंधापी रचिपारो आदि पार्यों का जो कुछ संसार दृश्य आधिचार करवाना चाहते थे करवा चुके। म मोक्ष यह 'काव्य रचानकम् बाध' 'रचलीपार्य प्रतिपादक' छन्द काव्यम् को प्रकटी तरह समझ

१. छन्दो रचन' में ७५-११२० 'आवक' के दिवा कवि और कवि' छोड़ लगे

२. आधिप्रास्थीय २५ ७-१५ 'प्रवेश' १५-१५

समय कास्त्रीय और यम्भीर विवेचन-वृत्ति की श्रुतता है फिर भी कविवर पद ने उसमें अपनी उर्वर मेधा-शक्ति के द्वारा भाषा से सम्बन्धित जिन प्रयोगों का समाधान किया है, वे उस युग की प्रकृतित काव्य-परम्परा और विचार-वृत्ति से अत्यधिक प्रशंसनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पंथजी का भाव-प्रवाह कवि रसवाही समासोपमा की मानवी धारणा कर समीक्षण में एक प्रकार की निमग्नता ही उपस्थित करने में यथेष्ट समर्थ है। समीक्षण की यह पद्धति प्रभावामिर्मज्जम और मुरझिपुर्ण संस्कारन क मर्याद निकट है। इस विवेचन के द्वारा कवि का स्वसंवेततावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। काव्य में प्रयुक्त ध्वन्यात्मकता का आधार लेकर कवि ने भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण 'राम तथा राग' का धर्म धार्यण' बतला कर 'मिन्न-मिन्न पर्यावाची' सभी की प्राण-संगीत मेव के कारण एक ही पदार्थ के मिन्न-मिन्न स्वरूपों को प्रकट करने की विधि सक्ति का विवेचन किया है, वह कई स्वरों पर दोषपूर्ण होने पर भी कवि के उन मानसिक-विशेषों की प्रति-छाया प्रकट है जो ध्वनों की प्राण-शक्ति का परीक्षण करते समय उसके मस्तिष्क में स्वतः प्रतिबिम्बित हो गई थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के विवेचन में कवि ने उन्मुक्त विचार-कल्पना से अधिक काम लिया है, जिसके फलस्वरूप कास्त्रीयता और संज्ञाविकृता के परम्परा-पालन की उसके लिए कोई आवश्यकता नहीं रही है। वस्तुतः पंथजी ने यह समीक्षण विवेची-मुग में चलने वाले भाषा-परिष्कार धामोन्मन के समय किया था जब इसने उस युग को देखते हुए अनुवृत्ति और समिम्बन्ध की वृत्ति से कई विशेषताएँ स्वतः पाई हैं।

१४. पंथजी के 'प्रवेष्ट' में काव्य के अधिर्मज्जम-पक्ष से सम्बन्धित छन्द-योग्यता समास युक्त निय निरुध्द धर्मकार विधान अन्तर रचना और संवीत-सचार प्रादि प्रमुख धर्मों का जो विचार विवेचन हुआ है, वह कवि के काव्य-निरूपण को हृदयपर्यय कराने में परम सहायक है। उन्होंने कविता के लिए विषयभाषा की आवश्यकता और 'भाव तथा भाषा में समन्वयपूर्ण एकता' की महत्ता निरूपित कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि भाषा में भाव प्रहान की कुशल समता होनी चाहिए। इसी प्रकार उनके मतानुसार धर्मकार कथन बाणी की सजावट के लिए नहीं वे भाव की समिम्बन्धित के विधेय द्वार हैं। वे बाणी के हास धम, स्वप्न पुनक हाव भाव हैं। कविता में विधेय धर्मकारों सञ्जण-अर्थवता प्रादि विधेय धर्म-वस्तुतः तथा विधेय धर्मों के समिधाय और धर्मवत्स से विधेय भाव की समिम्बन्धित करने में सहायता मिलती है।^१ उन्होंने कविता तथा कविता का स्वभाव ही छन्द में समाय होना है। कविता हमारे प्राणों का सवीत है, छन्द हृत्कम्पन के साथ अनिष्ट सम्बन्ध है।^२ प्रादि। छन्द का भाषा के उच्चारण उसके समीत

१५. पंथजी के 'प्रवेष्ट' का एक महत्वपूर्ण भव उनके छन्द विषयक विचार हैं। उनकी काव्य प्राप्तिता के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी स्वतंत्र धमिर्धन से काम लिया है। जिस प्रकार उन्होंने विवेचन के प्रथम में ऐतिहासिक काव्यधारा के ऐश्वर्यिक और संकीर्ण वृत्तिकोण की कुर्वमता का विरोध किया था उसी प्रकार उन्होंने वजयापा क लोकप्रिय छन्द कविता और सवीत को द्वितीय काव्य के लिए अनुपयुक्त माना है। पंथजी के इस प्रकार के निर्णय में उनकी वैयक्तिक मनोवृत्ति ही प्रधान कारण है धम्यथा सब युष्मा प्राय तो वजयापा का काव्य-वीर्यविषय विषय कला-वीर्य के साथ इन संकीर्ण में प्रतिमान हुआ है, वह धम्यत दुर्लभ है। कविता छन्द को द्वितीय का और सजावट मानता तथा बतला के छंदों ने द्वितीय-कविता के लिए सम्पक बाहुन न समझता पंथजी की निजी

१. श्री समिधन्वन की १७-वध—'प्रवेष्ट' पृष्ठ १७।
२. श्री पृष्ठ १।
३. श्री पृष्ठ २२।

अपनी 'परिवर्तन' धीरे-धीरे कविता में थी। कहना होगा पठनी का यह पंथसौंज उन्हें प्रकृति के निराले प्रात्यंतिक स्तर से उतार कर मानव-जीवन की भूमि-मनोवृत्तियों के बिजल की ओर प्रेरित करने लगा था जिसके कारण वे इस विषय की अनुभूति करने लगे कि सामाजिक जीवन से निरपेक्ष रहने वाला प्राकृतिक वर्चन हमें आत्मस्फुरित करने के स्थान पर निष्क्रिय और अकर्मण्य बना देता है। अतः पठनी ने इसी प्रसंग में अपने व्यक्तिगत जीवन के रेखाचित्रों को प्रकट कर एक सच्चे समालोचक के रूप में इस रहस्य का उद्घाटन किया है कि उनका विम्वरही मानस प्रस्तुत संदर्भ की विपरीता को देखने में असमर्थ होने के कारण किस प्रकार यात्री समाज की कल्पना की ओर प्रभावित हुआ है।

६ विवेचन के इस प्रसंग में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि प्रस्थान सामाजिक कवियों की मीति पठनी को भी अपने विरोधी समालोचकों का अपमानन बनता पड़ा था जिनके आक्षेपों का निराकरण करना उनके लिए आवश्यक हो गया। उनके समालोचकों ने यद्यपि उनके काम्य-गुणों की प्रशंसा करते हुए उसके सुन्दरन और शिबम् रूप की ठो सम्मर्चना की किन्तु वे उसमें सत्य की प्रतिबिम्बित के लिए आवश्यक जीवनानुभूति की तीव्रता का अभाव पाने लगे। पठनी को उनका यह आक्षेप बहुत प्यारा था। इसमें कोई संदेह नहीं कि संत जी सत्य के विविध पक्षों से भी परिचित थे और व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य का काम्यानिर्वाण करना अथवा स्वभाव के प्रतिबल समझते थे किन्तु उन्हें अपने काम्य-स्वरूप में ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसमें सत्य-विशेष का निरपेक्ष अभाव रहा हो। वस्तुतः पठनी की विचारधारा में 'सत्यम्-शिबम् सुन्दरम्' आहारम-भाव से सम्बन्ध है और उन्हें असत्य-असंग श्रेष्ठियों में विभक्त करना अनुचित है उसी ठो वे उनके सम्बन्ध में लिखते हैं—

'मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल के रूप-रस है फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है। उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिबम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आहारम-कारण उस उपयोगिता से सम्बन्ध रखने वाले सत्य में अवश्य होने चाहिये नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है।'

आभावाव विषयक मान्यता

६१ यह एक स्मरण रखने योग्य बात है कि कवि की मानसिक भूमिका का उसकी कृतियों पर नैसर्गिक विभाग में प्रभाव पड़ता है और यदि सामान्यतः कोई कवि भावुक के साथ साथ चिंतक भी होता है तो वह एक नैसर्गिक विस्लेषक के रूप में उसका समीक्षण भी कर सकता है। पठनी के व्यक्तित्व पर यह सिद्धान्त पूर्णतया चरितार्थ होता है। एक समय या जब न केवल प्रकृति-सौन्दर्य और ऐन्द्रियिक बिजल में ही अधिकतर लोए रहे, किन्तु बरकत के विकास के साथ साथ उनमें क्रमशः प्रौढ़ि घाटी गई जिसके कारण उनकी मानसिक वृत्तियाँ सौन्दर्य-सोक का प्रति-क्रमण कर वस्तुपरक और ज्ञानप्रधान बनने लगी। इसका मूर्तिमान प्रयास उनका गुणन-आप्त है जिसमें वे मानव जीवन के सुख-दुःख और जन-कल्याण की भावनाओं का बिजल करने की ओर विद्युत उन्मुख हुए हैं। अपनी इस प्रकार की परिवर्तित मनःस्थिति का पर्यायीजन उन्होंने वस्तु बरक की सामाजिकता के स्थूल धरातल से किया है जो क्रमशः प्रकृति के कल्पनापूर्ण प्रीति-भाव को छोड़कर जीवन के प्रति अधिक आस्थापान बन कर चल सका है। कहना होगा पठनी का समा-लोचक-व्यक्तित्व अपने प्रस्तुत परिवर्तन की मूलभूत विचारधारा का स्वीकारण करके य पर्याप्त

नय हैं।^१ कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय साहित्य-शास्त्र का यह सिद्धान्त ऐसे व्यापक और ग्रीह धरातल पर स्थित है जिसे धार्मिक मनोवैज्ञानिक शीष्ट के साथ संयुक्त कर विश्व के किसी भी महान् साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। मत् पंथी का यह निर्णय केवल उनके तत्कालीन किछोर मस्तिष्क का ही प्रतिफल है, इसमें कोई शक्येह नहीं। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि पंथी के पस्तब का 'प्रवेश' वस्तुतः एक युग-प्रवर्तक भूमिका है जिसे छायावाद-युग के प्राविर्भाव का ऐतिहासिक बोधना-यन्त्र' कहा जा सकता है और जिसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत कुछ वैसा ही है जैसा कि छिन्नी-साहित्य में बर्तमान के 'तिरिक्त लेखक' की भूमिका का।^२

'पर्यालोचन' और पंथी का आत्म-निस्तेषण

४८ वैसे तो पंथी के काव्य का समीक्षण पुनस्तोत्र-युग के विभिन्न समासोचकों के स्वतन्त्र समीक्षा-मुक्तकों और फूटकर निबन्धों के रूप में उनकी काव्यमय विविधताओं के बाह्य तथा आन्तरिक पक्षों का विश्लेषण करते हुए किया है, किन्तु इस सम्बन्ध में पंथी का आत्म परक 'पर्यालोचन' सबसे अधिक प्रायोगिक और विश्वनीय है। उसके द्वारा कवि के मानसिक विकास और काव्य-संरूप का क्रमबद्ध वैज्ञानिक बोध हो जाता है। कवियों के काव्य-निस्तेषण के लिए यह आत्मगत आवश्यक है कि सर्वप्रथम उनकी उन प्रत्यक्ष-प्रेरणाओं और बाह्य परिस्थितियों का निष्कर्ष किया जाय जिन्होंने उन्हें काव्य-निर्माण का आधार प्रदान किया हो। पंथी समासोचना के इस आवश्यक तत्व-विधान की महत्ता से अवगत होने के कारण सर्वप्रथम इसी के उद्घाटन की ओर प्रवृत्त हुए हैं। एक प्रकार से उनका यह आत्म-निरीक्षण उनकी काव्य-कविताओं के सम्पूर्ण कोष का रहस्योद्घाटन करने के लिए-कुछ भी का काम देता है। वे प्रकृति-निरीक्षण को अपने काव्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानकर उसी के माध्यम से व्यक्तित्व की अपरिचित के लिए उन्मुख हो सके हैं यह एक ऐसा सत्य है जिसे उनकी प्रतिभा-वाचुरी का मेकल कह जा सकता है। पंथी के काव्य में सौन्दर्य-रचना स्वप्न-दृष्टि तथा जगतीयता के बिना तत्त्वा का समावेश उनकी पस्तब कासीन रचनाओं में मिलता है, उसका मूल कारण इनका प्रकृति के प्रति चिरमोह ही है जिसने उन्हें कभी तो 'प्रकृति को अपने से प्रेम सबीब सत्ता रखने वाली नारी' के रूप में देखने की प्रवृत्ति दी है तथा कभी वे स्वयं उसमें आत्मविभोर होकर अपने भावों की नारी रूप में चित्रित करने में नहीं हिचकिचाये हैं।^३

४९. पंथी ने अपने काव्य-समीक्षक के रूप में प्रकृति को अपनी काव्य प्रेरणा का मूल विषय बतलाकर उसकी ओर से लपटित होने वाले अपने मानसिक संस्थान का जो क्रमबद्ध व्याख्यान किया है वह उनके काव्य-विकास को समझने में परम उपयोगी है। एक समय या जब वे प्रकृति के कोमल और मधुर रूप की ओर आकृष्ट थे किन्तु धीरे-धीरे उनकी अनुभूतियों के विस्तार और गाम्भीर्य के कारण उसमें परिवर्तन भी आने लग। यद्यपि पंथी का सुकुमार स्वभाव प्राथमिक प्रकृति के सुचारु स्वयं में ही आत्मसीता का अनुभव करता रहा किन्तु वे उसके उस स्वयं के विषय की वास्तविकता से भी तटस्थ नहीं रह सके। इसी समय उनके चिन्तन-दर्शन पर उपनिषदों के साध-साध स्थायी विवेकानन्द और रामसोब की दार्शनिक उपपत्तियों का भी प्रभाव पड़ा जिन्होंने उनके मधुर-मानस में आन्दोलन उत्पन्न कर दिया और जिसकी म्मक उन्होंने

१ जी. एमिनामन्दन की 'मत्' ४५, 'प्रवृत्ति' ४३ ४४।

२ डा. लक्ष्मी। 'विचार और निस्तेषण' पंथी की भूमिका में ५३ ५४।

३ मत्-५५ 'पर्यालोचन' पृष्ठ संख्या, ४५।

घरेलू है और यही से न आयाबाद के नायबी स्वप्नों को छोड़कर अपनी काव्यसाधना के दूसरे मुन में प्रवेश करते हैं जिसका कारण उन्होंने इस प्रकार विवेचित किया है—

‘आयाबाद इसलिए भविक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नबीय भावों का प्रकाशन नवीन भावनाओं का शोभ्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल धर्मकृत संगीत बन गया था। शिवेरी-युग की तुलना में आयाबाद इसलिए प्राचुरिक था कि उसके शोभ्य-बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था और उसका भाव-शरीर शिवेरी-युग के काव्य की परम्परागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किन्तु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक प्रति और विकासवाद के बाद का भावना-जीवन तो था पर महापुरुष के बाद की ‘पल्लववन को धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके ‘हाव-सधु माझाकांठा’ काव्यमधुपात्री’ नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निरुद्ध, रूढ़स्वामिक भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया दूसरी ओर केवल टेक्नीक और धारण-मात्र रह गया।’^१

१२ पंतवी ने उपयुक्त अवसरों में आयाबादी काव्य की जिन सीमाओं का उल्लेख किया है वे वस्तुतः सत्य हैं। सभी देशों के साहित्य में युग-परिवर्तन के कलस्वरूप जीवन-विषयक दृष्टिभिन्नताओं में जो अंतर उपस्थित होता है वह अपने सामाजिक क्रम में वांछनीय रहता है। महापुरुष के पश्चात् धरेवी काव्य में भी इसी प्रकार की अतिवैयक्तिकता बौद्धिकता दुर्बलता संवर्धनवाद और निरुद्धा का संचार हुआ था जिसकी प्रतिक्रिया उसके उत्तरवर्ती युग में हुई। आयाबाद-युग भी इस नियम का अपवाद नहीं रहा। पंतवी ने उस युग की कविताओं को उत्तर-युद्ध कालीन धरेवी काव्य की प्रति ‘मिन्न-मिन्न रूप से संबन्धित युग के सामाजिक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ’^२ कह कर उपयुक्त अवसरों में इस बात का संकेत किया है कि साहित्य के लिए आयाबाद का अंश छोड़कर प्रगतिवाद की ओर बढ़ना सर्वथा समुचित था क्योंकि युग की भाँव उसे सामाजिक बदलाव पर कतर कर काव्य के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण लेकर बसने का प्रामाण्य दे रही थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि पंतवी ने प्रगतिवाद को उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम दिया है और उनके मतानुसार जैसे सभी युगों का लक्ष्य सर्वत्र प्रगति की धार रहा पर प्राचुरिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धान्तों का पक्षपाती है।^३

प्रगतिवाद तथा अन्त्यात्म प्रवृत्तियों का विमर्शपरत

१३ पंतवी ने किसी समय जिस प्रकार आयाबाद की धर्म-धरना की भी उसी प्रकार प्रगतिवाद के सम्बन्ध में भी धर्मगत धार्मिकपुरुष धर्मों में अपना महत्त्व प्रकट किया है। उनके मतानुसार प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम है।^४ वे युगवादी के लिए प्रगतिवादी दृष्टि कोण आवश्यक समझते हैं किन्तु उनका उन प्रगतिवाधियों से विरोध है जो केवल राजनीतिक तथा धार्मिक आधार पर अपना नवीन सामाजिक संगठन करना चाहते हैं। वस्तुतः पंतवी को प्रगति चीनता की सांस्कृतिक पीठिका पर अधिक विश्वास है जिसका अर्थ यह है कि वे प्रगतिवाद को केवल ‘वर्गयुद्ध की भावनाओं से सम्बन्धित साहित्य तक ही सीमित’^५ नहीं रखना चाहते। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे ‘माकसंवाद की उपयोगिता एक व्यापक समस्त सिद्धान्त की तरह स्वीकार’

१ श्री सुमित्रानंदन जैन गण-५८, ‘पंथो-वन’ पृष्ठ ३६।

२ वही ३७।

३ वही ३८।

४ वही, ५३।

५ वही, ५४।

वर्तमान युग की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रति नया दृष्टिकोण रखते हैं तथा उनके अन्तर्गत अपना कैसा योगदान निर्धारण करते हैं। 'कला का प्रयोजन' स्वास्त-सुखाय या बहुजन हिताय' 'धार्मिक काव्य-प्रेरणा के स्रोत' यदि मैं कामायनी लिखता' आदि विषयों पर उन्होंने साहित्यिक विधि से जो निष्कर्ष किया है उससे उनकी सभी दृष्टि घोर टीका के पता चलता है। 'काव्य संस्मरण' 'पुस्तकें बिगड़े मीने सीखा' 'जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण' 'भारतीय संस्कृति क्या है?' आदि विषय विद्वत् समालोचना के अन्तर्गत नहीं आते फिर भी उनका पंथी के विचार-पक्ष का निर्धारण करने में अयोग्य नहीं मालूम है। उनके विरोध में जहाँ धार्मिक मनोविज्ञान की प्रत्यक्षकारी कामधेय तथा निरोध भावना के प्रति आलोचक व्यक्त हुआ है वहाँ वे भारतीय दर्शन की सर्वोपरि सत्ता की भूरि भूरि प्रशंसा करने में भी पीछे नहीं रहते हैं। यद्यपि उन्होंने धार्मिक काव्य की नम्रतम प्रवृत्ति प्रयोगवाद पर धमिक नहीं लिखा फिर भी उनके तुलनात्मक समीक्षण में उसके सम्बन्ध में जो विचारणाएँ व्यक्त की गई हैं वे अत्यन्त प्रौढ़ और शास्त्र हैं। सब तो यह है कि कालांतर में उनके समग्र छायावाद और प्रतिवाद का दुर्जन और अतिरेकपूर्ण एक उपस्थित हुआ उसी प्रकार वे प्रयोगवाद का भी अन्तिम विरोध कर सके हैं।

समालोच्य विषयों के पक्ष और उतका मूल्यांकन

१८ पंथी की समालोचनाओं का निम्न मूल्यांकन करने के लिए इस बात का ध्यान आवश्यक है कि पंथी उत्तर हिन्दी-काल के कवि हैं, अतः उन्होंने अपनी समालोचनाओं में मुख्यतः अपनी युव-आत्माओं की ही बाणी प्रदान की है। वे छायावादी युग के कवियों पर हिन्दी-युग के कवियों के काव्य-सौष्ठव का कोई प्रभाव स्वीकृत नहीं करते और न उनसे भावना तथा काव्य निर्माण के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की तुलना प्रेरणा ही पाते हैं। उन्होंने छायावादी कवियों के धर्म को हिन्दू धर्म के आगे एक ही सीमित न रखकर उनके धार्मिक दृष्टिकोण को पौराणिक आचार-विचारों का प्रतिफल एक करने वाला निरिष्ट किया है जिस पर सर्वानुवाद तथा विरोध का प्रचुर प्रभाव है। कालांतर में वे छायावादी कवि युव-जीवन से प्रभावित होकर अपनी मुख्य तथा धार्मिक भूमि छोड़कर स्थूल तथा अतिरिक्त की वस्तुपरक दृष्टि पर बिलस कर उतर आये उनका पंथी ने अत्यन्त अर्थपूर्ण दृष्टि से विवेचन किया है। छायावाद के अन्तर्गत प्रतिवाद की अवधारणा के मूल दर्शन का उद्घाटन करते हुए उन्होंने लिखा है कि तत्त्व के बोझ को उड़ती हुई अस्पष्ट भविष्यता युव-परिधि से आध्यात्मिक आशावादी और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं भविष्यतः होकर वास्तविकता की भूमि पर विवरण करने लगी।^१

१९ पंथी द्वारा की गई आध्यात्मिकता का एक महत्वपूर्ण तत्त्व यह भी है कि उन्होंने प्रतिवाद तथा प्रयोगवाद की उपस्थापनाओं के रूप में माना है क्योंकि 'मूढतः ये तीनों आचार्य एक ही युग केतना अथवा युग-समय से अनुप्राणित हुई हैं। वे इन तीनों आचार्यों को एक दूसरे की पूरक मानते हैं क्योंकि य धरने रूप विमर्श भावना-सौष्ठव और विचार-दृष्टि में धर्म-धर्म एक-दूसरे के निकट या रही हैं। इसका कारण उन्होंने धर्म के युव-जीवन को समन्वय तथा सन्तुलन की ओर बढ़ने के लिए सतत क्रियमायु बने रहना बताया है।^२

७ पंथी के काव्य की भाँति उनकी समालोचनाओं में भी समन्वयवादी दृष्टिकोण परिलक्षित है। उनमें आदर्शवाद तथा अनुवाद में संतुलन माने का गुण प्रभाव है। वे आध्या

१. पक्ष-पक्ष : काव्य की कविता और भी, पृष्ठ १११

२. पंथी, पृष्ठ १११

जीवन का सांस्कृतिक दृष्टिकोण एक ऐसा घालबास बनकर उपस्थित हुआ है जिनकी परिधि में उन्होंने युव-जीवन और साहित्य-संस्करण की प्रक्रियाओं को परखने की चेष्टा की है। उनकी विवेचन-प्रवृत्ति और विचारणाओं पर आसक्ति का ऐसा मजबूत संसार है, जिसके कारण वे सर्वत्र विनय बनकर अपना आत्म-प्रकाशन करते चले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि उनके कवि-रूप के प्रंतरण का तत्त्वस्वीय धनवाहन करने में सुधी समाजोपकों की मति भ्रम नहीं होता तो वे इस प्रकार के समीक्षात्मक निबंध लिखने की ओर कदापि उन्मुख ही नहीं होते किन्तु जब उनके विकासक्रम की सीमाओं को आवश्यकता से अधिक घाससा या मिटा का स्वल्प प्रदान किया गया तो उन्हें उन भावियों का विचारण करने के लिए उत्पन्न होना ही पड़ा। उनका इस प्रकार का प्रयास एक ओर समीक्षा-क्षेत्र में उनके काव्य निर्माण का सर्वाधिक विस्तृत और प्रामाणिक निर्वर्ण उपस्थित करने का आचार बना वहीं दूसरी ओर उनके मेधावी मस्तिष्क के विचार-संस्करणों का भी ज्ञान उसके द्वारा हो सका। यदि उनके विवेचन का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन किया जाय तो समय-समय पर उनके काव्य-विषयक किये गये अनुकूल तथा प्रतिकूल समीक्षण के उन पूर्व-पक्षों का सम्यक समाधान मिल सकता है जो उनके सामाजिकों ने अपनी विशिष्ट चार्ताओं निबंध मात्ताओं में समय-समय पर अभिव्यक्त किये थे।

११ पंथवी की प्रमुख मान्यताएँ कुछ विशेष तत्त्वों पर आधारित हैं जिनकी पुष्टि वे सर्वत्र प्रकाशपूर्ण करते रहे हैं। उन्होंने एक युवजीवी साहित्यकार की भाँति वर्तमान युव-चेतना का प्रमाण सर्वत्र स्वीकार किया है और इस विषय में उनका यह दृढ़ विश्वास है कि वे वय-क्रम के साथ-साथ अपनी विचार प्रीति में सर्वथा सारवर्ण्यपूर्ण बिंदु से ही विकासशील बनते चले हैं। इस सम्बन्ध में उनकी तो यह सुनिश्चित धारणा है कि उनके कतिपय सामाजिकों को उनकी विकास-रेखाओं में चले ही किसी प्रकार का व्यवधान परिलक्षित हो किन्तु 'ज्योत्स्ना-काव्य' से उनके अभिमान में जो अंतर्वृष्टि प्राकृत हो गई थी वही अन्तः विकसित होकर परवर्ती रचनाओं में प्रतिमान बनती चली है। उन्होंने अपने विवेचन में बार-बार साहित्य की सत्ता की राजनीति तथा सर्वव्यवस्था से उत्पन्न स्वातंत्र्य प्रदान करते हुए उसकी गरम सन्निहित विषय-मानवता में विहीन होने तथा सांस्कृतिक संस्करण का गंभीर निर्माण करने में मानी है। यही कारण है कि वे लोक-संगठन और मन-समझ में तात्कालिक स्थापित करने के पक्षपाती हैं और वस्तुवाच तथा प्रभ्यात्मवाद में संतुलित सामंजस्य खाने के समिन्तारी हैं। उनकी इस प्रकार की मान्यताओं का ही यह प्रतिफल है कि वे बाह्य विवेचन को उत्पन्न करने का एक सुन्दर प्रयास मानते हुए भी उसके समक्ष से ऊपर रहकर चलने में ही जीवन का ज्योत्स्नर विमान पाते हैं और साथ के यन्त्रण में कर्त्तव्य की जाने वाली मानवता का समुदाय केवल इसी साहस्यता में समीचीन समझते हैं कि यंत्रों का मानवी करतब कर दिया जाय जिससे दिन-प्रतिदिन संवर्द्धित होने वाली स्वर्ण और सोम भावना का प्रगट किया जा सके। इसी प्रकार उन्होंने चेतना और परावर्तकी प्रत्योम्भाभित संस्थिति निरूपित कर प्रभ्यात्मवाद और भावसंवाद को एक ही धर्म के दो पक्षों के रूप में विवेचित किया है जिनके संतुलन की प्राप्ति भी युवागुरुप्रवृत्त आवश्यकता बनी हुई है। वस्तुतः पंथवी भावसंवाद, वस्तुवाद अन्त-चेतन तथा पूर्व-परिचय के श्रेष्ठियों को समाप्त कर इस प्रकार के अन्तिम धारणों को प्रगट करना चाहते हैं जिससे प्रायः के मनुष्य को युव-संस्कार के प्रंतरण में जगमगे वाली नव मानवता का वास्तविक प्राप्ता हो जाय और वह विश्व के नवीन साहित्य-निर्माण के लिए आत्म-ज्योतिष्क उत्पन्न कर सके।

१३ पंथवी के विचारक-स्वरूप का एक तत्त्व जो कुछ विवेचन किया गया उससे उनके मानसिक धारण का बोध कर देना कोई कठिन कार्य नहीं है। उनकी जीवन-आस्थाएँ काव्य भूमि पर उच्च बन कर इस प्रकार चिन्तित हुई हैं जिनमें उनका काव्य-विकास और कला-सौष्ठव युव-जीवन के साथ-साथ निरूपित हुआ है। उनकी समाजोपना से यह भी पता चल जाता है कि वे

प्रकार अपने निरालेपन से काव्य-उपमा में अति की है उसी प्रकार उनके उपमा-साहित्य में भी उपमा-विद्या की एक नवीन विद्या विद्यमान है। वस्तुतः ये एक मौलिक विचारक भी हैं, जिन पर पुस्तकीय अध्ययन की अपेक्षा आत्म-चिन्तन और मनन का अधिक प्रभाव है। निबंध-समालोचना भी उनकी प्रिय विषय रहा है पर काव्य-उपमा-विद्या की समता में उसका आकार प्रकार बहुत कम है। उनके निबंध किसी व्यवस्थित क्रमबद्ध प्रणाली में न लिखे जाकर जीवन की विशेष परिस्थितियों में उद्भूत उनके मानस की भांतरिक प्रेरणा के उद्गार हैं, जो उन्होंने 'मठमाला' 'समन्वय' 'सुधा' 'देसबूत' 'माधुरी' 'हंस' 'सरस्वती' आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित किए हैं। उनके निबंधों के संग्रह 'प्रबंध-पद्म' 'प्रबंध-प्रतिमा' 'आबुल' तथा 'चमन' नामक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें पिछले प्रायः पचास वर्षों की हिन्दी साहित्य की गतिविधि का सामान्य लेखा-जोखा प्रवीणों के रूप में मिल जाता है और जिसका कार्यकाल सन् १८२२ से लेकर साधारणतया सन् १८३९ तक की परिस्थितियों के निरीक्षण से सम्बन्धित है। ऐसे ही निरालाजी ने सांस्कृतिक सामाजिक आत्मपरक और सामयिक विषयों पर भी निबंध लिखे हैं किन्तु हमारा उनसे विशेष प्रयोजन नहीं है। हमें तो केवल उनके समालोचनात्मक निबंधों की ही आचारविधि ग्रहण करनी है, जिससे उनकी भाषाशास्त्रों के परीक्षण के साथ-साथ यह भी जाना जा सके कि उनके द्वारा उन्होंने समाजोन्नतारक साहित्य को प्रगतिशील विद्या प्रदान करने में कहीं तक सहयोग दिया है। निरालाजी ने 'रवीन्द्र कविता कानन' के अतिरिक्त अन्य कोई स्वतन्त्र पुस्तकाकार समालोचना नहीं लिखी, परन्तु उनकी समालोचक-प्रतिमा केवल निबंधों के कलेसर में ही परिलक्षित की जा सकती है। वस्तुतः उनके निबंध उनके समालोचक-व्यक्तित्व का आभास देने के एकमात्र साधन हैं।

ऐतिहासिक पक्ष और भाषा-विषयक विचार

३१ निरालाजी की समालोचना का एक ऐतिहासिक पक्ष है। वे साहित्य और भाषा का घट्ट सम्बन्ध मानते हैं पर उन्हें यह बात पसंद नहीं कि सर्वत्र सरस भाषा को ही प्रोत्साहन दिया जाय। वास्तव में वे विषयानुसृत भाषा के पक्षपाती हैं। उनके मतानुसार 'वचनार्थ साहित्य' शैली के विभाग के अनेक-अनेक विचारों की तरह प्रायः-व्यय की संज्ञा की तरह प्रयोगों में बन्ध होकर नहीं निकलता। वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं जाता वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं जाता। 'आभाषण' की अभ्यवृत्ति में भी उन्होंने यही तर्क उपस्थित किया है और जो लोग उसमें बुझो-बता जाते हैं, उसे वे आभाषण का दोष न मानकर जम्ही के भस्मिष्क की कमजोरी सिद्ध करते हैं। वस्तुतः निरालाजी के मतानुसार तो आभाषण की कविताएँ भाषा साहित्य के विकास के विचार से अधिक विकसित रूप हैं।^१ वे आभाषण प्रणाली के मुक्त-काव्य और मुक्त-छन्द की आवश्यकता का समर्थन भी अवश्य प्रबल रूपों में करते हैं। उन्होंने मनुष्यों के कर्म-व्यय-भोग की भाँति कविता की भी मूर्ति मानी है जो उसके सन्तों के साधन से प्रसंग होने पर होती है।^२ उनके मतानुसार मुक्त काव्य साहित्य के लिए किसी भी काल में अनिवार्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसके द्वारा साहित्य और समाज में व्याप्त सभी स्वाधीन-भावना का संचार होता है। उन्होंने यह कह कर कालीन काव्य-साहित्य की स्वच्छ मूर्ति की प्रशंसा कर परवर्तीकाल के उस साहित्य की निन्दा की है जो अनुशासन के नाम पर अनेक प्रकार से बन्धनों से मुक्त बना दिया गया है। उनके मतानुसार "मुक्त छन्द यह है जो छन्द की बूँद

१ प्रबन्ध 'वच साहित्य और भाषा' पृष्ठ १।

२. प्रबन्ध-पद्म, पृष्ठ १२।

३. 'वर्तमान विज्ञानी निराशा' : 'परिभाषा की भूमिका' पृष्ठ २४।

रिक्त तथा भौतिक प्रतिस्पर्धनाओं का विरोध कर दोनों को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण करते हैं, जिनके कारण भोक-कस्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में वे एक दूसरे के पूरक से बनकर संयोजित किये जा सकते हैं। यद्यपि उन्होंने काव्य के इन प्रमुख धार्मिक बाधों पर स्वतन्त्र रूप से निबन्ध नहीं लिखे हैं, फिर भी वे प्रायः की कविता धीरे-धीरे तथा 'धार्मिक काव्य प्रेरणा के स्रोत' सीर्षक निबन्धों में तथाकथित बाधों का सारगर्भित विवेचन करने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने एक भूणप्राप्ति समालोचक के रूप में हिन्दी छायावाद के रूप-संयोजन के घन्तराम में युग-परिवर्त के साथ-साथ उन धार्मिक सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाओं का प्रभाव स्वीकार किया है जिनके कारण हमारे छायावादी कवि अपने काव्य के अनुभूति तथा धर्म-व्यक्ति के पक्ष में अभिनव ज्वलित कर सके। इस प्रसंग में उन्होंने छायावाद के ऊपर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा संयोजी कवि रवीन्द्र की प्रभाव सबसे अधिक स्वीकार किया है। ऐसा करते हुए वे अपने काव्य निर्माण के प्रेरणा-स्रोतों का विवरण देना भी नहीं भूले हैं।

७१. अंत में कहा जा सकता है कि पंथी की समालोचनाओं का प्रधान स्वरूप उनका निम्नी काव्य-विस्लेषण रहा है जिसके घन्तराम में युग-प्रवृत्तियों के विविध विभागों का समीक्षण सांस्कृतिक दृष्टि से हुआ है। उनकी समालोचनाओं से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि वे भारतीय संस्कृति में प्रगाढ़ घास्ता रखने वाले एक ऐसे विचारक हैं जिन पर भारतीय दर्शन गांधीवाद और अस्तित्व के भाषण-जीवन का अनेक प्रभाव है। उनके इस प्रकार के दृष्टिकोण-निर्माण में पाश्चात्य दर्शन और विचार बाराधों ने भी प्रभुत्व साधना प्रदान किया है। प्रायः के युग में प्रचलित राजनीतिक साहित्यिक और सांस्कृतिक बाधों के सार-रत्न चुनकर पंथी ने उनके उल्लेख पक्ष का सर्वत्र समर्थन किया है और वे महासम्पन्न पूर्वग्रहों से दूर रहे हैं। यद्यपि उनका प्रमुख क्षेत्र कार्यान्वयन प्रतिभा द्वारा काव्य-सुबन करना ही रहा किन्तु समय-समय पर उनके समा-लोचकों ने उनके काव्यगत विचार-पक्ष को लेकर जो कटु प्रलोचना की उनका प्रतिवाद उन्होंने अत्यन्त संयत और विवेकपूर्ण विधान में किया है। अपने विकास की युग-सीमाओं में क्रमशः संश्लेष करते हुए वे युग-परिवर्त पर जिन-जिन परिस्थितियों में बिकासोन्मुख बन सके हैं उनकी झलक उन्होंने अपनी समीक्षाओं में ठोस तर्कमिति पर दी है। उनके काव्य-समीक्षण में तुलनात्मक प्रवृत्ति का भी समावेश है और वे कई स्थलों पर याद-विमोह बनकर विवेक विषय में आत्मसात् भी हो गये हैं। भाषा-शैली और धार्मिक-मन-मशाली पर तो पंथी की इतना अधिक अधिकार है कि वे अपनी अनुभूतियों को सर्वत्र संतुलित रखकर उन्हें अपनी सज्जता में पूर्ण कोशल के साथ समर्थ में बांध देते हैं। उनकी समालोचनाओं में कहीं पर भी स्वेच्छा की कल्पना का लेखमाण भी नहीं है और मेरी मान्यता में तो पंथी का विचारक अपने विस्लेषण में इतना अधिक सज्ज है कि उसके लिए कहीं पर भी पक्ष-स्वतन्त्र के अवसर नहीं पाये हैं। प्रायः वे अपने रचना में अत्यन्त शैक्षिक और उत्तरदायी बने हुए हैं अतः क्या ही अश्चर्य हो यदि वे प्रायः के साहित्य की युगीन धारकताओं का अनुभव कर अपनी समीक्षण-प्रतिभा द्वारा बाधों निर्माण का पक्ष प्रस्तुत करें और समालोचना को सांस्कृतिक विधि में और अधिक प्रीति और व्यापक बनाकर अभिनवता प्रदान करें।

(१)

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

७२. पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय व्यक्तित्व है। प्रती-तक उनके साहित्य-सौष्ठव का प्रवीणता परीक्षित नहीं हो सका है। उनकी कविताओं ने जिस

ऐसी धारि की काव्य-रचनाओं के साथ विवेचित कर वे पंथी को 'भोर कवि' तक कह गये हैं। पंथी पर निराशाही का यह प्रहार अत्यन्त मर्मवशी है जिसे पंथी का मुकुमार व्यक्तित्व न जाने किस प्रकार सहन कर सका। सम्भव है इसी प्रहार को न झेल सकने के कारण ही पंथी ने घावे बसकर अपने एक काव्य का समर्पण अपने इस कठोर आलोचक को किया। यदि पंथी अपने 'पल्लव' की एक प्रति यथासमय निराशाही को भेज देते और अपने पल्लव के प्रवेश में निराशाही के शब्दों को बला-काव्य से प्रभावित न बतलाते तो सम्भवतः निराशाही का यह प्रह्व वामुत न होता जिसके बशीभूत होकर उन्होंने पल्लव की ऐसी कठोर आलोचना की। स्पष्ट है कि पंथी के 'पल्लव' की जिस भूमिका को 'अध्यापारी काव्य का बाणपाणव' कहा जाता है उसे निराशाही ने निरर्थक सिद्ध कर उसका धोखे-सा कर लिया। इस समालोचना के एक-एक वाक्य में तीव्र व्यंग्य भर पड़ा है। इस आलोचना में निराशाही पंथी के वैयक्तिक स्वभाव पर भी घुटकी सेने में नहीं थूके हैं। वे लिखते हैं—

“स्वभाव में ‘पीयेल घेजेज’ की प्रधानता के कारण पंथी कवित्त छंद की मौलिकता उसका सौन्दर्य मन को उच्च परिस्थिति में ले जाने वाली उसकी दक्षिण उसकी स्वर-विचित्रता धारि समझ नहीं सके।”^१

‘पंथी और पल्लव’ समालोचना का विशद स्वल्प

७९ निराशाही की ‘पंथी और पल्लव’ शीर्षक समालोचना को मैं उनके व्यक्तित्व-विकास की एक कड़ी मानता हूँ। ‘प्रबन्ध-पत्र’ का बो-तिहाई कसेवर तो केवल यही समालोचना बेरे हुए है। उसके १४ पृष्ठों में न जाने कितनी बार निराशाही का पंथी पर आलोच्य अधिष्ठातृ हुआ है। अपने समालोच्य विषय की भूमिका में उन्होंने पंथी के पल्लव के प्रवेश नाम के उन उन विशेष शब्दों का कटु-सत्य-समन्वित-शरी में रहस्योद्घाटन करने की चेष्टा की है जिन्हें ‘पंथी ने कविता बनानापा बड़ी बोली छठीठ के कवि कवित्त स्वच्छंद छंद बंगला की कविता निराशाही के छंद छव्यों के रूप-रंग स्वर धारि अनेक विषयों को नवाविष्कृत वैज्ञानिक सत्य की छिपछिप से हिन्दी के हरिद मग्नार में लाने की चेष्टा की है। पंथी ने ‘अपनी कविता की कापीवरी’ की व्याख्या जिस सचि से की है उसे निराशाही ने कवित्त करने में कोई कसर नहीं रबी है। बसे तो पंथी परमसिद्धि धर्मा ने भी तुलनात्मक समालोचना का एक दृष्टिकोण रखा था किन्तु वह बिहारी की नकालत से बढ़कर और अधिक कुछ न था। निराशाही ने अपनी इस आलोचना में उसका विम्वरारमक का ही अधिक प्रयुक्त किया। उन्होंने पंथी के काव्य की न केवल निम्न ही की भक्ति यह भी सिद्ध किया कि उन्होंने जहाँ कहीं से भावापहरण किया है, उसे सौन्दर्यपूर्ण और मौलिक न बनाकर और भी अधिक बिनाड़ दिया है। हाँ यह बात प्रबन्ध है कि निराशाही ने पंथी की मौलिकता की भी प्रशंसा उनकी ‘मधुरता’ के रूप में की है। उन्होंने ‘पल्लव’ की समालोचना के कुछ तीव्र विषय चुने थे किन्तु वे केवल पाठ विषयों पर ही प्राय एक ही पृष्ठों में विवरण कर गये।^२ यदि उनके द्वारा कहीं सारा विश्लेषण किया जाता तो ‘पल्लव’ की आलोचना स्वतः एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन जाती। बसे तो ‘पल्लव’ की आलोचना मुख्यतया उसके शेष-वर्णन को लेकर ही लिखी गई है किन्तु कुछ स्थलों पर निराशाही पंथी की काव्य मापुरी की भी प्रशंसा करने में पीछ नहीं रहे हैं। जैसे—

“पंथी में सबसे जबरदस्त जो कीयम है वह शैली की तरफ अपने विषय को अनेक

१. ‘प्रबन्ध-पत्र’— पंथी और पल्लव पृष्ठ २०।

२. ‘प्रबन्ध-पत्र’— पंथी और पल्लव पृष्ठ ५९।

३. हे पंथी और पल्लव।

में रहकर भी मुक्त है तथा जिसकी विषय गति में भी एक ही साम्य का प्रसार सौन्दर्य मिलकता है। उनके मतानुसार वस्तुतः 'मनस्य चक्षुः का समर्पक उत्तमा प्रवाह' होता है।^१

तुलनात्मक प्रवृत्ति और उसकी आधारभूता

७४. निराशा जी की समासोचनाओं में तुलनात्मक प्रवृत्ति भी है। वे विवेचनात्मक ऐसी शाय हो भिन्न भिन्न मापाओं के काव्यकारों में विचार-साम्य की धमक बड़ी कुसमता से धमकेपित कर सके हैं। ऐसा करने में उनका साहित्य-ज्ञान और उनकी साहित्य-सक्ति परम सहायक रहे हैं। उन्होंने एक समन्वयकारी साहित्यकार की भाँति मातृ की सांस्कृतिक एकता में भस्त्रव विश्वास रखकर 'मुसममान और हिन्दू कवि' में जो विचार-साम्य^२ विवेचित किया है उसने कालांतर में अनेक समासोचकों को इस विषय का विशेष अध्ययन करने की प्रेरणा दी है। ऐसा करते हुए निराशाजी ने जो प्रतिमान बनाया है वह यही है कि बाह्य-रूपों में भिन्न हो भी विभिन्न भावियों के मानसिक स्तर में साम्य न हूँडा जा सके किन्तु उनके संतरत्या की धारा तो एक ही बिरतन सत्य से प्रसक्त रहती है। निराशाजी की ऐसी समासोचनाओं की यह भी एक विशेषता है कि वे अपने मूल विषय पर जाने के पूर्व जिस सैद्धान्तिकता की व्यवहारता कर बैठे हैं, वह उन्हें उसके प्रकृत प्रतिपादन में बराबर सहायता देती चलती है। उनका सर्वत्र यही प्रबल रहता है कि वे अपनी भाष्यताओं के अनुकूल सम्बोधन कर सकें। यही कारण है कि वहाँ उनका प्रत्येक विचारों से मगमग भी होता है, वे उसे निर्भीकता के साथ व्यक्त करने में नहीं हिचकिचाते। उनकी इस प्रकार की वृत्ति के कारण ही उनका हिन्दी-साहित्य में विद्विष्ट व्यक्तित्व बन सका है और उनकी समासोचना-कृतियों में भी इसी स्वतंत्र चिंतन की छाया है, जिसमें प्राचीन काव्य-शास्त्र की परम्परायुक्त परिपाटी के अनुसार सैद्धान्तिकता और शास्त्रीयता का उत्तमानुसंधान करने वाले विद्वानों को निराश ही होना पड़ेगा।

व्याख्यात्मक प्रणाली और उसका निर्वर्तन

७५. निराशाजी की समासोचनाएँ व्याख्यात्मक प्रणाली और तर्क-सन्धि से भी सापूरित हैं। वे अपने विषय प्रतिपादन को जब तक विस्तार देते चलते हैं, जब तक उन्हें वह विश्वास न हो जाय कि वे अपना मूल संतुष्ट पूर्णता के साथ प्रकट कर चुके हैं। जो बात उनके मन के अन्तर्गत अनुकूल प्रवृत्ति धारणिक प्रतिबल होती है उसकी तो वे बात की बात निकालकर ही छोड़ते हैं। उस समय उन्हें इस विषय का बहुत कम ध्यान रह पाता है कि उनके इस प्रकार के विवेचन की साहित्य-त्रय में क्या प्रतिक्रिया होगी। ऐसे व्यवहारों पर वे इधर-उधर से बहोर कर ऐसे अनेक प्रयासों का संकलन कर लेते हैं, जिनके द्वारा वे अंतर्पूर्वक अपने साम्यतायुक्त सत्य की पुष्टि कर सकें। हाँ यह बात धुसरी है कि ऐसी स्थिति में सम्प्राप्ति पाऊँ उनकी समीक्षित का सामास्य प्रवृत्ति पा लेते हैं। उनकी इस प्रकार की समासोचनाएँ अत्यन्त प्रचार और प्रोत्सुहिनी हैं। न जाने किन परिस्थितियों से बाध्य होकर निराशाजी ने 'पठनी और पस्तक' धीरे-धीरे विद्वत् और व्यापक समासोचना इसी प्रकार की प्रणाली में लिखी। उनकी यह समासोचना अपने पाठ्य-प्रकार में अत्यन्त विस्तृत समासोचना है जिसमें धर्म्य और कलाय का स्थान-स्थान पर प्रबोध हुआ है। उसका मूल उद्देश्य सम्भवतः पठनी की काव्य-कला के दुर्बल पक्ष का ही उद्घाटन करना रहा है, यही तो वे 'पस्तक' की अनेक परिधियों का साम्य का रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा अंग्रेज कवि

१. 'सर्वप्रथम निरासी निराश' : 'परिभाषा की प्रतिक्रिया' पृष्ठ २१।

२. 'प्रकृत-पत्र', पृष्ठ १६-१७।

विषयक दृष्टिकोण का निष्कर्ष किया है। यह निष्कर्ष इसलिए किया गया कि उनकी काव्य सौन्दर्य सम्बन्धी भावनाओं में किसी प्रकार का भ्रम न हो सके। वस्तुतः निराशाजी का कला के प्रति जो दृष्टिकोण है, वही उनकी काव्य रचनाओं में प्रस्फुटित है। यद्यपि उनके कला विषयक प्रतिमान की महत्ता उनके मानसिक विधान की दिकटतम रूप से समझने में परम सहायक है। यहाँ इस बात का स्मरण रचना भी आवश्यक है कि धारावाहिक काव्यकारों का समीक्षण प्रतिमान स्वच्छ-शुद्धतावादी सौन्दर्यमयी वृत्तियों से निर्मित था यद्यपि निराशाजी के इस विवेचन में भी उनकी प्रति ध्वनि या भाषा सहज स्वाभाविक है। वे लिखते हैं—

“कला केवल बर्तुं ध्वन्य ध्वन्य अनुपात रस धारणार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे रसों की सभ्य सार की सुन्दरी की धारों की पहुँचान की तरह—देह की झीलझा—वीनता में तरंग की उतरती चढ़ती हुई, निम्न बलों की बनी बाली में झुल कर झूमक मंत्र यन्त्रणा होकर नील होती हुई—जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती न बंधुर से न शाल से न पीले से न लाल से लेकर उदा शान पल्लव धीरे धीरे के रंग रेषु गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए जल्दी है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य से सभी सज्जन धीरे धीरे उदा फूलों की सुगन्ध पेड़ के हृदय उपरत भाव को डके हुए, अपने सौन्दर्यतत्त्व के भीतर रहती है पेड़ की काष्ठ-निष्पूरता बिजली हुई भी किसी खूबी है वही तरह काव्य-कला आवश्यक धारणा धारण-सम्प्रदाय को अपनी मनोमता के भीतर धारण रहती है।”

यह ध्वने की आवश्यकता नहीं कि निराशाजी का यह कला विषयक विवेचन किसी भावमयी धीरे धीरे पूर्ण कविता से कम नहीं है। उन्होंने इसी प्रतिमान से संरक्षित के सुन्दर कवि कालिदास की कृतियों का परीक्षण किया है और इसी से वे अपनी प्रथम रचना ‘जुही की कसी’ का काव्य-सौन्दर्य धारण-विवेचन के साथ स्पष्ट कर सके हैं। वस्तुतः उन्होंने ‘जुही की कसी’ नामक कविता के भाव-सौन्दर्य और कला-सौष्ठव की जो व्याख्या की है उसकी समता में हिन्दी साहित्य में बहुत कम विवेचन मिलती है। उनके विवेचन का निष्कर्ष वही है कि वे कला को धारण करने में देखकर सम्पूर्ण या सकल रूप में देखते हैं और केवल सुनिश्चित धारणा उपरत को कवि की कम धारणा मानते हैं। ‘जुही की कसी’ में उनके मतानुसार केवल धारणा रस या ध्वनि ही नहीं अपितु इन तीनों का समन्वय है। इस प्रकार उनकी कला-विषयक धारणा के अनुसार इस कविता में कला की पूर्णता समिन्वय है।

निजी काव्य-सौष्ठव की व्याख्या

यह निराशाजी ने ‘मेरे बीत धीरे कला’ धारण धारावाहिकतायक निबंध में जहाँ अपने काव्य का सौष्ठव विधान ‘जुही की कसी’ नामक रचना का विवेचन करते हुए प्रस्तुत किया है, वही पंथजी के मुँह की ‘बहिनी’ धारण कविता की धारण धारणा भी वही है।^१ उन्होंने धारण-धारण उनके धारणों में धारणतत्त्व धारण कर धारण पंथजी की ‘बिजली कला’ कहा है।^२ इसी निबंध में उन्होंने धारण ‘परिचित धारण की विवेचन’ रचना का भी व्याख्यात्मक धारण उदा ‘मुक्त धारण की धारण’^३ कहकर किया है। इसी प्रकार उनकी धारण धारण धारण ‘धारण धारण धारण’ तथा

१. ‘निर-धारण’—‘मेरे बीत धीरे कला’ पृष्ठ १०२।

२. धी. पृष्ठ १११।

३. धी. पृष्ठ १११।

४. धी. पृष्ठ १११।

५. धी. पृष्ठ १११।

उपमाओं से सँवार कर मधुर से मधुर धीरे कोमल से कोमल कर देना। याचना की वायुनि तो नहीं परन्तु सौम्य के समोहुर का-जगत पस्ति-पस्ति में मिलते हैं। क्यक भीर घलकार बांधना उनके बाएँ हाथ का खेल है। सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही है।”^१

‘रबीन्द्र-कविता-कानन’ और बाह्यमिक पक्ष

७७ निराशाजी की समासोचनाओं का एक बाह्यमिक पक्ष भी है। काव्य में क्य भीर घस्म’ धूम्य घीर घस्ति’ तथा ‘साहित्य का फुल घपन ही कृत पर’^२ दीर्घक निबंधों से इस कवन की पुष्टि होती है। उन्होंने ‘रबीन्द्र कविता कानन’ के संतर्पित भी रबीन्द्र बाबू के काव्य-वर्धन का एक विधेय पक्ष विवेचित किया है। वास्तव में जिस समय उनकी इस पुस्तक का हिन्दी समासोचना-व्यपत् में प्रकाशन हुआ उस समय रबीन्द्र-बाहिरन को हिन्दी भाषी प्रदेश में बोधव्य घीर प्रकाशित बनाने का कव्य कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं हुआ था। उन्होंने इस पुस्तक में रबीन्द्र-काव्य में प्रकाशित उनकी प्रतिभा का विकास त्वरित प्रेम महाकवि का संकल्प धिसु-संश्लिषि रचना शृंगार तथा संवीत काव्य का विवेचन प्रत्यक्ष भाव प्रवण खेती में किया है। प्रशानुसार अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए जिन काव्यो के उद्धरण दिए गए हैं वे परवत्त साक्षाद्वजनक हैं। इस समासोचना में व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग अधिक है। वास्तव में विमुक्त समासोचनात्मक प्रबंध की वृष्टि से निराशाजी ने यही एक पुस्तक लिखी है अन्यथा उनकी अन्य समासोचनात्मक कृतियों में तो केवल स्फुट निबन्ध ही पाते हैं जिनसे तत्त्वग्रहण करने के पश्चात् ही निराशाजी की विचारधारा का आकलन किया जा सकता है।

आत्म-विश्लेषण की भाषणा

७८. निराशाजी के समासोचक-व्यक्तिगत के निर्माण में उनके सम्बन्ध में की गई प्रतिकूल समासोचनाओं ने भी बड़ा सहयोग दिया है। उनकी घण्टी से घण्टी कविताएँ प्रारम्भ में केवल शीतिष्ट प्रकाशित नहीं हो सकी क्योंकि जमें छवों का विधान पिपमघास्म के अनुसार दीक नहीं था। द्विदेशी-मुप के बाह्यमूमक घीर इतिवृत्तात्मक इष्टिकोण के सम्मुख उन्हें अपनी स्थिति मुहक बनाने के लिए प्रवेष्ट सवर्ष करना पड़ा। ध्यानाधी कवियों के सिर पर किसी भी महान् घातार्क का संरक्षणहीन करव हुस न था। घत इन कवियों को स्वयं अपने विषय की सुविधसंवत विवचना के लिए प्रस्तुत होना पड़ा। निराशाजी भी इसके अपवाद नहीं रहे। उन्होंने भी प्रभाव पत घीर महादेवी की जीति अपने काव्य-पक्ष के विविध विभागों का विद्वेषण दिया। उनका यह प्रारम्भनीयताय भी हमारे समासोचना-साहित्य की वृद्धि का कारण बना। ‘मेरे भीत घीर कसा’ दीर्घक निबंध में उन्होंने अपने काव्य की जो समासोचना की है वह उनकी अन्तस्तेजना को प्रवणत कराने के लिए सर्वोत्तम साधन है। वैसे तो य मन्त्रबुधारे बाजपेयी ने भी इसके पूर्व भी ‘भारत’ पत्र में उनके काव्य-सौष्ठव का विश्लेषण प्रकाश घीर पंत की विवेचना क साथ किया था किन्तु उनके विरोधी समासोचकों ने भी उनके विषय में कय नहीं लिखा। घत सभी इष्टियों से निराशाजी को अपने काव्य-विश्लेषक क रूप में समासोचना के क्षेत्र में घाना ही पड़ा।

कसा विषयक दृष्टिकोण

७९. अपने ‘भीत घीर कसा’ का विवेचन करने के पूर्व निराशाजी ने अपने कसा

१. ‘प्रथम-परम’ इष्ट इष्टम् ।

२. वे टीको लेक ‘प्रथम-परम’ में संश्लिषित है।

विषयक दृष्टिकोण का निष्कर्ष किया है। यह निष्कर्ष इसलिए किया गया कि उनकी काव्य-सौन्दर्य सम्बन्धी माध्यताओं में किसी प्रकार का भ्रम न हो जाय। वस्तुतः निराशाजी का कला के प्रति जो दृष्टिकोण है वही उनकी काव्य-रचनाओं में प्रस्फुटित है। अतः उनके कला-विषयक प्रतिमान की महत्ता उनके मानसिक विज्ञान को निकटतम रूप से समझने में परम सहायक है। यहाँ इस बात का स्मरण रखना भी आवश्यक है कि छायावादी काव्यकारों का समीक्षित प्रतिमान स्वच्छ-मृदावादी सौन्दर्यमयी कृतियों से निर्मित था अतः निराशाजी के इस विवेचन में भी उनकी प्रति ध्वनि या आत्मा सहज स्वाभाविक है। वे लिखते हैं—

“कला केवल बर्णन मात्र, अल्प, अनुप्रास रख ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण भीमा है, पुरे वर्णों की सज्ज साध की सुन्दरी की घोषों की पड़चाम की तरह—देह की झीलझा—वीनता में तरंग की उतरली-बढ़ती हुई, विन्न बलों की बनी बाँधी में कुल कर कम्पन मंद मधुरता होकर चीन होती हुई—वैसे केवल बीच से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती न संकुर से न शाल से न पीरे से न जड़ से लेकर तना शाल पत्तन घोर फूल के रूप रेशु नभ तक फूल की पूरी कला के लिए बढ़ती है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य से सभी सज्ज घोर बिज तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के हृदय समस्त जल को डके हुए, अपने सौन्दर्यवत्त्व के भीतर रखती है पेड़ की काष्ठ-निष्पूरता बिखरी हुई भी छिपी रहती है, वही तरह काव्य-कला आवश्यक प्रयोजन बर्णन-सम्प्रदाय को अपनी मनेजता के भीतर डाले रहती है।”^१

५ कहने की आवश्यकता नहीं कि निराशाजी का यह कला-विषयक विस्लेषण किसी वाक्यमयी घोर कल्पनापूर्ण कविता से कम नहीं है। उन्होंने इसी प्रतिमान से संरक्षित के सुमधुर कवि-कामिवाच की कृतियों का परीक्षण किया है और इसी से वे अपनी प्रथम रचना ‘जूही की कमी’ का काव्य-सौन्दर्य धर्म-विवेचन के साथ स्पष्ट कर सके हैं।^२ वस्तुतः उन्होंने ‘जूही की कमी’ नामक कविता के भाव-सौन्दर्य और कला-सौष्ठव की जो व्याख्या की है उसकी समता में हिन्दी साहित्य में बहुत कम विवेचनाएँ मिलती हैं। उनके विवेचन का निष्कर्ष यही है कि वे कला को उच्च रूप में न देखकर सम्पूर्ण या सकल रूप में देखते हैं और केवल भूतित प्रथम उपरोध को कवि की कव्य-धोरी मानते हैं। ‘जूही की कमी’ में उनके मतानुसार केवल धर्म-कार, रस या ध्वनि ही नहीं अपितु इन तीनों का समन्वय है। इस प्रकार उनकी कला-विषयक बारखा के अनुसार इस कविता में कला की पूर्णता अभिव्यक्त है।

निजी काव्य-सौष्ठव की व्याख्या

५। निराशाजी ने ‘मेरे नील और कसा’ धीरे-धीरे साधुमतात्मक निबंध में बड़ी अपने काव्य का सौष्ठव विचार ‘जूही की कमी’ नामक रचना का विस्लेषण करते हुए प्रस्तुत किया है, बड़ा बतजी के मुखन की ‘बीकनी’ धीरे-धीरे कविता की धनेक संश्लेषिता भी लिख की हैं।^३ उन्होंने प्रथम-प्रथम उसके छन्दों में अतारतम्य लिख कर उसे बतजी की ‘बिबही कला’ कहा है।^४ इसी निबन्ध में उन्होंने अपने ‘परिचित संवह की निवेदन’ रचना का भी व्याख्यात्मक संस्तर उसे मुखन प्रेम की तररीर^५ कहकर किया है। इसी प्रकार उनकी मीन रही हार’ ‘आमो जीवन धनिके’ तथा

१ ‘निराशाजी’—‘मेरे नील और कसा’ पृष्ठ १०१।

२ पृ. १७१ १ १८०।

३ पृ. १७१ १८१ १८२।

४ पृ. १७१ १८१।

५ पृ. १७१ १८१।

‘बादम राव’ दीर्घक ‘मुकुट मोठ पदसि’ की छः रचनाओं का विश्लेषण भी उक्त निबन्ध में हुआ है। स्पष्ट है कि यह निबन्ध निराशाही को बाध्य होकर उस समय लिखना पड़ा जब उनकी कविता की प्रत्येक कटु समालोचनाएँ की जाने लगी थीं। इस समालोचना द्वारा निराशाही ने अपने प्रश्लेषार्थों को अपने काव्य-सौष्ठव को ह्रस्वग्राही बनाने की एक इष्टि की है जिसके द्वारा उनके साहित्य-जगत का संतरण करने में सहायता मिलती है। यही इस समालोचना का प्रमुख प्रयोजन प्रकट हो रहा है।

समालोचना-प्रत्यालोचनाओं में आलोक्ष

२२ प्राबुद्धि हिन्दी समालोचना के इतिहास में यह एक अत्यन्त बेवजनक विषय रहा कि कतिपय समालोचकों ने अपने वैयक्तिक स्वार्थों और विरोधों के कारण साहित्यालोचन के उदात्त पक्ष को कमजोर करने में भी कोई कसर नहीं रखी। बलुच प्राबुद्धि हिन्दी-साहित्य में समालोचना का जन्म भी कुछ विद्रोहपूर्ण परिस्थिति में ही हुआ था और उसका धाज भी धुँध नहीं है। इससे यह भी घमियाव नहीं कि समालोचना के नाम पर सर्वत्र बिखर साहित्य ही धामने पाया क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो प्रायः समालोचना-साहित्य इतना समृद्ध बिकाश नहीं कर पाता। फिर भी पारस्परिक विद्रोह की भावना भी अपना स्थान रखती रही। इस विद्रोह-वृत्ति का स्वल्प छोटे-बड़े सभी क्षेत्रों के समालोचकों में न्यूनाधिक मात्रा में मिलता है। इसका एक उद्देश्य यह भी होता है कि अपनी सत्ता सर्वोच्च सिद्ध की जाए और अपनी समता में किसी उद्योगमय साहित्यकार को घावे न बहने दिया जाए। बलुच यह स्थिति घोरनीय नहीं कही जा सकती। जिस अग्रगण्य और रहस्यवाद को कालान्तर में इतना अधिक महत्व प्रदान किया गया उसे कितने संघर्षों से चूमने के पश्चात् सफलता मिल सकी थी यह हमारे साहित्यालोचन में एक ऐतिहासिक विवेचना की सामग्री बन गई है। यदि इस धाज के कार्यकारों में विरोध प्रतिभा न होती तो वे अपना अस्तित्व कभी स्थापित कर ही नहीं सकते थे। उन साहित्यकारों में निराशाही की तो सबसे अधिक संवर्धन करना पड़ा। उनके पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समालोचनात्मक निबन्धों से यह स्पष्ट प्रकटित हो जाता है। न जाने उन्हें कितने समय पर्यन्त समालोचना-प्रत्यालोचना के इस चक्र में अपने बीच-बीच बिसराने पड़े। उन पर विरोधियों के आक्रमण भी कम कठोर न थे। छोटे-मोटे साहित्यकार होता तो कभी पसामन कर जाता पर निराशाही अपने बड़ रूप में सर्वत्र सुस्त्रिज बने रहे। उनकी ऐसे समय में लिखी गई समालोचनाओं में जो तिरमिजाने वाला अर्थ है वह प्राधुनिक चरम की भार से कम नहीं कहा जा सकता। इन समालोचनाओं में वे पूरे साहित्यिक मूल्य समझकर घावाएँ में चतुरे हैं। यद्यपि उनकी समालोचनाओं का वा एक प्रत्यालोचना-निबन्धक पक्ष है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण और घोरनीय है। सन् १९२८ में कला क बिजु में जोशीबन्धु और सन् १९३२ में साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान वर्ष^१ दीर्घक को उन्होंने समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं जिनमें उनकी कृति मनोमान सिंह नेत्र के पुस्तकार उठा है, वह किम ज्वाला स कम है ? इन निबन्धों में उन्होंने अग्रगण्य उत्कृष्टतम ‘विद्याल-भारत’ संग्राहक व बनारसीदास चतुर्वेदी और जोशी-बन्धुओं (डा हेमचन्द्र जोशी और पं० इलाचन्द्र जोशी) को जो मंह की खिलाई है, वह उनके अस्तित्व का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। ऐसे ही निबन्धों और कृतियों में उन्हें हमारे साहित्य का ‘निराशा’ बताया है। यद्यपि उनकी

१. अर्थ प्रसिद्ध पृष्ठ २६६ से ३२।

२. अर्थ-प्रसिद्ध प्र सरकण्य पृष्ठ २६७-२६८।

३. श्री कृष्ण = १९१

इस प्रकार की समासोचनाओं को सर्वांगीण और निर्बोध न मानता हुआ भी मैं उन्हें उनकी समासोचना-विधा का एक महत्त्वपूर्ण अंग प्रत्यक्ष समझता हूँ।

समासोचना के अग्रगण्य अवयव

८३ निरालाजी का संस्कृत और ब्रजभाषा साहित्य का अध्ययन भी व्यापक है। उनकी हिन्दी साहित्य से तो परिचय उनके पत्राचार ही हुआ था। यही कारण है कि उन्हें संस्कृत और ब्रजभाषा के काव्यकारों ने कम नहीं सुभाषा। उनके काव्य पर शार्दूलिकता की जो ध्याना पूरी उसका बहुत कुछ भेद 'रामकृष्ण विघ्न' के सम्पर्क के साथ-साथ उक्त साहित्यों के मनन और चिन्तन का भी है। निरालाजी इन साहित्यों के शब्द-सौष्ठव पर मुग्ध रहे हैं और अपनी समासोचनाओं में उन्होंने इनके महत्त्व कवियों का भी विवेचन किया है। यद्यपि वह विवेचन सामान्य सेही का ही है किन्तु उसके धीरे-धीरे कहीं-कहीं पर बड़ी पम्मीर और पठे की शायें कहीं बड़ी हैं। ऐसी विवेचनाओं में 'ब्रजभाषा के वैष्णव कवियों की शृंगार कल्याण' विद्यापति और चम्पदास का तुलनात्मक अध्ययन^१ कविवर भी चम्पदास^२ और कवि गोविन्ददास की कुछ कविताओं का शब्द-सौष्ठव मुख्य है। इनके अतिरिक्त निरालाजी ने हमारी नाटक-समस्या^३ और उपन्यास विद्या^४ पर भी ऐतान्तिक विवेचन किया है। यह विवेचन निरालाजी की अपनी उपलब्धियों के अनुसार हुआ है। उन्होंने अपनी समासोचनाओं में सर्वत्र साहित्य की शता को राजनीति से भेष्ट माना है और जो नेता उसे प्रेरणादायक हीन मानते हैं उनकी निन्दा की है। साधारणतया निरालाजी की कुछ समासोचनाएँ उनकी स्वरबाधिता-सौ श्वकृत करती हैं, किन्तु वे उसे अपनी दुर्बल पक्ष न मानकर सबसे पक्ष मानते हैं क्योंकि उसमें उनकी विचारामिश्रित वाक्प्रेम विधि से प्रकट हो सकी है। ऐसा प्रतीत होता है कि निरालाजी के व्यक्तित्व में एक उद्गम प्रवेय है जो अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध सामान्य परिस्थिति के उद्वेग होते ही थोड़ा साकर झनझना उठता है। उस समय उनके लिए अपने निबन्धों और समासोचनाओं में विचारधारा को संयत और समर्पित करना कठिन-सा हो जाता है। यद्यपि ऐसी कोई बात नहीं कि उनमें गुणसाहचर्य न हो। इसका एक बड़ा प्रमाण तो यही है कि वे किसी समय पंथरी के काव्य के कठोर आलोचक रह कर भी उन्हें 'कवि की हैसियत के उस युग के कवियों में लोकमत द्वारा सबसे अधिक सफल कवि' मानते हैं। उनका तो स्पष्ट कहना है कि आलोचना में उनकी (पठनी की) आलोचना करना वेद उद्भव नहीं या कला का विवर्धन ही तत्त्व वा इमीति कहीर तुलसी जैसे हिन्दी के योग्यतम रत्नों को बिना अध्ययन के उदाहरण में देने पहले रखा है।^५

अग्रगण्य शैली का प्रयोग

८४ निरालाजी की समासोचनाओं में 'आवा की पति और हिन्दी की सेवी पर भी विचार हुआ है। प्रायः स.प्रा. १४ वर्ष पूर्व संवत् १९८ के समवयव का वर्ष २ अंक ६ में उनका

१. प्रथम परिष्कृत पुस्तक १९११-१२।

२. वही पुस्तक १९०९।

३. वही, पुस्तक १९०९।

४. वही, पुस्तक १९०९।

५. वही, पुस्तक १९११।

६. वही, पुस्तक १९१२।

७. वही, पुस्तक १९१३।

८. वही, पुस्तक १९१४।

बादल राग' शीर्षक 'मुक्त गीत पत्रिका' की छः रचनाओं का विशेषण भी उक्त निबन्ध में हुआ है।^१ स्पष्ट है कि यह निबन्ध निराशाजी को बाध्य होकर उस समय लिखना पड़ा जब उनकी कविता की घनेक कटु प्रामोचनाएँ की जाने लगी थीं। इस समालोचना द्वारा निराशाजी ने अपने प्रश्लेषियों को अपने काव्य-सीष्ठन को हृदयपाही बनाने की एक दृष्टि दी है जिसके द्वारा उनके साहित्य-जगति का चरित्र करने में सहायता मिलती है। यही इस समालोचना का प्रमुख प्रयोजन प्रपञ्च उद्देश्य है।

प्रामोचना-प्रत्यालोचनाओं में आलोचना

८२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के इतिहास में यह एक अत्यन्त खेदजनक विषय रहा कि कतिपय समालोचकों ने अपने वैयक्तिक स्वार्थों और विरोधों के कारण साहित्यालोचन के उद्देश्य पर को कर्मकृत करने में भी कोई कसर नहीं रखी। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का जन्म भी कुछ विद्रोहपूर्ण परिस्थिति में ही हुआ था और उसका मान्य भी प्राप्त नहीं है। इससे यह तो प्रतिपन्न नहीं कि समालोचना के नाम पर सर्वत्र विद्रोह साहित्य ही सामने आया क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो प्रायः समालोचना-साहित्य इतना समृद्ध विकास नहीं कर पाता। फिर भी पारस्परिक विद्रोह की भावना भी अपनी स्वाभाविक रही। इस विद्रोह-वृत्ति का स्वल्प छोटे-बड़े सभी श्रेणियों के समालोचकों में न्यूनाधिक मात्रा में मिलता है। इसका एक उद्देश्य यह भी होता है कि अपनी सत्ता सर्वोच्च सिद्ध की जाए और अपनी समता में किसी उद्दीयमान साहित्यकार को घाते न बढ़ने दिया जाए। वस्तुतः यह स्थिति शोभनीय नहीं कहें या सकती। जिस छायावाद और रहस्यवाद को काबान्तर में इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया उसे कितने वर्षों से चूमने के पश्चात् सफ़लता मिल सकी थी वह हमारे साहित्यालोचन में एक ऐतिहासिक विवेचना की सामग्री बन गई है। यदि इस भार के काव्यकारों में विशेष प्रतिमान होती तो वे अपना अस्तित्व कभी स्थापित कर ही नहीं सकते थे। उन साहित्यकारों में निराशाजी को तो सबसे अधिक संघर्ष करना पड़ा। उनके पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित समालोचनात्मक निबन्धों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। न जाने उन्हें कितने समय पर्याप्त प्रामोचना-प्रत्यालोचना के इस बंधन में अपने बीच-बैच बित्तमाने पड़े। उन पर विरोधियों के आक्रमण भी कम कठोर न थे। छोटा-मोटा साहित्यकार होता तो कभी पलायन कर जाता पर निराशाजी अपने दम के सर्वत्र सुस्थिर बने रहे। उनको ऐसे समय में लिखी गई समालोचनाओं में जो तिलमिलाने वाला अर्थ है, वह पामुपत प्रत्यक्ष की मार से कम नहीं कहा जा सकता। इन समालोचनाओं में वे पूरे साहित्यिक मूल्य बनकर प्रकाश में उतरे हैं। परंतु उनकी समालोचनाओं का जो एक प्रत्यालोचना-विषयक पक्ष है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और घोरत्वही है। सन् १९२८ में कहा कि चिरह में जोड़ीबन्धु^२ और सन् १९३२ में साहित्यिक सन्निपात या वर्तमान घर्ष^३ शीर्षक जो उन्होंने समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं उनमें उनका कठिन मनोभाव जिस रूप में प्रकट होता है, वह किम पचासा से कम है? इन निबन्धों में उन्होंने कथं उत्काशीन निराशा-भारत^४ सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी और जोशी-बन्धुओं (डा. हेमचन्द्र जोशी और पं. इलाचन्द्र जोशी) को जो मुँह की खिनाई है, वह उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण घट है। ऐसे ही निबन्धों और कृतियों ने उन्हें हमारे साहित्य का 'निराशा' बनाया है। यद्यपि उनकी

१ मर्म प्रसिद्ध १८ २३६ से ३२।

२ मर्म प्रसिद्ध ३ सप्तम पृष्ठ २३२ २३६।

३ जो १५ १९१

भावसंशयों के त्यों टंगे हुए रह जाते हैं, इनकी प्रतिभा के पानी तक कविता की बाँध पहुँचाती ही नहीं।^१

इसी प्रकार निराशाही ने हिन्दी-समकाल के धर्म कवियों पर भी कुछकुछे व्यंग्य किए हैं। सोमप्रसाद बाबू मैथिलीधरण पुष्ट इनकी प्रशंसा के भाव्य प्रवक्तृ बने रह गए हैं जिसका प्रमुख कारण पुष्टजी का काव्य ही की भाँति सरल और शांतिपूर्ण व्यक्तित्व कहा जा सकता है।

सूत्र-प्रणाली का सौक्य

८६ निराशाही की समालोचनाओं में सूत्र-प्रणाली के सिद्धान्त-नाम भी मिलते हैं जिन्हें उनकी व्याख्या और विवेचना के अन्तर्गत रूढ़ा जा सकता है। उनकी समालोचना-शैली में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो के रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि समालोचना करते समय आलोच्य विषय का विश्लेषण उन्हें इस प्रकार का स्वाभाविक उद्भावन करने के लिए प्रेरित या कष्टा पहुँचा है। ऐसे भावों में उनकी समालोचना का स्वर धरा जाता है। साध-ही-साध उनसे निराशाही की उत्पत्ति का कुछ का भी सामास्य मिलता है। काव्य साहित्य जीवन रचन और करना आदि के विवेचन में उन्होंने इस प्रकार की प्रवृत्ति बिखलाई है। उनसे यह भी अनुमान होता है कि निराशाही यदि समालोचना के सैद्धांतिक पक्ष का सारथीय विवेचन करते तो उन्हें इस क्षेत्र में भी अपेक्ष सफलता मिल सकती थी। पर वे ऐसा नहीं कर सके क्योंकि परिस्थितियाँ उनके अतिकूल थीं। उन्हें ऐसे समालोचकों से जुड़ना या जो केवल भाव-धारा प्रसंगपर और एक ही धारा में ही की गई सांख्यिक विवेचना को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। फिर समालोचकों ने कवियों की एक विशिष्ट श्रेणी (छायावाद से सम्बन्धित है) पर एक्सेसीवता का बोध लगाकर उनकी समालोचनाएँ कीं उन्हें निराशाही ने अपनी ही शिक्षा में ऊँट बनकर चलने वाले^२ कहा। इसी प्रकार जिन आलोचकों ने अपनी समालोचनाओं में समालोच्य कवि याचना साहित्यकारों की केवल प्रशंसा की उन्हें उन्होंने 'देवस्य की श्रद्धा'^३ से अधिक महत्त्व नहीं दिया। समालोचक के कठमर का निर्दोष करते हुए उन्होंने सकारात्मक हिन्दी समालोचना की स्थिति का जो विवरण करने स्वयं निराशा (काव्य-साहित्य) में दिया है उसका उद्गार निराशाही के समीपवर्ती हृष्टि कोश को समझने में मजबूत सहायक है—

जिस तरह व्याकरण भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कवि का। कवि को दुर्वादा करके यदि उस कवि का कुल जिते हैं और उनमें सुगन्ध है, समालोचक अपना जितना भी अवसरसंग्रह करे वह बहुत कभी टिक नहीं सकता। इसलिए समालोचक को कवि के साथ ही रहना चाहिए। 'प्रसाद जी' की सादरकाल जैसी आलोचनाएँ निकल रही हैं उनमें पसंदी की सभी आलोचना सहानुभूति से रचित और आत्मगत है। पर रायचन्द्र मुख्तार की काव्य में रहस्यवाद पुस्तक उनकी समालोचना से पहले उनके धड़कार हठ विष्णुमित्रानन्द मुदरम तथा रहस्यवादी या छायावादों के कहलान वाली के प्रति उनकी अपार पूर्ण भक्ति करती है। ऐसे दुर्वादा समालोचक अभी भी किसी अनुमत्ता का कुछ बिना नहीं तक अपने भाव से उसे और चलावा दिया है।^४

१. आधुनिक ५१ अंक १ संख्या १ जनवरी, १९२८।

२. आधुनिक १२ अंक २ संख्या १ जनवरी, १९२८।

३. वही।

४. वही ५१ अंक १ संख्या १ जनवरी, १९२८।

इस विषय में जो निबन्ध प्रकाशित हुआ था उसमें उन्होंने विश्व प्रगति के साथ भावा का विकासो म्मुक्त सम्बन्ध सिद्ध कर हिन्दी में राष्ट्रभाषा की क्षमता का जो स्वप्न देखा था वह प्रायः सार्थक बन गया है। जो सोप हिन्दी में प्रौढीयता की गहनता पाते हैं अपना उसे हिन्दी के प्राप्तपात्र की बोली समझते हैं उन्हें निराशाही ने भ्रमग्रस्त बतलाया है क्योंकि 'हिन्दी के ह्वाके में न गुनसी दिमते हैं और न हरिबन्ध'।^१ उन्होंने ऐतिहासिक अनुक्रम से हिन्दी की सभी को युव-जीवन के साथ परिवर्तित परिवर्धित और सलोभिड सिद्ध कर उसमें अभिव्यक्ति की पूर्ण समिति मानी है। जो सोप निराशाही को केवल धनर्वस भाव-सेवी भासा एह्स्ववादी कवि ही समझते हैं, उनके लिए प्रस्तुत विचार पठनीय है।

सामयिक दृष्टि और माध्यमताएँ

८१ पंथी की भाँति निराशाही भी ब्रजभाषा और उसकी काव्य प्रवृत्तियों के एक सीमा तक ही प्रवृत्त है। उन्होंने ब्रजभाषा की कोमलकर्मित परावर्णी में प्राकृतिक सुव-वैतना से विकसित होने वाले विभिन्न विषयों का जो संयोजन देखा है वह उचित ही है। ब्रजभाषा के स्थान पर कड़ी बोली को अभिष्टित करने में प्राचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जो प्रयत्न किया था उसको उन्होंने 'भाषा साहित्य में की गई प्राण-प्रतिष्ठा' से कम नहीं माना है किन्तु वहाँ द्विवेदीजी अपनी विशेष प्रकार की माध्यमताओं में द्रष्ट होकर स्रवावासी कवियों के कर्मों और स्रव प्रयोगों पर दोष प्रकट करते हैं वह निराशाही को भी सहन नहीं होता। उन्होंने द्विवेदीजी की पद्य रचना का उद्धार लेकर उस पर जो टिप्पणी की है वह उनके ध्वन्यात्मक प्रहार की सूचक है। निराशाही लिखते हैं—

"भाषा के सम्बन्ध में क्या कहना है। परन्तु रसक कन्द को एक धाँव से न देख सकते वाले द्विवेदीजी कभी-कभी रसक कन्द के लकड़वाहा कन्द की सृष्टि कर बैठते हैं वह उन्हें प्राण ही नाशूम हुआ।^२ इसी प्रकार निराशाही ने सर्वथी मैथिलीवरण गुप्त स्नेहीजी रामचरित सपाध्याय लोचनप्रसाद पाण्डेय मोपाधररणसिंह भारि कवियों को उस काव्य की 'सरस्वती ही की स्टाइल के कवि'^३ माना है। उन्होंने इसी निबन्ध में पं भीरर पाठक नायूराम 'सर' समी 'हरिधोष' पं रामचन्द्र शुक्ल श्री कामराप्रसाद गुप्त पं विरररररर नवररर' सेवक समीररर सभी 'मीर' पं मन्तन द्विवेदी नवपुत्री और पं कमलारायण पाण्डेय भारि द्विवेदी-युव के विभिन्न कवियों का सोचाहरण काव्य विश्लेषण किया है जिसके द्वारा उनकी काव्य-विषयक माध्यमताओं का पता चलता है। निराशाही ने उक्त कवियों की काव्य-नैसिधियों में विभिन्न बोध बतलाए हैं और उन पर भीठी कुटुम्बिनी भी थी हैं। विषय-विस्तार के भव की दृष्टि से भी उनके धनप-धनय उद्धार न लेकर केवल एक ही उद्धार द्वारा हलका संकेत करना पर्याप्त समझना है—

पं रामचन्द्र शुक्ल न कड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में काव्य रचना की है। इनकी कविता में दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न जरूर है पर मेरे विचार से यह जैसे बहुपठित विद्वान हैं, जैसे कवि नहीं। सभी की तोल उन्हें मायूम नहीं न धर्मकार का निर्वाह करना आता है। धार्मिक कविताओं में जहाँ कहीं बीरबल की तरह उन्होंने अपना पक्ष हुए सिद्धान्त की बिजड़ी पकाई है इनकी बिहटा के बध-बध पर पावना की हाँसी से पड़े हुए इनके धन ही बाई

१ सम्पूर्ण भाँ २, अंक ६ से १९८०।

२ 'कन्द' कभी बोली के कवि और कविता एड ३३ २४।

३ मीर, एड १४।

की भूमिकाओं के प्रतिरिक्त उन्होंने साहित्य-सम्बन्ध और 'बीह' साहित्य-विकासों में जिस प्रकार का चिन्तन प्रस्तुत किया है वह उनकी समीक्षक-दृष्टि का परिचायक है। वे संवादात्मक पाठ्य ने महादेवी का विवेचनात्मक पद्य नामक पुस्तक में उनके समीक्षापरक विचारों का विषयानुक्रम से जो सारसम्बन्ध से संकलन प्रस्तुत किया है वह देवीजी के काव्य-कला स्थापना रहस्यवाद, वैयक्तिकता यथार्थ और आदर्श तथा सामाजिक समस्या-विषयक प्रमुख संशोधनों पर उनकी मार्गदर्शक का विश्लेषण करने में यथेष्ट सफल है। उसके सम्यक् प्राक्तन से इस विषय का सहज ही ज्ञान हो जाता है कि महादेवीजी में किस प्रकार की धारमिच्छा और रसप्राप्ति दृष्टि है। निरन्तर ही उनकी विषय प्रतिपादन की निजी ऐसी धार मौलिक सुरु है जिसकी पृष्ठभूमि में उन्होंने हिन्दी समालोचना को समित्त दृष्टि प्रदान करने की चेष्टा की है। बलुत उसका सांसारिक धार का ह्रास पद्य प्रथमा प्रथिक सभा हुआ धार अनुसृष्टिबन्ध है कि उसका अनुकरण करना सहज कार्य नहीं है। 'उनका एक-एक भाव एक एक संकेत और एक-एक लब्ध पाठकों के धारकरण में अनुसृष्टि तथा चिंतना की समवेदनीय प्राक्तनता बनाने में समर्थ है' यह निर्णय प्रतिपद्योक्तिपूर्ण नहीं करूँ। सफल।

काव्य-कला विषयक विचार

काव्य-कला का क्षेत्र और व्यापकता

२६ महादेवीजी के काव्य कला विषयक विचार अत्यंत उदार और सम्युक्त हैं। उन्होंने कला शब्द की विवेचना में भारतीय विचार-परम्परा और पाश्चात्य-सर्वतन्त्र-शक्ति की समानता मान्यताओं का समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास कर ली है, जिस की परिपुष्ट के पूर्व देवीजी एही साधनमयी भूमिका प्रस्तुत कर लेती हैं। उनके विवेचन का आधारभूत पर विषय का निबोधन करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। उनके विवेचन का प्रमुख दृष्टि-बिन्दु जीवन है जिसके अन्तर्गत उन्होंने सत्य और सौन्दर्य का समन्वित कला के माध्यम से स्वीकार किया है। कला के क्षेत्र को उन्होंने इसी अधिक व्यापक भूमिका प्रदान की है जिसके अन्तर्गत साम-विज्ञान की विराट भी सम्मिलित की जा सकती है। काव्य और काव्य के से सर्वोत्तम कला है और सत्य उसका साध्य तथा सौन्दर्य उसका साधन है। कला और काव्य के क्षेत्र के मूल में उन्होंने अपनी यह मान्यता प्रस्तुत की है कि "मनुष्य ने इनका आविष्कार बहिर्मुख तक करने और ज्ञान तथा भाव-योग में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते कर लिया हुआ और कला में उसकी अभिव्यक्ति ज्ञान के स्थान पर जीवन की अनुसृष्टि से हुई होती।" इस प्रकार देवीजी के मतानुसार काव्य का सत्य जीवन-परिधि से बहिर्मुख सिद्ध नहीं होता और सौन्दर्य उसका माध्यम बनता है। स्पष्ट है कि ऐसा निर्णय बत समय देवीजी ने काव्य और कला का ह्रास तथा सतिष्क का सविषयक रहता है। उपातिष्ठा कृति का प्राधान्य और मौलिक भावना का ह्रास दोनों का अनुसृष्टि रहता है। इसमें देवीजी ने काव्य और कला का ह्रास तथा सतिष्क का सविषयक रहता है। इसमें देवीजी ने काव्य और कला का ह्रास तथा सतिष्क का सविषयक रहता है।

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक पद्य नामक पुस्तक' पृष्ठ १।
२. 'महादेवी का विवेचनात्मक पद्य नामक पुस्तक' पृष्ठ १।
३. वही, पृष्ठ २१।
४. वही, पृष्ठ २१।

‘पुस्तकालोचन’ की सामान्य वृत्ति और निष्कर्ष

८७ निरालाजी ने समालोचना-साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होने वाले उसके परिचयमूलक स्वरूप पुस्तकालोचन को लेकर भी भाज से प्रायः पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व अत्यन्त सम्पाकार में कुछ समालोचनाएँ लिखी थीं जिनका प्रकाशन ‘सुभा’ और ‘माधुरी’ जैसी पत्रिकाओं में हुआ था। ऐसी आलोचनाओं में कविवर श्री जयप्रकाश ‘प्रसाद’ लिखित ‘कामायनी महाकाव्य परीक्षा’ बोलचाल (प्रलेख—५ भयोप्यासिह् उपप्याय ‘हरिपीथ’) श्री रामकृष्ण धामन भंटीली की पुस्तकें^१ प्राच्य और पारश्चात्य (लेखक स्वामी विवेकानन्द) प्रमुख हैं। इन आलोचनाओं में निरालाजी ने लेखकों और प्रकाशकों के नाम पुस्तकों की पृष्ठ संख्या मूल्य तथा छपाई-सम्पत्ति का विवरण देकर अत्यन्त सामान्य विधि में आलोच्य कृतियों का स्वल्प-निर्धारण किया है जिनसे उनका आशंसापूर्ण दृष्टि-विधान परिलक्षित होता है। बहुत सी बातों में तो ये आलोचनाएँ भारतेन्दु युगीन पुस्तक-परिचय वाली शैली धरबा टिप्पणियों का आमास देने वाली हैं। इनके प्रतिरिक्त उन्होंने ‘हिन्दी के आदि प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’ (संयम १७ सितम्बर, १९१०) कवि-संघस (देखतूत सितम्बर १९४१) वं बनारसीबास का अष्टमी ज्ञान (सुभा मई, १९३१) की सुवनेस्वर की टापीक (माधुरी जनवरी १९३७) ज्ञान और धर्म पर तुलसीदास (समन्वय वर्ष २ अंक १ और अंक २, स १९८) आदि विषयों पर अपनी मौख और बुन में छोटी-बड़ी आलोचनाएँ लिखी हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि निरालाजी अपनी प्रकृति के किये बड़े बनी हैं और आत्मसम्पत्ति पढ़ने पर अपने विरोधियों के प्रति किये कठोर हो जाते हैं। उनकी अभिव्यक्ति और ईर्ष्या भौतिकता तो सर्वत्र वर्धनीय है। उसमें उनकी विवेक-मदुता निर्भीकता इकता अहंमानना प्रोटीक्य दृष्टि का आमास सहज ही मिल जाता है। ‘बाबु’ नामक संग्रह में उनके ऐसे अनेक परिचय मूलक निबन्ध हैं जो उन्हें पत्र-सम्पादक के रूप में लिखने पड़े थे।

(४)

श्रीमती महादेवी वर्मा

समालोचक-व्यक्तित्व

८८. हिन्दी-समालोचना के प्रसार-काल में सौन्दर्यमूलक दृष्टि-विधान और तत्त्वचिन्तन प्रवृत्ति को लेकर बिन क्षमावादी कवियों ने काव्य-समीक्षण प्रस्तुत किया उनमें अपनी काव्य-साधन की ही भाँति सुप्रसिद्ध महादेवी वर्मा का निश्चित स्थान है। यद्यपि उन्होंने सात्त्विक और पूर्वाभित संज्ञात्मक पक्ष को लेकर समालोचनाएँ नहीं लिखी हैं, फिर भी उनकी जीवन अनुभूति और कव्य संवेदना चित्त के अणुओं में काव्य के अन्तर्गम पक्ष का ऐसा तथ्यपरक विस्लेषण कर सकी है, जो उनकी विचारधारा को स्पष्ट करने के साथ-साथ परोक्ष विधि से उनके काव्य-सृजन की मूल प्रेरणाओं को भी हृदयस्थ बनाने में सहाय्य प्रदान करती है। जैसे तो देवीजी का प्रचल क्षेत्र काव्य-सृजन ही रहा है फिर भी उन्होंने अपने काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं में साहित्य के समालोचन और चिरंतन सत्तों का विवेचन प्राथमिक मुन प्रवृत्तियों को दृष्टिबोधर रखते हुए अत्यन्त भावप्रवर और गम्भीर शैली में किया है। ‘आमा’ ‘वीपशिखा’ ‘सौम्यभीत’ तथा प्राथमिक कवि प्रथम भाग

१. सुभा ४५ ११ अक्टू १ अंक ३ स १९६४ अक्टूबर सन १९३०।

२. ‘सुभा’ वर्ष ३ अंक १ अंक २ स १९८३ दिसम्बर सन १९४६।

३. माधुरी, जनवरी सन १९४८।

४. माधुरी, जनवरी, सन १९४८।

काव्य-कला की तात्त्विक भूमिका

१३ काव्य-कला के विवेचन के इसी प्रसंग में महादेवीजी का हमारे धर्मनिरपेक्ष कला-कारों के लिए एक संदेश भी है। वह यह कि उन्हें धार्मिक भौतिक विज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर बुद्धिजीवियों के एकांगी अनुयायी बनने की भावना का परित्याग कर देना चाहिए। सब तो यह है कि महादेवी जी के मतानुसार कलाकार के लिए जीवन की भावानुभूति और सम्मति जितनी अधिक बांछनीय है उतनी भौतिक दृष्टि नहीं। वास्तव में कला में दृष्टि और समष्टि का सम्बन्धन उसे उदात्तत्व प्रदान करता है। और तो और, काव्य-कला की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उन्होंने स्वयं मनुष्य को 'एक समीक्ष-कवि' का रूप दिया है जिसमें जीवन की एकता का उच्च वैश्वकासावधिमान होकर प्रकट होता है। इस प्रकार देवीजी के मतानुसार कलाकार की कृति प्रथम साहित्यकार की सर्वथा अज्ञान की क्रिया-प्रतिक्रिया के मूलिमान प्रतीक हमारे समस्त जीवन का एक ऐसा समीक्ष बिन्दु है जो राखनीति से साहित्य समाज-वास्तव से विभिन्न विज्ञान से विकसित और दर्शन से व्याप्त रहता है।^१ उन्होंने कला के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप कविता (काव्य) को मानव-हृदय के समान ही पुरातन निर्दिष्ट कर उसे मानव-विज्ञान की प्रत्याग्य धारणाओं से प्रसूती और प्राविकान्ता माना है और उसकी संवेदना को ऐसी चिरन्तन स्थिति प्रदान की है जिसके लिए भुग-विशेष की धारणाओं का केवल सीमित महत्त्व है। उनका यह निष्पत्ति तो मुझे प्रत्यक्ष समीचीन प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने जीवन में कविता का बड़ी महत्त्व माना है जो 'कठोर भित्तियों से बिरे कला के वायुमण्डल को धनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमण्डल से पिघा देने वाले वातायन' का होता है।^२

छायावाद

छायावाद जिला और स्वल्प

१४ महादेवीजी की समालोचना-श्रद्धाओं में व्याख्यात्मकता और ऐतिहासिकता का भी सुन्दर धर्मनिरपेक्ष है। छायावाद का विवेचन इस रूप के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है। उन्होंने छायावादी काव्य का स्वरूप-समीक्षण करने के पूर्व ऐतिहासिक आधार-विषय पर उस वातावरण और परिस्थिति की प्रस्तुति की है, जिसकी ओर में इस काव्य-प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। उनके मतानुसार छायावाद के नाम के मुख में धार्मिक पुनर्जागरण और संवेदी धारण के प्रभाव की प्रतिक्रिया प्रधान है जिन्होंने छायावाद के लिए सांस्कृतिक और सामाजिक भूमिका प्रस्तुत की थी। महादेवीजी ने उन लोगों का विरोध किया है जो छायावाद की केवल व्यर्थ का प्रस्ताप समझ कर उसके परिवर्तन को शरहीन सिद्ध करते हैं। उनका तो कहना है कि छायावाद का प्रवर्तन सर्वथा स्वाभाविक और परिणाम कर्म में हुआ है। इसके लिए मार्लेन्-मुन की चेतना हिन्दी-मुन की धारणा-निष्ठा और रीति-कापीन श्रृंगारी प्रवृत्तियों भी उत्तरदायी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि महादेवीजी का यह विवेचन छायावाद के धर्मनिरपेक्ष कवि सर्वोच्च जयपंकर प्रसाद सुविमानन पर और मूलकान्त त्रिपाठी 'निरासा' की साहित्यिक धारणाओं के धारण निरूपण है। किन्तु उनकी अभिव्यक्ति-शैली उनसे भिन्न और अधिक भावप्रसू है। वे छायावाद के नाम का रहस्य और कारण मानव-जीवन के स्वाभाविक चक्रप्रमाण के रूप में मानती हैं जिसमें 'बहु स्वर्ण-धूम-धूमते एक कर अपने लिए सहस्र बंधनों का प्राविकार कर जानता

१. महादेवी का विवेचन-प्रमाण १७ दृष्ट संख्या ४६।

२. वही, दृष्ट ४८।

है कि कला-सृष्टि के लिए पाथिव वस्तु की कठोरता सर्वत्र और जल-वराजम का मूल्य नहीं मपितु उसमें हमारे अन्तर्जन्त की भावनाओं और कल्पनाओं का भी उन्हीं के समकक्ष महत्त्व है। इसी प्रकार सन्तति कला-वस्तु का विस्तार सुन्दर और असुन्दर तथा छोटे और बड़े सभी विषयों तक परिम्याप्त मानकर एक और प्राधाय सुखलक्ष्मी की साम्यताओं का ही संश्लेषण किया है तो दूसरी ओर उसकी सत्ता को अक्षय्य समिन्वित तथा उपयोग तथा सौन्दर्य के अन्तर्गत किए जाने वाले बर्णोद्धारण को व्यावहारिक कहकर हेतु तथा लोभ के निकटवर्ती सिद्धान्त की दृष्टि की है। के कला में उपयोगिता के प्रश्न को जीवन की अन्तर्दृष्टि के व्यापक तथा सम्पन्नतम अर्थपर स्वीकार करती है जिसमें निश्चय ही उनके मन का अन्तर्गुह मात्र स्वतः संयुम्नित है।

कलाकार का व्यक्तित्व और सौन्दर्य-चेतना

११. काव्य-कला के साथ-साथ महादेवीजी के कलाकार-विषयक विचार भी पटनीय हैं। उन्हीं कलाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व में प्राप्ता है और वे स्वका जीवन दर्शन ऐसे उच्च अर्थपर स्वीकार करती हैं जिस पर प्राचीन होकर वह अपनी आत्माविश्वजना में विश्व हृदय की भावनाओं को प्रतिमान बना सकता है और जिसकी सहाय संवेदना और आत्मीयता की समता में नीति, आचार तथा धर्म का पक्ष हलका पड़ जाता है। उन्हीं कलाकार के व्यक्तित्व में शार्द्धिक का अन्तर्भाव भी माना है किन्तु दोनों की धिन्-धिन् सत्ताओं के प्रति भी अपनी आस्था व्यक्त की है जिसका एक प्रमाण यह है कि वे कलाकार (कवि) की कृति में उसके जीवन-वस्तु की समिन्वित सम्पूर्ण प्राप्ता के साथ होना अनिवार्य समझती हैं जबकि शार्द्धिक की चेतना में नास्तिक भावना का समावेश भी यह सकता है।^१ इस प्रकार देवीजी के मतानुसार कला में जीवन की विविधता का विकास स्वतः अन्तर्निहित है जिसको एकपिठा से अस्त करना कदापि अमान्य प्रयास नहीं कहा जा सकता।

१२. महादेवी जी का काव्य-कला विषयक प्रतिमान किसी भी प्रकार की पूर्वग्रह-प्रवृत्ति से विहीन है। उन्हीं प्रस्तुत विवेचन में अपने अन्वयन और चिन्तन का सर्व संयोजित कर दिया है। उनके मतानुसार कला-क्षेत्र में केवल व्यष्टि और समष्टि के हस्तगतक मात्र ही नहीं पाते अपितु यमार्थ और आदर्श की भी कणिकाएँ समाविष्ट रहती हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो देवीजी कला के क्षेत्र में जोरर वस्तु की समिन्वित के साथ साथ अन्तर्जन्त की सौन्दर्यमयी चेतना का साम्यत्व नहीं करती। हाँ यह बात प्रत्यक्ष है कि रहस्यवादी कवियों होने के कारण उनकी अन्तर्जन्त के प्रति अधिक प्रवृत्ति है जिसके कारण वे जीवन-संवेदना की तीव्र अनुभूति को काव्य-कला के निर्माण का मूल उत्स सिद्ध करती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी विवेचन के प्रसंग में महादेवी जी ने प्राबुद्धिक कलाकार की उस अंगीभूमि का भी महत्त्व स्वीकार किया है जो युगीन आचारण की जीवन-आपत्ति अन्तिमों का अन्तिमजन्म अपनी कला में करता है तथा जिसके व्यक्तित्व में राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों अनेक प्रकार की अन्तिमों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं को जगमगाती है। इससे स्पष्ट है कि महादेवीजी की मान्यता में कला और कलाकार का महत्त्व अक्षुण्ण है। यदि ऐसा न होता तो वे भारतीय कला का विश्लेषण उन प्राधार बिन्दुओं से न करती जिनके कारण हमारे सांस्कृतिक जीवन में एक दिव्य प्रकाश की चेतना और समाणता का संचार हुआ है। महादेवी जी का यह विवेचन ऐतिहासिक अनुसन्धान की दृष्टि से भी अत्यन्त संवेदनापूर्ण है।

१ 'महादेवी का विवेचनात्मक अर्थ' काव्य कला पृष्ठ २१।

१७ महादेवीजी का छायावाद-विरोधपत्र अत्यन्त मोक्षपरक और गम्भीर है। उसके पीछे उनका गहन अध्ययन और उत्सर्जन क्षिया हुआ है। यहाँ और उन्निपत्तों के अध्ययन से वे उसमें विकास का स्वाभाविक क्रम अभिविष्ट कर चुकी हैं। बहने की प्रावश्यकता नहीं कि छायावादी कवियों की प्रति ही वैदिक कालीन ऋषियों ने अपनी ऋषाधर्मों में प्रकृति के निमामक उपाय मस्त समिष्टा धावि देवताधर्मों के प्रति इसी प्रकार की भावना प्रकट की थी, जिसमें उन्हें वेतन व्यक्तित्व प्रदान कर उनका सहज सौम्यत्व प्रिथित किया गया था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण पुरुष-मुक्त है जिसमें जिस पर एक विराट् शरीरत्व के आरोपण का ऐसा प्रयास है जिसे सर्व भाव का मूल कारण कहा जा सकता है। महादेवीजी ने उसी को छायावाद का धावि उत्स मान कर उसका सम्बन्ध केमपनिष्ठ धावि दर्शन-यथों की उत्प-चिन्तन धार के साथ जोड़ दिया है जिसमें प्रज्ञात सत्ता के प्रति एक भावधर्म विज्ञाना का अभिव्यक्ति किया गया है। इसी प्रसंग में उन्होंने छायावाद के विकास को भारतीय साहित्य में एक स्वाभाविक क्रम में निरूपित कर उन समाजोचकों की मान्यताओं का वर्णन किया है जो अपनी एकांकी तथा विरोधी दृष्टि के कारण छायावादी काव्य की गभीरता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव, यथार्थ से पलायन-वृत्ति तथा अत्यन्त धावि अनेक प्रकार के अभिव्यक्तियों से साक्षित करते हैं।^१ उनका यह विवेचन अत्यन्त ऊर्ध्वस्थ और तरबूरीपूर्ण है क्योंकि उस काल में छायावाद के नाम पर जिस प्रकार के विवक्षा-भाव की सृष्टि हो रही थी उसका परिश्रम करने के लिए इस प्रकार के शास्त्र-सम्मत और ठीक पूर्ण विश्लेषण की प्रापतिक आवश्यकता थी। सब तो यह है कि देवीजी को छायावाद-विरोधियों के धावेनों में जीवन-सत्य के अनुसृत सत्तों का अभाव विमलता है, क्योंकि उनकी धारणा भी रुचिस्त और एकांकी है और वह इस विषय की निर्बोद्धिका है कि वे अपनी विचार-संरुष्ट केवल छायावाद का विरोध करने के लिए ही प्रस्तुत करते हैं। यदि ऐसा न होता तो वे छायावाद की सृजन प्रेरणा के मूल में बड़ी बोली के सौम्य-हीन दृष्टिकोण की उपेक्षा न करते और छायावादी कवियों के जीवन-दर्शन में अभिव्यक्ति स्वप्नों में पूर्णकोण जीवन से पलायन-वृत्ति नहीं पाते। निरचम ही छायावाद का सृजन भी हमारे वर्तमान जीवन की विनीयिकाधर्मों को अपना धर्मभूत बनाकर हुआ है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति इतनी अधिक कलात्मक और सुन्दर है जिसके कारण वह बावरी शोक का अभिवासी प्रतीत होता है। इस प्रकार महादेवीजी के मतानुसार छायावाद के प्रति सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि से विचार किया जाना परम बांछनीय है।

अन्याम्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण

१८. महादेवीजी ने छायावाद के विवेचन के प्रसंग में और भी अनेक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है जिनके कारण अध्ययन समाजोचकों ने उनके कल्प-निर्माण और बाह्य विज्ञान पर ध्यान रीष्ट रची थी। वे अपने विश्लेषण में उन सत्तों का उद्घाटन करने की ओर विशेष उन्मुख प्रतीत होती हैं जिनके धार्मिक सत्य ने छायावाद के उदात्त-स्वरूप को यग्नसाधक बनाकर कलावित उसके प्रति ध्याम-भावना का निर्वाह नहीं किया है। महादेवीजी ने भी अपने पद-समर्पण में प्रायः वे ही ठीक उपरिष्ठ किए हैं जो छायावाद के अर्थ कवियों और धार्मिक समाजोचकों ने दिए थे किन्तु उनकी अभिव्यक्ति उनके धार्मिक समतामयी और हृष्यहारिणी हैं। वे भी छायावाद को विरोधी प्रवृत्ति मानने का स्पष्ट विरोध करती हैं और छायावादी काव्यकारों की केवल परिपत्री और कला-काव्य का अनुगामी सिद्ध करने को एकपक्षीय निरुत्त मानती हैं क्योंकि इन कवियों का भारतीय साहित्य और संस्कृति विषयक अध्ययन उन्हें बहुत अंधी भूमिका प्रदान करता है। इसी प्रकार 'प्रकृति पर वेतन व्यक्तित्व का आरोप कल्पनाधर्मों की समृद्धि स्वानुभूत सुख-सुखों को अभिव्यक्ति'^२

१. महादेवीजी 'विवेचनात्मक पत्र' पृष्ठ ६६।

२. वही, पृष्ठ ७८।

है और फिर बंजरों से ऊन कर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियाँ सया देता है।^१ इस सामान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् देवीजी ने छायावाद के जन्म का रहस्य विवेचित करते हुए लिखा है—

उसके जन्म से प्रथम कविता के जन्मन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक निष्ठा या चूका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा। स्वच्छन्द छन्द में विहित इन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो प्रायः भी उपयुक्त समता है।^२

१५ वीं महावीरप्रसाद द्विवेदी के समीक्षा-सिद्धांतों के विवेचन के प्रसन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उन्होंने छायावादी कवियों की कृतियों में किस प्रकार अस्पष्टता और दोषोद्भावना प्रकट की थी। देवीजी के सामने भी उनकी एतद्विषयक सेवामात्राएँ और मार्गाएँ थी जिनका प्रतिवाद करना आवश्यक था। जिन पाचार्य द्विवेदी ने छाया' शब्द का उपहास करते हुए उसे काव्य-जगत् के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध किया उसे देवीजी ने अत्यधिक क्षातीनता के साथ प्रहस्य किया। उनके मतानुसार 'छाया-विश्व' की सृष्टि के लिए और भी अधिक कुशल-विधवाओं की आवश्यकता होती है क्योंकि उन विश्वों का आधार धुने या चर्म चमू से देखने की वस्तु नहीं। यदि वे मानव-हृदय में किसी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रंग बढ़ाकर न बनाए जायें तो वे प्रेत-छाया के समान जर्म या नहीं इसमें कुछ ही संदेह है।^३ इस कथन का समिन्धाय यह है कि छाया-सृष्टि करना कोई साधारण कार्य नहीं है और उसके लिए विशेष प्रकार की प्रशिक्षा और समता की आवश्यकता है।

सत्य चिन्तन और ऐतिहासिक बिकास

१६ महादेवीजी के छायावाद-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि उनकी इसके चिरन्तन और समातन स्वप्न पर बृहद् आस्था है। वे उसे अत्यन्त व्यापक बरातल पर अभिहित समझती हैं जिसका प्रमाण यह है कि उन्होंने उसका अन्तर्मुख हमारे प्राचीन कालीन वेदों और बर्चन-शास्त्रों से जोड़कर उसे उदात्त और चिन्तनपूर्ण पृष्ठभूमिका प्रस्तुत की है। यदि ऐसा न होता तो वे छायावाद पर धर्म के अभ्यास के साथ-साथ बर्चन के ब्रह्म की छाया आरोपित नहीं करती। उनका जो स्पष्ट कहना है कि छायावाद की यह शार्सनिक चेतना ही उसे सूर्त या प्रभूत विश्व को समन्वित कर उसे पूर्णता प्रदान करती है। इस विषय में उनका निम्नलिखित निरूपण अधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक समझा जा सकता है —

"सृष्टि के सूक्ष्म बरातल पर कवि ने जीवन की अक्षमता का भाव किया हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में विहारी शोम्बर्न सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वाभुभूत सुख-पुर्णों को मिलाकर ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद हृदयवाद अभ्यात्मवाद, रहस्यवाद छायावाद आदि अनेक नामों का भार समाल सही। छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्रायः काल लिए जो प्राचीन काल से विन्ध प्रतिविम्ब के रूप में जला था रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदात्त और सुख में पुनर्जित भाग पड़ती थी।"^४

१ 'आर्येनी का निवेकप्रत्येक कव'—आयामा, पृष्ठ ५६।

२. वही पृष्ठ ५६ ६।

३ वही, पृष्ठ ६।

४ वही, पृष्ठ ६-६१।

की है, पर वे सब छायावाद की पुष्कभूमि में ही प्रहण किए गए हैं। सब तो यह है कि महादेवीजी को छायावादी काव्य की व्यापक मावभार पर इतना अधिक विश्वास है कि उन्हें उसका पूर्ण पक्ष दृष्टिगोचर ही नहीं होता। डॉ० नगेन्द्र ने महादेवीजी के छायावादी विवेचन को कुछ विशेष सीमाओं तक ही स्वीकार किया है। वे छायावाद को महादेवीजी की शक्ति कविता के परिपूर्ण लक्षों की बाणी नहीं मानते और न उसकी सूक्ष्मता मुकुमारदा और प्रकाश चिन्तन में प्रवेक्षित क्षति पीड़ा और मौसम रस ही पाते हैं। नगेन्द्रजी का यह निर्णय बस्तुतः मामनीय है, क्योंकि महादेवीजी द्वारा छायावाद का कम-वर्धन भले ही उदात्त मावभूमि पर चित्रित किया गया हो किन्तु उसकी धार्मिक एकाकी दृष्टि भी अप्रकट नहीं है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महादेवीजी अपनी स्वातन्त्र्यता साधना में छायावादी चारों को भले ही काव्य की सर्वोच्च भूमि स्वीकार करें, किन्तु पारिवर्णिक व्यवस्था की परिस्थिति ने हर्ष जो धार्मिक दृष्टि प्रदान की है, वह छायावादी परम्परा को प्रायः बहुत पीछे छोड़ चुकी है। पंथकी और निष्ठानाकी का अन्ध विश्वास और प्रवाण्ड इस का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण है।

रहस्यवाद और महादेवीजी की मान्यताएँ

१०१ साधारणतया छायावाद के साथ रहस्यवाद घर की संलग्न प्रवृत्ति होने के कारण उन दोनों का अन्तः सम्बन्ध समझने की जो शक्ति हो जाती है, उसका निराकरण महादेवीजी के रहस्यवाद विषयक विचारों से हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन दोनों चारों में सम्बन्धोन्मादित सम्बन्ध है और उनके रचनाकारों का व्यक्तिगत धर्म-छाँहों से निम्नित हुआ है किन्तु दोनों में तात्त्विक अन्तर भी है यह भी एक स्पष्ट बात है। बस्तुतः रहस्यवाद नाम के धर्म में छायावाद से प्राचीन है किन्तु प्रयोग के रूप में वह उसका उत्तरवर्ती है। महादेवीजी ने रहस्यवाद की मूल अवधारणा का विवेचन करते हुए लिखा है—

‘जब प्रकृति की अनेककर्मता में, परिवर्तनशील विचित्रता में जितने एक ऐसा ठारम्य जोड़ने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी धर्मिक चेतन और दूसरा उसके उच्चतम हृदय में समाया हुआ था वह प्रकृति का एक-एक घंटा एक धार्मिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी व्यास न कुछ सकी क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुपपन्न-निष्ठ धार्मिक-विचरण का भाव नहीं भूत जाता तब तक वे सरल नहीं हो पाते और जब तक वह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का प्रभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेककर्मता के अन्दर वर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके विभट धार्मिक-निवेदन कर देना इस काव्य का प्रथम सीपान बना जिसे रहस्यवाद रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।”^१

१ २ रहस्यवाद के विवेचन में महादेवीजी ने उन प्रेरक-धर्मियों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने इस धर्म के काव्यकारों को सृजन के लिए धारार-धिया प्रदान की। बस्तुतः इसके प्रभुर पुरातन धर्म की परा मा बाह्य विद्या के अन्तर्गत बुद्धिगत से किन्तु उस समय उन्हें सामाजिक स्वल्प नहीं प्रदान किया गया। कालान्तर में वैराग्य के विभिन्न चारों योगियों और मुक्तियों भी रहस्यवादी प्रवृत्तिओं तथा कबीर साहिब लालों की योग तथा प्रेम से सम्बन्धित भावनाओं की उपजीव्य बनाकर रहस्यवाद का सृजन जिस सम्बन्धपूर्ण साधना में किया गया उसका उल्लेख कर महादेवीजी ने वर्तमान-मूलीन रहस्यवाद को उन विभिन्न विवेचनाओं से पूर्ण निरिक्त किया

प्रादि को छायावाद की अत्यन्त गौर सापेक्षिक विशेषताएँ निर्दिष्ट कर उनकी दृष्टिगत चम्कौनि वैदिक कालीन साहित्य से लेकर भारतीय जीवन की घिरावों में निराश्रित मोह-नीतों तक में समयासा सिद्ध की है। जिसका अभिप्राय यह है कि छायावाद न केवल विस्तृत भारतीय पारा है अपितु वह निस्संदेह कालन का ऐसा उदात्त पक्ष भी है जिसमें समवाद, जड़-चेतन-ऐक्य सूक्ष्म शीघ्रमनुभूति तथा भावात्मक दर्शन के लक्ष्य द्वारा देखकर उसे वैभव ज्ञान काँठ का विषय ही स्वीकार करना न्याय-दृष्टि से समुचित नहीं है। इसी प्रसंग में महादेवीजी ने छायावाद की उन विशेषताओं का भी उद्घाटन किया है जिनके कारण मारी के चरित्रांकन में तथीन दृष्टि का मंचार हुआ है। वे छायावाद की गीति-परम्परा का सम्बन्ध भारतीय जीवन के प्रादि प्रवीक वेदकालीन ऋचाओं से जोड़कर अपदेव प्रादि की परम्परा में विकसित लौकिक संस्कृत की रचनाओं में भी उसी का प्रस्तुतन पायी है जो कालांतर में हिन्दी के भक्त कवियों की मरव पद्यावली में अभिव्यक्त हुआ और जिसकी स्वानुभूति प्रकाशतर में छायावादी कवियों द्वारा सांकेतिकता और प्रमितव भाषाशुद्धता द्वारा विकसित बनाई गई। अभिप्राय यह है कि महादेवीजी के मतानुसार छायावाद की भारतीय साहित्य में एक नैसर्गिक परम्परा है और उसी स्वानुभूति और पीछात्मकता किन्हीं भी प्रशङ्ग चातुरी प्रथमा वर्णानात्मकता से हीन-कोटि की नहीं है।

२१ जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है महादेवीजी ने छायावाद से सम्बन्धित प्रायः उन समस्त प्रश्नों पर अपनी सुझावी हुई दृष्टि से विचार किया है जो उसके प्रति स्वानुभूति न रखने वाले समालोचकों ने कुछ पतिरेकपूर्ण सम्भावनी में व्यक्त किए थे। कल्पना की उद्धान भी उनमें से एक था। महादेवीजी ने काव्य में कल्पना का विशेष महत्त्व स्वीकार कर भारतीय साहित्य में प्रकृति सीमन्त से उद्भूत ऐश्वर्यमयी कल्पना के विभवम स्वल्प की अत्यन्त प्रशंसा की है जो हमारे जीवन-दर्शन और संस्कारों के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार काव्य और कल्याण में अनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर जिस प्रकृता के साथ उसे काव्य की मूलभूत प्रेरणा सिद्ध किया गया है वह भी हृदयवाह्य है। कहा जा सकता है कि इस विवेचन में विदुषी कवयित्री ने परोक्ष रूप से उन छात्रों का भी निराकरण कर दिया है जो छायावाद की दुःखवाद का पर्याप्त मानकर अनेक समालोचकों द्वारा किए गए वे तथा अनेक मतानुसार भारतेन्दु-युग से ॥ प्राचुरिक काव्य पाठ में कल्याण का नैसर्गिक विभाग नहीं था। एक प्रकार से यह समीक्षण महादेवीजी के काव्य की मूल कल्पनात्मकता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में पर्याप्त समर्थ है। वे निश्चयी हैं—

छायावाद का काव्य अनुभूतिमयी रचनाओं पर प्राभित है, अतः व्यापक कल्पना मात्र और व्यक्तिगत विचार के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। यीत में गया हुआ परया कुछ भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका इसी से व्यक्तिगत द्वार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिमय कल्पनात्मक में एकरस जाग पड़ती है। इस व्यक्तिप्रमाण युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए धातुक के अतः छायावाद-युग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक जस्सा विचार की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका।^१

१ वैधे तो महादेवीजी ने छायावाद का विशेषण उसकी विभिन्न पक्षों को लेकर और भी व्यापकता से किया है किन्तु उनके सारभूत तथ्यों का निष्कर्ष अपर्युक्त विश्लेषण में था गया है अतः हम उनके प्रतिक विस्तार की यहाँ ध्यानसकता नहीं समझते। इतना विस्लेषण भी केवल इसलिए किया गया जिससे महादेवीजी की छायावादी जीवन-दर्शन की मान्यताओं का प्रमुख प्रसङ्ग दृष्टिपथ में आ सके। उन्होंने छायावाद के साथ ही साथ उसी युग में प्रचलित यथार्थवाद, निराशावाद और दुःखवाद प्रादि अनेकानेक प्रवृत्तियों पर भी अपनी पारखार्थ व्यक्त

स्थापना के लिए दोनों में समग्र पुनर्जागरण और जातीय भाव का जो धाराप किया है,^१ उसका प्रभाव उन्होंने संसार मीरा तथा चेतन महामनु के जन्म पर समित्त साधुय भाव का विस्तारण करत हुए बिना है। इस प्रकार महादेवीजी के मतानुसार जातीय के रूपक से सीमाबद्ध भारतीयता का प्रतीक में बंध होकर प्रतीक हो जाता कोई घनहानी बात नहीं अपितु भारतीय काव्य-दर्शन की परम्परा के सर्वथा निकट है।^२

१०५ महादेवीजी के रूढ़िवाद-विषयक विवेचन से उनके व्यापक तथा गम्भीर अध्ययन का भी पता चलता है। भारतीय साहित्य और दर्शन में जो उनकी प्रसूत गति है ही किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने तुलनात्मक पद्धति से पश्चिमी विचारकों का दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है। वे प्लेटो और प्लेटोनिज की रूढ़िवाद-भावना के उच्च और विकास का रेखाचित्र उपस्थित कर उसकी स्थिति को ब्रह्म और कर्ण के बीच विभक्त-प्रतिबिम्ब भाव से मानती हैं, जब कि भारतीय विचारधारा ब्रह्म और जीव की एकता पर आधारित है।^३ इस प्रकार इस विषय में वे प्राचार्य सुकन की इस मान्यता से सहमत हैं कि ईसाई-मत का रूढ़िवाद धर्म की परिधि में उत्पन्न होने के कारण अपनी संकीर्णतावश साम्प्रदायिक बन गया जबकि भारतीय रूढ़िवाद में उसके लिए ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न ही नहीं हुई। साथ ही यह है कि महादेवीजी के मतानुसार 'जहाँ धर्म की दृष्टि होती है वहीं रूढ़ि का अर्थ होता है' यतः वास्तविक मान्यताओं में परिणत होने वाले नरक-स्वर्ग भूत-पुनर्जन्म तथा परलोक याचना का कोई प्रत्यक्ष नहीं।^४ उन्होंने इसी प्रसंग में पश्चिमी रूढ़िवाद का व्यापक विस्तारण कर उसके काव्य में निहित प्रकृतिवाद का विवेचन प्रसिद्ध प्रवेक काब्लेक और बर्नार्ड के काव्य-गद्य के आधार पर किया है। निष्कर्ष यह है कि महादेवीजी का रूढ़िवाद-विषयक विवेचन उनके भारतीय और भारतीय दर्शन के अध्ययन और विस्तार का परिणाम है और उन्होंने उसके द्वारा प्रस्तुत बात के सम्बन्ध में उस ज्ञान राशि का भी संयोजन कर दिया है जो इसके स्वयं-विवेचनों द्वारा अवशिष्ट रह गई थी तथा जिसके कारण रूढ़िवाद की संश्लिष्ट कुछ मान्यताओं की दृष्टि में सुधारण बन गई थी। मेरी समझ में महादेवीजी का यह विवेचन समाजोपना-साहित्य के प्रसार इतिहास में अपना प्रभावपूर्ण और रचना है और यह अपने विचारधार्मिक-नैतिक में निस्सन्देह प्रतीति है जिसका लक्ष्यकरण करने के लिए मैंने अपने छोटे-प्रबन्ध की सीमा का ध्यान रखते हुए कुछ विस्तार में बर्णन किया है, क्योंकि उनके बिना इस क्षेत्र में देवीजी की उपस्थिति का बोध किया ही नहीं जा सकता था।

यथाय, आदय तथा सामयिक समस्याओं का विस्तारण

१६ यही तक महादेवीजी की समाजोपना काल विचारधारा का विवेचन किया गया है उनकी मुक्त मनोवृत्तियों के प्रमाण केन्द्र बिन्दु हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने पीछे काव्य प्रचार और भारत तथा सामयिक समस्या पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, जिनकी प्रमाण भूमि उनकी छायावादी माण्डलाएँ ही हैं। कहा जा सकता है कि उन मान्यताओं के सम्बन्ध में उन्होंने हमारे साहित्य के प्रस्तुत प्रश्नों को समझने की चेष्टा की है। यह बात प्रत्यक्ष है कि इस विवेचन में महादेवीजी का दृष्टिकोण कहीं पर भी विपरीत नहीं हुआ है और उनका जो एक निश्चित प्रतिमान बन गया है, वहीं सर्वत्र परिमणित है। रूढ़िवाद की प्रमुख कमियाँ होने के कारण उनका पीछेकाव्य की ओर धार्मिक मुकाबल है, यतः वे अपने स्थापित विस्तार के बल पर।

१ भारतीय काव्य-विश्लेषण, पृष्ठ १९१।

२ यही, पृष्ठ १९०।

३ यही, पृष्ठ १९१।

४ यही, पृष्ठ १९१।

है। महादेवीजी के मतानुसार "उमने (रहस्यबाब) परा विद्या की अपानिवृत्ता सी वेदास्त के परीत की छात्राभाष धृष्ट की लौकिक प्रेम से तीव्रता सभाष सी घोर इन सब को कबीर के संकेतिक दाम्पत्य भाव-सुख में बाँध कर एक निरासे स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर गयी जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण धनसम्बन्ध दे सका उसे पार्थिव प्रेम से ऊँचा उठा सका तथा मस्तिष्क की हृदयमय घोर हृदय की मस्तिष्कमय बना सका।^१

१ १ महादेवीजी के रहस्यवाद-विषयक विवेचन से स्पष्ट है कि वे उसके मूल में भारतीय काव्य-परम्परा के ऐसे अनेक तत्त्वों का आभास पाती हैं, जिन्हें रहस्यवाद के प्रति विपरीत मान्यता रखने वाले विद्वानों ने उपेक्षित कर दिया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी काव्य की रहस्यवादी चारा पाश्चात्य साहित्य तथा पश्चिमीय रंग-काव्य से विशेष प्रभावित रही किन्तु महादेवीजी के मतानुसार उसे केवल उनका अनुकरणमात्र नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः रहस्य-भावना मानव-जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसे देवीजी ने दिव्य-साहित्य के पात्रों में प्राप्त नैसर्गिक विद्या में स्पष्ट किया है। व्यावहारिक सुविधा के लिए उसे मने ही बाह की धना की जाय किन्तु महादेवीजी उसे हमारी अंतःशक्ति और बाह्य-व्यक्त के विकास क्रम में अनिवार्य मानती हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे एकान्त क्षण अवसर पाते हैं जब वह आत्मपरक भावनाओं में तल्लीन हो जाता है। महादेवीजी का यह निर्णय भी अत्यन्त विवेक-सम्मत है कि 'मूर्त अवयव का यथावर्धनी'। अमूर्त अवयव का रहस्यवृत्त बन कर ही पूर्णता प्राप्त करता है। उन्होंने रहस्यवादी की पौष्टिक और अपावित्र मनोवृत्ति को एक विविध दृष्टिकोण से व्यक्त किया है जो मुक्तवादी परम्परा से भिन्न है। उनका तो स्पष्ट परिग्रह है कि कवि मने ही अपनी अभिव्यक्ति में लौकिक रह कर अपने पौष्टिक धारमसमर्पण का स्पष्टीकरण लौकिक आधार पर करे, किन्तु उसके हृदय में पौष्टिक रहस्यानुवृत्ति का आभास रहता अवश्य है, जो उसे अपनी सीमित समता के कारण स्वीकृत आधार लेने के लिए बाध्य हो करता है। स्पष्ट है कि इस निरुपेक्ष द्वारा महादेवीजी ने रहस्यवादिनों के उस पक्ष को आरक्षित कर दिया है जिसकी अभिव्यक्ति में मानसिक कूटानुपेक्ष को सम्मिलित करने की प्रवृत्ति है। सब तो यह है कि देवीजी के मतानुसार बुद्धि का क्षेत्र ही हृदय का प्रेम हो जाता है और रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की समता रखता है।^२

१ ४ महादेवीजी का रहस्यवाद-विषयक विवेचन भारतीय दशन की उपपत्तियों से अनुप्राणित है। उन्होंने उसके द्वारा रहस्यमयी काव्यचारा की विविध प्रवृत्तियों का तात्त्विक पक्ष निर्धारित कर उसकी मनोवृत्ति को प्रतिक प्रोढ़ बना दिया है। अपनी धारणा में तल्लीन रहस्यवादियों के आत्मदान की धारणा को उन्होंने साम्प्रदायिक न मानकर स्वभावगत माना है और अपने कथन की पुष्टि में ऐसी अनेक वैदिक श्रुतियाँ उद्धृत की हैं जिनमें आत्मसमर्पण और माधुर्यविकृत रहस्यात्मकता अभिव्यक्ति हुई है। उनके इस विश्लेषण पर भारतीय चिन्तन के एक प्रमुख धारा सर्वबाब का जो इतना अधिक प्रभाव है कि उन्हें उसकी काव्यगत अभिव्यक्ति अत्यधिक स्पष्टीय और मधुर लगी है। इसी प्रकार उन्होंने रहस्य-भावना के लिए ईत की स्थिति और अवस्था का आभास पूर्वपर सम्बन्ध के रूप में स्वीकार किए हैं जिनमें विरहानुवृत्ति और वाद्यस्य-साक्षर रहती स्वाभाविक है। रहस्यवादियों ने परमत्त्व और आत्मा के बीच माधुर्यभावसूचक सम्बन्ध की

१ महादेवी का विवेकनात्मक गद्य, 'रहस्यवाद' पृष्ठ १०१।

२ श्री, पृष्ठ १११।

३ श्री, पृष्ठ ११२।

सहानुभूति नहीं है। उनके मतानुसार यदि हिन्दी-मुनीन आदर्शवाद केवल उपयोक्ता के माध्यम से काम-सौख्य का परीक्षण करना चाहता है तो उत्तर-छायावादी युग छायावाद से निम्न श्रेणी प्रेरणाएँ ग्रहण करके भी अपने आपका प्रतिस्पर्धावादी के रूप में उपस्थित करने में सक्षम समर्थक है। देवीजी के मत से दोनों ही विचारधाराएँ सत्य का एक संघ ग्रहण कर उसे ही पूर्ण मानने की भूल कर बैठती हैं। यद्यपि देवीजी ने हिन्दी-मुनीन उपयोक्तावादी दृष्टि पर अधिक आलोचना व्यक्त नहीं किया है, किन्तु आदर्श की प्रतिक्रिया में उत्पन्न उस काम्यधारा का घोर विरोध किया है जिसमें एक पक्ष यथार्थ की छाया में हमारी सामाजिक विकृति से सम्बन्ध रखने वाले वास्तव के बिना ही तो दूसरी घोर जीवन का वह मूल्य और कुतिल रूप है जो हमारी समष्टिगत चेतना के प्रभाव से उत्पन्न हुआ है।^१ हाँ उनका उस यथार्थ से कोई विरोध नहीं है जो हमारी संवेदनीय अनुभूति का घटाठप्य बिखल करता हुआ चलता है।^२ वस्तुतः उनकी दृष्टि में हमारे साहित्यजन्म को वह एक समस्या ही है। सम्भवतः साहित्यकार की वास्तविक प्रसूति के विपरीत धर्म की विपत्ति का चिन्तन किन्तु प्रयोगों तक वास्तविक और किन्तु प्रयोगों तक बोद्धिक प्रयत्नमात्र है। ऐसा निकले समय महादेवीजी का उन काम्यकारों के प्रति भी धर्म्य हुआ है जो आदर्शवाद में केवल समाधान-वृत्ति और वास्तविक स्वरूपों की घुमिस्त छाया बैलकन प्रवृत्तिवादी की घोर प्रशंसा कर रहे थे। ऐसे काम्यकारों में जीवन की सच्ची संवेदना का घनाव निकलित कर उनकी काम्य-वृत्ति को देवीजी ने इस दृष्टि से एक प्रकार की समस्या ही माना है कि उनके काम्य का उद्देश्य स्पष्ट बनना मनोवृत्ति किन्तु देखाओं से निमित्त आकार में सत्य समझी जाय।

१. महादेवीजी ने सामाजिक समस्या के विवेचन में बार-बार उस प्रवृत्तिवादी का उल्लेख किया है जो इन्द्रात्मक भौतिकवाद के उत्पत्तियों से निमित्त और वास्तववादी विचारधारा से अनुप्राणित है। उन्हें ही प्रस्तुत प्रवृत्तिवादी की यथार्थमयी दृष्टि से आलोचना-युग का वह वावरण विवेचन मिला है जिसमें हमारी देख-भाल और राष्ट्रीय-वास्तव जीवन के संकेत निष्पन्न रह कर यथार्थ वृत्ति से प्रसूति हुई थी। सब तो यह है कि देवीजी की वर्तमान प्रवृत्तिवादी में जीवन की उस वास्तविकता का कोई उल्लेख नहीं मिलता जो प्राणिकरण को सहजानुभूति प्रदान कर सके। आ देवीजी ने उसकी वर्तमान संकीर्ण भावनाओं की कृपा कर उसकी वास्तविकता ही में मानी है कि वह केवल दलित वर्ग तक ही सीमित न रहे क्योंकि साहित्य का चरम उद्देश्य तो सर्वत्र मानवता का अधिकार करना होता है।

११०. स्पष्ट है कि महादेवीजी के सामाजिक-समस्या विषयक विवेचन का आलोचना प्रवृत्तिवादी तथा यथार्थवाद है जो छायावाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होकर राजनीति और धर्म व्यवस्था की भाँति साहित्य-लोचन भी अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहता था। इस बार ने 'नारी की वैज्ञानिक दृष्टि' का उल्लेख कर उसे युद्ध के केवल उद्देश्यगत विचार का साधन^३ माना जाता तो देवीजी के लिए उसका विरोध करना रस धनिवार्य हो गया। उन्होंने नारी के व्यक्तित्व चेतना और हृदय के उद्गमन पक्ष का विवेचन कर यथार्थवादीयों के जन्म दृष्टिकोण की घोर निन्दा की है। इसी प्रसंग में उन्होंने आग्रहवादी विचारों के साहित्यगत प्रयोगों को भी यथार्थवादी समर्थक है जो यथार्थवाद के नाम पर प्रशंसित घुसकत काम-वास्तववादी के मध्य पिछों को साहित्य मंदिर में स्वीकृति दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। महादेवीजी का इस बात से कोई विरोध नहीं कि "आज का हिंदी कवि अपने जीवन में स्वयं न देख किन्तु क्या यह कोई धनिवार्य नियम है कि उनके

१. आदर्श का निवेदनमात्र पृष्ठ १११।

२. वही, पृष्ठ ११४।

३. वही, पृष्ठ १११।

उनका विस्तारण विशेष उचितपरक दृष्टि से कर सकी है। उनके मतानुसार सुख-दुःख की भावावेशमयी प्रवृत्ति-विशेष का निरोध-बुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।^१ इस बिबचन में मानव जीवन की विरलतम वृत्तियों के परिरेखन में गीतों का जो महत्त्व निर्धारित किया गया है, वह देवीजी की निजी अनुभूतियों पर अधिक आधारित है। 'काव्य की ऊँची-ऊँची हिमासय-मण्डियों के बीच में पीति-मुक्तक को एक छवस कोमल मेघमण्डल निहित करना'^२ देवीजी के मानव हृदय का परिचायक है। साथ ही साथ उन्होंने वेद-मीति से लेकर प्राधुनिक नीति-परम्परा तक का संक्षिप्त विकास समझ कर येर बाधाओं भवितकासीन रचनाओं तथा प्राधुनिक नीति-अनुभूतियों के विभिन्न पक्षों का जो रहस्योद्घाटन किया है, वह इस विषय में हमें विविध प्रकार की समझता कराने में परम सहायक है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि 'पीति का विरलतम विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली सुख-दुःखारमक अनुभूति ही खेरी पर अनुभूति मात्र गीत नहीं क्योंकि भेयता ही अभिव्यक्ति सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख-दुःखारमक अनुभूति का वह ध्वन्य-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेव हो सके।'^३ इसी प्रकार महादेवीजी का पीति-काव्य विषयक विशेषण विपुल साहित्यिक समालोचना न होकर उनके एतद् विषयक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति कराने में पूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

१ ७. बंसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि महादेवीजी ने प्राधुनिक साहित्य क्षेत्र में प्रचलित यथार्थ और आदर्श के प्रलों और मूल्यों पर भी अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं। इन मान्यताओं के मूल में उनका विपुल संस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण है। यही कारण है कि उन्होंने साहित्य और कलाओं को उत्तम-सुखनशील मानकर उनकी पावन-स्वसी में राज-नीति और धर्म-व्यवस्था के परिवर्तनशील मानदण्डों के अनुसार यथार्थ और आदर्श का अभिविवेचन उत्कर्ष-विधायक नहीं माना है। देवीजी के मतानुसार आदर्श और यथार्थ हमारी जीवन-व्यापी एकता को अभिव्यक्त करने के लिए दो भिन्न-भिन्न रैतियों के रूप में ब्राह्म समझे जाने चाहिएँ क्योंकि उन्हें दो भिन्न-भिन्न छवियों और विरोधी भूमिकाओं में उपस्थित करने ॥ साहित्य का सम्मिलन मात्र छत-विछाट होकर विपटन का कारण बन जाता है। अपने विवेचन को विशेष बान्धीय और पुष्टि प्रदान करने के लिए देवीजी ने ऐतिहासिक अनुक्रम के आधार पर रामायण और महाभारत-काल की आदर्श-निष्ठा तथा यथार्थ-दृष्टि का विस्तारण कर यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उन दोनों कालों की जीवन-व्यवस्थाओं में किस प्रकार वैमिष्य का एकदली दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया था जिससे हमारी मूल संस्कृति पर्वतय समय के लिए आच्छादित कर दी गई। अतः देवीजी के मतानुसार साहित्य के आदर्श और यथार्थ की प्राण प्रतिष्ठित और शोभा इसी में है कि वे प्राण और शरीर के रूप में समन्वित होकर जहाँ जहाँ क 'वह यथावत जिसके पास आदर्श का स्पर्शन नहीं केवल ध्वन्याव है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेममाण है। महादेवीजी का यह दृष्टिकोण उनके समन्वयकारी समीक्षक-स्वरूप का यथ्य निर्वर्तन कहा जा सकता है।

१ ८. महादेवीजी ने यथार्थ और आदर्श के प्रश्न को सामयिक समस्या के रूप में उपस्थित कर उसका समाधान-पथ अनुसन्धित करने का भी प्रयास किया है। प्राधुनिक युग उन्हें इसी दो दृष्टिकोण के वृत्तों में व्याप्त और अपने-अपने को पूर्ण मान लेने की भाँति से आकर्षित प्रतीत होता है, जिसमें अपने से भिन्न सिधिर के उच्चाप पक्ष के प्रति किसी भी प्रकार की कोई

१ महादेवीजी का निवेद्यात्मक गद्य, पृष्ठ १४१।

२ वही, पृष्ठ १४४।

३ वही, पृष्ठ १४७।

४ वही, पृष्ठ १४१।

समर्पन किया है। न साहित्य-संस्थाओं और समालोचकों की विदेशी तथा पराजित ज्ञान पद्धि पर ही मर्यादित बातकर पसने की मनोवृत्ति को उनकी पुर्ववृत्ति माननी है क्योंकि उद्यते धारमरूपित का सृजन और विवेकपूर्ण समीक्षण नहीं हो पाता। उनका इस विषय में यह विवेचन तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जहाँ उन्हे निःसंशय के विज्ञान संस्कृति और कला-विषयक विवेचन के उस पक्ष का उद्भाटन किया है जिसमें बर्गवर्गी भावनाओं से ढँके छठकर साहित्य-निर्माता करने की प्रेरणा दी गई है। धाराध यह है कि यद्यपि महादेवीजी ने साहित्यिक समालोचना की कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी किन्तु उनकी प्रकीर्णक साधनों में भी साहित्य का जो विचार-पक्ष व्यक्त हुआ है, वह धारम प्रेरक और अनुमोदित है। इस प्रकार का संतुलित और स्वतंत्र विवेचन हिन्दी-धारा के क्षेत्र में बहुत कम हुआ है जिसमें सामयिक अवस्थाओं को कलात्मक दृष्टि से विवेचित कर उनके समाधान का स्वल्प निरूपित किया गया हो। उनके विवेचन पर रावीन्द्रिका सेही का घरेलू प्रभाव है, जिसमें विवेकी पाठक के लिए सामय होने के पर्याप्त अवसर हैं। डा. नयेशजी ने उनकी धारमक-दृष्टि का विवेचन करते हुए अपना यह धारम उपयुक्त मित्युक्त किया है कि "उन्हे (महादेवीजी ने) साधारण को पका नहीं है अनुभव किया है। धारम साहित्य का विचारों उनकी विवेचना का धारमजन के समान ही धारम करेगा।"

(५)

आचार्य प० नवलुसार बाजपेयी

हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी समालोचना का प्रारम्भिक प्रतिमान

१९४ बाजपेयीजी को धार्मुनिक हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने में उनकी समीक्षा-कृति 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी की सर्वप्रथम स्थान दिया जा सकता है जिसका प्रथम संस्करण सन् १९१२ ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक में उनके विभिन्न विचारों में निहित हुए लेखों का संग्रह है जिसकी रचना विभिन्न 'विविध' के अंत में दी गई है। विज्ञान लेखक के पुस्तक की 'विविध' के अंतर्गत अपने समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए बीसवीं शताब्दी की प्रमुख साहित्य प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण किया है, जिनमें उनकी मुसलमानी दृष्टि और स्वच्छंदतावादी विचारों का बहुत ही अनुमान लगाया जा सकता है। उनकी इस कृति में जिन साहित्यकारों का स्वतंत्र निबंधों के रूप में विवेचन नहीं किया जा सका है उनके सम्बन्ध में आधुनिक विवेचन विवेचन में दे दिए गए हैं जिनसे बीसवीं शताब्दी की प्रमुख उपसर्गों और वृत्तियों का भी ज्ञान हो जाता है। इस पुस्तक की प्रमुख विशेषता यह है कि बाजपेयीजी ने पुर्वोक्त धारम बुराव की भावना से दूर रह कर एक निर्लोभक समीक्षक के रूप में समालोच्य साहित्यकारों के सम्बन्ध में अपनी विवेकपूर्ण सम्मति निरूपण का प्रयत्न किया है। कहा जा सकता है कि जो साहित्यकार इस पुस्तक में विवेचित नहीं हो सके वे उनकी परवर्ती रचनाओं में स्वतंत्र निबंधों का स्थान पा सके हैं और इस प्रकार उनकी यह कृति बीसवीं शताब्दी के विश्लेषण में एक प्रकार की प्रस्तावना का रूप धारण कर कालांतर में उनकी पूर्ण प्रीति का कारण बन सकी है। बाजपेयीजी ने स्व-विरतपण के साथ-साथ अपना साहित्य-बीसवीं शताब्दी विषयक प्रतिमान भी इसकी भूमिका में प्रस्तुत किया है जो इस बात का प्रतीक है कि वे मुक्त-मुख की निष्ठा और मर्यादा से ही वाक्य-समीक्षण का आशय कर रहे थे।

स्वयं केवल विद्वत् वासनाओं से ही निर्मित हों ?^१

१११ महादेवीजी का प्रगतिवाद-विषयक विवेचन उन समासोपकों से अपेक्षित विचार घाम्य रखता है, जिन्होंने सोनवर्त-युगक स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण ग्रहण कर काव्य-सीध्द का विस्लेषण किया है। वे प्रगति को जीवन के स्वाभाविक क्रम में स्वीकार कर उसके कड़ि बिहीन और घमृदयपीत स्वरूप को ही ग्राह्य समझती हैं जो परब भावनाओं के साव-साव कोमल वृत्तियों का भी भय्य विचलु कर सके। स्पष्ट है कि महादेवीजी ने अपने विवेचन के अंतर्गत उन समासोपकों की विचारपारा और समीक्षाओं को अपूर्ण तथा एकांगी निर्दिष्ट किया है जो प्रगतिवाद के उदात्त स्वरूप की उपेक्षा कर उसे केवल राजनीतिक प्रभाव का ही एक धर्म मान कर बसते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने हिंदी-युगीन भाष्यताओं वाले समासोपकों के प्रति भी व्यंग्य किया है जो तवीन काव्यद्वारा के प्रति किंचित् भाव भी सहानुभूति नहीं रखते। समासोपकों का यह दृष्टिकोण निश्चय ही हमारे काव्यालोचन की एक समस्या है जिसके निराकरण का प्रयास युग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार उन्होंने धातुनिक धालोचकों की अंतर्वेचना का भी मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष किया है वह भी पठनीय है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि जब तक हमारे धालोचक और कवि ए-बुद्धे के प्रति उदासीन अवस्था सक्षक बन कर बसते रहेंगे हमारी साहित्यगत सम स्याओं का समाधान नहीं हो सकता।

११२ महादेवीजी के सामयिक समस्या-विषयक समीक्षण का निष्कर्ष यही है कि साहि त्यकार युग-जीवन का अपेक्षित प्रभाव ग्रहण करके भी अपने महान् व्यक्तित्व और उत्तरदायित्व के परिबहुन की धुनतात्मक ध्वनि का संघम करे और समासोपक अपनी विशेष भाष्यताओं में छाया वाद को पसायनवादी सूर, तुलसी को सामय युग के प्रतीक कबीर को विशिष्ट रहस्यवादी कानिवास जैसे कवियों को राज-वरवार के माट तथा देवकामीन वृत्तियों को केवल प्रकृति-युगक^२ के रूप में ही न देखें अपितु अपने प्रतिमान की उदात्त और जीवन-व्यापी बनाकर साहित्य गीछण के महान् उत्तरदायित्व का निर्वह करे। महादेवीजी ने इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति वाले विचारकों की अंतर्वेचना में शीर्षकामीन पठनीयता धिला की अपूर्णता और जीवन की समष्टितत्त्व विकृति को ही उत्तरदायी सिद्ध किया है। उनका यह विस्लेषण अत्यन्त प्रखर और व्यंग्यपूर्ण भी है जिसमें उनकी साहित्य-सम्बन्धी भाष्यताओं का प्रमाण दृष्टिकेन्द्र प्रतिबिम्बित है। स्पष्ट है कि यह समस्त विवेचन प्रगतिवादियों के उस मूर्खांकन का प्रथम पक्षों में विरोध करने के लिए किया गया है जो विश्व-साहित्य के महान् रत्नों और उनकी कृतियों को सामन्तीयुग का प्रतीक कहकर उनके प्रसाध-रण व्यक्तित्व के प्रति प्रशंसाकक चिन्तु सया देते हैं। उनके मसामुसार हिन्दी-साहित्य में प्रचलित प्रगतिवाद के मूल उद्देश में भी अपनी विकृति नहीं बिलनी इसके अनुकूल रूप में वृष्टि है। इसका कारण उन्होंने हमारी 'वतिकृत पराधीन जाति की वासवृत्ति' ही बतलाया है।^३

समीक्षा का मूर्खांकन और महत्त्व

११३ जैसा कि प्रारम्भ में सकत कर दिया गया है कि महादेवीजी का साहित्य प्रतिमान जीवन की चिरंजन और सनातन आचरणों के अधिक निकट है अतः उन्होंने साधारणीकरण तथा 'मधुमती भूमिका के साधार पर निम्न कक्षाकारों की एक वर्गहीन श्रेणी मानी है जिसकी अत्ता तात्त्विक दृष्टि से प्रखंड है। इसी प्रकार उन्होंने पारदर्श और यथार्थ के भी समन्वित स्वरूप का

१ महादेवी का विवेकभाष्य 'मल' पृष्ठ २२९।

२ यो, पृष्ठ २१५।

३ यो, पृष्ठ २१६।

‘पद्मनभ’ ‘ज्योत्स्ना’ और ‘गुंजन’ की प्रपेक्षा मुम्बई में बिस्व वाङ्मयीनी के मानसिक परिष्ठाप का कारण बनी जिसका कि काव्यात्मक परम्परा में इतने गहरे पठे हुए समीक्षक हैं तब भावना पड़ता है कि इस युग की काव्य-सृष्टि के सामने क्या था ।’

समालोचना का मूल दृष्टिकोण और सप्त-सूची मान्यता

११६ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी का प्रथम उत्तम वाङ्मयीनी ने अपने ही विभिन्न साहित्यकारों की छायावादी कवियों का काव्य ही अपने विवेचन का केन्द्र प्रस्तुत किया है। इस सत्य को स्वीकार किया है। वस्तुतः वह द्वितीय-युग की भावनाओं में बिस्व मानव के सहृदय बन कर योग्य भावनाओं का प्रमाण उन्होंने प्रसाद और निराला के शीर्षकों को उद्धृत करके मुम्बई की राष्ट्रीयता का भी दृष्टिकोण एक प्रथम पंथ और निरालाजी की काव्यमय विस्तारताओं का विवेचन काव्य का समीक्षण अत्यधिक संयत विधान में किया है। उत्तर दिया है जो नए परिवर्तन का स्वीकार करते हुए महादेवी प्रियंवदा का पता असाहित्यिक मनोवृत्ति से झुकते फिरते हैं। वाङ्मयीनी ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसके स्वरूप का क्योंकि उनके द्वारा जहाँ एक ओर महादेवीजी के काव्य का और प्रतिक्रियावादी साहित्य समालोचना के प्रति भी व्यंग्य प्रकट

“महादेवीजी की कविता बाह्य जिस सोच में विचरती है पीछे पड़ी हो—उसकी ऊपरी कपड़े बाह्य जैसी भी हो—उस काव्य के कर्तुष संवेदनों के रूप में दिखाई देती है। परन्तु महादेवीजी के इन कर्तुष संवेदनों में यदि कुछ अन्तर है तो प्रहृण कर लेने के कारण उनके काव्य में प्रथम ही एक प्राचीनतर काव्य अपने सारे आस्वादन खाकर नष्ट निराशा प्रीति

११७ वाङ्मयीनी की उत्तम कृति में कविता का साहित्यकार विवर्जित हुए हैं उन्हें उन्होंने क्रमशः परम्परावादी यथार्थवादी धाराओं की प्रतिनिधि पीढ़ियों के स्रष्टा माना है। रत्नाकर द्वितीय में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मैथिलीसरस्वती सीतरी में मुख्यतः प्रसाद निराला पद और महादेवी तथा जैनप्र कुमार तथा चौधरी में कविता के प्रथम की प्रगति की प्रतीति उन्होंने उत्तम पीढ़ियों की प्रकृतियों और साहित्यकारों की कृति विस्तारण भी किया है जिनमें उनकी प्रतिभा का अनुमान

कर उसे सौख्यमूलक स्वार्थसंवादी दृष्टि से विवेचित करना अशक्य समझते हैं। वस्तुतः प्रचलन युग में इस प्रकार की प्रवृत्ति ने यथोचित विकास कर लिया है किन्तु उस युग को देखते हुए इस प्रकार की परम्परा को प्रथम प्रदान करने की मनोवृत्ति के कारण बाबपेयीजी का हिन्दी समीक्षकों की पेशी में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके इस प्रकार के प्रतिमान का आभास निम्नलिखित उद्धरण से मन सूझेगा —

“काव्य का महत्त्व तो काव्य के अंतर्गत ही है, किसी भी बाहरी वस्तु से नहीं। सभी बाहरी वस्तुएँ काव्य-निर्माण के अनुकूल या प्रतिरूप परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं वे रचयिता के व्यक्तित्व पर निम्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह प्रतीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है उसकी स्वतंत्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उन्मादनात्मक या सर्वनात्मक क्षिति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियंत्रण बाह्य-तत्त्व व्यापार वा बाह्य बोद्धिक उत्कार और मार्स बोझी ही मात्रा में कर सकते हैं।”

११५ बाबपेयीजी ने उपर्युक्त प्रतिमान को अपना धारण बनाकर विवेक साहित्यकारों के सम्मुख में अपनी सम्मति प्रकट की है। वे हिन्दी-युग के साहित्य की प्रशंसा करते हुए भी उसकी सीमाओं से अनभिज्ञ नहीं हैं क्योंकि इसकी ‘बोद्धिकता और नीतिमत्ता सृजनारम्भक मन के समस्त प्रार्यों का उद्घाटन’ करने में उन्हें असमर्थ प्रतीत हुई है। इस दृष्टि से उन्होंने अधर पाठक की प्रारम्भिक महत्त्व दिया है जिसका विकास उन्हें कालान्तर में प्रसारणी के व्यक्तित्व में मिला।^१ कहा जा सकता है कि बाबपेयीजी के मानसिक संस्कार का साम्य प्रसादजी के साहित्य के साथ सुचारु रूप से प्रतिबिम्बित है। उन्हें उनके साहित्य में जीवन की बहुमूल्यता का बोल-व्यापक चित्रण मिला है, वह उनके साहित्यिक मूल्यवाद का एक प्रमुख धर्म कहा जा सकता है। इसी मानसिकता की परिणाम है कि उन्हें प्रेमचन्दजी का नगण्य चित्रण नहीं सुझा सका और वे प्रसादजी के व्यक्तित्व में रवीन्द्रनाथ की भाँति बहुमुखी जीवन का स्वयं पर कर उनके अन्तर्गत प्रसंसक बन सके। उन्होंने प्रसादजी के रहस्यवाद की प्रशंसा मुख्य रूप से इसीलिए की है कि उसमें उन्हें विज्ञान और बहुमुखी जीवनानुसृष्टि का सामाजिक परिणाम मिला है और यही प्रतिमान उनके स्वार्थसंवादी दृष्टिकोण का आधार बना है। इस प्रसंग में उन्होंने रहस्यवाद का समर्थन करते हुए उसे जीवन से पलायन न मानकर जिस रूप में उसे जीवन की वास्तविक विद्यातत्वा की स्वीकृति कहा है, वह केवल कथनमान के लिए कथन न होकर पुष्ट प्रमाणों से भी समर्थित है।^२ इस विवेचन द्वारा बाबपेयीजी ने उन आन्ध्रियों के निवारण का भी प्रयत्न किया है जो उन दिनों साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में रहस्यवाद और अज्ञानवाद के सम्मुख में अधिकारित होती हुई थी। ऐसा करते हुए उनका स्वर रहस्यवाद के विरोधी समालोचकों के प्रति कुछ स्वयं पर अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण और तीव्र भी हो गया है जो इस बात का प्रतीक है कि बाबपेयीजी रहस्यवाद और अज्ञानवाद पर क्रोधित होने वाले आक्रमणों की साहसीता प्रथम श्रेणी में स्थित करना चाहते थे। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों का धारकचित विश्लेषण कर उस भावार्थिता का भी प्रतिष्ठान किया है जिन्होंने रहस्यवाद और अज्ञानवाद को नैतिक भाव से विकसित होने की प्रेरणा दी थी तथा जिसके कारण प्रसादजी के पश्चात् पठ और निरुत्ता की बोझी इस क्षेत्र में अवतीर्ण होकर अपनी प्रतिभा का विस्तार कर सकी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्हीं दिनों पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी निवृत्तता के अंतर्गत पं.जी के

१ पं. जसुरदारे समवेदी लिखा साहित्य : दीवली राजशेरी, प्रथम संस्करण १९६६ निबन्ध पृष्ठ ५।

२ पृ. १८४।

३ पृ. १८४ ११ १२।

की समीक्षा-मसाली और उपसम्बन्धों का विशेष विवेचन करने का यही अवसर नहीं है। मगर हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि स्वयं बाबूपयीजी ने उनकी समीक्षा 'नया साहित्य नए प्रश्न' के अन्तर्गत कर दी है^१ जिससे और अधिक विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन भव्य हो ही नहीं सकता। यही तो हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में संक्षिप्त समीक्षारमक निबन्ध उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं के भव्य निर्यात हैं जिनका विकास हमें उनकी उत्तरवर्ती समालोचनाओं में मिलता है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है कि जिस प्रकार प. रामचन्द्र मुक्त के प्रारम्भिक निबन्धों में उनका साहित्य-प्रतिमान निर्मित होकर क्रमशः विकसित बनता गया था उसी प्रकार बाबूपयीजी के इन प्रारम्भिक निबन्धों में उनका जो समीक्षा स्तर अपने किछोर-काल में है वही क्रमशः पुष्ट और व्यापक बनता गया है। इस विषय के प्रमाण-स्वरूप उनकी वे मान्यताएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं जो उन्होंने नवम्बी जन्मश्रुद्धार जमवटीप्रसाद बाबूपयी धारि कपाकारों के सम्बन्ध में प्रकट की हैं। इस विषय में उनका यह निर्यय भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो उन्होंने उस समय साहित्य-क्षेत्र में चलन वाल कमगत स्वीयता और प्रसिद्धता के सम्बन्ध में दिया था। उनके इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे आचार्य मुक्तजी द्वारा निर्धारित काव्यालोचना के प्रतिमान की सीमाएँ कहाँ तक समझते हैं तथा उनकी समीक्षा-दृष्टियाँ में मुक्तजी की मान्यताओं से कितना अन्तर है।^२ अन्त में उन्होंने साठ धूर्तों के रूप में अपनी साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी उन दिशाओं का उल्लेख किया है जो उनके समीक्षारमक निबन्धों को समझने में सहायक हो सकती हैं।^३

विवेच्य विषय और उसके प्रमुख अंग

११८. बाबूपयीजी का मूल विवेच्य विषय धार्मिक हिन्दी-साहित्य है। यद्यपि उन्होंने हिन्दी-साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास नहीं लिखा है फिर भी उनकी समालोचना-कृतियों और समीक्षात्मक निबन्धों में उसके उपकरण इतने अधिक गुण और परिमाण में व्याप्त हैं कि एक उत्तमान्वयी पाठक को उनके अन्तर्गत इतिहास के क्षेत्र में जाने वाली सामग्री का विवेचनात्मक स्वरूप उपलब्ध हो जाता है। 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' से लेकर 'नया-साहित्य नए प्रश्न' पर्यन्त उनकी जितनी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, उनसे बाबूपयीजी की विकासमान प्रतिभा और तथा विनिवेशी विवेक-शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। धार्मिक से अन्य तीस वष पूर बाबूपयीजी ने साहित्य को जिस सौष्ठव-विधान और सौर्ष्यमूलक स्वच्छशतावारी दृष्टि में ग्रहण कर बीसवीं शताब्दी के साहित्यकारों का समीक्षण बिना किसी प्रकार के मतभाव का आशय लिए नवीन प्रतिमानों द्वारा किया था वह मुक्त-मुक्त की विचारधाराओं से अधिक विकसित और मर्मस्पर्शी था। साहित्य के भव्यताओं और अनुसंधानात्मों से यह बात छिपी नहीं है कि यह बाबूपयीजी की प्रतिभा का ही अमरकार था जिसने शिरोही-युग में कश्चित क्रिये जान जाने छपावारी कृतियों को साहित्य रूप में उच्च स्थान प्रदान किया और उनका काम्य तरीक्षण कतिपय जिस प्रकार का प्रतिमान होना चाहिए, उसकी समालोचना-क्षेत्र में प्रतिष्ठा की। इस दृष्टि से वे 'मुख्यसात्तर-युग का प्रमुख प्रवृत्ति सौर्ष्यमूलक स्वच्छशतावारी के प्रवर्तकों में से हैं और कामाक्षीर म इस जयीक्षा-धारा में जो विकास किया है, उसका अधिकतम तत्त्वों के निर्माण का भव्य आचार्य बाबूपयीजी को ही है। इनका

१. पं. नरसिंहरे बाबूपयी नया साहित्य नये प्रश्न 'निर्यात' पृष्ठ ४११।

२. पं. नरसिंहरे बाबूपयी हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, विविध, पृष्ठ २३।

३. पृष्ठ २८।

४. पृष्ठ २६।

के मतानुसार छायावाद नवीन जीवन प्रगति में आत्मसीम्बध का चितेरा धीर प्रकृति की नेतन सत्ता में मुख्य या भारता का अधिष्ठानकर्ता है जिसकी मूल नेतना धर्यन्त बध्य धीर प्रगिरीय है।^१ उन्होंने अपने इस कथन की पुष्टि छायावाद के प्रमुख कवियों की आत्मानुभूति का विवेचन करते हुए की है।

१२१ बाजपेयीजी के छायावाद विषयक विवेचन में समीक्षा-क्षेत्र की एक प्रमुख प्रकृति प्रभावविश्लेषण प्रणाली की भी झलक मिलती है। वे छायावाद की व्यापकता और सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही मानते हैं कि इस काव्य को 'जिन लोगों ने केवल सीधे बादी प्रवृत्ति स्वप्न-मोह का विषय' बताया है या जो लोग इसे विवशकारी सामाजिक प्रवृत्ति राजनीतिक स्थिति की 'थ्योरेटिक प्रतिक्रिया' मानते हैं वे भी छायावादी कवियों के व्यक्तित्व और प्रतिभा के प्रबंधक हैं।^२ सच तो यह है कि बाजपेयीजी के मतानुसार उसके निरोपी समाजोपक अपनी भीतिभवादी दृष्टि के कारण उसकी सम्पूर्ण-भावना को नहीं समझ पाते और उन्हें इस भाव के कवियों में विशेष तथा स्वात्मन्वय और निष्ठा तथा समता का स्वर नहीं मिलता।^३ उन्होंने छायावादी काव्य के मूल में समाज-सापेक्षता भारतीय काव्य प्रकृति उच्च कोटि की नैतिकता और मानववादी दृष्टिकोण आदि गुणों का सम्मेलन कर उस एक सख्त काव्य माना है और इसके सम्बन्ध में मान्य जाने वाले धारोपों का तीव्र लक्ष्य में लक्ष्य किया है। इतना ही नहीं उन्हें छायावादी काव्य में कल्पना और अनुभूति का तो ऐसा सुन्दर मणिकोषण संयोग मिला है जिसके कारण यह काव्य अपनी गीतात्मक अविवशिता में किसी विशिष्ट बात का ही अनुगमन न कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी स्थापित कर सका है और जिसका प्रभाव हिन्दी काव्य-क्षेत्र के दो दशकों (सन् १९२ - ६) तक तो व्याप्त रहा ही था किन्तु जिसकी परबर्ती धारोपों ने भी उसके कम काव्योपकरण नहीं ग्रहण किए हैं।

प्रगतिवादी साहित्य के प्रति बाजपेयीजी की दृष्टि

१२२ जैसे तो बाजपेयीजी ने छायावाद की प्रतिष्ठा में जम्बू जने वाले प्रगतिवादी साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार मयाप्रसंग विभिन्न समीक्षामय निष्कर्षों में प्रकट किए हैं किन्तु 'म विषय में प्रथम भारत हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पूना अधिवेशन (सन् १९४४) की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष तब से दिया गया उनका भाषण विशेष महत्वपूर्ण है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मार्क्स्य द्युस्तबी ने काव्य में अधिष्ठातृभाव और फलाभास के संक्षेप में अपनी मान्यताओं का स्पष्टीकरण दूसरे भाग भाषण में किया था उसी प्रकार बाजपेयीजी ने भी उस भाषण में प्रगतिवादी साहित्य के विषय में अपना दृष्टिकोण प्रकट करने की चेष्टा की है। यद्यपि यह भाषण मुक्तरी के भाषण के समान अधिक विस्तृत नहीं है किन्तु फिर भी इसमें विद्वान् समाजोपक न अपनी सभी हुई चीजों में प्रगतिवादी साहित्य के उन सभी गुणों का तारिक विवेचन किया है जिनके सम्बन्ध में साहित्य-समाचारकों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। बाजपेयीजी प्रगति को जीवन-साहित्य की एक अनिवार्य प्राप्ति मानते हुए उसकी संरक्षित प्रत्येक मूल में प्रतिपादित मानते हैं, क्योंकि उसके बिना हमारे सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में विकास की कल्पना की ही नहीं जा सकती। उन्होंने मनुष्य की सामाजिकता को महत्त्व देकर साहित्य को कथन व्यक्तित्व

१. स. न. प. प. के अन्तर्गत सांभुतिक साहित्य दि. १५ म. १९५५ सं. २ १९५५ ५५ १०५।

२. ५५ ११५।

३. ५५ ११५।

विवेचन करने की अपेक्षा उन प्रेरक सभितयों को विशेष महत्त्व दिया जाता चाहिए, जिनसे इस विषय का बोध हो सके कि काव्यकारों ने किस प्रकार का मौखिक विज्ञान अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि 'वही छायावादी काव्य-व्यापार का भी एक प्राप्तात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा नादिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम भीतरी घटावही की वैज्ञानिक और मौखिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।'^१ बाजपेयीजी ने इसी विवेचन के प्रसंग में मध्यकालीन हिन्दी काव्य और प्राधुनिक छायावादी काव्य के उन मौखिक विवेकों का पर्यवेक्षण भी किया है जिनके कारण 'मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और हृद्य बन्धु अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित हो रहे, जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव धनुर्मूर्तियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी।'^२

१२ बाजपेयीजी की समालोचनाओं में किसी भी विषय को केवल साम्प्रदायिक प्रवृत्ति सीमित दृष्टिकोण से विवेचित करने की प्रवृत्ति का विरोध मिलता है। यद्यपि उनका मुख्य विवेच्य विषय प्राधुनिक साहित्य है किन्तु उन्होंने पुरातन साहित्य को भी नवीन प्रतिमानों में परीक्षित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। वे मध्यकालीन हिन्दी-काव्य को एक विशेष दर्ज में साम्प्रदायिक मानते हुए भी उसके समीक्षण में केवल नादिक प्रवृत्ति साधनात्मक प्रणालियों को ही उपयुक्त नहीं समझते बल्कि उनका विचारव्यापार में उस काव्य या विवेच्य पर मुक्तता उसके रचयिताओं की मानसिक स्थिति और जीवन-दृष्टि को प्रकटता देते हुए करना अधिक समीचीन है, क्योंकि ऐसा करने पर काव्य का प्रमुख लक्ष्य मानवित्व-वर्धन उसके द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट किया जा सकता है। उन्होंने महत्कवि सुरदास के काव्य का समीक्षण करते समय इसी प्रकार के प्रतिमान का प्रयोग किया या जिसका विवेचन हम उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं का मूल्यांकन करते समय करेंगे। यहाँ तो इस प्रकार के उल्लेख का मूल प्रयोजन यही है कि बाजपेयीजी ने छायावाद को अपना प्रिय विषय बनाकर भी ऐसे अनेक प्रतिमान प्रस्तुत करने की चेष्टाएँ की हैं जिनका स्वरूप सुकल-युग की समीक्षा-पद्धति को बिकासोन्मुख बनाने वाला कहा जा सकता है। उन्होंने इस प्रकार के प्रतिमानों द्वारा मध्यकालीन कवियों को नवीन मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक विज्ञान में प्रस्तुत करने का जो हाथकोष्ठ उपलब्ध किया है वह व्यापक मानभूमि पर आधारित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि सुकलोत्तर-युग की समीक्षा-पद्धतियों पर उनके इस प्रकार के प्रतिमान-निर्धारण का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा और सुकलजी समालोचना में कवियों की धर्मप्रवृत्तियों की ज्ञानवीन की आवश्यकता पर जो अधिक बल देते थे वह बाजपेयीजी द्वारा और अधिक विकसित किया गया। बाजपेयीजी ने अपने इसी निर्धारित मानदण्ड पर मध्य कालीन कवियों के मानसिक तथा सामाजिक परिवेश का विवेचन किया है और छायावादी काव्य का मध्य-युग की काव्यव्यापार से इस दर्ज में विशेष रूप से अलग माना है कि 'वह किसी कलापक्ष साम्प्रदायिकता या साधना परिपाटी का अनुसरण नहीं करता।'^३ इतना ही नहीं बाजपेयीजी ने उन समालोचकों की प्रतिमान-पद्धतियों का भी विरोध किया है जो समीक्षा में कलात्मक तथा साहित्यिक दृष्टि को प्राथमिकता दिए बिना केवल नादिक और साम्प्रदायिक परम्पराओं को साहित्य परीक्षण का आधार बनाकर अपनी विवेचनाएँ प्रस्तुत करते हैं जिनके कारण यथार्थ-काव्य प्रवृत्ति छायावाद का कलात्मक और साहित्यिक विवेचन पूर्णतया नहीं हो पाता। सब तो यह है कि बाजपेयीजी

१- उपर्युक्त बाजपेयी प्राधुनिक साहित्य, दिल्ली संस्करण, मं. २, २३ दि. पृष्ठ १७१।

२- वही, पृष्ठ १७२।

३- वही, पृष्ठ १७४।

पात्र के प्रत्यक्ष सङ्गठित होकर नहीं प्रकट होना चाहिए।^१ सच तो यह है कि बाजपेयीजी के मथानुसार 'कला का सक्षम प्रचार न होकर सुप्ति होता है और कला की प्रगतियाँ नई प्रास्य प्रतिष्ठित नए गौर-वरीके (टेकनीक) सूतन छँद, नवीन मापा धीर नई भावाभिप्रेक्षित धारि हैं जो विपुल साहित्यिक स्वल्प में प्रकट होती हैं।'^२

१२९. ऐसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि बाजपेयीजी का प्रतिष्ठीत साहित्य के प्रति अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण है, घट-के प्रगतिवाधियों की मार्क्सवादी विचारधारा प्रचवा वर्तवादी भावना के विरोधेषु में अधिक प्रास्था नहीं रखते। उन्हें तो साहित्य की प्रगतिशीलता एते व्यापक विधान में दृष्टिगोचर हुई है जिसके कारण उन्होंने रवीन्द्रनाथ और बंकिमचन्द्र की महत्ता का कारण भी अपने द्वितीय पुत्र के सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार किया है। सच तो यह है कि उन्हें मार्क्सवादी प्रगतिवाधियों की साम्यताओं में अधिक धाद्य उत्पन्न इसलिए भी प्रसहित नहीं होते कि वे जिन कर्मों में धाव प्रगति देखते हैं वे सम्भवतः सनातन में स्वीकृत सिद्ध हो जाएँ। इस प्रकार बाजपेयीजी कला-निर्माण के पल को साहित्य का प्रचाल पक्ष निर्दिष्ट कर अपने मानवद्व के अनुसार प्रसार पंत मैथिलीधरस्य मुक्त धारि कवियों को भी प्रगतिशील साहित्य का निर्माता समझते हैं, क्योंकि उनकी प्रगति जीवन और साहित्य की नैसर्गिक विधि में हुई है, न कि वह किम्ही विषय प्रकार के सिद्धान्तों के हल्के प्रचार द्वारा सम्पन्न बनी है। अधिप्राय यह है कि बाजपेयीजी ने प्रगतिशील साहित्य का विरोधेषु सच प्रकार की स्वीकृत से दूर रहते हुए किया है जिसमें लोक-ममलविधायक साहित्य के स्वल्प-संस्करण अभी-भीति संगठित हो गए हैं।

प्रयोगवादी काव्यधारा और बाजपेयीजी

१२९. प्रगतिवाद के पश्चात् हिन्दी काव्य-क्षेत्र में जिस प्रयोगवादी धारा ने प्रवेश किया उसके प्रति बाजपेयीजी ने अपनी धारणाएँ व्यक्त करने के पूर्व उस बाध से सम्बन्धित उन विरोध स्वर्णों का विवेचन किया है, जिसको आधार बनाकर प्रयोगवाद के प्रवर्तक उसकी प्रसंता में अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते हैं। सच तो यह है कि बाजपेयीजी के मथानुसार "हिन्दी काव्य-परम्परा में प्रयोगवादी ऐसी कमी भी अधिक सम्मानसुषक नहीं रही। प्रयोग धर्म से प्रायः नए सम्पन्न नवीन प्रयास या नई निर्मात-वेष्टा का अर्थ लिया जाता है। प्रयोगवादी साहित्यिक वे साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई ठारिबक अनुभूति कोई स्वाभाविक वन विकास या कोई मुनिविकृत व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सूत्रन और काँदरविता के बरने सामान्य मनोरंजन और लैसी-प्रसाधन ही उसकी विधेयता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिरवध और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। सहा और संवेचनाहक न होकर वह प्रलेता और प्रकटा-भाव होता है।"^३ उन्होंने प्रयोगवादी काव्य के घाण्ट प्रत्य 'ठार-सुष्ठक' में भी समय तथा प्रभाकर माचवे धारि की उद्भावनताओं के उत्तरण देते हुए अत्यन्त तर्कपूर्ण ऐसी में उन्हीं के टप्पों की व्यञ्जनाओं के आधार पर प्रयोगवाद की अनिरिचत स्थिति सिद्ध भी है और उनके टप्पों और निर्णयों में अनेक प्रकार की असमत्तियाँ बतसाई हैं। अपने समाशोषक-व्यक्तित्व में धौर्यमूलक रस घाही दृष्टि को प्रयागता देव क कारण बाजपेयीजी को प्रयोगवाद में मान्यिक उसध्नों और बोद्धिक वेष्टाओं के अतिरिक्त अन्य कोई विषय बात नहीं मिलती घतः उन्होंने प्रत्यपरी की विवृति का ही आधार लेकर प्रयोगवादी काव्य की एक सामान्य परिभाषा "न

१. नरुबारे उम्मेदी प्राधुनिक साहित्य, द्वितीय संस्करण पृ. २२६ नि. पृष्ठ २२१।

२. पृ. १५२-२२१।

३. पृ. १५२-२२१।

हुमा पर पीकित प्रेम^१ सिद्ध करने की चेष्टाएँ की जा रही थीं तब उनकी उच्छ्वसिताओं पर प्रसुप्त इन समासों के लिए इस प्रकार के ठीक और सत्यपरक विस्लेषण की आवश्यकता थी। वाजपेयीजी ने ऐसे समय प्रयोगवादी काव्य के भाव-वस्तु कला पर प्रयोग खँद रचना आदि विभिन्न संयोगों को लेकर जो सोचाहरण विवेचन किया है, वह प्रयोगवाद का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। उन्होंने छायावाद और प्रगतिवाद पर आक्षेप करने वाले समासवादियों की सम्भावनी के चट्टरण देकर उक्त दोनों भावों की संतति के रूप में अन्त में आने वाले प्रयोगवाद की बेमेल और सफर-सृष्टि को काव्य-मुक्तियों की दृष्टि से सर्वथा हीन बतलाया है क्योंकि उसमें काव्योपयोगी समस्तयुक्त भावनाओं का प्रभाव है। वाजपेयीजी के इस विवेचन की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने केवल प्रयोगवाद का ही विस्लेषण कर उसकी मूलताओं का निर्देव नहीं किया अपितु साधुनिक काव्य की अन्तःप्रवृत्तियों का मान-सौष्ठव और रचना-विधान निरूपित करते हुए वहाँ एक और उनका काव्य-माध्यम स्वयं निर्दिष्ट किया है वहाँ वृत्ति और प्रयोगवादी काव्य की अनेक अपूर्वताएँ भी बतलाई हैं। इस विवेचन के प्रसंग में उल्लेखनीय है और छायावादी काव्य बाध के प्रमुख कवियों की सामान्य विशेषताओं का भी उद्घाटन हुमा है जिसकी समस्त में प्रयोगवादी रचनाओं का महत्त्व किसी भी रूप में सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः वाजपेयीजी की इस प्रकार की समासोचनाओं में उनका स्वयं और संयत दृष्टिकोण अमूल्य है और उससे यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनके मानस में साहित्य को उसके विद्युत् संबंधात्मक स्वरूप में ग्रहण करने की कितनी अधिक मानसा है। उन्होंने 'सार-सप्तक' की कुछ पंक्तियों को लेकर उनकी निस्तारता और असंबद्ध योजना का जो समग्राल विवेचन किया है, वह अत्यन्त उपयुक्त है। प्रयोगवाद के सम्बन्ध में उनके विचारों का निष्कर्ष इस प्रकार है—

‘प्रयोगवाद हिन्दी में बैठे-ठाने का जन्मा बन कर आया था। प्रयोगवादों के पाठ न तो काव्य-सम्बन्धी कोई कोसल या धीरे न किसी प्रकार की कथनीय वस्तु थी। धीरे-धीरे इस मन्त्राक्ष में भी सञ्चाई जान पड़ने लगी और कुछ समय इस अर्धहीन वस्तु में भी एक नए ‘बाद’ की सम्भावना देखने लगे। अन्त में यह भाषा-सम्बन्धी बीहड़ प्रयोगों का अद्भुत बन गया जिससे पाठकों को भी बोझ-बहुत हिसपस्ती होने लगी। भाषे चलकर इसमें टी एच इन्डियन की संज्ञा में साधुनिक जीवन के कोललेपन का परिचय कराया जाने लगा। यह बाद हिन्दी में धारण से ही मध्यमों के हार बाएँ और फिर भी चौकीन तबियत वाले व्यक्तियों के हाथ में रहा है। पिछले कुछ दिनों से इसमें इन निष्क्रिय व्यक्तियों की निराशा और विरह हुआ मन प्रतिबिम्बित होने लगा है। आश्चर्य नहीं यदि निकट भविष्य में यह बड़ी रक्त धारण करे जो परिचय में अनि पचाव नादियों (Surrealistic) की रचनाओं ने धारण किया है।

अन्त्यात्म वाद-समीक्षाओं को प्रति वाजपेयीजी के विचार

१२६ वाजपेयीजी के छायावाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद विषयक विचारों का विशेष उल्लेख इसलिये किया गया कि उनका बाद में हमारे साधुनिक साहित्य के तीन प्रमुख रंग रहे हैं जिसका रचनात्मक तथा समासोपनात्मक साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। उन्होंने धारण और यथार्थ की जीवन दृष्टियों का भी विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य का ऐतिहासिक अनुक्रम में विस्लेषण करते हुए किया है। इन भावों से सम्बन्धित विचारों को सूत्र प्रस्तावी में प्रविष्टित करने की वाजपेयीजी में पूर्ण शक्तता है।^२ यूरोपीय संसार में ग्रीक-साहित्य से लेकर साधुनिक

१ प्रयत्न आचरे, छार छपक।

२ ६ अन्तर्गत वाजपेयी: ‘यस साहित्य ने प्रसन्न’ पञ्चमसि मन् १९३९ विद्यन पृ २१।

३ ५० अन्तर्गत वाजपेयी: साधुनिक साहित्य निर्माण संस्करण नं २ १३ मि १९४८।

प्रकार की है—

१२७ “जसमी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोज्य क्षेत्रों में जाने की स्वामा-
निक प्रेरणावश सीधी-तिरछी सड़कों सीने या छस्ते घबड़ों धाबि का उपयोग करते हुए कभी
किसी विषय पर सहमत न होने वाले प्रत्येकियों की रचना।”^१ स्पष्ट है कि बाजपेयीजी ने इस
परिभाषा में प्रयोगवादी काव्य-विस्लेषकों का मूल दृष्टिकोण प्रदर्शित कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने
प्रति प्रच्छन्न अर्थ और सांसारिक आशय की भावनाओं का भी समावेश है। जिस प्रकार उन्होंने
‘प्रयोगवाद’ का सांसारिक स्वरूप उद्घाटित करने के पूर्व उसके प्राविष्कार-कर्ताओं की वास्तविकता
का विवेचन किया है, उसी प्रकार उसके आधार पर विमिश्र उक्त परिभाषा के द्वारा इस काव्य के
प्रति अपने निष्कर्ष निकाले हैं। उदाहरणार्थ ‘जसमी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति’ से उन्होंने इस
बाधा के कवियों पर ‘एक घटितरिक्त बुद्धिवादिता का आचम’ तथा ‘कवि-धर्म के धामा’ का नार
माला है।^२ जो प्रयोज्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणा’ में वैचित्र्यवाद की इसकी भावना का
प्रामाण्य पता है। जिसके कारण प्रयोगवादी काव्यकार सीधी-टोपी सड़कों और सीने-छस्ते घबड़ों
को चुनते हुए अपनी कलाविहीन घटाद्विस्तित सजि का ही परिचय देते हैं।^३ उनके मतानुसार
प्रयोगवादी काव्य-संस्थाओं की कृतियों में धातुनिक मनोविज्ञान की प्रतीति मिलती है। उनके मतानुसार
की बहुमता की भ्रमक मने ही मिल सके किन्तु उनका इस प्रकार का प्रयोग-वाङ्मय वास्तविक
साहित्य-सूचन का स्थान प्राप्त करने में असमर्थ ही माना जायगा।^४ बाजपेयीजी के इस विस्लेषण
से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे काव्यारम्य सुकम और प्रयोग में मौलिक अन्तर मानते हैं और
उनके मतानुसार कवि का सर्वप्रथम उत्तरदायित्व अपनी रसात्मक अनुभूतियों के प्रति होता है जबकि
प्रयोग की ही सब कुछ मानने वाला साहित्यकार उसकी मूल वेदना से बहुत अधिक दूर और हटा
हुमा रहता है। उन्होंने प्रयोगवाद की परिभाषा के छिछरे वाक्यांश ‘कभी किसी विषय में सहमत
न होने वाले प्रत्येकियों’ का विस्लेषण करते हुए बड़ी संकेत किया है कि इस प्रकार की दृष्टि
सामाजिक सहयोग की भावना के स्थान पर एक ऐसी उपेक्षा-भूति का प्रदर्शन है जिससे समाज
कल्याण की कोई माशा की ही नहीं जा सकती।^५ अभिप्राय यह है कि बाजपेयीजी की दायता
वे कवि का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत अनुभूति के साध-साध सामाजिक जीवन और काव्य-सत्ता के
ति विशेष रूप से होगा चाहिए और प्रयोगवादी रचनाओं में उनमें से किसी भी पक्ष की पुष्टि न
मिलने के कारण वे काव्य-क्षेत्र में परिगणित होने की क्षमता नहीं रखती।^६

१२८ बाजपेयीजी का प्रयोगवाद-विषयक विवेचन अत्यन्त व्यापक और सुनिश्चित
है। उसका सुस्रोतार सुवीन समासोचना में इसलिए और भी अधिक महत्त्व है कि उसके कारण
अनेक प्रयोगवादियों की विचारणाओं में इसविषय और भी अधिक महत्त्व है कि उसके कारण
वे परिचित होकर धर्मयुक्त के सही मार्ग की ओर उन्मुख होने के लिए सचेष्ट बने हैं। वस्तुतः
प्रयोगवाद के नाम पर जब साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रकार का विचलनशील वातावरण
बनने लगा तो और साधारण तथा प्रगतिवाद को कमजोर ‘हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का
मानसिक ट्रेज’ तथा ‘विविध इच्छाओं से मिलित होने वाली बीजरा की सीमा पर पहुँचा

१. १ मंत्रमुक्त के बनें
२. श्री, १५ ७२ ७५ ।
३. श्री, १५ ७५ ।
४. श्री, १५ ७७ ।
५. श्री, १५ ७७ ।
६. श्री, १५ ७८ ।

सांसारिक साहित्य : विवेक उत्तरदाय, स १ ११ वि० १५ ७५ ।

स्पष्ट करने का साहित्यिक विधान सिद्ध किया है।^१ इसी प्रकार उन्हें मृदु नायक का बुद्धिवाद काव्य में निहित प्रेमलीयता के तत्त्व को उद्घाटित करने की विद्या में अनुमिति सिद्धान्त की अपेक्षा एक कदम आगे गया है।^२ तो अभिनवगुप्त का अभिन्नचित्तवाच्य ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करना हुआ 'सहृदय द्वारा किए जाने वाले रसास्वाद्य के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृति करना हुआ प्रतीत हुआ है।^३ अभिप्राय यह है कि आचार्य बाजपेयी के मत से रस-निष्पत्ति विषयक वे चारों सिद्धान्त कमरा काव्य की प्रेमलीयता और काव्य-रस के वास्तविकता की समस्या को समझने का प्रयत्न करते हैं जिनकी क्रमबद्ध योजना को देखकर यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ब्रह्मन्त मत के रहते हुए भी अपने अपने स्थान पर योगात्मा श्याव और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वनि-मत का निष्कर्ष हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियाँ निरर्थक नहीं हो जाती।^४

साधारणीकरण और बाजपेयीजी

१३१ बाजपेयीजी की इसी वैज्ञानिक विवेचना के प्रसंग में उनके साधारणीकरण विषयक विचारों की जानकारी भी आवश्यक है। वास्तव में 'साधारणीकरण' का मूल सिद्धान्त मृदुनायक के 'बुद्धिवाद' के अन्तर्गत अभिहित है, जिसमें आचार्य ने अनुमान के स्थान पर मानव काव्य का प्रयोग सांख्यीयता के अधिक निष्कट रूप कर दिया था और जिसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि अभिनव में भावना-व्यापार द्वारा नायक और नायिका का स्वस्म निर्बिम्बत्व या साधारणीकरण को प्राप्त होता है जिसे देखकर साधारणिक अभिनेता या नट में नायक का अनुमान कर एक सुखद भ्रम में पड़कर दोनों के अन्तर को भूल जाता है। इस सिद्धान्त को लेकर साधुनिक हिन्दी समालोचना में भी अनेक प्रकार के मतभाव पसे हैं और जिनका प्रादुर्भाव नहीं है। मत बाजपेयीजी ने विवेचन की तथ्यपरकता की दृष्टि से साधारणीकरण का सर्वे इस प्रकार स्पष्ट किया है —

“साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और श्रोता) के बीच भावना का सादरत्व ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विधेय का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के अर्थ पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।”^५ उन्होंने इसी प्रसंग में जब प्रश्नों का भी निश्चय किया है जो साधारणीकरण के साथ साहित्यिक विधि में जोड़ दिए जाते हैं जैसे देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रति भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को न होना चाहिए। बाजपेयीजी को इन प्रकार की बलीयें साहित्यिक सगती हैं क्योंकि उनके मतानुसार 'रतिव्यथा या कवि के लिए भी तो व देवता या पूज्य चरित्र अपने ही पूज्य हैं जिन्हें दर्शन या भोवा के लिए। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नहीं है।”^६

१ ५ कन्दुपद बाजपेयी साधुनिक साहित्य : द्वितीय संस्करण में पृ. १३३ में स्पष्ट है।

२ ५६, १७४-१७५।

३ ५६, १७४-१७५।

४ ५६, १७४-१७५।

५ ५६, १७४-१७५।

६ ५६, १७४-१७५-१७६।

साहित्य पर्वन्त प्रायः धीर यथार्थ का निर्वाह बिना साहित्यकारों में जिन-जिन कर्मों में भिन्नता है उसका सामान्य परिचय देकर उन्होंने प्राथमिक साहित्य की मूल भावना को हृदयंगम करने के लिए एक प्रकार से पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी है। उनके इस विवेचन से यह ज्ञानित होता है कि वे काव्य में कल्पना का यथेष्ट संयोग होने के कारण उसमें धारार्थवाद का निर्वाह अधिक उचित समझते हैं जबकि उनके मतानुसार उपन्यासों और कहानियों में यथार्थवादी दृष्टि की अधिक गुंथाइय हो सकती है। यह सब कुछ होते हुए भी वे यथार्थ और धारार्थ के संतुलन की महत्ता कम नहीं मानते। जब तो यह है कि उन्हें साहित्य में किसी भी बात की अतिरेकता पर विश्वास नहीं है। उन्होंने नार्मिक और नैतिक मूल्यों को प्रधानता देकर चलने वाले धारार्थवाद के लिए यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है तो प्राथमिक धारार्थवाद में मार्क्सवादी इन्डाल्मिक शोषिकवाद तथा फायद और एक्जर के सिद्धान्तों के अनुयायी अतत्वेतमावाद के दुर्बल पक्ष का भी उद्घाटन किया है जिनके अध्ययन से बाजपेयीजी के इन बातों की साहित्यगत महत्ता विषयक विचारों का उद्भव ही बोध हो जाता है।

१३० बाजपेयीजी ने पश्चिमी काव्यगत के मूल प्रेरक अनुकृतिवाद का विश्लेषण ज्येठो और मरस्तु की विचारधारा के अनुक्रम किया है जो सामान्यतः परिचय-मूलक कहा जा सकता है। उन्होंने जोड़े के अधिभ्यंजनावाद का विश्लेषण करने के पूर्व युरोपीय काव्य-साहित्य के क्षेत्र में किए गए संक्षिप्त विवेचन तथा कांट के उन धीन्यमूलक और कदाचित्त्विक विचारों का उद्घाटन किया है जिससे जोड़े को काव्यगत अधिभ्यंजनावाद की प्रतिष्ठ करने में प्रेरणा मिली है। उनके जोड़े के अधिभ्यंजनावाद विषयक विवेचन में उक्त बात की प्रमुख विधेयताओं के साथ-साथ इस विषय का भी सामान्य निरूपण हो गया है जो जोड़े के अधिभ्यंजनावाद के सम्बन्ध में धारार्थ करते हुए विवेचित किए जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में परम्परा (क्लेसीसिज्म) और स्वाभ्यस्तता (रोमैटिसिज्म) सम्बन्धी जिन दो प्रमुख काव्य-वैधियों का युग-परिस्थिति के अनुक्रम जिस रूप में विकास हुआ है उनका मूल बिन्दु स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह बतवाया है कि प्रथम प्रकार की धीनी में वस्तु और धीनी दो पृथक् सत्ताएँ हैं जबकि द्वितीय प्रकार की धीनी में काव्य की मूल वस्तु भावना है जिसके अन्तर्गत उसके अन्य उपादान सम्निविष्ट किए जा सकते हैं।^१ पश्चिम के इन विभिन्न काव्य-मार्गों के अतिरिक्त बाजपेयीजी ने भारतीय काव्य-मार्गों का भी विवेचन किया है जिनमें 'अलंकारगत रोमिगत पुसमत् बल्लेक्षितमत् ज्वलितमत् और रसमत्' प्रमुख हैं। इस विवेचन द्वारा भारतीय काव्य-साहित्य में विकसित होने वाले उपर्युक्त मार्गों का क्रमिक विकास तथा उनकी मुख्य विशेषताओं का उद्घाटन हो गया है। किन्तु साथ ही साथ उनके महत्त्वपूर्ण संक्षेप पर अनिवार्यतः बाजपेयीजी की मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण हुआ है। उन्होंने ज्वलित और रस-सिद्धान्त पर नवीन विधि से दृष्टिपात करते हुए उन्हें प्राथमिक मनोविज्ञान तथा धीन्य-साहित्य के विज्ञान द्वारा जिस रूप में विवेचित किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में उनकी यह उपलब्धि विशेष जल्लेखनीय है कि 'अरुण भूति के नाट्यसाहित्य में प्रतिपादित रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र के आधार पर धारार्थ मद्द बोस्तन ने उत्पत्तिवाद धारार्थ संयुक्त ने अनुमितिवाद, धारार्थ मद्द नायक ने बुद्धिवाद और धारार्थ अतिव्यवृत्त ने अधिभ्यंजितवाद को प्रधानता देकर काव्यः जिन कर्मों में धपना विवेचन प्रस्तुत किया है वह बरत्सर विरोधी न होकर क्रमागत परम्परा का ऐसा विकास है जिससे तत्त्वोपलब्धि की चेष्टाएँ सर्वत्र अन्तर्भूत रही हैं। उन्होंने सोलवट के उत्पत्तिवाद को काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से सम्बन्धित बतवाया है तो संयुक्त के अनुमितिवाद को 'अधिभय-योगिता द्वारा रस-प्रक्रिया' को

१. ५. नन्दगुप्ते कवरीजी : प्राथमिक साहित्य विज्ञान संस्करण; सं. २ १३ मि. पृष्ठ ४४४।

२. यही, पृष्ठ ४२६

त्रिक या साहित्यिक अर्थ-व्यापार या बाव से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं।^१ इस प्रकार उनके मतानुसार मानव-कल्पना का अनुभूति-भोक्त निरवधोर आस्वय है और साहित्य-वरीक्षण में इस सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

साहित्य और सामाजिकता का सम्बन्ध

११४ बाजपेयीजी के साहित्य और सामाजिक प्रवृत्ति-विषयक विचार भी पठिष्ठ्य हैं। उन्होंने बतसाया है कि मार्क्स ने धर्म-योजना को लेकर साहित्य की सामाजिकता का जो वैज्ञानिक निष्कर्ष किया है वह मान के औचित्यकारी संवर्ण तथा देश की परिस्थिति की दृष्टि से यथेष्ट समुचित है किन्तु उसे इस प्रतिपाद एक बसीट कर ले जाना कि साहित्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और वह किसी सामाजिक यत्न-विधेय का अनुकरतु-मात्र है बाजपेयीजी को स्वीकार नहीं है।^२ उनका कहना है कि मार्क्स के सिद्धान्त को यदि कड़ाई से साथ साहित्य क्षेत्र में अपना लिया जाय तो हमारा बुढ़ना साहित्य किसी काम का नहीं रहेगा। उनके मतानुसार मार्क्सवाद का किसी भी मध्यम-बाव को काव्य की कसौटी बगाना ठीक नहीं है, क्योंकि वे बाव-सिद्धान्त किसी काव्य को प्रेरक क्षमिता, समय तथा सामाजिक कर्तव्य को समझने में सहायता दे सकते हैं किन्तु उन्हें काव्य का नियामक-पक्ष नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार बाजपेयीजी के मतानुसार कवि की सामाजिकता और मुन-विशेष की परिवर्तनशीलता का महत्त्व होने पर भी इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि साहित्य सामाजिक-इतिहास का धर्म-मान ही नहीं समितु वह एक स्वतन्त्र कला-वस्तु है जिसे वाली और मानव मानना का ऐसा साकार बीजव कहा जा सकता है जिसमें सामाजिकता-भाव का निर्झर ही सब कुछ नहीं होता।^३ ताल्ले यह है कि बाजपेयीजी साहित्य व समाज सामाजिक जीवन तथा सांख्यिक विचारपाठ्यों और मार्क्स का सम्बन्ध प्रत्यक्ष मानते हैं किन्तु यह सम्बन्ध अनुवर्ती कम में ही माना जाना चाहिए, क्योंकि साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और उसके प्रत्यक्ष ही सामाजिक प्रवृत्ति एक धर्म बनकर सा सकती है। साथ ही साथ बाजपेयीजी का यह भी कहना है कि यद्यपि अल्प हस्त, प्रवृत्त मुद्राक साहित्य विधेयों की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्राधिकार अनेक प्रकार और प्रवृत्तियाँ भी हो सकती हैं किन्तु उनकी बाध्य बहु क्कता में भी एक ऐसी अलम्बायिनी एकता भी रहती है जिसकी ओर करना अपने साहित्य का कार्य होता है। बाजपेयीजी ने अपनी इस भावना के अनुसार ही काव्य की परिभाषा करते हुए उसे 'प्रकृत मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहार देश सोमयमय विमल माना है या अनुप्य-भाव में स्वभासकः अनुकन भावोभ्युत्पन्न और सोमय-सवेदन उत्पन्न करता है। यही सोमय नैवेदन भारतीय शारिणाधिक प्रथावती में रस संज्ञा से अभिहित होता है।'^४

११५ बाजपेयीजी ने साहित्य की सामाजिकता और प्रवृत्तिशीलता को किसी स्वरूप या हस्तवत विचारपाठ में प्रकृत न कर उसे साहित्यिक कम में अवैधकर बतसाया है। उनकी तो मायदा है कि मानव-जीवन की धारत संवेदनाओं में ही संतुति के अनुकन विकास या प्रवृत्ति होता सामाजिक है और देश काव्य और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है जिसमें कवि की साहित्य क्षमिता से उसे और भी अधिक तीव्रता और समयता से प्रकृत करता है, जिसका परिभाषा यह है कि अपने कवि और साहित्यकार स्वतः ही प्रवृत्तिशील

१. ४. अनुवाद बाजपेयी : सांख्यिक साहित्य, दिल्ली साहित्य, सं० १ (१९५०) पृष्ठ १८८।

२. १९९, पृष्ठ १२७।

३. १९९, पृष्ठ १२८।

४. १९९, पृष्ठ १२९।

सैद्धान्तिक पक्ष और साम्यताएँ—साहित्य का प्रयोजन और आत्मानुभूति

१३२ पर्याप्त आलोचकों की प्राप्ति बाबुपेयीजी भी साहित्य का मूल प्रयोजन या हित आत्म-
नुभूति मानते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि 'साहित्य की सृष्टि आत्मानुभूति की प्रेरणा से होती
है।' वेते तो आत्मानुभूति धर्म दर्शन-शास्त्र का ही धीर उस पर भिन्न-भिन्न सार्धनिक प्रत्यय
प्रसन्न मत रखते हैं किन्तु बाबुपेयीजी उस उद्घापोह में न जाकर केवल साहित्य-क्षेत्र में अनुभूति
धर्म की व्याख्या ही पर्याप्त समझते हैं। उन्होंने मोस्माजीजी के स्वान्त सुझाव भाव का विरसे
प्रत्य करते हुए रचनाकारों के सिद्धान्त-निरूपण के आधार पर यही बात सिद्ध की है कि साहित्य
भाव के मूल में अनुभूति या भावना ही रहती है जिसकी सत्यता रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से ही
स्पष्ट की जा सकती है।^१ इतना ही नहीं बाबुपेयीजी काव्यगत अनुभूति की व्यापकता भारतीय
साहित्य-शास्त्र के ध्वनि-सिद्धान्त से भी निरूपित करते हैं। उनका कथन है कि "काव्य और साहित्य
की बाहरी रूप रेखा के सम में आत्मानुभूति या विभाजन-व्यापार ही काम करता है। काव्य की
सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकसम्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। सम्पूर्ण काव्य किसी रस
को प्रतिबिम्बित करता है। काव्य का वह रस किसी स्थायी भाव का प्रतिबिम्बित होता है और वह
स्वाधीनभाव रचयिता की अनुभूति से उत्पन्न प्राप्त करता है।"^२

१३३ बाबुपेयीजी ने अनुभूति के विवेचन के प्रसंग में वर्तमान युग के प्रविष्ट कलापालवी
मतिहीनो ज्ञेयों को भी लिया है जो काव्य या कलाओं के रूप में की गई प्रतिबिम्बित को ही अनुभूति
मानता है। ज्ञेयों का कहना है कि अनुभूति हमारे आत्मिक व्यापार का ही परिणाम है जो सीम्बल-रूप में
प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रह सकता तथा जिसकी प्रकटता देखकरात्मकचित्त होती है। बाबुपेयीजी ने
ज्ञेयों की इस स्थापना के निकट भारतीय विचारधारा को भी ला रखा है और यही सिद्ध किया है कि यही
पर ही काव्य की जो सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता जिस रूप में सिद्ध की गई है उसमें अनुभूति की
प्रकट एककता का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। बाबुपेयीजी स्वयं इस मत से सहमत हैं और जो
आलोचक व्यक्तित्व और वस्तुगत के नाम से काव्य के जो विवेक करते हैं उनमें वे विशेष प्रकट
करते हैं, क्योंकि अनुभूति के क्षेत्र में व्यक्तिकता और वस्तुपरकता प्रत्यय प्रतिबिम्बितकता और
आत्मनिर्भर-हीनता का विभाजन अनुचित है।^३ इसी दृष्टि से बाबुपेयीजी महाकाव्य अथवा
काव्य और प्रगीत-मुक्तक इन सबको अनुभूति की दृष्टि से सवाल-भूमि पर स्वीकार करते हैं और
किसी रस-विवेक की रचना को किसी अन्य रस की रचना से भेद या हीन मतमाना भी प्रत्या
हारिक मानते हैं।^४ अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने मूल और तुलसी देव-विहारी
कबीर और बापजी धारि के काव्य का विवेचन करते समय उन्हें अनुभूति के दृष्टि-बिन्दु से समान
स्तर का सिद्ध किया है और मुसलजी के शोकरंजन और शोकरंजण तथा शक्ति शील और
सीम्बल के प्रतिमान को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। वस्तुतः बाबुपेयीजी के मतानुसार अनुभूति और
प्रतिबिम्बित में ऊपरी दृष्टि से सापेक्षता रखते हुए दोनों की प्रत्यक्ष प्रत्यक्षता में सम्यक् नहीं किया
जा सकता और जो समीक्षक आत्मानुभूति को मौलता देकर प्रत्यक्ष दृष्टियों से किसी साहित्यकार की
कविता का मूल्यांकन करते हैं, वह बाबुपेयीजी को स्वीकार नहीं है। उनका जो दृढ़ विश्वास है कि
'आत्मानुभूति स्वतः एक प्रकट आत्मिक व्यापार है जिसे किसी भी सार्धनिक राजनीतिक सामा

१ ४ सम्प्रदायों काव्येयी आधुनिक साहित्य विवेक संस्करण अ २ १३ वि पृष्ठ ४८४।

२ श्री, पृष्ठ ४६२।

३ श्री, पृष्ठ ४६६।

४ श्री, पृष्ठ ४६६।

५ श्री, पृष्ठ ४६८।

यथाय जीवन की कल्पना में सहायक-भाग बन सके। तभी तो बाबूजीजी ने महान् कलाकारों के विषय में अपना यह निष्कर्ष प्रदान किया है कि वे बेध-काज की सीमा रम करने में ही सुख पाते हैं और सामाजिक समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। संक्षेप में साहित्य और जीवन के पूर्वापर सम्बन्ध विषयक बाबूजीजी के विचार इस प्रकार के हैं—

‘साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं जीवन की वे कामनाएँ, जो धनस्त जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की साक्षात्-दर्शक भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का निषादक और मार्ग-भ्रष्टा भी रहता था।’^१

व्यावहारिक समीक्षा और उसके विषय

१२७ जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत कर दिया गया है कि बाबूजीजी मुख्यतः धार्मिक साहित्य के समासोचक हैं, मगर उन्होंने धार्मिक साहित्यकारों के साथ उन कृतियों का भी विशेष रूप से मूल्यांकन और समीक्षण किया है जो धार्मिक युग में महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं। ‘साकेत’ कामायनी ‘कुप्लेन’ ‘कुल्लाक’ ‘कुप्लासन’ जैसे कान्ठों और ‘बोदान’ ‘स्वावपन’ और ‘देवद’ एक जीवनी’ जैसे उपन्यासों को ऐसे विविध विषयों में प्रदानता भी गई है। इस प्रकार की समीक्षाओं से बड़ी एक ओर विविध रचनाओं के व्यस्तता और बहिरंग पक्षों का सूक्ष्म पथवेक्षण हुआ है, बड़ी दूसरी ओर उनके रचयिताओं के मानसिक विकास का विस्लेषण भी सुगम परिस्थिति तथा आंतरिक प्रेरणाओं को सम्बन्धित बनाकर किया गया है। इन विवेचनाओं में विविध विषय के साथ-साथ तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग है, जिसके द्वारा समासोचना का स्तर अधिक प्रमासुसम्मत और व्यापक बन गया है। इस प्रकार की विवेचनाओं से पाठकों को केवल समासोचक कृति की ही जानकारी नहीं होती अपितु उसके सुगीत चरित्र पर विकसित होने वाली प्रत्याश साहित्यिक प्रवृत्तियों की भी समझता हो जाती है। ऐसी समासोचना में बाबूजीजी का दृष्टिकोण रचनाही पाठक का ही विशेष रूप से रहा है और वे उन प्रयोगों को भी प्रकट करते हैं जो उनके मानस पर कृतियों के अध्ययन के समय यथासमय प्रकट होते रहे हैं। इस प्रकार की विवेचनाएँ उनके सीधे-विषादक और स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की विशासिकाएँ हैं जिनमें प्रयत्न व्यासारात्मक पद्धतियाँ इस विषय का अखण्ड प्रमाण हैं कि बाबूजीजी आस्थात्मकता का परिपालन में ही समासोचना की पद्धति नहीं समझते अपितु वे उसे जीवन दृष्टि के साथ प्रवृत्तिहीन बनाकर चलने में ही पूर्णता का अधिकारिक आभास पाते हैं। उन्होंने इस प्रकार की समासोचनाओं द्वारा जहाँ एक ओर अपने मनोमुक्त साहित्य रचनाओं के गुणों की प्रशंसा तराबामिनिवैली प्रशंसा को आधार बनाकर की है, बड़ी दूसरी ओर उन माध्यमों और यन्त्रों का तीव्र सन्दर्भ में प्रदत्त भी किया है जो उन्हें आवश्यक प्रयत्न साम्प्रदायिक-मान्य प्रतीत हुए हैं। तब तो यह है कि बाबूजीजी को रचना तथा भीमांता का सीधे-विषादक और जीवन-निष्पन्न पक्ष का केवल यही स्वयं विवेक प्रिय है जिसमें प्रचारवादी दृष्टिकोण को महत्त्व न देकर सभी आस्थाविश्वसित से साहित्य-निर्माण किया गया हो। इस प्रकार की समासोचनाओं में वे सर्वत्र स्पष्ट और संतुष्टि बनकर चलते हैं जिनकी प्रणालिका का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। उक्त कृतियों के विवेचन के अन्तर्गत बाबूजीजी न यथाप्रसन्न सैद्धांतिक गुणों की भी प्रवृत्तारणा की है और उनके प्रतिमाओं पर व्यावहारिक पक्ष का

होते हैं किन्तु वह प्रवृत्तिशीलता किसी विशेष प्रकार में ही न होकर सामाजिक प्रेरणाओं स्वयं और प्रवृत्तियों को प्राप्त होकर सामाजिक प्रेरणाओं के प्रबल में होनी चाहिए।^१ बाजपेयीजी की प्रवृत्तिशीलता विषयक धारणा इतनी व्यापक भूमिका पर आधारित है जिसमें कामिदास, जेनसपीयर, होमर, मिस्टन, वात्समीकि, व्यास, सूर, तुलसी, कबीर आदि प्राचीन काव्यकार और वर्तमान तथा भविष्य के साहित्यकार भी अपनी विरलतम भावनाओं के रस-संवेद्य चित्रण में आ जाते हैं। साथ ही साथ बाजपेयीजी का उन सभी लोगों से भी इस विषय में स्वतः विरोध प्रकट हो जाता है जो प्रवृत्तिवाद के नाम पर तथाकथित प्राचीन कवियों को प्रतिपादनी प्रतिक्रियाशील धारणा पिछड़ा हुआ करते हैं। ऐसे समालोचकों के सम्मुख मैं बाजपेयीजी की यह धारणा है कि “वे काव्यकारों का मूल्यांकन विपुल काव्य-दृष्टि से न कर केवल उस सामाजिक संयोजन से करते हैं जिसमें काव्य की रचना की जाती है।”^२ यद्यपि बाजपेयीजी के मतानुसार किसी बात या संकीर्ण विचारवाच को ही काव्य का प्रतिमान स्वीकार करना भी ठीक नहीं कहा जा सकता। जो लोग यह मानते हैं कि परिस्थिति के परिवर्तनों के साथ-साथ समाज की नैतिक और धार्मिक मर्यादों बदल जायेगी और काव्य की भाषा में भी अन्तर आ जायगा वह भी बाजपेयीजी की दृष्टि में प्रमत्त धारणा है। उनकी मान्यता में बाह्य की अपेक्षा जीवन की व्यापकता को काव्य में प्रथम मिलना चाहिए और काव्य में बाह्य की स्थिति एक समुचित और संतुलित सीमा-रेखा में ही समझी जानी चाहिए, अन्यथा उन्हीं को प्रचानता देने से जीवन की सम्युक्त संवेदना अस्पष्ट-अस्पष्ट हो जायगी जिससे उसका जीवनरस खूबने लगेगा।^३ वे काव्य का कार्य संवेदना की सृष्टि करना और बाह्य का कार्य केवल एक देशीय ज्ञान-विस्तार करना मानकर अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि “काव्य और बाह्य दोनों मानव-जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं और वे एक-दूसरे के सहकारी होते हुए भी अपनी कार्य-क्षेत्रों में भिन्न हैं।”^४ इस प्रकार साहित्य और सामाजिक प्रवृत्ति का पुनर्परिचय सम्भव है इसका धामास उक्त विवेचन से निरन्तर प्राप्त किया जा सकता है।

साहित्य और जीवन-विषयक दृष्टि

१३६ बाजपेयीजी साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में मानते हैं और उसको समझने में देश-काल की सुविधा के मोड़ में पड़ना उचित नहीं समझते। उन्होंने उन विचारकों से अपना मतभेद प्रकट किया है जो साहित्य को राजनीतिक और सामाजिक धान्दोसनों के धागे प्रपञ्च कर उसकी स्वतंत्र सत्ता पर प्रत्यक्ष प्रहार करने लगे हैं। साथ ही साथ उनका जीवन से अविभाज्य अत्यन्त व्यापक है। वे जीवन की तुलना ऐसे धारा-जवाह से करते हैं जिसकी प्राणधामिनी और रमणीय बूँदें साहित्य में एकत्र की जाती हैं।^५ उनके मतानुसार “जीवन के अन्तर्गत धाराधाम में साहित्य के विविध गहन धान्दोस-विवरण करते हैं।”^६ वे साहित्यकार को केवल युवीन परिवेश में ही अन्तर्गत करना उचित नहीं समझते क्योंकि वह वर्तमान में रहता हुआ भी अतीत और भविष्य को प्रकट कर रहा है। उनके मतानुसार महान् कलाकारों के लिए सामाजिक जीवन का केवल इतना ही महत्त्व है कि वह उनके द्वारा चित्रित किये जाने वाले विपद्, सर्वकालीन

१. वे. अन्तराष्ट्रीय साहित्यिक विचार-संस्कार सं. २, १३ वि. पृष्ठ ४२।

२. वही, पृष्ठ ४२।

३. वही, पृष्ठ ४२।

४. वही, पृष्ठ ४२।

५. वही, पृष्ठ ४२।

६. वही, पृष्ठ ४२।

पुरुष-सूक्त में पाई जाती है और इसी प्रकार नवधा भक्ति के सामान्य सधर्मों की भूमिका भी। बाजपेयीजी ने अपने इस विवेचन के क्रम में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर जीवन-दर्शन की विकसित परम्परा में भक्ति के विकास को देखा है। वेदोत्तरकाशीन उपनिषदों के विभिन्न उद्धरणों और शाङ्खायन-ग्रन्थों के विवेक्य विचार-विन्यासों के द्वारा उन्होंने बतलाया है कि धाने पसकर रामायण और महाभारत-काव्य में धाकर भक्ति का जो वास्तविक विकास हो सका उसकी प्रवृत्ति किस प्रकार धनैक मोड़ सेठी हुई उन युगों की आस्थाओं के रूप में अभिव्यक्त हुई है। बाजपेयीजी ने भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानों की शोषों और अनुसंधानों की प्रचुर सामग्री अपने विवेचन को पुष्ट बनाने के लिए उद्धृत की है और इस प्रकार वे राम और कृष्ण की भक्ति का भारतीय जीवन में क्रमिक प्रसार अत्यन्त सुलभी मनोवृत्ति से दिखा सके हैं। कहा जा सकता है कि भक्ति की जीवन धारा मूक्त-काल के बराबर को पार कर और भीमद्वयामय में अपना व्यक्तित्व बनाकर भी रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क और कस्सम धारि विभिन्न धाराओं के विवेचन का विषय बनी उसका शरद्विध विवेचन बाजपेयीजी के इस निबन्ध से उपलब्ध हो जाता है। वस्तुतः सूर जैसे शक्त-कवि के काव्य का विस्लेषण करने के पूर्व इस प्रकार का विवेचन अनिवार्य था क्योंकि जब तक इन भक्ति के स्वल्प और विकास की परम्परा को न समझ लें, शक्त कवियों के इष्टिकोण की तात्त्विकता को अधिक हृदयवश नहीं बना सकते।

१४० बाजपेयीजी द्वारा लिखा गया 'महाकवि सूरदास' का द्वितीय अध्याय भक्ति का विकास को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत स्पष्ट करने की सामग्री से विभूषित है। यह विवेचन पुरातन दार्शनिक और तात्त्विक है जिसमें श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाईतवाद का विस्तार पूर्वक विस्लेषण कर रखा है जिसकी उपासना-प्रवृत्ति का सर्वोत्थान किया गया है। अपने विवेचन के स्पष्टीकरण के लिए बाजपेयीजी ने धनैक उक्तंउम्भत आधार भी उद्धृत किए हैं। उक्त पदान्त वे मध्वाचार्य के ईशवास के विस्लेषण में उतर आए हैं जिसमें विष्णु का सर्वोच्च परम तत्त्व कह कर उनके मिथ्याकार स्वप्न के विषय में यथ्य विवेचन है। नन्ध के ईशवाद की शाय-समी प्रमुख बातें उनके विस्लेषण में आ गई हैं, जिन पर धाने चलकर उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति का विकास हुआ है। इसी प्रकार इसी अध्याय में निम्बार्क के ईशवैतवाद का भी प्रमुख उपासनों के साथ दार्शनिक विवेचन है। बाजपेयीजी ने सबसे अधिक जानकारी भी बल्लभाचार्य के मुद्राईतवाद की कराई है जिनका पुष्टिमार्ग महाकवि नर के काव्य का दार्शनिक पक्ष बन कर आता है। अन्तर्गत इसकी धारद्वयता बाजपेयीजी को इसलिए भी प्रतीय हुई कि सूर का इष्टिकोण का साम्य धाचार्य बल्लभ के दार्शनिक सिद्धांतों के साथ परीक्षित हो सक और सूर का विज्ञान पाठकों को इस विषय में अधिक उत्साहना न गड़े कि सूर की भक्ति का तात्त्विक स्वप्न क्या है। जैसे वा मुद्राईतवाद का विवेचन भी अध्याय्य दार्शनिक सम्प्रदायों की प्रति अत्यधिक उदाहारों से संयुक्त है और उसके मुख्य दर्शन की भूमिका में धनैक प्रकार की उलझनें भी हैं, किन्तु बाजपेयीजी उनके फेर में न पड़कर उसके केवल उपासना स्वप्न का ही निराल करने में प्रयत्न हुए हैं जिसका द्वारा सूर की साहित्य-साधना और भक्ति-प्रवृत्ति को समझने में सुविधा हो गई है। कहा जा सकता है कि बाजपेयीजी के महाकवि सूरदास के य प्रारम्भ के शाना अध्याय हिन्दी-साहित्य में निरूपित भक्ति-साधना के विस्लेषण की एक कड़ी है और धाचार्य व रामानुज गुप्त के महाकवि सूरदास नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में एवद्विषयक का विवेचन हुआ है उसकी भूमिका को पुष्ट और भाषक बनाने का एक अधिक सोपान है।

१४१ बाजपेयीजी ने महाकवि सूर की जीवनी और उनके व्यक्तित्व में सम्बंधित आ विवरण उस पुस्तक के तृतीय अध्याय में किया है; उन्हे उक्त महाकवि के सम्बन्ध में प्राप्त मरी-मत्तव सामग्री का सम्बद्ध उपयोग होने के साथ-साथ उसकी जन्म-तिथि वध-वर्षिक और प्रति

घोर अधिक पुष्ट बनाया है। कई स्वतंत्र पर विवेच्य विषय को उपसीर्यों में विभक्त कर उन्होंने उन स्वतंत्रों की संकाशों का भी स्पष्ट समाधान किया है जिनके सम्बन्ध में साहित्य के इतिहासकारों और मूल्यांकनकर्त्ताओं में मतभेद है। अधिप्राय यह है कि बाबयेयीजी द्वारा सिद्ध की गई विभिन्न कृतियों की समीक्षाएँ स्वतंत्र सीर्यों में विवेचित होने पर भी हिन्दी-साहित्य के क्रमबद्ध विकास को ऐसी गृहबाधों में जोड़ती नहीं हैं जिनमें इतिहास-निर्माण की अद्भुत सक्ति स्वतः प्रतनिहित है। अपने विषय की परिमिति के कारण उनका स्वतंत्र रूप से विवेचन करने का यहाँ अवसर नहीं है फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि बाबयेयीजी के इस प्रकार के विवेचन में ऐसे अनेक सूत्र संश्लिष्ट हैं जिन्हें आधार बनाकर अनेक उदीयमान आलोचकों ने उनका माध्य किया है।

‘महाकवि सूरदास’ व्यावहारिक समालोचना का मध्य प्रतीक

१३८ सूर और तुलसी प्राथमिक हिन्दी समालोचना के सर्वाग्र विषय रहे हैं। समालोचना के संसर्ग-काल में इनकी परिचयमूलक जीवनी और ग्रन्थों की छेब ही समालोचकों की विवेचना का विषय रही थी किन्तु कालान्तर में उनके मावगत और कसामत पक्षों का उत्पादन भी होने लगा। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने ‘अमरपीठसार’ की भूमिका में सूर और ‘तुलसी ग्रन्थावली’ की भूमिका में तुलसी की अन्तः प्रकृति की ज्ञानवीन करते हुए उनके कार्यों का विविध दृष्टियों से व्यापक विस्लेषण किया था। विस्लेषण का यह कम क्रमशः धावे बढ़ता गया और अनेक विश्व विद्यापीठ शोधकों ने भी इनके जीवन और काव्य की अधिक से अधिक प्रामाणिक सामग्री देने की चेष्टा की जिनके अनुशीलनमूलक कार्यों पर विस्तरविद्यालयों ने उन्हें उच्चतम उपाधियाँ भी प्रदान कीं। समालोचना के प्रसार-काल में इस विषय का एक सौन्दर्यमूलक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का जिन आलोचकों ने प्रयत्न किया उनमें प्रायः के प्रमुख समालोचक पं. मन्दरुसारे बाबयेयीजी का स्थान अग्रगण्य है। उन्होंने ‘महाकवि सूरदास’ नामक अपने समालोचनात्मक ग्रन्थ में सूरदास के ‘काव्य जीवन और भक्ति’ का अन्तरय विवेचन किया है। इस पुस्तक का विषय-क्रम प्राठ अध्यायों में विभक्त है जिनमें क्रमशः ‘भक्ति का विकास’, ‘भक्ति सम्बन्धी साधनिक सम्प्रदाय’, ‘सूर की जीवनी और व्यक्तित्व’, ‘आरम्भपरक भावभूमि’, ‘वार्त्तिक पीठिका’, ‘सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष’, ‘अतीत-जीवनी’ तथा अन्त में ‘काव्य-सौन्दर्य’ का विस्लेषण हुआ है। बाबयेयीजी ने सूर-काव्य के विस्लेषण-पक्ष को आरम्भ करने के पूर्व प्राथमिक हिन्दी अनुशीलन और उसकी सीमाओं का एक सामान्य परिचय देकर प्रष्ट करने की चेष्टा की है कि प्रायः की समालोचना अपने पुरुषार्थों युक्त से अधिक विकास प्राप्त करती हुई जिन समाजसात्वीय और मनोविस्लेषक प्रक्रियाओं में समिट कर चल रही है, उनके एकांशी आधार पर सूर और तुलसी जैसे महात्मा और प्रतिनिधि कवियों का विस्लेषण करना अधोमनीय और अनुचित प्रयास है।^१ बाबयेयीजी का यह दृष्टिकोण समीचीन है क्योंकि इन समालोचनात्मकप्रवृत्तियों की एकापिता तत्त्व-मीमांसकों में अग्रकट नहीं है और कम से कम भारतीय विम्वन और साहित्याराधन से तो उनका मेत-बोध बहुत कम बैठ पाता है।

१३९. बाबयेयीजी का भक्ति का विकास विषयक निरूपण अत्यन्त गवयणापुल्ल है। उन्होंने विभिन्न ऐतिहासिक और वार्त्तिक अनुसंधानों का विवरण देकर बतसाया है कि वैदिक काल से ही भक्तिके बीजाक्षुर मन्त्र-हृष्टा अधियाँ द्वारा किस प्रकार प्रस्तुति किए गए थे और वे किस प्रक्रिया में भक्ति प्रार्चना और प्रकृति-मियामकों के प्रति यत्ना प्रेम और मय की सम्मिश्रित भावनाओं में क्रमशः विकसित होने लगे थे।^२ उनके यथानुसार समुल्ल अद्यतारवाह की भक्तिके देवों के

१ पं. मन्दरुसारे बाबयेयी महाकवि सूरदास सन् १९३९, ‘ग्रन्थमाला’, पृष्ठ १२।

२ पं. मन्दरुसारे बाबयेयी महाकवि सूरदास : सन् १९३९, पृष्ठ ४४।

जिस पर उन्हें धारणा विवर्धनकायम से ही सिद्ध की उपाधि प्राप्त हुई है। 'विचार और अनुमति' विचार और विवर्धन तथा 'विचार और निष्पत्ति' उनके समीक्षात्मक निष्कर्षों के संज्ञक हैं जिनमें सैद्धांतिक और व्यावहारिक समासोपनाओं का अर्थ सम्मिलित हुआ है। इन निरन्तर संज्ञकों द्वारा नयेन्द्रजी की विचारधारा का अध्ययन सम्यक रूप से किया जा सकता है। उन्होंने 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' तथा 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' लिखकर इस दिशा में भी अभिनव पथ प्रदर्शित किया है। सुमित्रामन्दन पंत के काव्य का समीक्षण तो सर्वप्रथम उन्हीं के द्वारा साधुनिक समासोपना विधा में किया गया। उनकी 'साकेत एक अध्ययन' नामक समीक्षा-कृति न कालांतर में 'एक अध्ययनमाला' लिखने की प्रेरणा दी किन्तु इसकी समता के अध्ययन बहुत कम प्रस्तुत किए गये। साधुनिक हिन्दी नाटक' में नाटक की प्रमुख प्रवृत्तियों के साथ-साथ हिन्दी के प्रमुख नाटककारों की मानसिक चरणा का भी निष्पत्ति हुआ है। सियासतद्वारा युक्त तथा साधुनिक हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियाँ उनके सम्पादन-ग्रन्थ हैं जिनमें उनके द्वारा विवेचन समासोपनात्मक निष्कर्षों का विवेक महत्त्व है। साधारण निष्पत्तिद्वारा अनुचित हिन्दी व्याख्यात्मक' हिन्दी ब्रह्मविद्या-जीवित' तथा हिन्दी काव्यात्मकता सूत्र का सम्पादन कर नयेन्द्रजी ने उक्त ग्रन्थों की जो विवृततापूर्ण भूमिकाएँ लिखी हैं उनमें भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास दृष्टिगोचर हुआ है। उन्होंने धारणा के काव्य-शास्त्र तथा सौमित्र के काव्य में उदात्त-उत्तर का अनुवाद तथा सम्पादन प्रस्तुत कर हिन्दी समीक्षा-अर्थ को इस दिशा में कार्य करने का नवीन मार्ग दिखाया है। उनका समीक्षण-कार्य अब भी चल रहा है जिससे भविष्य में साहित्य-समीक्षण के और भी उत्तमोत्तम ग्रन्थों की उपलब्धि की अपेक्षा सम्भवना है। निरन्तर ही उनकी समासोपनाओं में मनोवैज्ञानिक और स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का जो सुन्दर समन्वय हुआ है वह अत्यन्त कर्तव्य ही उपलब्ध हो। वैसे धारणावादी-ग्रन्थों से प्रभावित की जान बाकी उनकी कर्तव्य ही समसामयिक साहित्यसोपन से हैं। सम्बन्धित रहती हैं जिनमें साधारणतया पुस्तकालोचन प्रथम युग-निक्षेप की किसी सामान्य प्रवृत्ति प्रथम किसी साहित्यकार प्रथम कृति विषय का सामान्य निष्पत्ति प्रत्यक्ष सभी हुई गयी में होता है, जिसे समीक्षात्मक दृष्टि से निरन्तर ही पौरुषपूर्ण माना जायगा।

सैद्धांतिक साम्यताएँ और उनके प्रति दृष्टिकोण—'साहित्य की प्रेरणा' विषयक विचार

१४६ साहित्य की प्रेरणा के सम्बन्ध में अपना अत्यन्त प्रकट करने के पूर्व नयेन्द्रजी ने

कवि और सुन्दरी के परिस्वार की जो मधुर कल्पना की है वह एतद्परिपक्व बौद्धिक विवर्धन में ही एक प्रकार की रसोक्त कला उत्पन्न कर देती है। उन दोनों के बीच साधारण की प्रवृत्तिका माना स्वयं साक्षात्कार का ही प्रतिफल है, जो काव्य-सृष्टि और कवि-प्रेरणा के मध्य अपना आप्य प्रस्तुत करता हुआ उपस्थित होता है। वैसे ही हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र में जो कौब-बन की कला के अन्तर्गत महर्षि वाल्मीकि के मा निवार' स्तोत्र में काव्य की प्रेरक दृष्टि का अन्वेषण किया गया है किन्तु नयेन्द्रजी ने उसके प्रतिरिक्त भी काव्य-प्रेरणा प्रथम काव्य-प्रमाणन से सम्बन्धित सामान्य विचार मर्यादा का अन्वेषण कर जा निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त साह्य और व्यापक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन निष्कर्षों तक पहुँचने में नयेन्द्रजी ने कवि-हृदय की मूल सम्पत्ति की अनुमति की है और उनके मानस में उस अनुमति के फलस्वरूप जो प्रतिक्रिया हुई है वही उनके साहित्य की प्रेरणा-विषयक विचारों का सार बन गई है। कविता के जन्म के सम्बन्ध में उन्होंने जो मूल प्रेरणा मानी है वह अविश्वस्य न होकर लोकहृदय के अत्यन्त निकट है। वह एक ऐसा मूल है जिस पर किसी भी दृष्टिकोण के काव्यकार की अन्तर्प्रेरणा की सम्पत्ति जा सकता है। उनका मर्यादा धार और शीर्ष के उद्दिष्टन के एक बीजक के अन्तर्गत अभाव अविश्वस्य के लिए ब्रह्म पड़ते हैं सभी तो

उसके पिता प्रारम्भिक जीवन अन्त्यात्मता की छा-समय और उसके पश्चात् का बिबरण भ्रमर से भेंट सूर-नुलसी-मिसन तथा अष्टाष्टय में स्थापना-विषयक चोरी के प्रचुर ग्रंथ सम्मिलित हैं। यह सामग्री अन्तर्गत्य और बहिर्गत्य के प्रमाणों पर आधारित है जिसके निष्कर्षमें हमें यही कहा जा सकता है कि बाजपेयीजी के मतानुसार सूर अपने समय के एक महान् मन्त्र थे और उनके द्वारा पुष्टिमात्री भक्ति को सर्वोत्कृष्ट विकास प्रदान किया गया था। इसी धार्ये बसकर बाजपेयीजी ने सूर की आत्मपरक भावभूमि का जो विवेचन किया है वह अत्यन्त मौलिक और नई सूक्ष्म-दृष्टि से युक्त है। इस प्रकार का विवेचन हिन्दी-समालोचना की सुनसुती-अणु-आली को धार्ये बढ़ाने वाला कहा जा सकता है जो इस बात का स्पष्ट संकेत है कि मनोविश्लेषणवादी समालोचक अथवा मूल और एकरूप की सीमाओं में बंधकर साहित्य की मनोवैज्ञानिकता का बाह्य पैसा स्वेच्छावी विवेचन कर किन्तु मार तीव्र इन्ति उसे एक स्वस्थ बरातन पर विवेचित करने की कड़ी क्षमता रखती है। निश्चय ही बाजपेयीजी ने अपने प्रतिपादन में यह सिद्ध करने की पर्याप्त चेष्टा की है कि सूर की प्रत्यक्ष तन्मयता किस प्रकार स्वतः उनकी कविता की एक स्पष्ट विभूति बनकर प्रकट हुई है और उनकी कविता ने प्रचलित साहित्य-संस्कृति की पाश्चात्यपक्ष निर्धारित की हुई सीमाओं को पार कर किस रूप में नया विस्तार और जीवनदान दिया है।^१

१४२ बाजपेयीजी की समालोचना में ऐतिहासिक और व्यावहारिक पक्षों का मेल है। आचार्य कुसुम की भांति वे भी काव्य-कला और जीवन-वर्तन के विषय में अपनी निश्चित धारणा रखते हैं और अपने एक निर्धारित प्रतिमान से ही काव्यकारों और उनकी कृतियों का परीक्षण करते हैं। उन्होंने कला को रूप और अरूप दोनों के विषय में समर्थ बतलाकर उसे भी-बोना-सम्पन्न मारी-रूप में देखा है जिसके मोहिनी वेश में धार्यों की प्रतिमा सौन्दर्य राशि से अलंकृत होकर प्रकट होती है। वे कला की सर्वोत्कृष्ट सार्थकता इस बात में मानते हैं कि उसके द्वारा पारदर्शी रसिक-जनों को तो उसकी ऐतिहासिक उपलब्धि हो ही साथ-साथ उसका आत्मिक सामान्य जन सुमन भी हो काम।^२ इस प्रकार अपने इस प्रतिमान में उन्होंने सूर काव्य को आचार्यों के मार्जन और प्रकाशन में पूर्णतया समर्थ माना है और वे उसके आध्यात्मिक पक्ष का भी संस्तव कर सके हैं। बाजपेयीजी का यह विवेचन सूर-काव्य के प्रौढिक रसत्व की अभिव्यक्ति करने में भी समर्थ हुआ है और वे इसकी ऐतिहासिक पीठिका का निरूपण तो और भी कुशलता से कर सके हैं। बाजपेयीजी ने सूर की समालोचना में जिस सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष का विवेचन किया है वह उसके पूर्ववर्ती प्रत्येक ग्रन्थ समकालीन समालोचकों के दृष्टि-पथ में बहुत कम आया था और वे सूर-काव्य को केवल शौण्डर्य और कला की भूमि पर ही प्रतिष्ठित कर के देख सके थे जबकि बाजपेयीजी ने उसके उन्नत धरातलों का भी स्पष्टीकरण किया। इस विवेचन का मूल दृष्टिकोण यही स्पष्ट करने का है कि सूर-काव्य में किसी प्रकार की निवासवृत्ति अथवा अस्थायी शृंगारिकता के लक्ष्य पाया उसके मूल दृष्टिकोण को नहीं समझना है क्योंकि यदि इसमें इस प्रकार की कोई अन्तर्भावना होती तो वह भी शृंगारी कवियों की भांति भक्ति के पावन क्षेत्र में राम-कृष्ण के मुनिन का बहाना बन कर प्रकट होता।^३ वस्तुतः बाजपेयीजी ने मूल प्रश्न की आचार्यमिति पर इस प्रकार की मत प्रतिष्ठित कर धोके चिरोभियों का मुख बन्द कर दिया है विषेय रूप से वे वेकटेधनारायण ठिगारी की सूर-काव्य के शृंगारपरक दृष्टिकोण का तो उसमें खनन करने का पूरा

१ पं. नन्दकुमारे बाजपेयी: महाकवि सूरदास १४८-८९-९०

२ वही, पृष्ठ ८८।

३ वही, पृष्ठ ८८।

४ वही पृष्ठ ११४-११५।

इस प्रकार नगेन्द्रजी ने साहित्य घोर समीक्षा के विभिन्न ढंगों को लेकर अपने परिपक्व तथा परिमात्रित विचार साहित्य-जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किए हैं जो उनके समीक्षा-विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायक हो सकते हैं।

रस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१४१ भुक्तोत्तर-भुज के समालोचकों में नगेन्द्रजी का इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व है कि उन्होंने रस के स्वस्व को धार्मिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वैसे तो रस-स्वस्व के सम्बन्ध में भारतीय घोर पाश्चात्य दोनों में इतना अधिक विवेचन हुआ है कि उन सबका विश्लेषण स्वतः एक महान् ग्रन्थ का आकार धारण करने के लिए अपर्याप्त नहीं है। किन्तु नगेन्द्रजी ने उनके भाष्य में पाना विशेष उपयोगी न समझ केवल उनकी उन सारभूत प्रयुक्तियों का ही तत्त्वपूर्ण विवेचन किया है, जो इस विषय में महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र में सरल भुक्ति के नाट्य-शास्त्र से लेकर साहित्यदर्पणकार निखनाथ की प्रमुख मान्यताओं के विवेचन के साथ-साथ उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रमुख स्वप्न प्लेटो अरस्तु, प्लेटिनस कोषे जैसे इमूबाय डीवेल एडीसन तथा रिचर्ड व आदि विद्वानों की एतद्विषयक मुख्य धारणाओं का भी निरूपण किया है। घोर रस-स्वस्व के प्रश्न को मनो विज्ञान की दृष्टि से तीन दृष्टिकोणों से बुझाने की चेष्टा की है। (१) क्या काम्यानुभूति (रस) अनिवार्यतः मानवमयी होती है? (२) क्या काम्यानुभूति अनिवार्यतः ध्यातुभूति से भिन्न है? (३) क्या वह मानव प्रबोधित और निरामा है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए नगेन्द्रजी ने काव्य में निष्पन्न होने वाले ऐन्द्रिय आत्ययिक कल्पनात्मक सद्धानुभूतिजन्म तथा स्व-सापेक्ष इन दोनों प्रकार के धातव्यों का तार्किक विवेचन इनके प्रमुख समर्थकों की विचारधारा के अनुसार करते हुए ग्रन्थ में बड़ी सिद्ध किया है कि वे सभी मत अपना-अपना महत्त्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पुरे नहीं उतरते।^१ वस्तुतः रस के स्वस्व के विषय में उनका निजी मत बड़ी प्रतीत होता है कि वे उत्तम सिद्धांतों की प्रतिपादितों में विश्वास नहीं करते तथा ग्रन्थ में इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'काम्यानुभूति में एक और ऐन्द्रिय अनुभूति की स्मृतिता और तीव्रता नहीं होती और दूसरी और बोद्धिक अनुभूति की प्रकृति नहीं होती और इसीलिए वह पहली से अधिक उच्च परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरल होती है।'^२

नगेन्द्रजी के 'साधारणीकरण' विषयक विचार

१५ नगेन्द्रजी ने 'साधारणीकरण' पर अपना जो विचार प्रस्तुत किया है वह सात्वत-सम्मत और मौलिक है। उसके सम्बन्ध में प्राचीन काल में से साहित्य-शास्त्री विभिन्न शारीरिक बातों की ध्याना पर अपनी जो उद्भावनाएँ प्रकट करते या रहे हैं उनका नगेन्द्रजी ने तार्किक परीक्षण कर अपना व्यक्तिगत प्रकाशित किया है। उनके मतानुसार 'साधारणीकरण' का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना जिसका परिणाम यह है कि यदि किसी काव्य में दुष्पन्थ की अनुपस्थिति के प्रति रति प्रकट की गई है तो पोषा या पाठक उसका भावन करते हुए भाव की उस अवस्था तक पहुँच जाता है जहाँ वह रति अनुपस्थिति के प्रति दुष्पन्थ की न रहकर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति रह जाती है।^३

१ या नगेन्द्र : विचार और विवेचन रस का स्वस्व पृष्ठ १ ।

२ यही पृष्ठ ११ ।

३ यही पृष्ठ ११ ।

४ या नगेन्द्र : विचार और विवेचन : ग्रन्थ अंग १९४६, पृष्ठ ३ ।

कविता का बन्ध होता है। कविता के उद्भव के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् मानस और समाज की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य है—केवल मानस या केवल पीड़ा कविता की सृष्टि नहीं कर सकती।^१

१४७ नवेलज्जी के साहित्य-प्रेरणा विषयक सूत्र में 'काम' का भी बड़ा महत्व है। वास्तव में जीवन वय की कथा में भी उन्हें जीवन-विभूष में काम का ही संश्लेषित जिला है। यदि वे कस्तुर में समाज की पीड़ा पाते हैं तो काम में मानस का सम्मोह। वस्तुतः इन दोनों का संयोग ही काव्य-सृजन का मूल है।^२ यद्यपि वे भारतीय काव्य-शास्त्र में वर्णित काव्य के मूल अर्थ विवेचनार्थ प्रायः प्रयोगों को भी साहित्य की प्रेरणा के विषय मानते हैं किन्तु उनके मतानुसार उन्हें काव्य की प्रांतिरक प्रेरणा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार काव्य-सैतुषों में भी उन्हें साहित्य की मूल प्रेरणा नहीं मिलती। यद्यपि वे प्राचीन काव्य-शास्त्र में विवेचकों की निर्बन्धितक हानि के कारण काव्यकार की अन्तस्तेजसा के विस्फोट का समाज का देखकर इस सम्बन्ध में व्यापक मनोविज्ञान का ही सहारा लेता दृष्टि समझते हैं। उन्होंने भारत के अनुकरण-विज्ञान से लेकर हीरोस की सौन्दर्य-मुद्रति विषयक विवेचना कोके की कुछ सङ्कलनमुद्रति विषयक अभिव्यञ्जना और प्रत्यक्ष एकर तथा युग के मनोविश्लेषणकाव्य का सारांश प्रस्तुत कर अन्त में यही निष्कर्ष निकाला है कि काव्य के मूल में आत्मविश्वसित की प्रेरणा है और वह प्रेरणा स्वसित के अन्तरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उत्पन्न होती है। कहीं बाहर से काम-बुझकर प्राप्त नहीं की जा सकती। हमारे आत्म का निर्माण किन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-बुद्धि का प्रागल्भ्य है अतएव हमारे स्वसित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है और चूँकि अन्तः-साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में कामबुद्धि की प्रमुखता अविनाश्य ही है।^३

आत्मविश्वसित और साहित्य-सर्जना

१४८ नवेलज्जी ने जिस आत्मविश्वसित को काव्य की मूल प्रेरणा माना है उसके पीछे वे आत्म-रक्षण या जीवनरक्षा को आत्मविक्रम कहते हैं। उनकी आत्म-रक्षण की परिधि केवल स्वसित तक ही सीमित नहीं अपितु उसमें समाज देख तथा अखिल संसार का समावेश हो जाता है।^४ उनकी मान्यता है कि जब आत्मविश्वसित का ही दुःख नाम साहित्य है तो उसके द्वारा रस का मानस की उपलब्धि वैयक्तिक भाव से होती है। क्योंकि आत्मविश्वसित भी तो मानस का कारण बनती है।^५ वे आत्मविश्वसित के कारण ही साहित्य को भी वैयक्तिक चेतना मानते हैं, जिसके कारण साहित्य-निर्माता अपने अन्तःकरण से प्रभावित होता हुआ भी साहित्य-सर्जना के अर्थों में तो अन्तर्मुखी बन ही जाता है। साहित्य-निर्माण के इसी विज्ञान को नवेलज्जी ने समीक्षक पर भी बतिया किया है। उनकी दृष्टि में समीक्षा में भी समीक्षक की आत्मविश्वसित प्रबल है जिसमें भावुकता दृष्टिकता तथा भावविक संतुलन अत्यन्त आवश्यक है। वे साहित्य के अन्तर्गत दोनों की गति समासोपना में भी आभासशीलता को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि अन्तर्मुखता वह समासोपक अर्थात् रस-प्राप्ति पाठक के सुदीप्त रस को ही तो सर्व-मुख्य करने का प्रयत्न है।^६

१. य. अ. १००० : काव्य-विज्ञान द्वितीय बार सन् १९३१ पृष्ठ १।

२. य. अ. १००४।

३. य. अ. १००५।

४. य. अ. १००६।

५. य. अ. १००७।

६. य. अ. १००८।

रस में परिणत होता है' ^१ और पुष्पों और शकुन्तला आदि पात्रों के माध्यम से जब 'कवि की अपनी विशिष्ट रसि भावना का ही साधारणीकरण होता है' ^२ तो यह कैसे मान लिया जाय कि काव्यगत व्यक्तित्ववाद का सिद्धांत तर्कसंगत है। उन्होंने इमियट की इस मान्यता के प्रति भी आपत्ति की है कि कलाकार के लिए काव्यगत भाव के भौतिक रूप का अनुभव करना आवश्यक नहीं है। उन्होंने शेक्सपियर तथा तुलसीदास की प्राप्ति-सृष्टि में उनके उपचेतन मन की वासनाओं की अनिवार्य प्रेरणा मानी है, जिसके कारण वे अपने पात्रों का चरित्र-निर्माण कर सके थे। उन्होंने कवे की सहजानुभूति के साथ भी इमियट के सिद्धान्त का किसी प्रश्न तक साम्य निर्दिष्ट कर उनका उद्भव संस्कृत तथा पादचार्य साहित्य-शास्त्रों के मूल में अनुसंधित कर दिया है और साहित्य में वात्सा विव्यक्ति की सत्ता को महत्त्व देकर युक्तिसंगत विधि से व्यक्तित्ववाद की स्मृतताएँ प्रबलित की हैं।

साहित्य और आत्मानुभूति

१६३ नयेन्द्रजी के सैद्धांतिक विवेचन पर साधुनिक मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव है। साहित्य की प्रेरणा, साहित्य में आत्माविव्यक्ति आदि विचारों से इसकी पुष्टि होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य रचन तथा मनोविज्ञान के प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष क्षेत्र हैं किन्तु उनका प्रत्यूष हमारे मानस में ही संवहृत है अतः उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी विच्छेद नहीं किया जा सकता। नयेन्द्रजी ने आत्माविव्यक्ति को साहित्य का मूल बर्ण माना है और उनके मतानुसार 'आत्मानुभूति ही वह मूल सत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।' ^३ वे साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवाचों से न मानकर जीवन से मानते हैं और धार्य का धनार्थ के द्वारा अपने अधिव्यक्त करने का सत्त्व प्रयत्न ही उनकी दृष्टि में जीवन है जिसका अधिप्राय यह है कि स्वयं और अर्थ के द्वारा होने वाली आत्माविव्यक्ति ही साहित्य है। साहित्य की इस परिभाषा द्वारा नयेन्द्रजी ने साहित्यकार और उसकी कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की भी विवेचना की है। सब तो यह है कि यदि लेखक को आत्माविव्यक्ति का अवसर मिले तो वह कभी भी अपना धारमवोध प्राप्त कर ही नहीं सकता। ऐसा करने से 'लेखक के धर्म का उत्कार होता है और उसकी दृष्टियों में अनेक प्रकार के गुणों का भी संचार होता है।' ^४ इस कथन से नयेन्द्रजी का यह अधिप्राय नहीं कि लेखक की आत्माविव्यक्ति समान निरपेक्ष होती है। वास्तव में वे उसकी सामाजिक उपयोगिता यही समझते हैं कि जिस प्रकार अपनी आत्माविव्यक्ति द्वारा लेखक मानवोपसमि करता है उसी प्रकार उसका द्वारा समान का भी धार्यपरिष्कार होता है। हाँ यह बात प्रत्यक्ष है कि उस अधिव्यक्ति में निरक्षमता अवश्य रहनी चाहिए जिससे धारम का विधान परिष्कृत स्वयं में हो सके। उनके मतानुसार अधिव्यक्त-वध की निरक्षमता एक ऐसा गुण है जिसमें नैतिकता तथा सामाजिकता के उन उदात्त गुणों का भी समावेश हो जाता है जो किसी विशिष्ट धार्य के घटक न होकर सर्वोप के विधायक बनते हैं। इतना ही नहीं उनके मत से निरक्षमता के कारण ही वह का जननन होता है जिससे महान् कवियों का जीवन जगत् के साथ तादात्म्य कर सकता है। इस प्रकार नयेन्द्रजी ने आत्माविव्यक्ति के द्वारा साहित्य-स्वरूप का जो विवरण किया है

१. डा. नयेन्द्र : विचार और विवेक : प्रथम भाग १९४६ पृष्ठ ९५।

२. वही पृष्ठ ९५।

३. वही, पृष्ठ १२।

४. वही पृष्ठ १२।

५. वही, पृष्ठ १४।

प्राचार्य पुनर्वशी ने साधारणीकरण से धार्मिक धारणा का साधारणीकरण किया था किन्तु नयेन्द्रजी ने एक मुस्लिमों के धार्मिक पर उसे कबि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं, क्योंकि कबि धरना प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार में ही इतनी समझ होती है कि वह अपनी अनुभूति को सभी लोगों की अनुभूति बना सके। नयेन्द्रजी के मतानुसार कबि अपनी अनुभूति का साधारण्य स्वीकरण करता है जिसके द्वारा पाठक या श्रोता भी उसकी अनुभूति के साथ अपनी अनुभूति का साधारण्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं।^१ इससे सिद्ध है कि नयेन्द्रजी साधारणीकरण का विवेचन रचयिता की अनुभूति को प्रभावित करने हुए करना समीचीन समझते हैं क्योंकि उनके मत से कबि यह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके।^२ इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने बिस्मिल का कवियों और कवियों के कविपय स्वर्णों का विवेचन कर साधारणीकरण के सम्बन्ध में होने वाली भ्रांतियों का विवेचन करते हुए लिखा है कि “भारत की धर्मनिरपेक्ष कला-परम्परा के कारण साधारणीकरण के धार्मिकारण मनुष्यक और धर्मनिरपेक्ष तथा अपनी बहु-सीमित दृष्टि के कारण धार्मिक धार्मिकता में उसके सबसे प्रबल पुष्पोंपक पुनर्वशी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाए हैं।^३ कहे की आवश्यकता नहीं कि नयेन्द्रजी ने साधारणीकरण की सामान्य दृष्टि सभी लोगों में स्वीकार कर कबि को उसकी विषय दृष्टि में सम्मिल माना है जो अपनी समृद्ध धार्मिक तथा सब अनुभूतियों के कारण भाषा का भावमय प्रयोग कर मानव-मुक्त सहानुभूति को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

साध्यमत धर्मनिरपेक्ष और डा० नयेन्द्र

१५१ नयेन्द्रजी ने टी एच इमियट के काव्यगत धर्मनिरपेक्ष का विवेचन उसकी प्रमुख सामग्रियों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रतिष्ठित कर धार्मिक सर्वगुण तथा विवेक-सम्मत दोनों में किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने धार्मिक मनोविज्ञान तथा भारतीय साहित्य-दर्शन के सांख्यिक पक्ष को भी अपना आधार बनाया है। यद्यपि नयेन्द्रजी अन्तर्गत युरोपीय साहित्य की दृष्टि की दृष्टि से उन्हें इसमें अनेक प्रकार की असंख्यता प्रतीत हुई है। उनकी सर्वप्रथम धारणा थी कि कलाकृत और रचयिता के व्यक्तित्व को निर्दिष्ट मानकर यचना एक प्रकार की प्रतिपादित है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से जीवनमय भाव और काव्यगत भाव में अनेक ही अन्तर हो किन्तु उन दोनों के मध्य बीच और पक्ष का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है। उनका कहना है कि काव्यगत भाव व्यक्तित्व का साधारणीकरण है और यह नीतिव्यवस्था व्यक्तित्व का धर्मनिरपेक्ष (ऐतिहासिक धर्म) सभी प्रकार के काव्यों में मूलतः कबि का अपना भाव ही होता है।

१५२ नयेन्द्रजी ने इमियट के धर्मनिरपेक्ष का जड़न कालिका के ‘धर्मज्ञान धार्मिकता’ तथा भवभूति के उत्तर-रामचरित माटक के कथा-अंशों का उल्लेख करते हुए भी किया है। वे भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित रस-निष्ठा के सिद्धांत के अनुसार भी यही सिद्ध करते हैं कि ‘यव संहार के रूप में काव्य-रस से स्थित स्थायी भाव ही काव्य धारि के द्वारा उद्भूत होकर

१ डा० नयेन्द्र : निष्कर्ष भाग विवेक : प्रथम खण्ड १९४६, पृष्ठ ११।

२ डा०, पृष्ठ १४।

३ डा०, पृष्ठ १४।

४ डा०, पृष्ठ १११।

समझते हैं जिसमें 'शृंगार-भावना प्रेम न होकर विरास बन गई तथा प्रेमी का स्थान रसिक ने ले लिया।' वस्तुतः नवमंजी के अनुसार यही उस युग की सबसे बड़ी विफलता है। "जिसमें जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निरास होकर घर की चहारदीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था और उस अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था काम। बाह्य जीवन की प्रसङ्गताओं से बाह्य मन मारी के घरों में मुह छिपाकर विमुख-विभोर हो जाता था।"^१

१३६ नगेन्द्रजी ने प्राधुनिक काल के प्रमुख चरखे द्वितीय-युग छायावादी-युग तथा प्रवृत्तिवादी-युग के अन्तर्गत विवक्षित होने वाली शृंगार भावना का भी निरूपण किया है। उनके अनुसार द्वितीय-युग का दृष्टिकोण शृंगार के प्रति ठीक वैसा ही था जैसा गुरुकुल के छात्र का प्राय भी नारी के प्रति है। जीवन और काम्य के रस से वंचित इस युग ने जो नारी-चित्र दिए, वे उसी के अनुकूल नैतिक ढाँचा से पीड़ित प्रसङ्ग और मोरस हैं।^२ उन्होंने छायावाद की कविताओं को मुख्यतः शृंगारिक कहकर उनका जन्म उन व्यक्तिगत कुण्ठाओं से माना है जो प्रायः काम के पातों और केन्द्रित रहती हैं।^३ अपने इस विश्लेषण को और अधिक स्पष्ट और मनोवैज्ञानिक बनाते हुए उन्होंने लिखा है—

"स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज का आकर्षण बढ़ रहा था परन्तु शृंगार-युग को नैतिकता से सहज कर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक धातुक भी इतना अधिक था कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। वे निदान प्रवृत्तन में उतर कर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होती रहती थीं। और यह अप्रत्यक्ष रूप या नारी का घबराती सीमाएँ प्रकट होतीं शृंगार।"^४

१३७ छायावाद के अतीन्द्रिय सीमाएँ की व्याख्या करते हुए उन्होंने वा बक्तव्य दिया है उसको उद्भूत करने का जोम हम सवरण नहीं कर सकते क्योंकि उसमें उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष अत्यन्त विचार-भरपूर है। वे लिखते हैं—

"छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मौखिक न होकर अल्पमात्र या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को घरीर की छूट न समझकर एक रहस्यमयी कठना समझता है। नारी के प्रति उसका आकर्षण नैतिक धातुक से सहज कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक ऐसी निम्नमिल पर्वें डाल दिए हैं।"^५ नगेन्द्रजी ने प्रवृत्तिवाद के अन्तर्गत शृंगार-भावना की स्थिति भी प्रवृत्तिवादी दृष्टि से ही व्यक्त की है किन्तु उसकी ऐसी भावभूमि नहीं मानी है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि प्रवृत्तिवाद ने शृंगार के प्रति कोई निश्चित दृष्टिकोण प्राप्त कर लिया है। नगेन्द्रजी के मतानुसार "प्रायः का प्रवृत्तिवादी या तो विपरीत है अभी भी कुण्ठा का शिकार है अर्थात् उसकी भावना मन की रानी छोड़ मजबूरन के घरों से सपटरी है या फिर वह बाह्य से लपक प्रतिरक्षित भीमस्य पित्र उपस्थित कर रहा है।

वाह-समोक्षा और डा० नगेन्द्र 'छायावाद'—

१३८ नगेन्द्रजी ने अपने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर छायावाद की अन्त-

१ डा० नगेन्द्र 'विचार और निवेदन' पृष्ठ ४८।

२ वही, पृष्ठ ४९।

३ वही, पृष्ठ ५१।

४ वही, पृष्ठ ५१।

५ वही, पृष्ठ ५१।

६ वही, पृष्ठ ५१।

७ वही, पृष्ठ ५१।

वह किसी युग-विशेष के लिए ही सीमित न होकर ऐसे साहित्य की व्याख्या उपस्थित करता है जिसका सम्बन्ध किसी विशेष समय की राजनीतिक प्रवृत्ति सामाजिक नीतिकता से ही नहीं है अपितु जिसमें मानवीय भेतना का चिरंतन ग्रह स्पष्टित रहता है।

शृंगार भावना और साहित्य-निर्माण

१२४ मनेन्द्रजी ने 'उत्तम प्रकृति के कामोद्रेक' को ही शृंगार की संज्ञा देकर उसका मनोवैज्ञानिक प्राध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक विवेचन किया है। प्राधुनिक मनोविश्लेषणवादी विचारकों की भाँति काम वा मियनेच्छा को जीवन की प्रमुख प्रवृत्ति निश्चित कर उन्होंने शृंगार के स्वाधीन भाव रति को कामाभित बतलाया है और निमित्तों के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा है। वे प्राध्यात्मिक विवेचना में वे ब्रह्म और माया तथा आत्म और अनात्म के सम्बन्ध का विश्लेषण कर आत्म-विस्तार को जीवन की मूल वृत्ति मानते हैं जिसकी प्राथमिक क्रिया प्रजनन है। इस प्रकार मनेन्द्रजी के अनुसार "प्रजनन द्वारा आत्म-अनात्म को पक्षिष्ठ कर अपने विस्तार का ही वे प्रयत्न करता है। आत्म-विस्तार के इसी मूलवत् प्रयत्न प्रजनन का सहकारी भाव शृंगार वा रति है।^१ इसी प्रसंग में उन्होंने जीव-विज्ञान के आधार पर भी शृंगार के मूल रति-भाव को समझाया है। मनेन्द्रजी का कहना है कि प्रकृति का एकमात्र सत्य है सृजन। उसकी समस्त क्रियाएँ एक ही उद्देश्य की प्रेरणा से हो रही हैं। इसी नियम के अनुसार पुरुष और स्त्री के कौटुम्बिक स्वभावतः ही एक दूसरे के पूरक रूप हैं। एक दूसरे से मिलने की उनमें सहज प्रवृत्ति वर्तमान है। सृजन की प्रेरणा से इन्हीं दोनों पुरुष कौटुम्बिकों का पारस्परिक आकर्षण पुरुष और स्त्री के चिर रहस्वमय प्रेम का आख्यान है।^२

१२५. शृंगार रस की उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से जीवनवत् अनिवार्यता और महत्ता का निष्कर्ष कर मनेन्द्रजी ने भारतीय साहित्य की परम्परा में जो विकास-विवेचन किया है वह वास्तविक सार-सहित और सम्पूर्ण है। उसके द्वारा वहाँ हमें उनके व्यापक अध्ययन का आभास मिलता है। वहाँ इस विषय का भी बोध हो जाता है कि शृंगार के प्रति मनेन्द्रजी का क्या दृष्टिकोण है। उन्होंने मानव-जाति के आधार पर विश्व प्रगति के प्राथमिक काल से लेकर अद्यावधि शृंगार तथा काम के प्रति जो सामाजिक धारणा रही है उसका विश्लेषण वैदिक काल रामायण-महाभारत काल चन्द्रगुप्त मौर्य तथा हर्षवर्द्धन-काल वीरपादा-काल अस्तिकाव ऐतिकाव तथा प्राधुनिक काल के साहित्य-सृजन की मूल दृष्टि को अपने सम्मुख रखते हुए किया है। इस विवेचन में पूर्व वैदिक काल की कुछ सारीरिक आवश्यकतावासी शृंगार भावना वैदिक काल की उसके प्रति नैतिक तथा धार्मिक दृष्टि, महाकाव्य-काल की धर्मपरक शृंगार-वृत्ति मध्ययुग की कथा-सौष्ठव पूर्ण शृंगारिक प्रवृत्ति का सर्वत्र विवेक-सम्मत वर्णन हुआ है। हिन्दी-साहित्य के उद्भव से लेकर प्रायः तक हमारे काव्यकारों की जो शृंगार-भावना रही है, उसका विश्लेषण भी पठनीय है। मनेन्द्रजी ने वीरपादा-काल के शृंगार को सौम्यमित कहा है जो अस्तिकाव क शृंगार को अपावित्र जिसका अपना निजी आत्म-वर्णन है तथा जिसका आत्ममग्न अनुपम न होकर मनवान है।^३ हाँ ऐसा कहते हुए उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि मनोविज्ञान की दृष्टि में प्राथमिक और अप्राथमिक शृंगार में कोई मोलिक भेद नहीं है। ऐतिकावलीन शृंगार में उन्होंने किसी भी प्रकार की नैतिक प्रवृत्ति प्राध्यात्मिक प्रगति नहीं मानी है और वे उसमें स्पष्ट रूप से सारीरिक रति प्रवृत्ति काम की स्वीकृति

१ वा मनेन्द्र 'विचार और विवेचन' 'नगर रस' पृष्ठ १६।

२ वही पृष्ठ ४।

३ वही पृष्ठ ४७।

प्रतिपक्षों की-कौन सी हैं और कार्ल मार्क्स ने मुख्यतः तथा कार्लिन और फायर ने संशय उत्पन्न कि प्रकाश की चेतना ही है।^१ उन्होंने अपने वैज्ञानिक विवेचन के क्रम में प्रप्रतिवाद का इस प्रकार सांख्यिक विवेचन कर संशय प्रपूर्यता पर प्रत्येक धारणा भी किए हैं और बतलाया है कि निश्चयपूर्वक मार्क्सवाद ने हमें नूतन मार्क्स-वर्गन प्रदान किया किन्तु फायर की विचारधारा भी उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने पन्थ की हिन्दी में प्रप्रतिवाद का सर्वप्रथम वेबक कहकर प्रस्तुत ही तन्त्रेय मध्यमता मनीष दिग्दर्शक और प्रत्येक धारणा का स्थान माना है। निरपम ही तन्त्रेय भी का वह विवेचन प्रप्रतिवाद के स्वरूप का प्रत्येक परिचय देने में पर्याप्त समर्थ है।

प्रप्रतिवाद का स्वरूप विवेचन

१११ चौथी हिन्दी काव्य की प्रयोगवादी धारा पर विभिन्न समालोचकों का विविध दृष्टि-कोण है, किन्तु नयेन्द्रजी ने स्यासन्मय वृत्तग्रह में दूर रह कर एक विवेकशील प्रालोचक के रूप में संशय विधि में उस पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। नयेन्द्रजी प्रारम्भ ही से यह मानकर चले हैं कि प्राल के प्रयोगवादी कवि और उनके समालोचक प्रयोग की परम्परा को जित्त कठिने बन्धन-बन्ध बना कर चले हैं, वह सांख्यिक दृष्टि से प्रामाण्यपूर्ण है, क्योंकि प्रयोग के नाम पर किसी काव्य को संकीर्ण बनाया उसके स्वास्व का प्रयोग नहीं है। वस्तुतः नयेन्द्रजी ने प्राल के प्रयोगवाद का जन्म प्रालवाद की प्रतिक्रिया में देखा है और वे प्रप्रतिवादियों के वस्तुपरक दृष्टिकोण में काव्य की रसात्मकता की बहुत बड़ी कमी पाते हैं। नयेन्द्रजी ने प्रयोगवादियों में 'बाब-पञ्च घंटी-घिंट' सह-विधान तथा काव्यानुसृति को प्रस्तुत इसकी कोटि के माना है जिसमें प्रयोग के नाम पर काव्य की सारवत् चेतना का उच्चारण मूल्य में रहता है। उन्होंने प्रमुख प्रयोगवादी काव्यकारों के काव्यों को उद्धृत कर उनकी विद्वन्मयी मनोवृत्ति विस्तार की है और प्रत्येक पर प्रत्येक से उन्हें इस बात का प्रथम विचार है कि वे काव्य में राय की संवेदना को महत्व दें न कि केवल मुख्य बोधिका के प्रयोगों को। वस्तुतः नयेन्द्रजी की प्रयोगवादियों के प्रत्येक का दृष्टिकोण 'उपवेदन में उनकी हुई संवेदनाओं का प्रभाव विचार' 'प्रालाखीकरण की प्रपुनर्निर्माण' तथा 'प्राल के एकाधिक प्रयोग' में किसी व्यक्ति के साहित्य के प्रत्येक नहीं मिलते, प्राल के जीवन की प्रति काव्य में भी मनीषता और प्रयोग का महत्व मानते हुए भी इस विद्वान् को प्रमानता देते हैं कि उनके प्रामोह में काव्य की मूल रसात्मक प्रतीति को विनष्ट करना समुचित नहीं है। प्राल-प्राल यह है कि नयेन्द्रजी प्राल की प्रयोगवादी कविता के साथ बहुत कम हैं और उनका काव्य में प्रालाविश्वान्वित का दृष्टिकोण प्रयोगवादियों के वस्तुपरक और प्रतीक दृष्टिकोण के इन्फेक्शन का प्रमुख कर उन्हें काव्य की रसात्मकता में समीचीन नहीं प्रतीत।

रसवाद और नयेन्द्रजी

११२ नयेन्द्रजी कलावादियों की भांति साहित्य को ऐसी प्रतिरेकता में नहीं ले जाते जहाँ उनका जीवन से सम्बन्ध ही टूट जाए। वे उसका तब प्रत्येक प्रदान करना चाहते हैं, जिससे उनका रसवादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। काव्य का वह प्रत्येक प्रदान हो इसका निरुपेक्ष करने का प्राल-कार नयेन्द्रजी ने संवेदनशील और संतुष्ट रस-सम्पन्न प्रालाखी उपभोगता को दिया है। उनके प्रमुख साहित्य-प्राल की अपनी सबसे प्रथम कसौटी तो यही बनायी चाहिए कि कोई भी साहित्य प्रत्येक प्राली कला-कवि में प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण प्रालाखी या विनीचीकरण कर सका है या नहीं। इस विषय में उनकी वह प्रालाखी प्रालाखी महत्व रखती है कि साहित्यकार का व्यक्तिगत प्राला

स्वैतना की प्रत्यक्ष सूक्ष्म विवेचना की है और बतसाया है कि छायावाद की पृष्ठभूमि के मूल में किन्-किन् प्रवृत्तियों ने अपना प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष प्रभाव धक्षित किया है। वे छायावादी काव्य का प्रभवरूप व्यक्तिगत जीवन निर्दिष्ट कर उसी व्यक्ति-भाव को प्रसार में आत्म-भाव निरामा में घाँटबाव पथ में आत्मरति और महादेवी में परोक्ष रति के रूप में प्रकटीकृत मानते हैं।^१ छायावादी कवि अपने काव्य के समर्पण में अपनी धीमी बेबना और अनन्त की लालसा की बाड़े कितनी ही प्रत्यर्चना करे, किन्तु नयेन्द्रजी के मतानुसार उनकी सत्यता असम्बिम्ब नहीं है। व्यक्तिवाद के प्रतिरिक्त उन्होंने इस काव्य के प्रभवरूप के रूप में जिस आचारिकता को प्राधान्य दिया है, वह उनके अनुसार निश्चय ही उन कवियों की व्यक्तिगत कुष्ठाओं का ही उद्गार है जो काम वासना के चारों ओर केन्द्रित रहकर बसती हैं। इसी ही नहीं छायावादी कवियों की धीमिप्रियता भी उन्हें बहुत कम स्वीकार है। हाँ वे उनके प्रतीक-विधान और सौन्दर्य विषय के अवश्य प्रशंसक हैं क्योंकि उनके द्वारा वे साहित्य को नूतन माधुरी प्रदान कर सके थे।^२

१५८. नयेन्द्रजी के विवेचन में छायावाद की आन्तरिक स्थिति का स्वरूप भी चित्रित हो गया है। वे छायावाद का मूल-वर्धन महादेवी जी के चर्यों में 'सर्वात्मवाद' में प्रतिष्ठित कर उसे जीवन के प्रति एक विवेक भावार्थक दृष्टिकोण लेकर चलने वाला काव्य मानते हैं। उनके अनुसार 'इस वाद की विचार-मंडलि मने ही सर्वात्मवाद की स्वीकार कर ली जाय किन्तु वह सीपी नहीं से प्रेरणा लेकर काव्य में अभिव्यक्त होती है वह नहीं कहा जा सकता।^३ यही कारण है कि वे छायावाद को प्रथम सेली का विस्म-काव्य नहीं समझते क्योंकि 'कुच्छ की प्रेरणा प्रथम सेली के काव्य को जन्म नहीं दे सकती।^४ हाँ छायावादी कवियों ने प्रकृति पर आरोप करते हुए हमें वा माव-वृत्ति एवम् अभिव्यक्ति-प्रस्तावी की है, वह वस्तुतः मनोहर है और इस दृष्टि से इस काव्य का स्वायी महत्त्व है।^५

प्रगतिवाद विषयक धारणा—

१६. नयेन्द्रजी की समालोचनाओं का एक प्रमुख विषय समसामयिक साहित्य-वाचकों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना भी रहा है। उन्होंने छायावाद की दो विवेचना की ही है, किन्तु प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य पर भी अपने विचार यथावसर प्रकट किए हैं। उनकी सर्वप्रथम मान्यता तो यही है कि प्रायः के प्रगतिवादी जिस धर्म और सीमा में प्रगतिवाद का प्रयोग करते हैं, वह एकांगी और दोषपूर्ण है। वस्तुतः संस्कृति के अनुक्रम साहित्य स्वतः प्रगतिशील होता है और जिस साहित्य में जीवन को प्राये बढ़ाने की धक्षि हो रही प्रगतिशील है।^६ यह कहने के पश्चात् वे प्रायः के प्रगतिवादियों की विचार धारणा का विवेचन करने के लिए उद्यत हुए हैं। उन्होंने बतसाया है कि प्रायः का प्रगतिवादी धातोचक जिन धर्मग्रन्थों से इत्त है, उनमें मुख्यतः प्रवृत्ति आन्तरिक भौतिकवाद की है। उनके अनुसार तत्कालीन प्रगतिवादी समालोचक साहित्य में कला धनता कल्पना का प्रहृष्ट एकमात्र जीवन की जिस स्मृतिता और नैतिकता के आधार से करते हैं वह ठीक नहीं है। नयेन्द्रजी ने प्रगतिवाद का संैतिक निरूपण कर यही बतसाया है कि प्रायः के प्रगतिवाद के निर्माण की मूल

१. डा. नयेन्द्र 'विचार और अनुभूति' पृष्ठ १४।

२. कवी, पृष्ठ १४-१६।

३. कवी पृष्ठ १६।

४. कवी पृष्ठ १६।

५. कवी, पृष्ठ १५।

६. डा. नयेन्द्र 'विचार और अनुभूति' पृष्ठ २१।

७. कवी, पृष्ठ २१।

हड़ता और सूक्ष्मता के सतते धस नहीं मिलते बितने व्यापकता के। यही कारण है कि नयेन्द्रजी के अनुसार प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के कलाकार नहीं क्योंकि उनमें वे उन गुणों का कुछ प्रभाव पड़े है जो जीवन और साहित्य में अधिक सहृदयतासी होते हैं।^१ उन्होंने जीवन-साहित्य के विविध दृष्टिकोणों से प्रेमचन्दजी के रचना-कौशल की प्रशंसा की है किन्तु उनकी दृष्टि को केवल सामाजिक समस्याओं तक ही सीमित बतलाकर उनके उपस्थाओं में जीवन के विरम्यतन प्रश्नों के कलात्मक चित्रण का प्रभाव पाया है जो किसी भी प्रथम श्रेणी के प्रतिभावासी लेखक की विशेषता होती चाहिए।

१९९ नयेन्द्रजी की समालोचना का एक प्रमुख विषय भी सुमित्रानन्दन पंत के काव्य रचन का अध्ययन भी रहा है। उन्होंने पंतजी पर एक प्रामोचना-पुस्तक भी लिखी है, जिसमें उनके काव्य के अंतरंग और बहिरंग का व्याख्यात्मक ढंग में विश्लेषण हुआ है। नयेन्द्रजी प्रारम्भ ही से पंतजी के सम्बन्ध में यह मानकर चलते रहे हैं कि पंत के व्यक्तित्व का निर्माण ही ऐसा हुआ है कि जिसमें मार्क्सवाद की जीवनिकता और शब्द को धारणशक्ति करने के लिए कम प्रभाव है। नयेन्द्रजी लिखित 'धाम्या' और 'मुसबाणी' की समालोचना को पढ़ कर पंतजी के अंतर्गत में यह मतभय बंधा नहीं। धाम्या के पश्चात् पंतजी ने एक प्रकार से अपनी काव्य धारा के द्वितीय मोड़ प्रवर्तित करने का परित्याग कर जिस अर्थव्यवस्था-वर्चन से उद्भूत धाम्यात्मवाद की शरणा ली उसे नयेन्द्रजी एक स्वाभाविक क्रम के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे पंतजी का कवि व्यक्तित्व के मुगल के पश्चात् विरामित हो पुनः अपने प्रकृत क्षेत्र में धा मचा हो। नयेन्द्रजी ने पंतजी के जीवन-वर्चन को व्याख्या उनकी नवीन कृतियों 'स्वर्ण-धूमि' और 'स्वर्ण किरण' के आधार पर की है जिसकी मूल केतना धाम्यात्मिक है।^२ इस विश्लेषण में नयेन्द्र जी ने पहले तो विद्वान्-पक्ष के रूप में पंतजी के काव्य की अन्तर्भावना का निरूपण किया है और तदुपरांत पंतजी की नवीन कृतियों में उसकी छानबीन की चेष्टा की है। उन्होंने पंतजी के अनेक काव्योत्तरसु बेकर उनके जीवन-रचन प्रकृति विषयक दृष्टिकोण सामाजिक चेतना और उत्कर्ष आदि का विवरण विश्लेषण किया है। कहा जा सकता है कि पंतजी का यह विश्लेषण नयेन्द्रजी के विचार और विश्लेषण को एक मुख्य कड़ी है जिसमें पंतजी का जीवन-रचन अपनी कलात्मकता के निरूपक मुख्य संकेतों के रूप में व्याख्यात है।

१९७ हिन्दी में हास्य की कमी यद्यपि नयेन्द्रजी द्वारा लिखा हुआ एक संशारमाण है किन्तु उसमें भी उन्होंने भारतीय रचन के साहित्यिक निरूपण द्वारा जो तथ्य निकाले हैं वे सर्वथा सही जा सकते हैं। यह तो प्रायः सभी देशों के साहित्य में स्वीकार किया जाता है कि हास्य का मूल तत्त्व प्रसंगिकता और विकृति होता है और उसके लिए नेत्र-प्रतीति अनिवार्य है, किन्तु नयेन्द्रजी ने भारतीय रचन की मूल दृष्टि सर्वत्र मेह में अनेक रचन तथा ईश को मिटाकर घड़ई की स्थिति का प्राप्त करने^३ की ओर निर्दिष्ट कर हास्य की कमी का एक ऐसा मौलिक कारण अनुसंधान कर लिया है जिसमें धन्य सती कारणों का समाहार हो जाता है। जैसे बंदूक की नुदब कालीन पराधीनता और लोगों की मानसिक अवस्था को भी हास्य की कमी के प्रासंगिक कारण मानते हैं किन्तु अन्ततः उन सब का सम्बन्ध आदि के सहकारों के साथ जोड़कर यही सिद्ध करते हैं कि जब तक हमारा साम्यवादी दृष्टिकोण सांख्यिक व्यावहारिक नहीं बनता तब तक हमारे साहित्य में हास्य की कमी दूर नहीं हो सकती।

१ प. मन्दः १९५५ और 'नयेन्द्र' १५६-६६।

२. वही १५६-५७।

३. वही १५७-५८।

अधिक सशक्त और प्रासंगिक होना उतना ही वह उसी का कला के रूप में अधिक रसपूर्ण अभिव्यक्ति कर सकेगा ।^१ इस प्रकार उन्होंने प्रथम फिर कर साहित्य की भावना को रस रूप में ही विवेचित किया है जिसकी परीक्षा करना समालोचना का उद्देश्य होना चाहिए । कहने की आवश्यकता नहीं कि नयेन्द्र जी अपने रस-विवेचन में हमारे भारतीय सिद्धान्तों के अधिक निष्ठ हैं । वे रसपूर्ण रचना में आनन्द-रस की स्थिति आवश्यक मानते हैं और उनके अनुसार कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद ही रचना का सबसे बड़ा आनन्द है किन्तु यह आनन्द मनोरंजन मात्र से निश्चय ही भिन्न कोटि का समझ जाना चाहिए । वे कला-कृति के साथ अपनी धन्यवृत्तियों के सामंजस्य में ही सच्चा आनन्द निश्चय समझते हैं ।^२

१९४ नयेन्द्रजी ने अपनी विवेचना के प्रसंग में समालोचना के क्षेत्र में उद्भूत एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया है और वह यह है कि 'साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक और सामाजिक ?'^३ इसके उत्तर में उन्होंने अपने जो विचार अभिव्यक्त किये हैं उनका प्रामाण्य केवल यही है कि व्यक्ति यद्यपि समाज की एक इकाई है और दोनों का परस्पर सम्बन्धामय सम्बन्ध है किन्तु समाज की बेटी पर उसका अस्तित्व आघात कोटि का कभी नहीं समझा जा सकता । उनकी दृष्टि में समाज तथा देश का प्रभाव व्यक्ति की चेतना पर पड़ना स्वाभाविक है किन्तु उनकी अपेक्षा व्यक्ति को कहा जाय यह ठीक नहीं है । अनेक बार तो व्यक्ति के द्वारा ऐसी-ऐसी क्रियाओं की जाती हैं जो उसकी इकाई की सर्वोपरि सत्ता का आभास देती हैं । उनका यह कथन बस्तुतः मननीय है कि रवीन्द्रनाथ के सम्पूर्ण साहित्य का येय केवल उनके सामंतीय भावधारण और पूर्वीवाद को देना तथा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन-जाति में जन्म होना ही इसका उत्तर दायी बतलाना केवल अज्ञानी मनोवृत्ति का परिचय देना है ।^४ बस्तुतः नयेन्द्रजी की इस धारणा में हमें सत्य का आभास मिलता है और हम भी इस विषय में उनसे पूर्णरूपेण सहमत हैं ।

समालोचना के प्रत्याप्य विषय

१९५ नयेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी के उपन्यास तथा उनकी साहित्यगत विचारधम्मिकता पर भी विवेचन किया है । वे प्रेमचन्दजी का सबसे प्रधान गुण उनकी व्यापक सहस्रमुभूति बतलाते हैं और निष्कर्ष रूप में यही कहते हैं कि प्रेमचन्दजी ने अपने साहित्य में युग-जीवन तथा युग-धर्म की तात्कालिकपूर्ण अभिव्यक्ति कर उसे सर्वांगीण जीवन के निष्ठ रखने की चेष्टा की है । नयेन्द्रजी के अनुसार प्रेमचन्दजी का ब्रह्मण्ड गुण उनका अत्यन्त सरल स्वल्प और साधारण व्यक्तित्व है यही कारण है कि वे उपयोगितावाद और नीतिवाद को अपनी साहित्य-चेतना में सर्वत्र अनुप्रासित करते हुए चले सके हैं । इतना ही नहीं इन्हीं सिद्धान्तों के कारण उनके जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व मानववाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है । नयेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी के यथार्थ और आदर्श विपरीत विचारों की भी विवेचना की है और उन्हें आदर्शमय यथार्थवाद का कलाकार माना है । वे प्रेमचन्दजी का मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी विवेचन कर उन्हें कृत्रिम वास्तव्यों के द्वारा साहित्य सृष्टि करने वाले साहित्यकारों से उच्च स्थान देते हैं किन्तु यह सब होने पर भी नयेन्द्रजी को प्रेमचन्दजी के यथार्थ और आदर्शमय साहित्य में प्रतिभा के अभिव्यक्ति धर्म देखते हैं । मर्मता

१ या नयेन्द्र 'विचार और अनुभूति' पृष्ठ ११ ।

२ यही, पृष्ठ १४ ।

३ यही पृष्ठ १५ ।

४ यही, पृष्ठ १६ ।

५ यही, पृष्ठ १७ ।

के साथ हिन्दी-समालोचकों की सर्वोत्तम कोटि में विद्यमान हैं और पं० रामचन्द्र मुस्त के परचाट्ट जिन विद्वानों ने अपनी समालोचनाओं द्वारा साहित्य-शास्त्र को जो नवीन उपमन्त्रियाँ प्रदान की हैं उनमें मनेन्द्रजी भी प्रमुख हैं।

१७०. नरेन्द्रजी की समालोचनाया में उनका संश्लेषिक पक्ष अत्यन्त सुष्ट और छापीन है। उन्होंने अपने काव्य-शास्त्रीय विवेचन में भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्तों का सहारा अवश्य लिया किन्तु उस अपने अधिभ्यन्तन द्वारा मौलिकता भी प्रदान की। उनकी यह मौलिकता विचार पक्ष तथा भाषा-मण्ड होनों में अन्तर्निहित है। किसी भी विषय के विवेचन के पूर्व उसके मूलदर्शन तक पहुँचने की उनमें अद्भुत प्रज्ञा है। उन्होंने अपने समालोचनात्मक निर्बंधों को केवल धाकार प्रकार से बोलचाल बनाने की कमी चेष्टा नहीं की अपितु सर्वत्र अपना यही दृष्टि-कोण रखा कि रचना का मूल उद्देश्य विषय की यथार्थतम पूर्ण अधिज्ञता करना होना चाहिए। ऐसा करते हुए उन्होंने छोटी-बड़ी सभी प्रकार की समालोचनाएँ लिखी हैं जिनके विषय अर्थात्तन तथा प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों के विविध अंगों से सम्बन्धित हैं।

निष्कर्ष और निर्याय

१७१. अन्त में कहा जा सकता है कि नरेन्द्रजी द्वारा लिखी गई समालोचनाओं की सर्वोपरि विशेषता यह है कि वे गम्भीर से गम्भीर विषय का विवेचन अत्यन्त स्पष्ट और आस-सम्मत प्रणाली से करने के परचाट्ट ज्ञान-राशि के सम्पन्न के अत्यन्त को निष्कर्ष निकालते हैं, उनका सारांश कतिपय पार्श्वों में उपस्थित कर देते हैं जिससे भाषाही पाठक के सामने उनका विवेचित अन्तर्गत स्पष्ट हो सके। अतुत इस प्रकार की प्रशुति एक कुशल तथा परिमाणित सम्पादक की प्रमुख विशेषता कही जा सकती है जो अपने सम्पन्न तथा चिन्तन से उपलब्ध नवीन प्रपने सुयोग्य चिन्तों को देना चाहता है। उनकी इस प्रकार की धैर्य का एक मुफ्त यह भी हुआ है कि गम्भीर से गम्भीर विवेचना में भी कहीं वर भी कष्टता नहीं घाटी और न उसका अनुमान हो बिगड़ पाता है। इसमें को सदेह नहीं कि इस प्रकार के आस्वीय विवेचन को बोधव्य बनाने के लिए सुविधि सम्पन्न पाठक को भी कुछ विशेष मानसिक प्रयास करना पड़ता है, किन्तु नये त्रयी जैसे उसके उपवेदन की मूल शक्ति का पहिचान सते है और ऐस प्रबंधों के अवसर पर असाध्यिक विचारित प्रहस कर अपने पाठकों को फिर से अपनी बौद्धिक यात्रा में अपने साथ ले चलते हैं जिससे उन्हें किसी प्रकार की पकान का अनुभव न हा। आसकस उनकी शिती भी आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं उनमें यह प्रशुति विशेष भाषा में है। ऐसा करने में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है जिसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि उन्होंने विवेच्य विषयों का अनुदीर्घन अत्यन्त विवेकशील प्रज्ञा से किया है और न पहले उनका यथार्थतम पूर्ण धाकन करने के परचाट्ट ही उनके निरूपण में उलट हुए हैं। उनका इस प्रकार के तत्पररक समीक्षण का हो यह परिणाम है कि वे रस-निष्पत्ति और मनोविज्ञान तथा साधारणीकरण एव अविज-अविश्वरूप जैसे उतने हुए विषयों पर भी अत्यन्त परिमाणित और अनुमित विवेचना से सक्त हैं जिसको स्वीकार करने में किसी भी रसवाही पाठक को क्याचित्ता हो पाति हा। उनकी इस प्रकार की विवेचनाओं से अनुसोत्तर-नुम की समीक्षा के प्रकार का निस्संदेह एक प्रकारकी शक्ति मिली है।

(७)

पं० दान्तिप्रिय द्विवेदी

१७२. अनुसोत्तर-नुम की अत्यन्तमक अत्यन्ततावादा प्रशुति के समालोचकों में पं० दान्तिप्रिय द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उर्जा इन्होंने मर्यादावादी के अर्थपर-काल में ही

१९८. 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' में डा. नरेन्द्र ने 'महत मुनि' से लेकर वर्तमान हिन्दी प्रासोपार्थों तक के सिद्धान्तिक वक्तव्यों का संचयन किया है जिससे हमारी काव्यशास्त्रीय परम्परा की एक क्रमबद्ध विवेचना का सिद्धान्तोक्त हो जाता है। विद्वान् सम्पादक ने संस्कृत के बिन प्राचार्यों की माध्यताओं का इसमें संग्रह किया है उनके हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ संस्कृत के मूल पाठ भी दे दिये हैं जिससे पाठकों को उनकी सिद्धान्तमय विवेचन प्रणाली का सम्यक् बोध हो जाता है। इसके लिए डा. नरेन्द्रजी को प्रबल परिश्रम करना पड़ा है क्योंकि काव्यशास्त्र के इन विभिन्न प्राचार्यों के विप्राय वाक्यमय से रत्नकण्ठों का चयन करना वस्तुतः विशेष प्रकार की तपस्पूर्ण सेवा का ही काम था। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा उपयोग तो यही है कि इसमें हमारी सिद्धान्तिक समालोचना की शास्त्रीय परम्परा एक ही स्थान पर संकलित होकर प्रस्तुत कर दी गई है और जो कोय संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ हैं, वे भी एक ही स्थान पर उनका सारभूत ग्रन्थपरक निष्कर्ण पा सकते हैं। भरतमुनि के प्रतिरिक्त रामह, बप्पी उद्भट रामन खट मानन्दवर्दन धर्मिनगुप्त राजसेखर धनचय पलिक कृतक महिम भट्ट मोन अनेन्द्र प्रमट, कव्य विश्वनाथ और पंडितराज जयप्रसाद इस परम्परा में संकलित हैं जिनका क्रम ऐतिहासिक स्थितियों की दृष्टि पोषक रहते हुए है। तदनन्तर हिन्दी के ऐतिहासिक प्राचार्य केवलवास चित्तामणि कुसपति बैब श्रीपति सोमनाथ मिश्रादीशस्य प्रतापसाहि के सिद्धान्त चयन प्रस्तुत किये गये हैं। प्रासुनिक प्रासोपार्थों की परम्परा आर्येण्डु हरिश्चन्द्र से लेकर बप्पी है जिसमें महावीरप्रसाद द्विवेदी मिश्रबंधु, कबीरासायन पोद्दार, रामचन्द्र शुक्ल स्यामसुन्दर दास वर्त्मसिंह शर्मा कृष्णविहारी मिश्र गुलाब दास अवधकर प्रसाद सूर्यकांत त्रिपाठी 'निरुद्धा' सुमिनानन्दन पंत महादेवी वर्मा लक्ष्मीनारायण 'मुभांसु' इत्यादिप्रसाद द्विवेदी लखनसारे बाबूदेवी तथा डा. नरेन्द्र स्वयं आते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में हमें भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा का क्रमबद्ध निष्कर्ण एक ही स्थान पर मिल जाता है। निश्चय ही हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में अपने ढंग का यह प्रथम प्रयास है और लेखक की साधना इसमें फलवरी बन सकी है।

साहित्य-समालोचना का महत्त्व

१९९. नरेन्द्रजी ने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का परस्पर और व्यापक अध्ययन किया है जिसका आभास हमें उनकी समालोचनात्मक कृतियों से प्रनायास ही हो जाता है। एक विद्वान तथा मनीषी में जिस प्रकार का संयम और शैर्ष्य व्यपेक्षित है यह नरेन्द्रजी में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति प्रारम्भ ही से रही है जिसका वय-क्रम और अध्ययन के साथ-साथ क्रमिक विकास भी होता गया है। अपने विज्ञान और मनन के पश्चात् उन्होंने जिस विषय के सम्बन्ध में अपनी विचारणा प्रस्तुत की उसके पीछे कहीं पर भी शास्त्रीय आधार की उपेक्षा नहीं की। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हमें जो एक विशेष प्रकार की विज्ञासा प्रवृत्ति ज्ञान-पिपासा मिलती है वही क्रमशः विकसित होकर उन्हें प्रायः ऐसी प्रौढ़ प्रश्न कर सकी है जिसके द्वारा उनका समन्वयपूर्ण रसात्मक दृष्टिकोण क्रमशः विकसित होता गया है। प्रायः से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित होने वाली अपनी प्रारम्भिक समीक्षा-कृतियों में उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के स्वरूप में जिस समन्वय की प्रसन्न देखी थी वह उनकी प्राज्ञकल की प्रकाशित रचनाओं में सुचारु रूप से अभिव्यक्त है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यन्त माननीय हैं। उनसे यह प्रकटित होता है कि नरेन्द्रजी कभी-भी किसी माध्यता को स्वीकारी परम्परा में प्रवृत्त नहीं करते अपितु उन्होंने स्वयं और बुद्धि दोनों को उधार बनाकर सर्वत्र ज्ञान राशि का स्वागत करने के लिए अपना जीवन-पूष्ठ सुभा रखा। उनकी इस प्रकार की समन्वयात्मक तथा नीरसीर-विवेचनी प्रज्ञा का ही परिणाम है कि

हुए जैसे तो मेरे बिचार से उनमें अधिक पनपना था सकता है। इसी प्रकार उन्होंने कई स्थानों पर अनुप्रास के ढेर में पड़कर 'प्राप्त पुन' के साथ 'प्राप्त पुन' ग्राहि सम्बन्धों का जो प्रयोग किया है, वह भी बिमल है। पता नहीं उनकी पुन उन्हें किन घातों में वैष्णव को प्राप्तवासी और सेव को पचाईवासी कहना बेठी है जब कि इस विषय में इस प्रकार की कोई कविता संकीर्णता का निर्णय कर लेना सदा प्रसंगीकी है।

१७१. शान्तिप्रियजी ने अपनी आलोचनाओं में वर्तमान साहित्य और सामयिक सम-स्वाधों का भी विवेचन किया है। अन्य साहित्य विवेचकों की भाँति उन्हें भी भाव के युग-जीवन में अनेक प्रकार की विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुई हैं। उन्होंने भाव के युग को साम्राज्यवाद और औद्योगिकवाद में प्रसन्न बतलाकर यही निर्णय प्रदान किया है कि समाजवाद और गांधीवाद ही उसे परिणाम दे सकते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि शान्तिप्रिय जी ने प्राबुदिक हिन्दी-साहित्य पर गांधीवाद और समाजवाद का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए ही उक्त बातों पर सामान्य संकेत किए हैं। प्रत्यय इन पर कहने के लिए तो बहुत-सी सर्व सामान्य प्राप्ति सामग्री भी उपलब्ध की जा सकती थी। प्रपञ्च होता यदि द्विवेदीजी गांधीवाद और समाजवाद की विवेचना का क्षेत्र जीवन हवन और राजनीति-विज्ञान के लिए छोड़ देते और उसका केवल साहित्यगत प्रभाव ही ध्यात करते। उनका यह बाद विवेचन वैसा ही बन गया है जैसा उनकी अन्य कृतियों में साधारणतया प्रदर्शित होता है। यहाँ वे हमें अपने निबन्धों के माध्यम से ज्ञान राशि का प्रभु स्वयं तो प्रदर्शित देना चाहते हैं। किन्तु अपनी प्राबुदिकता और पीतमयी पद्धति में वे स्वयं हवन अधिक वह पाते हैं कि वास्तविकता की आधारभूमि उनके हाथों से निकल जाती है और वे अपनी ही दृष्टि से अनेक असाध्यगत बातों भी कह जाते हैं। इस शान्तिप्रियजी की आलोचना का दुर्भाग्य यह कहा जाय प्रत्यय किशिष्ट पक्ष यह प्रत्यक्ष पाठक की अधिभवि और मानविक विकास के प्रति-मान पर निर्धारित है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि अपनी कृतियों में उन्होंने अपने अनुचितन और कलात्मक अनुभूति का स्वयं प्रदर्शित किया है और वे 'प्राचीन' आलोचक के साथ सहृदय कलाकार की दृष्टि से भी साहित्य विशेषण हिन्दी साहित्य की प्रगति का अनुसन्धान कर सके हैं।

१७२. शान्तिप्रियजी की समालोचना आवासीय कवियों की उपलब्धि के बहुत निकट है। उसमें प्राक्-पक्ष का विकास प्रत्यक्ष भाषा में हुआ है। उन्होंने साहित्य-नटीयण में जिस संज्ञात्मकता का आधार लिया है वह बिना कवि रवीन्द्रनाथ की भाँति अपने वैयक्तिक विकास से तो अनुप्राणित है ही साथ ही साथ अपनी किशिष्ट ऐसी में भी प्रदर्शित है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी का साहित्य-नवीधल विषयक एक निजी दृष्टिकोण है जिसे वे अपनी साहित्य समालोचनाओं में प्रमर्शों की प्रवृत्तारण कर व्यक्त करने का प्रसर प्राप्त कर लेते हैं। उनका युग-वर्णन का विवेचन इस कथन का प्रमाण कहा जा सकता है। गांधीवाद का तो उन पर इतना अधिक प्रभाव है कि वे भाव की समस्त युग-समस्याओं का स्थायी निदान उठमें पाते हैं। उनका समाजवाद का विवेचन भी यथेष्ट परिमाण है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे उसकी तात्त्विकता का अन्तःस्पर्श बहुत कम कर सके हैं। बल्कि उनके इस विवेचन में समालोचक के प्राचीन पक्ष का उद्घाटन न हो कर राजनीतिक की चेतना का अधिक अधिभवन है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि वे अपने इस विषयक व्यक्तित्व का सक्षम निर्वाह करने में प्रसमय से रहे हैं।

१७३. शान्तिप्रियजी की समालोचना में भन ही विषय का निरूपण क्रमबद्धता में न हो किन्तु उसमें एक कलात्मक चरित्र प्रदर्शित है जो विवेचन बनकर या -नों के हृदय में धन-प्रसार कर ही लेती है। उसमें जाह्ने बाँटों और बिचारों की कलाबत प्रवृत्ति से सदा न मिले किन्तु उसमें समालोचना का विवेचन के लक्ष्यगत निर्दिष्टन रूप में प्रकट है। मुझे तो उनकी उद्भासनाओं

‘हिन्दी-साहित्य के निर्माता नामक पुस्तक में अपनी प्रारम्भिक समीक्षण-प्रतिमान प्रस्तुत किया था किन्तु ‘घने’ ‘घने’ उसमें बिकास होता गया और वे आयाबाद के प्रबल समर्थक बनकर समीक्षा-क्षेत्र में प्रतिष्ठित हुए। उनकी मान्यताओं के निर्माण में चतुर्थी के काव्य-वर्णन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ‘ज्योति-विहंग’ को छोड़कर उन्होंने प्रबन्धकारक समालोचना की कोई पुस्तक नहीं लिखी है। उनकी समीक्षा-कृतियों में बिना निबन्धों का संग्रह हुआ है उनमें आयाबाद-युग का संस्तर ही प्रधान है। परन्तु अपनी मान्यताओं के दृष्टिकोण से वे शुभस्रोत-युग के समीक्षक ही सिद्ध होते हैं। शुभ और साहित्य’ ‘कवि और काव्य’ ‘साहित्यी’ और ‘सामयिकी’ आदि उनकी प्रमुख समालोचना कृतियों के संग्रह हैं। उनकी रचनाओं में जैसे तो युग-साहित्य का विवेचन हुआ ही है किन्तु ‘सामयिकी’ नामक पुस्तक में उनके मतानुसार युग की सार्वजनिक विचारधाराओं का साहित्यिक विवेचन है। इसकी ‘जो खब्ब’ शीर्षक भूमिका में उन्होंने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी कर दिया है। द्विवेदीजी का कहना है कि जिस प्रकार उनकी पूर्ववर्ती समालोचना युग और साहित्य में सत्कृति और प्रगति का सम्मिश्रित स्वर था उसी प्रकार इस रचना में भी है। जीवन के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उनका मुद्राव प्रगतिवाद की ओर है तो धार्मिक दृष्टिकोण से गान्धीवाद की ओर। उन्होंने ‘युग और साहित्य’ में प्रगतिवादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी थी किन्तु ‘सामयिकी’ में गान्धीवाद की प्रधान संवेदना व्यक्त की है। इस रचना में वे भाष के प्रसिद्ध वाक्यों से ऊपर उठकर स्वतन्त्र विचारक बनने में भी प्रयत्नशील हो सके हैं।

१७१ साहित्यप्रियत्री की आलोचना में एक बात दृष्टव्य है और वह यह है कि वे अपनी विवेचना के बीच-बीच आश्चर्यकृत-अभावकृत का बिना कोई विचार किए अंग्रेजी के शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग करते हैं, जैसे ‘मिटर ऑफ़ फेक्ट’ ‘साइडिक्स’ ‘गोब’ ‘बीम’ ‘रिमार्क’ ‘मोडर्न’ ‘फिलोसफी को बीज किया’ आदि। सम्भव है, उनका यह व्यवहार स्वभाविक किया में हो किन्तु इसके द्वारा हिन्दी भाषा की प्राण-शक्ति का दुर्बल पक्ष ही हमारे सामने आता है। ऐसी तो कोई बात नहीं कि इनके पर्यायवाची शब्द हिन्दी में न मिल सकें। यदि किसी शब्द की पर्यायवाची की पूर्ण समिति हिन्दी के पर्याय शब्द में दृष्टिकोण न हो तो उसका एक कारण उसका हमारे बीच प्रचार का अभाव तथा कल्याणवाद की कमी भी कहा जा सकता है। ‘घने’ ‘घने’ उसका प्रयोग स्वयं हमें उसकी अमूल्यता की वयावस्था से परिचित करा देता और हमें वह शब्द वैसी व्यवस्था देने योग्य वैसी मूल शब्द देता है। परन्तु इस विषय में हमें आश्चर्य की दृष्टिकोण लेकर ही बचना चाहिए। साहित्यप्रियत्री तो स्वयं शब्द-प्रयोग के शत्रु बाबूवर हैं, यदि उनकी सेवनी से इस ओर प्रयत्न होता तो वह कभी दूर की जा सकती थी। सम्भव है भविष्य में उनकी समीक्षा-कृतियों में इस प्रकार की मार्ग प्रशस्ति का व्यवहार हो सके।

१७४ साहित्यप्रियत्री की आलोचना में जो दूसरी बात मिलती है वह है उनकी मूल काव्य की ही छटा। अपने मनुष्य-व्यक्तित्व की नाँति साहित्यप्रियत्री ने अपनी समालोचनाओं को धार्मिक भावप्रवण बना दिया है, जिसके कारण कई स्तरों पर उनके विचारों में क्रमिक शृङ्खला और अनुबन्धता का अभाव सा हो गया है। साहित्य-समीक्षा के सामान्य पाठक के लिए तो उनकी मातृकता को सहजता कभी-कभी कठिन हो जाता है और नाट्य सेन के लिए उद्यत किसी परीक्षार्थी की भाँती तो केवल उनकी रोषी की अक्षरमयता में भाव निमग्न हो कर जड़बत् रह जाती है। इस द्विवेदीजी का एक रोष भी कहा जा सकता है, क्योंकि वास्तविक समालोचनाओं में इस प्रकार की प्रकृति शुभ नहीं समझी जाती। आचार्य शुक्ल भी इस प्रकार की रोषी के विशेष प्रदंशक नहीं थे। परन्तु द्विवेदीजी का साहित्य-समीक्षण जहाँ एक ओर हमारे समालोचना-साहित्य की अभिवृद्धि करता है, वहाँ वह दूसरी ओर अपनी भाष-प्रवणतावश उसके धार्मिक और प्रोत्साहन में कमी भी ला देता है। यदि वे अपनी आलोचनाओं में विषय-वस्तु के प्राधान्य का कुछ ध्यान रखकर रचें तो

युग के क्रम में अपनी वास्तविक प्रतिबिम्बिता का सर्वथा अचेष्टी है।

१७८. ऐसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि 'छांतिप्रियजी की समालोचना का मुख्य लेख भाषुनिक हिन्दी-साहित्य ही है और उसमें भी छायावाद-युग सर्वाधिक केंद्रबर्तों है। यद्यपि उन्होंने अपने इस विषय की सामयिकता में जो अग्रगण्य समालोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं, वे भी छायावाद के परिप्रेक्ष्य का संस्पर्श करते हुए हैं। आकार ग्रहण कर सके हैं। उन्होंने छायावाद के साध-साध प्रवर्तिताओं की दृष्टिकोण के प्रति भी अपनी विचारविश्लेषण की है और बतलाया है कि इसे हमारे भाषुनिक आलोचक चाहें जिस प्रतिक्रिया का परिणाम मानें किन्तु वास्तव में इसके निर्माण में छायावाद का सर्वाधिक हाथ है। वे प्रवर्तिताओं में भी छायावाद को ही खोजना पाते हैं किन्तु उन्हें उसका आन्तरिकवृत्ति का पक्ष दुर्बल और सामाजिक विरलेपण का पक्ष अधिक सबल लगता है। वे पक्ष यद्यपि और महादेवी के विचारों के उद्धारण बकर अपनी मान्यता को भी उन्हीं के निकट सिद्ध करते हैं और इस प्रकार उन्हें प्रवर्तिताओं में लोक-भाषा के सुगन्धित मिल जाते हैं। अन्त में यदि छांतिप्रियजी अपना प्रवर्तिताओं विषयक दृष्टिकोण प्रकट करने के पूर्व प्रवर्तिताओं की विचारधारा का भी सम्यक् विस्लेषण करते और उद्गुप्यन्त अपनी विवेचना के तत्त्वकों का आलोचन करते बसते। किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके जिसे हम उनके मानसिक संस्कार की दृष्टि से कोई नई बात नहीं मानते। बात यह है कि छांतिप्रियजी के मानस में गहरी ज्ञान के लिए मुग्धता प्रबल है किन्तु सारा गहरी ज्ञान उन्हें मानसिक दृष्टि नहीं दे पाता यद्यपि वे एक विशेष प्रकार में हो उसे ग्रहण कर सके हैं। सुतन्त्र वे छायावादी दृष्टिकोण का जिस तत्त्वमयता और रससाहिता से निकरण कर सके हैं ऐसा प्रवर्तिताओं दृष्टिकोण का नहीं।

१८. छांतिप्रियजी ने हिन्दी साहित्य पर ऐतिहासिक समालोचना-नज़र की प्रमुखा देते हुए भी कुछ तनीछात्मक निबन्ध लिखे हैं, जिनमें वे इस परम्परा का निर्वाह पूर्ण सफलतापूर्वक नहीं कर सके हैं। इसका कारण यह है कि वे हिन्दी साहित्य के विवेचन में भाषुनिक साहित्य को ही अपना केन्द्र बिन्दु बना कर चले हैं, जिसमें वे भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग के सामान्य स्वरूप के विरलेपण के पश्चात् भाषुनिक साहित्य के प्रमुख रचयिताओं की कृतियों के महत्त्व-निर्धारण की ओर उन्मुख हो गये हैं। जिस से उन्होंने गुप्त-बन्धु, प्रेमचन्द आदि का साहित्य-विवरेपण भी किया है किन्तु वे बार-बार अपने विषय छायावाद की ओर किसी न किसी प्रकार पुनः पुनः सम्मुख होकर चले हो पाये हैं। एक प्रकार से उनके इस ऐतिहासिक विस्लेषण में भाषुनिक हिन्दी साहित्य का विहासमोहन प्रबल हो गया है। इसमें उन्होंने विषय-सामग्री देने का विधान अधिक ध्यान रखा है उतना विषय के स्वतन्त्र प्रतिपादन का नहीं। यद्यपि उनके समालोचना विषयक लेख में कोई विशेष महत्ता नहीं प्रदान की जा सकती। यद्यपि यह है कि छांतिप्रियजी का समालोचना-साहित्य मुख्यतः भाषुनिक युग की प्रमाण प्रतिबिम्बिता का ही निरर्थक बनकर प्रकट हुआ है, जिसमें उनकी विचार भूमि केवल संकीर्ण परिधि में बंध कर कुछ बाह्य क्षेत्र में भी विस्तारण कर सके हैं। उनकी तनीछाओं के विषय में उनका यह निष्कर्ष स्वीकार करने में हमें कोई विषय पारित नहीं होता कि वे अपनी आलोचनाओं में युग की सार्वजनिक विचारधाराओं का साहित्यिक विवेचन कर सके हैं। निश्चय ही छांतिप्रिय जी की साहित्य-आलोचना में उनकी एकीकृत-कृतियाँ अपना विषय महत्त्व रक्षती हैं।

(८)

आचार्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी

१८१ आचार्य प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विषय-विवरेपण के क्षेत्रों पर जो अपने साहित्यिक और समालोचनात्मक निबन्ध लिखे वे उनके सफलता के अनेक विविध मानीता-दृष्टि का एक न प्रभावित

में अपूर्व माधुर्य मिलता है। अनेक बार तो वे अपनी समाजीयताओं द्वारा केवल धर्म-ग्रहण ही न करके काव्य की भाँति चिन्तोपमता और विम्वर-ग्रहण की स्थिति भी उत्पन्न कर देते हैं। उनके काव्य अनेक स्तरों पर सूक्ष्म प्रयुक्त हुए हैं। जिनकी अभिव्यक्ति-शक्ति अत्यधिक सक्षम और प्रभावपूर्ण है। उनके विशेषणों का जगजगत् प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का संयोजन भी मज्जा है। जब वे रवीन्द्र के लिए 'कवि' शब्द के लिए कसाकार और माँची के लिए 'सर्त' शब्द का प्रयोग करते हैं तो इन शब्दों की अभिव्यक्ति में उन विवेकों के व्यक्तित्व का पूर्ण समाहार कर देते हैं। बलुत्त द्विवेदीजी को रवीन्द्र शब्द और माँची के व्यक्तित्व में अग्रिम भिन्नता का जीवन-दर्शन मिला है और इन दोनों में भी रवीन्द्र के व्यक्तित्व में वे मध्यस्तर और संयुजन की स्थिति अधिक पा सके हैं। द्विवेदीजी ने इन दोनों के कार्यों का जो सारमूत्र मुद्रांकन किया, वह अत्यन्त हृदय हारी है। वे यह भी बतला सके हैं कि ये दोनों व्यक्ति किस प्रकार साहित्यिक सामाजिक और धार्मिक अन्ति की ओर संयुक्त रह सके हैं।

१७८. सांतिप्रियजी के कुछ ऐसे निबन्ध भी हैं जो पूर्ण साहित्यिक न होते पर भी विशेष सामाजिक हैं। उन्होंने धारण्य के 'धैर्य प्रश्न' में कलामक गुहता और मारी का स्फाटन तो पाया ही है साथ ही साथ उन्हें उद्यम मानवता की ऐसा पृष्ठभूमि भी प्राप्त लगी है जिसमें लोकोपेक्ष के जीवन का उत्पन्न और समग्र सम्मिलित है। हिन्दी-कविता की पटभूमि के अन्तर्गत द्विवेदीजी ने बतलाना है कि धार्मिक युग में इसका निर्माण द्विवेदी-युग आभावा-युग तथा प्रगतिशील युग के लोगों-बानों से हुआ है जिनमें कमल-पार्श्ववासी राष्ट्रीयता सामाजिक स्वच्छता और राजनीतिक समार्थवादिता का संयोजन है। उन्होंने धार्मिक हिन्दी कविता के मार्ग-निर्णयों को पाँच कालों में विभक्त कर उन पाँचों के लिए भारत-भारती 'कामायनी' 'मित्र-प्रवास' 'पस्व' तथा 'निद्री और फूल' इन पाँच ग्रन्थों को प्रतिनिधित्व दिया है। सांतिप्रिय जी की एतद्विषयक आलोचना में प्रयोग-यक्ष का रूप मिलता है। उनका यह समीक्षण सौन्दर्य तथा भावपूर्ण दृष्टि से युक्त है। इस विवेचन में राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का भी उल्लेख है किन्तु वे सब उनकी वैयक्तिक दृष्टि के अनुकूल ही विवेचित हो सके हैं। इसमें कोई शङ्का नहीं कि सांतिप्रियजी की आलोचनाओं में युगीन साहित्य का मुद्रांकन विशेषतः आभावा और उसके कवियों का विस्मरण कदापि नहीं हो सके। वे इन कवियों तथा उनके काव्य को सौन्दर्य के माध्यम से अधिक सफलता के साथ ग्रहण कर सके हैं। उनके समीक्षण के मध्य जो निष्कर्ष हैं वे अत्यन्त मार्करक और भावपूर्ण हैं और उनमें उनकी संवेदना का भी अनुपम योग है। कहना होमा द्विवेदीजी के निर्णयों में सुषों की सूक्ष्मता और अनुभूतियों की मौलिकता है। वे कुछ प्रश्नों में एकांगिता से भी मुक्त नहीं किन्तु उनमें ऐसी मोहिनी क्षिति प्रवेश है जो एक बार विरोधी पक्ष को भी खस मर के लिए मुग्ध बनाये बिना नहीं रहती। कहा जा सकता है कि सांतिप्रियजी ने जिस आभावा को अपना समाजीय विषय बनाया उसके अनुकूल ही भाषा-शैली और अभिव्यक्ति का प्रयोग कर उसे एक परिष्कार प्रदान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे रचनारूपक साहित्य-सर्ग कुछ विशेष शक्तों की धारम कक्षा है जिसमें रचयिता के व्यक्तित्व का आचारही करण हो जाता है उसी प्रकार सांतिप्रियजी की आलोचनाएँ भी किसी विशेष उद्यम धारण मानसिक उत्साह में लिखी हुई वे औद्योगिक चेतनाएँ हैं जिनका भाव-यक्ष उन्हीं के समान उभार प्रदर्शित कर उन्हें प्रणय देता हुआ धामे-धामे जसा है और उसी की दृष्टि उनके जीवन की अनुभूति से मिस कर उन्हें समाजीयता प्रक्रिया प्रदान कर लगी है। सांतिप्रिय जी की आलोचना का एक साहित्यगत वैशिष्ट्य यह है कि इसमें कदाचित् ही दो मत हों किन्तु उनके मुद्रांकन की धार भी बहुत बड़ी भावमयकता है। वे अपने जीवन और व्यक्तित्व की चेतना की भाँति समाजीय रूप में भी हमारी जिज्ञासा के विषय हैं और उनके साहित्यिक योगदान का परीक्षण धार्मिक आलोचना के विकास

हुए हैं। हमारी साहित्यिक समस्याएँ नामक पुस्तक उनकी एक ऐसी ही रचना है जिसमें हिन्दी की वे सैद्धान्तिक निरूपण के साथ-साथ अपनी निजी भावनाओं का भी निरूपण किया है। पुस्तक का नामकरण कथावित् इतिहास किया गया है कि जिन दिनों इन निबन्धों की रचना की गई थी विश्व-जीवन एक महान् संघर्ष से गुजर रहा था जिसके कारण साहित्य-विचारकों के सामने भी ऐसी अनेक समस्याओं का प्रादुर्भाव हो गया था जिनकी पूर्ण गुण में कोई निवेदन भी नहीं था। यद्यपि हिन्दी की ने उन समस्याओं पर विशेष रूप से कोई निवेदन नहीं किया है, किन्तु उनके निरूपण में उन समस्याओं का परिकल्पित स्वरूप भी अभिव्यक्त हुए बिना नहीं रह सका है। साथ ही साथ उनकी इस पुस्तक से उन समस्याओं के बोधित समाधान का भी एक मार्ग मिल सका है।

१८२ हिन्दी की ने सर्वप्रथम भारतवर्ष की भाषा-समस्या को अपनी समाजीकना का विषय बनाया है। उनका कहना है कि पात्र जिस रूप में इस समस्या को स्वल्प प्रदान किया जा रहा है, वह अत्यन्त ही घोर दुःखित है। उनके अनुसार भारत में इस प्रकार की भाषा-विषयक समस्या पहले कभी नहीं रही है, जिसका मूल प्रमाण यही है कि यहाँ के अतीत काल में संस्कृत को ही समस्त भारत के सर्वे वर्ण विज्ञान चिकित्सा धार्मिक विषयों की भाषा मान लिया गया था। इससे हिन्दी की का यह अविश्रान्त सो कथापि नहीं है कि यहाँ भाषा विषयक समस्या का प्रादुर्भाव नहीं हुआ क्योंकि कालांतर में अथवा नुद और महावीर स्वामी ने संस्कृत के स्थान पर ब्राह्मणिक भाषा को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया किन्तु ऐसा होने पर भी संस्कृत की महत्ता का धारण कम नहीं हुआ था किन्तु कालांतर में उसे अक्षय्य कर दिया गया और अभी से हमारी भाषा-विषयक समस्या और भी उग्र हो गई। उनका मूल मतलब यही है कि संस्कृत भाषा और साहित्य को अक्षय्य किए बिना हिन्दी भाषा की हमारी वर्तमान समस्या को नहीं सुलझ सकती क्योंकि संस्कृत भाषा-साहित्य की ज्ञान पद्धति हमारी संस्कृति के सर्व प्रत्यक्ष में रही हुई है।

१८३ हिन्दी की ने प्राचीन काव्यशास्त्र के विकास का परिचय देते हुए प्रागुक्त हिन्दी कविता के अभिव्यक्ति पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। उन्हें नवीन कविता की प्रवृत्तियों की स्वच्छन्दता से कोई चिड़ तो नहीं है किन्तु वे इतना अवश्य मानते हैं कि उनका विकास कुछ संशयित होकर न किया गया हो निश्चय ही अभिव्यक्ति नूतन हो सकता है। वे हिन्दी भाषा की अक्षय्य पर भी सुनिश्चित हैं और उन्हें भारतीय साहित्य में एक ऐसी शक्ति और सम्राज्यता निवृत्ति है जिसके कारण वह भारत की ही नहीं अपितु विश्व-जीवन को भी अत्यन्त उन्नत और प्रगति करता है। हिन्दी की का साहित्य का मूर्त्यांकन सम्बन्धी दृष्टिकोण भी अत्यन्त उन्नत और प्रगति प्राप्त साहित्यिक दृष्टिकोण को स्वीकार किए हुए अपने प्रागुक्त साहित्य की समाजीकना कर ही नहीं सकते और जो समाजीकन अपनी दृष्टिप्रस्तुता और समीक्षा में ही उसके हुए हैं उनमें साहित्य के अपने मूर्त्यांकन के स्थान पर समस्याओं को ही प्रथम दिया जाता है। हिन्दी की के अनुसार साहित्य की प्रगति के संकीर्णता को लेकर चलाता है। वे साहित्यकार की अक्षय्य को अपनी अक्षय्य मानते हैं जिसके द्वारा महान् सांस्कृतिक अक्षय्यता को का सकती हैं और हमारा सामाजिक स्तर बहुत ऊँचा उठाना का सकता है। उनका उन लोगों से अक्षय्य विरोध है जो साहित्य को केवल कला कल्पना के शायरी स्वरूप के रूप में देखते हैं और जिसमें मानवता का अक्षय्य सत्य नहीं पड़े।

यही कारण है कि वे अपनी दोषपरक और मन्मीर मन्वेपणा वाली धैसी का प्रयोग इसमें नहीं कर सके हैं और उन्होंने अत्यन्त सुकोष-भाषा में साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके महत्त्वपूर्ण बाह्य रूपों के मूल और वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट परिचय-मात्र इस ग्रन्थ में दिया है। यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने अद्यावधि सोध कार्य के परिणामों का भी यथावसर उपयोग किया है जिससे ग्रन्थ की उपादेयता अधिक बढ़ गई है। जैसे तो उन पर भी सुस-सेसी का प्रभाव है और उनका विषय-निरूपण भी सुस भी पर ही अधिकारिण भाषाश्रित है किन्तु काव्य-विभाजन में कुछ नवीनता अत्यन्त बरती गई है। उन्होंने पुस्तक की भीरपाया-काव्य को हिन्दी साहित्य का प्रादिकाव्य कहना अधिक उपयुक्त समझा है और अपने समर्पन में प्रमाण भी दिए हैं। इतिहास ग्रन्थ में ऐसा करने के लिए अधिक अवसर नहीं हो सकते थे परन्तु उन्होंने उसका व्यापक विस्तरेपण तो अपने उन भाषणों में किया जो 'बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्' पटना के अनुरोध पर दिए गए थे। उनके उन भाषणों का प्रकाशित रूप 'हिन्दी साहित्य का प्रादिकाव्य' है जिसके अध्ययन से उनके एतद्काल-विषयक दृष्टिकोण का पता चल सकेगा।

१६१ आचार्य हजारीप्रसाद जी की समालोचनाओं का एक प्रमुख पक्ष निम्न-लेखन ही है जो विभिन्न पुस्तकों में संगृहीत होकर प्रकाशित हुआ है। उसमें साहित्य-समालोचना को सांस्कृतिक प्रक्रिया से ग्रहण करने का जितना प्रयत्न है उतना उसकी विभूत विधा में नहीं। मानवतावादी दृष्टिकोण तो उसमें सर्वत्र परिमिश्रित है। आचार्य रूप से यही कहा जा सकता है कि त्रिवेदी जी ने समालोचना-साहित्य को कुछ नवीन मानक अवसर दिए, किन्तु उनका प्रयोगवत् प्रसार कम ही हो सका। इसका मूल कारण उनकी दोषपरक विचारधारा ही है। जैसे उन्होंने 'माण्डू की घास-कपा' लिख कर अपनी कार्यिणी प्रतिष्ठा का भी परिचय दिया है, किन्तु वे मुख्यतः इतिहास के अतीत-कालीन घटकों में ही अधिक रम सके हैं। यह बात निश्चित है कि उनकी चिन्तना की एक स्वतन्त्र भूमि अत्यन्त रही है जिसका प्रारम्भिक प्रस्तुतन उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक पुस्तक में मिला था। यी तो भाव भी उसे अपने हृदय की एका ही समालोचना-कृति मानता हूँ। यदि त्रिवेदी जी अपनी चिन्ता-धारा का विकास उसी को प्रोढ़ता प्रदान करते हुए करते चलते तो हमारी साहित्यसमालोचना-विषयक दृष्टि में एक नवीन प्रसार विकसित होता पर धाये चल कर उन्होंने इस ओर कम ध्यान दिया और वे दूसरी दिशा की ओर उन्मुख हो गए। जैसे उनका साहित्य-विरलेखन का स्तर अपने हृदय में अद्वितीय है। निष्कर्ष यह है कि डॉ० हजारी प्रसाद त्रिवेदी पुनर्जन्म युग की प्रमुख विचारधारा के विशिष्ट समालोचक हैं और उनकी पसना व्यासवादी कवियों के समालोचक-व्यवहार के साथ-साथ आचार्य पं० मन्वेदुसारे बाबूदेवी डॉ० मन्वेद तथा पं० आश्विप्रिय त्रिवेदी जैसे शोधमूलक स्वच्छन्दतावादी समालोचकों की श्रेणी में की जाती है। इन समालोचकों द्वारा प्रसारकालीन समालोचना को घासीन उत्कर्ष एवम् वैभव प्रदान किया गया है। धन प्रसार काल २ के अत्यन्त पुनर्जन्म-युग की उन प्रवृत्तियों तथा प्रमुख समालोचकों की उपनमियों का विवेचन किया जायगा जिससे यह स्पष्ट हो सके कि वर्तमान युग की ऐसी और कौन-कौन सी प्रमुख माय्यताएँ हैं जिन्हें समालोचना के विकास को यथोचित सहयोग मिला है।

साधना की दृष्टि से प्रथम है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि विज्ञान लेखक ने प्रथमवर्ष उन साधनाओं की भी चर्चा कर दी है जिनका कबीर के जीवन-वर्षों से सम्बन्ध रहा है। ऐसा करते हुए हिरेदी भी ने साधन-साधनों के ऐतिहासिक विकास की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। पुस्तक के परिशिष्ट में कबीर-वाली के २५६ पदों का संग्रह है जिनके प्रारम्भ के सौ पद प्राचार्य निरतिमोहन सेन के संग्रह से संकलित किए गए हैं। इनके द्वारा कबीर-साहित्य की मासमूर्ति तक पहुँचने में यथेष्ट सहायता प्राप्त की जा सकती है।

१८८ इसमें कोई संदिग्ध नहीं कि प्राचार्य हजारीप्रसाद हिरेदी प्राथमिक हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख-विचारक हैं और उन्होंने साहित्य जगत् को मानववादी दृष्टिकोण प्रदान किया है किन्तु समालोचक की दृष्टि से उनका व्यक्तिगत सेवा समग्र हुआ नहीं है। सेवा प्राचार्य महावीर प्रसाद हिरेदी तथा रामचन्द्र शुक्ल का था। बात यह है कि हजारीप्रसाद की प्रतिभा में छोप परकटा और प्राचीन संस्कृति की मनन-शक्ति का प्रावण्य है। यद्यपि वे विपुल साहित्य-क्षेत्रों में बहुत कम समालोचना लिखने का अवकाश पाते हैं। उनका कबीर नामक ग्रन्थ भी इस कथन का प्रमाण है। इसमें उन्होंने साधारणतया श्रद्धापूर्वक साहित्य-समीक्षा-पद्धति का अनुसरण कर अपनी छोक-प्रकृति का ही प्रकाशन किया है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि इतर समालोचकों ने कबीर को केवल पुनाहा जाति का कह कर उसके जाति-निर्णय-यत्न से ही छुट्टी पा ली किन्तु छोकप्रिय हिरेदी भी को इतने से ही संतुष्ट नहीं हुई। उन्होंने प्रस्तावना के अन्तर्गत पुनाहा जाति सम्बन्धी पौराणिक मताओं का अन्वेषण कर उनकी कड़ी धार्मिक शक्तों के साथ जोड़ दी है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि बगनबीदी जातियों की जो साक्षात्करावक बगना बुनी जाति से सम्बन्धित है, वह किसी प्रकार मा हिन्दु, ना मुसलमान भाव से सम्मिश्रित होकर धार्मिक रूप तक चली जा रही है जिसमें अन्य सेने के कारण कबीर के मानसिक संरचना का भी सेवा ही निर्दिष्ट हुआ था। इस प्रकार हिरेदी जी का यह विवेचन कबीर की मानसिक प्रकृति को हृदयवन्त कराने के लिए निश्चय ही एक प्रकार से लुब्धी का काम होता है, जिसके आधार पर हजारी कबीर-विषयक अनेक समझों का समाधान सहज-साब से हो जाता है।

१८९ हिरेदी जी ने कबीरदास पर योग्यता का प्रमाण निरूपित करते हुए अनेकवृत्त बन्ध का ऐतिहासिक और व्यावहारिक विश्लेषण भी किया है। वे 'साधारण योपी और अनेकवृत्त' में अनेक मतों के विज्ञान और उनका कबीर के मत पर पड़ने वाला प्रभाव विशुद्ध धर्मोत्तम और उत्तम प्राहिणी बुद्धि से व्यक्त किया है वह हिन्दी-साहित्य में अपूर्व है। इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार हजारी जी की साधना निरन्तर की है, योग्यपरक रूप तथा अन्तर्भावित ब्रह्म और माया सिद्धांत राम बाह्याचार प्रादि पर भी उनके विचार मनन करते योग्य हैं। भारतीय धर्म-साधना में कबीर का स्थान निर्धारित करते हुए उन्होंने उनके व्यक्तित्व का जो विश्लेषण किया है, वह हमारी अनेक प्रकार की कबीर-विषयक कक्षाओं का समाधान करने के लिए प्रमाण्य है, यह एक प्रसिद्ध भी है किन्तु 'प्राति-निवेदन' के परिभाषा और मानसिक संरचना के नाम्नीय ने उन्हें जो सूक्ष्म-दृष्टि और प्राहिता-शक्ति प्रदान की है, वही प्राथमिक हिन्दी साहित्य-समालोचना में किसी अन्य के पास है भी या नहीं यह एक विचारपूर्ण विषय है। वस्तुतः हिरेदी जी की प्राथमिक समालोचना केवल पिच्छ-लेखन न होकर एक मौखिक-जीवन दृष्टि से धनस्य अनुप्राणित है जिनमें उनके सम्मीर विप्लव और नवोदयपूर्ण धर्मस्य के रूप में किया है जिसमें अन्तर्भावित ही अधिक है।

१९० प्राचार्य हजारीप्रसाद जी हिरेदी ने हिन्दी साहित्य के उद्भव और विकास का विवेचन अपने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में किया है जिसमें अन्तर्भावित ही अधिक है।

प्राधुनिक हिन्दी-साहित्य में समासोपना का विकास

संज्ञानात्मक विवेचनाओं के अन्तर्गत मानव-मनोविज्ञान से सम्बन्धित जो विस्तरेण क्रिया या वह एतद्बिषयक भारतीय और पाश्चात्य मान्यताओं के समन्वित स्वरूप के कितना निकट या दूर उसके पिछ-पेपण से हमारा यहाँ विषये-प्रयोजन नहीं है। हमें तो केवल यही देखना है कि मूलभूत रूप में प्रचलित यह मनीषी समीक्षा-पद्धति किम-किम तरहों और माध्यामों को लेकर अपना स्वतन्त्र निर्माण करती हुई विकसित हुई और उस पर सिगमण्ड फ्रायड और जूँस आदि मनोविश्लेषणकारी विचारकों को मान्यताओं का कैसा कैसा प्रभाव है।

१ साहित्य-समासोपना के क्षेत्र में जिस मनोविश्लेषण-शास्त्र ने अपना प्रवेश किया है उसके मूलभूत सिद्धांतों का सामान्य परिचय हमारे लिए आवश्यक है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी जगत् में फ्रायड के पूर्व ही बिना में प्रचल ही नहीं हुए थे और फ्रायड ने ही मनोविश्लेषण शास्त्र (माइक्रो अनालिसिस) का प्रवर्तन किया या किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस प्रास्ट्रिया निवासी डाक्टर ने मनोविश्लेषण को केवल औपचारिक और मानविक उपचार तक ही सीमित न रख कर उसे साहित्य और कला के व्यापक क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया।^१ यद्यपि फ्रायड की बिकसित मान्यता में फ्रायड की विचारधारा अनेक दृष्टियों से एकलौती और अपूर्ण सिद्ध हो चुकी है और मनोविश्लेषण शास्त्र केवल उसी तक सीमित नहीं रह गया है किन्तु भी यह सिद्ध हो चुका है कि उसके तार्किक निष्कर्ष और कामचुति विषयक दृष्टिकोण का प्राधुनिक मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में भी कम महत्त्व नहीं है क्योंकि बिना उसका परिचय प्राप्त किन्ने हमारे लिए इस क्षेत्र में घासे बढ़ना कुछ कठिन-सा है। यह कोई धारणा नहीं कि हम फ्रायड की धारणा से सहमत हों और उसी के दृष्टिकोण को ही समीचीन समझें, किन्तु उसकी एक सीमा तक प्राधुनिक साहित्य-संज्ञन की प्रेरणा में जगामेयता अवश्य है इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

४ फ्रायड ने अपने मानस-शास्त्र के विवेचन के मूल में सर्वप्रथम मन के तीन स्तरों की स्थिति मानी है जिन्हें वेतन अर्चयित और अवचेतन मन की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। उसके मनुष्यार हमारे सामाजिक जीवन का संज्ञात्मक वेतन मन के द्वारा होता है जिसकी क्रियाओं का बोध हम स्वप्न रूप में सुविधापूर्वक हो सकता है किन्तु मन की कुछ ऐसी वामनाएँ भी हैं, जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त न होने के कारण वेतन मन को जगदा दपन करना पड़ता है। ये दमित वासनाएँ जब सामाजिक बन्धन अवस्था सम्पत्ता के विचारित बाह्य प्रतिपत्तियों के कारण अभिव्यक्त नहीं हो पाती तो मन की दूसरी पट्टी की ओर उन्मुख हो जाती हैं जिसे फ्रायड अवचेतन मानता है। वेतन और अवचेतन के मध्य में मन का तीसरा स्तर है जो अवचेतन कहलाता है। मन के इन तीन स्तरों की स्थिति का विस्तरेण करते हुए फ्रायड ने बतलाया है कि यदि वेतन मन को पानी के ऊपर तैरते बाले किसी घिसाकण्ड का एक लौपाई यात्र मान लिया जाय तो अवचेतन की उपमा उसके उस तीन लौपाई से ली जा सकती है जो पानी से गीचे होने के कारण घरेलू घरेलू है। अवचेतन इन लोगों के बीच द्वार का काम करता है। फ्रायड का विश्वास है कि सामाजिक अभिव्यक्ति में असमर्थ बनी हुई हमारी दमित वासनाएँ यद्यपि अवचेतन का मार्ग जोखने में घटत प्राधुनिक रहती हैं। उनका यही प्रयत्न होता है कि वे किसी प्रकार मार्ग में कुपित कर दी जाती हैं किन्तु यहाँ पर भी वे निश्चित बन कर नहीं बैठतीं अपितु अपने निष्कासन का मार्ग जोखने में घटत प्राधुनिक रहती हैं। उनका यही प्रयत्न होता है कि वे किसी प्रकार मार्ग वेतन के द्वार से निकल कर वेतन मन में प्रवेश कर सकें। जूँस आपत अवस्था में सामाजिक

१ फ्रायड १९२३ की प्रथम प्रसिद्धि पर आधारित किन्ने हिन्दुस्थान के प्रयोग द्वारा एक नई विचार-प्रणाली विकसित की। फ्रायड का चर्चा का प्रयोग करने में तो मजबूत नहीं कुछ किन्तु उसने यह मनोविश्लेषण विचार-विधि बस्य प्रयोग की।

आधुनिक हिन्दी-समालोचना का प्रसार-काल—२

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और उनका सामान्य परिचय

१ पूर्व अध्याय में युक्तोत्तर युग की सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति और उसके प्रमुख समीक्षकों का संक्षेप विवेचन कर दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में उनके द्वारा किस प्रकार विकास-मार्ग को उल्लंघन और प्रसार प्राप्त हुआ है। वस्तुतः इस प्रकार की प्रवृत्ति और समीक्षा-कृतियों से हमारा साहित्य एक प्रकार की समन्वयपूर्ण दृष्टि की उपलब्ध कर सका है जिसमें उसका विधुत रसालाभ स्वल्प मुखाब्ज रूप से विवेचित हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में प्रसार-काल की उन प्रमुख प्रवृत्तियों का स्वरूप विस्लेषण करने का प्रयत्न किया जायगा जो सौन्दर्य-मूलक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के साथ-साथ अपना स्वतन्त्र विकास करती चली हैं तथा जिन्होंने साहित्य-वरीकण के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान देने की चेष्टा की है। इन प्रवृत्तियों का मूल उत्स भुक्त्यर्थ काव्य-साहित्य ही है जिसका प्रभाव साहित्य के इतर क्षेत्रों पर भी परिलक्षित है। सुविधा की दृष्टि से इन प्रवृत्तियों को क्रमशः मनोविस्लेषणवादी प्रवृत्ति, प्रतिभावादी प्रवृत्ति तथा प्रयोजनवादी प्रवृत्ति के तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है, जिनका निर्माण जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों से हुआ है। यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्तियों में स्वयं-समयन की भावना ही प्रचलित है किन्तु समीक्षा-विकास की दृष्टि से इनमें अवश्यमेव प्रवृत्ति हुई है। यद्यपि ये सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कही जा सकतीं। इन प्रवृत्तियों के समर्थक समालोचकों ने अपने अध्ययन का प्रयोजन भिन्न प्रतिमानों के आधार पर साहित्य-समीक्षण के मार्गदर्शक किया है। उससे उसका एक-पक्षीय विज्ञान तो व्यापक स्वरूप में विवेचित हुआ है, किन्तु साहित्य के समन्वयपूर्ण पक्ष का निष्कर्ष व्यापक मात्रा में हुआ है। ऐसी परिस्थिति में इन प्रवृत्तियों का सामान्य विवेचन ही साधारणतया उनके दृष्टिकोण का परिचय प्रस्तुत करने में समर्थ माना जायेगा। यद्यपि इन प्रवृत्तियों का मूल विवेच्य विषय निरूपित कर उनके प्रमुख समालोचकों के सम्बन्ध में विवेचन सामान्य उद्देश्य किया है जिससे उनकी विचारवादा और समीक्षा-दर्शनी का बोध हो सके।

(१)

साहित्यालोचन की मनोविस्लेषणवादी प्रवृत्ति

२ आधुनिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल में फ़ायद जुग और एडलर के मनोविस्लेषण-साहचर्य ने भी एक विशेष प्रकार की समीक्षा-प्रवृत्ति को जन्म दिया है, जिसे मनोविस्लेषणवादी समीक्षा कहा जाता है। जैसे तो भारतीय रस-भीमांसा के मार्गदर्शक भाव विभाव अनुभाव और संघाती भावों को लेकर जो साह्यीय विवेचन हुआ है, यह भी एक प्रकार से मानक-मनो-विज्ञान के मूलमूल तत्त्वों से ही सम्बन्ध है, किन्तु आधुनिक प्रणाली की मनोविस्लेषणवादी समीक्षा उससे विभिन्न स्वरूप में संघटित हुई है। पूर्व अध्याय में इस विषय का विवेचन कर दिया गया है कि डॉ॰ क्यामबुम्बरदास एवं रामचन्द्र शुक्ल तथा बाबू गुलाबराय आदि विद्वानों ने भी अपनी

क्यावड का यह साधन मनोविश्लेषण कामवाचना की मूल विधि पर आधारित है, जिसमें अपने समय में निरिच्छत ही एक महान् क्षमति की भी धीरे-धीरे प्रभाव से धाज भी साहित्य-संसार पुरुषतामा मुक्त नहीं हो सका है।

मानव-स्वभाव और साहित्य-सृष्टि

१. क्यावड का मनोविश्लेषण-शास्त्र प्रसारकालीन साहित्य-समासोचना का एक प्रमुख साधन है। उसके द्वारा रचनात्मक साहित्य की मूल-प्रेरणा का विश्लेषण तो किया ही जाता है, किन्तु साथ ही साव-रचनाकार की मन-स्थिति भी स्पष्ट की जाती है। क्यावड ने अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र में मनुष्य-स्वभाव का तीन चारों में विभक्त किया है जो मौखिक युवा-सम्बन्धी और अनेनिय-सम्बन्धी स्वभाव कहे जा सकते हैं। क्यावड की मान्यता है कि मनुष्य के जीवन में काम प्रवृत्ति का उदय केवल उसके जीवन में ही नहीं होता बल्कि उसकी उत्पत्ति करने के जन्म के कुछ ही दिनों के उपरान्त हो जाती है। वह स्वभावों धिमे में भी काम की क्षम-प्रसक्तता सिद्ध करता हुआ उसके मौखिक स्वभाव का आभास उस क्षमा में पाता है, जिसमें वह माता का रूप चुनने में एक प्रकार के धान्य का अनुभव करता है। इसी प्रकार युवा-सम्बन्धी स्वभाव का आभास तब बालक के मन-रसाग की क्षमा के धान्य में मिलता है, जो उसके विचारों में कम-विकसित होकर जीवन के धाने पर अनेनिय में संकेतित हो जाता है। इन तीन प्रकार की स्वभाव प्रक्रियाओं को लेकर क्यावड ने इस विषय का विशद विश्लेषण किया है कि किन-किन स्वभावों के कारण मनुष्य में आभासवादिता प्रकीर्णता प्रकृति शीघ्र-प्रियता सामाजिकता पलायनवादिता और कल्पना-धीरता प्रादि गुणों का प्राकृतिक होता है। क्यावड का इस प्रकार कामप्रवृत्ति को जीवन का मूल बल स्वीकार कर मानव-स्वभाव-निर्माण-विषयक विश्लेषण धारण करनेवाला है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सारी-विज्ञान के स्पष्ट उपकरणों की धार्ति मानव-जीवन को भी एक प्रात्मिक क्षमा से मापना चाहा है। ऐसा करते हुए क्यावड ने मनुष्य की व्यापक संवेदना और आत्मानुभूति की नाप-जोख सर्वथा मौखिक दृष्टिकोण से करने का प्रयत्न किया है और उसकी यह प्रक्रिया मनुष्य को एक ऐसी प्रात्मिक अवस्था (पुरुषत्व जीवन) के निकट लाकर रख देती है, जिसमें संस्कृति नैतिकता और आचार-शास्त्र का कोई स्थान नहीं है। यह तो यह है कि केवल मौखिक युवा और अनेनिय सम्बन्धी स्वभावों से मानव-हृदय की पृथीरता और व्यापकता की राह लेना और उसे अन्त-मनस कीचटों में बल करना एक प्रकार से उपहासार्थक प्रयास ही है। वस्तुतः क्यावड एक सारीरिक चिकित्सक था और वह मानविक रोषों का निदान करता हुआ उनका प्रयोग साहित्य और कला के क्षेत्र में भी करने के लिए सज्जत हो बना था। माना कि उसका निष्कर्ष सर्वथा मिथ्याभाव पर आधारित नहीं है किन्तु केवल यही धाज की खोज की एकमात्र कठौटी हो सकती है ऐसा समझना व्यावर्तयत नहीं कहा जा सकता। मनीनत की धौक में रहने वाली प्रसार-कालीन समासोचना का एक पक्ष क्यावडवादी विचारधारा का पक्ष-समर्थन कर रचनात्मक और विचारार्थक क्षेत्रों में जिस विमूर्खता का उदय कर रहा है वह स्वामी साहित्य के लोक-कल्याणकारी स्वयं के अनुकूल नहीं है। निस्सन्देह यह विश्लेषण एक प्रकार से मनुष्य की पृथु मान कर ही चलता है तभी तो उसे मनुष्य की सीमा केवल मन की प्रवचन स्थिति में ही केन्द्रित विचारार्थ पकृती है और वह धारणा की उस प्रकृत धर्मिता तथा गुण-प्रवृत्ति की और ध्यान नहीं दे पाता जिसमें उसे सर्वथा निर्मल और आर्थिक माना गया है। कुछ भी हो क्यावड की यह विचार धारा कम-से-कम भारतीय साहित्य की आदर्शवादी परम्परा के साथ तो व्याप करने में सक्षम अनुपमक्त ही कही जायगी।

प्रतिबन्धों के कारण यह सम्भव नहीं होता। यद्यपि सुस्पष्ट अवस्था में ही उनकी अभिव्यक्ति हो पाती है। जिसके फलस्वरूप वे स्वप्न या कला-सृजन की अवस्था माना है। उसके अनुसार हमारे जीवन में बहुत घोर अवचेतन मन का यह संघर्ष इतना उग्र होता है जिसके कारण अनेक बार तो ऐसी अनेक मानसिक प्रक्रियाओं की सृष्टि हो जाती है जिनकी अन्तिम परिणति हमें 'भूरोतिष्ठ' की स्थिति में अवस्थित कर देती है। फलस्वरूप का कथन है कि यदि हमारे चेतन मन पर सामाजिक घोर मर्यादा का बलन न हो तो वह अवचेतन के द्वार से जाने वाली अवचेतन की दमित इच्छाओं के निष्कासन पर कोई प्रतिबन्ध ही न लगावे किन्तु उनकी सामाजिकता उन्हें ऐसा करने से रोकती है। वस्तुतः मन की अवचेतन गति को रोकना बड़ा कठिन है, यद्यपि वह कहीं तो विरोध करके घोर कड़ी अवधान अवस्था में अपना निर्वचन करके ही मानती है। यही फलस्वरूप ने अपने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विवेचन किया है जिसके अनुसार साहित्य घोर कला हमारे अवचेतन मन में कुपित वासनाओं का एक ऐसा जलामयण उद्गार है जो मूल रूप में परिवर्तन करता हुआ कल्पना की क्षेत्र में धारम-संस्कार के द्वारा नवीन धारण पारण कर प्रकट होता है। इस प्रकार फलस्वरूप के अनुसार यह कहा जा सकता है कि साहित्य घोर कला हमारे चेतन और अवचेतन मन के सम्मिश्रित से उत्पन्न सामाजिक और कुपित यौन इच्छाओं के उपासीकरण के प्रतिरिक्त घोर कुपित नहीं है।

मन के विभिन्न स्तर और उनके काम

१. फलस्वरूप ने अपनी विचारधारा का स्पष्टीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया है जिसके अनुसार पूर्व विवेचित मन का विभाजन ग्रह, उपनिमित नैतिक ग्रह और एक अर्थात् अवचेतन-प्रवाह इन तीन स्तरों में किया जा सकता है। उसका विवेचित ग्रह चेतन की अभिव्यक्ति के प्रतिरिक्त घोर कुपित नहीं है जो सर्वत्र उपनिमित नैतिक ग्रह से सामान्य स्थापित करने के लिए प्रयत्न-सत्तर रहता है। इस सामान्य अवस्था अनुमान में एक अर्थात् अवचेतन-प्रवाह बाधक बनता है। इस के अन्तर्गत मन की वे धारित प्रकृतियाँ पाती हैं जिन्हें बाधक की सामाजिकता किसी भी रूप में स्वीकार करना असंभव नहीं समझती। क्योंकि उनका मानव-मन के साथ सम्बन्ध संस्कार-सम्बन्ध है यद्यपि उनका बाधक इतना ही कम किया जाय वे अपना परिवर्तन प्रदर्शित करने बिना नहीं रह सकती। फलस्वरूप की तो धारणा है कि यदि उनके निर्वचन का कोई उपाय न रहे तो मनुष्य की विक्षिप्त-वस्था की प्राप्ति से कोई सम्बन्ध ही न रहे। यद्यपि वह चेतन मन की दमित कामनाओं का सम्मीक्षण आवश्यक समझता है और यही उसकी यह धारणा पुनः प्रतीकित हो जाती है कि कला घोर संस्कृति मनुष्य के अवचेतन मन का उपासीकृत अभिव्यञ्जन है, जिसकी मूल प्रेरणा हमारी कुपित काम-वासनाएँ हैं। वह तो यही तक मान कर चलता है कि कला जीवन के संघर्ष से पलायन है और उसके क्षेत्र में कुपित काम-चेतना ही प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्त होती है जिसका प्रसार हम स्वप्न काव्य-कल्पना और कला-कृतियों के स्रष्टा-विशेषों में देखते हैं। घोर तो घोर वह कला का नैतिकता धारण और लोकमय से भी कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करता। वह काम की मूल-प्रति के विचार में धारम-सम्बन्ध, मातृरति और विभागीय रति इन तीनों की स्थिति स्वीकार कर यही प्रतिपादित करता है कि हमारे जीवन की मूल प्रेरणा कामवासना या यौन सम्बन्ध है और यों-ज्यों सामाजिक नैतिकता ने उसका दमन किया है, वह अवचेतन मन की अनेक मानसिक प्रक्रियाओं में कुपित होकर कला-निर्माण स्वप्नसृष्टि, शैविक जीवन के प्रवाह घोर विशेष धारि के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करती पाई है। हाँ यह बात प्रमाण है कि जो विशेष श्रेणी के प्रतिमा सम्पन्न व्यक्ति हैं वे उन्हें कला-कृतियों के रूप में धारम और सर्वपात्र बना देते हैं और ऐसे सामान्य प्राणी अपने-अपने स्तर के अनुसार उसे धारमाभिव्यञ्जन प्रदान करते हैं। इस प्रकार

का कारण होती है। उसके मतानुसार नैसर्गिक रूप से प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि वह दूसरों पर विजय प्राप्त कर अपने प्राप को श्रेष्ठ सिद्ध करे और सर्वशक्तिमान बनने का प्रयास करे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चाहना उसमें स्वभावगत है। यदि मनुष्य में किसी क्षेत्र में धारमहीनता का भाव भी है, तो वह उसकी पूर्ति किसी अन्य व्यक्ति का विकास करते हुए करना चाहता है। एकर के मतानुसार दूसरों पर अपनी शक्ति स्थापित करने की यह भावना मनुष्य में स्वाभाविकता से ही पाई जाती है। उसने अपने विवेचन के क्रम में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वास्तविकता ही से लेकर व्यक्ति किस प्रकार क्रि-क्रि-क्यों में अपनी प्रभु-सत्ता की स्थापना करना चाहता है। जिस प्रकार प्रत्येक प्रत्येक मानसिक विवृति के मूल में समित काम कुम्भारों को स्वीकार करता है उसी प्रकार एकर मानसिक वृत्तियों का मूल कारण समित विवेक कामनाओं को मानता है। उसका कहना है कि हीनता-सन्धि (इन्फिरिअरिटी काम्प्लेक्स) सभी मनुष्यों में पाई जाती है जिसके कारण मनुष्य की जीवन-दृष्टि का निर्माण होता है। एकर के मतानुसार कला-निर्माण और साहित्य-सृजन के मूल में भी इसी धारमहीनता की भावना से निस्तार पाने की प्रवृत्ति है। उसका विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को समाज व्यवसाय और प्रेम-वर्षा के अनुकूल बनाना चाहता है जिसके मार्ग में उसकी दार्शनिक मानसिक पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियों अनेक बार अवरोधमूलक बन जाती हैं। उसके मतानुसार यदि व्यक्तियों को अपने विकास के लिये अनुकूल वातावरण मिलता रहे तब तो किसी प्रकार की धारमहीनता का कोई अवकाश ही नहीं रहता किन्तु अनेक बार सामाजिक प्रतिबन्ध उसकी उन्नति के मार्ग में बाधक बन कर उसके मानस में धारमहीनता उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के मानस में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है और यह प्रतिक्रिया मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए जवमें उदात्तता या उच्चता का प्रादुर्भाव करती है। साधारण व्यक्ति का मानस भी ऐसे मार्गों से संपीडित रहता है, किन्तु समाज के मय से वह अपनी उच्चता की आवश्यकता किम्बार्गों का प्रकटीकरण नहीं कर पाता। साहित्यकार अथवा कला-स्रष्टा के मार्ग में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं आती क्योंकि वह अपनी मानसिक क्षतिपूर्ति के लिए एक ऐसे कल्पनाशील लोक का निर्माण कर लेता है, जिसमें उसे अपने अव्यक्त प्रेम विलिप्त सम्मान और कुण्ठित व्यक्ति की क्षतिपूर्ति का क्षेत्र मिल जाता है और जिसकी अभिव्यचना अपनी प्राथमिक योग्यता से सर्वश्रेष्ठ मानस का भी विधान करने में अनर्थ हो जाती है। इस प्रकार एकर के मतानुसार कला-सृष्टि व्यक्ति की धारमहीनता की मानसिक क्षतिपूर्ति है। उसके अनुसार निम्न लोगों में इस प्रकार की अवस्था नहीं होती वे अपने सामाजिक व्यक्तित्व के कारण विलिप्त भी हो सकते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'हीनता का बोध' 'उससे उद्भूत क्षतिपूर्ति की प्राप्ति' तथा 'उस प्राप्ति को मूर्त बनाने के लिए व्यक्ति-संयोजन की प्रवृत्ति' य तीन घाटों ही एकर के मनोविज्ञान की आधार-विन्यास हैं।

जुग की मान्यता और उसका उदात्त पक्ष

६. जुग भी प्रत्येक का विषय और सहयोगी या विरुद्ध मनोवैज्ञानिक विस्तारप्रत्येक प्रत्येक के मनोविस्तार-धारण से अधिक व्यापक और गम्भीर है। उसने मानसिक स्वभावों का बहुत अधिक विस्तारपूर्ण किया है। उसने मन की मुख्य चार किम्बार्गें आत्मिक भावात्मक अन्तरात्म बोधात्मक और संवेदनात्मक मानी हैं जिनके अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी चार प्रकार का होता है। उन चारों स्वभावों को अन्तर्मुखी और बाह्यमुखी वृत्तियों में श्रेणीबद्ध करने से उनके घाट पेर हो जाते हैं। इन चार स्वभावों का व्यापक विस्तार करते हुए जुग ने बताया है कि इनके कारण मनुष्य में किस प्रकार स्वच्छन्दवादिता सीख्यप्रियता अत्यानुपमिता उद्दमता आदि गुणों का संघार होता है। जुग ने अपने वर्गीकरण को अधिकारिक वैज्ञानिक बनाते हुए अपने विस्तार को

फायबेस ग्रन्थमंन और भारतीय काम-धर्म

७. फायब ने जिस ग्रन्थमंन का विश्लेषण कर काम-वासना को साहित्य की मूल प्रेरणा निर्धारित किया है उसका अत्यन्त सार्वत्रिक और उदात्त स्वरूप भारतीय साहित्य में भी उपलब्ध है जिसका साधारण ह्मारा नैतिक और सांस्कृतिक जीवन कहा जा सकता है। हमारे साहित्य-शास्त्र और दर्शन-ग्रन्थों में भी 'काम' को जीवन में धर्म धर्म और मोक्ष के समकक्ष स्थान दिया गया है जिससे स्पष्ट है कि वह भी जीवन की एक अभिवार्य फल-प्राप्ति के अन्तर्गत समाविष्ट है। वस्तुतः उसकी प्रेरणा को स्वप्न का मूलाधार मान कर हमारे भाषाचार्यों ने उसका संस्तर भी कम नहीं किया है। अन्त्याम्य साहित्य की भाँति भारतीय साहित्य में भी शृंगार रस का जो बाहुल्य रहा है वह साहित्य के प्रमुख ध्येय आनन्द की पसोकिकता का भौतिक भावना में ही अभिव्यञ्जन है। शृंगार को रसराज कह कर उसकी प्रक्रिया में समस्त रसों को ब्रह्म करने का प्रयत्न इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सच तो यह है कि भाषाचार्यों के विश्लेषण में प्रयुक्त मार्बुर्य कागित कोमलता और उरुता साथि कुछ सौन्दर्य की मूल-भावना कायबूति से ही सम्पन्न हैं और साहित्य को कान्तासम्मित उपदेश कहने में भी उसी वृत्ति का परिपुष्कल है। रामान ने तो स्पष्ट शब्दों में 'कानोपचार बहुल-नहि वस्तु काम्यम्' कह कर इसी तथ्य की धोर संकेत किया है। अण्वाण कीकृष्ण ने भी बीता में अपने प्रापको 'धर्माविक्रम कानोपमिन्' कहा है। इसी ही नहीं अन्य रसों के समर्थक भी अन्त्याम्य प्रक्रिया में शृंगार का ही समर्थन करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह स्वतः सिद्ध है कि भारतीय विचारकों की दृष्टि में इस बात का उत्पन्न-विस्तार माने से नहीं डर सका वा कि काम जीवन की मूल वृत्ति है और उसकी रति-भावना अन्त्याम्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य-सर्वना के क्षेत्र में भी अपना अनेकित महत्त्व रखती है। हाँ यह बात दूसरी है कि फायब ने जिस भौतिक प्रतिमान पर अपने मनोविश्लेषण-शास्त्र में काम का विश्लेषण किया वह प्राचुरिक जीवन की स्तुत दृष्टि के लिए अधिक आकर्षक वा जिसे सुख की विकृति प्राप्त बचन मान बैठे और साहित्य-समीक्षा भी उसके प्रभाव से अनात्मन् नहीं रह सकी। कहा जा सकता है कि आदर्शलिख भाषाचार्यादिनों ने वहाँ साहित्य की नीति और उपदेश की कारा में यंत्रणा-ग्रस्त कर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व पर प्रलयाचक चिह्न लगा दिया तो अन्त्याम्यतनाचार्यादिनों ने उसे अवचेतन मन की पुटन कह कर उसके अन्त्याम्यमी चेतन के प्रति विरोध का प्रदर्शन किया। इस प्रकार दोनों पक्षों के विचारकों ने अपनी-अपनी मान्यताधर्मों के अनुकूल वास्तविक सत्यानुसन्धान का पक्ष त्याग कर अपनी पक्षिकता में साहित्य के प्रयागन को ऐसी एकाग्रिता पर पहुँचा दिया जिसमें इन दोनों के लिए समझौते के अवकाश बहुत कम रह पड़े।

एडलर का सिद्धान्त और हीमता-प्रमिथ

८. फायब के प्रतिरिक्त उसके सिध्द एडलर और जून ने भी मनोविश्लेषण-शास्त्र को लेकर उसका संयुक्त साहित्य और कलाधर्मों के निर्माण के मूख में विनैचित किया है जो 'साइको प्रानालिसिस' न कहना कर क्रमशः 'इंडिविजुएल साइकोलोजी' तथा 'एनालेटिकल साइकोलोजी' कहनाते हैं। इस प्रकार के मिल नामकरण का कारण यह है कि जब फायब का अपने इन दोनों सिध्दों से विरोध हो गया तो उसने उसके साइको प्रानालिसिस का नाम अपने लिए सुरक्षित रखते हुए नवीन नामकरण करने का अनुरोध किया। एडलर फायब का सिध्द होने के साथ-साथ उसका सहयोगी भी वा और धर्म 'पने' उसकी मान्यता फायब से मिल कोटि की बन गई थी। उसने फायब द्वारा प्रतिपादित 'निविरो' को काममूलक धर्मि मानने वाले सिद्धान्त का विरोध किया है। वह अपने मनोविज्ञान में संक्षेप को कोई महत्त्व नहीं देता और इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करता है कि 'व्यक्ति की निश्चित पारिवारिक धर्मवा सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसकी निश्चित मानसिकता के निर्माक

प्रपत्ती समीक्षा में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से न पड़े तो वह कदापि पूर्ण और वैज्ञानिक नहीं करी जा सकती। इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य की प्रेरणा तथा कथा-साहित्य तथा कथन-कृतियों के निर्माण तथा विस्लेषण में अधिक देखा जाता है। अनेक बार तो ऐसा भी हुआ है कि नवीनता की धोर धाड़-टट बने हुए हमारे मनोविस्लेषणकारी समालोचकों ने भारतीय साहित्य के विवेचन में भी अपनी कथनकारी साम्यवाद भटित करने की चेष्टा की है जिससे भारतीय साहित्य की प्रासंगिकता को यथेष्ट प्रकट किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने इस बात की धोर बहुत कम ध्यान दिया है कि प्रत्येक देश तथा उसके साहित्य की एक सांस्कृतिक परम्परा होती है जिसको आधारसिमा बना कर चलने से ही समीक्षा के सम्यक्सायत्व का निर्वाह हो सकता है।

११ प्रचार-कामीन समालोचना की इस मुख्य प्रवृत्ति पर कसब एडबलर धीरे धीरे के मनोविस्लेषण-शास्त्र का तो इतना अधिक प्रभाव है कि उसके नाथ पर साहित्य के अन्वेष, निर्माण तथा प्रयोजन के सम्बन्ध में ऐसी अनेक सर्वनाई उपस्थित की जाती हैं किन्तु प्रमुख सत्य साहित्य को प्रमुख काम-बासनाओं का विस्फोट सिद्ध करना होता है। इन समालोचकों की दृष्टि में साहित्यसोचन का यह एक ऐसा मौलिक धोर मनोवैज्ञानिक प्रतिमान है जिसका सम्बन्ध हमारे जीवन की यथार्थ धोर मूल प्रवृत्तियों से बहुत अधिक है और जिसके द्वारा किसी भी देश का साहित्य एक व्यवस्थित विधि में समीक्षित हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी यह मान्यता निस्सन्देह पक्षपातपूर्ण और अवैज्ञानिक है। जिन भारतीय महर्षियों ने मानस-शास्त्र को अपनी दार्शनिक विवेचना का आधार बना कर आत्मविन्दन के बस पर प्रकृति प्रकृत तथा आत्मा के सम्बन्ध में तात्त्विक विस्लेषण किया या वे मानस-विकृतियों को भी स्पष्ट कर सकते थे किन्तु उन्हें उसमें जीवन का वह उदात्त पक्ष अभिमुख होना हुआ नहीं प्रतीत हुआ जो हमें प्रेम से प्रेम की धोर से जाने वाला हो। यही कारण है कि उन्होंने इन विषय की प्रेरणा की धोर अपने विवेचन को प्रासंगिकता की धोर ही सम्मुख रखा। यहाँ के समीक्षकों का सिद्धान्त तो 'सा विद्या या विमुक्तये' का अर्थ है इस प्रकार के प्रवक्तव्यपूर्ण बचन के ढेर में बिसफुल नहीं पड़े। यदि उन्होंने जीवन के प्रमुख सत्य प्रवृत्तियों के अन्तर्गत काम का विवेचन भी किया तो उसे बहुत ही उदात्त और प्रासंगिक स्वयं में रखा। इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे समीक्षकों की जीवन दृष्टि मौलिकवादी पश्चिमी जगत् से सर्वथा भिन्न थी अतः उनके मूलबर्तों धारों की प्रेरणा कर उनकी साहित्य-परम्परा को इस नवीन प्रेरणा की समीक्षा-प्रवृत्ति से विवेचित करना कहीं तक समीचीन है, यह साहित्य-मनोविषयों के लिए यथार्थ विवेचना का विषय है। यदि कथनकारी विचारवादा से भारतीय साहित्य का समीक्षण किया जाय तो हमें अपने तपस्व महर्षियों को उनके निर्मित तथा त्यागमय जीवन के पवित्र प्रासन से हटा कर ऐसी भेरी में धाकर रखना होगा जहाँ उनकी सारी साहित्य-सर्वथा प्रमुख काम-बासनाओं का विस्फोट सिद्ध की जायगी। हमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे साहित्य में भी मृन्मर की रसराजत्व मिला किन्तु वह विकृत न होकर विपुल कमलमय विचार में ही था। यहाँ के साहित्यकारों ने धीरावस्था राधाकृष्ण धारि के जीवन का जो सौन्दर्यमय चित्रण किया है उसके मूल में उनकी प्रासंगिक-दृष्टि कहीं पर भी अडिग नहीं हुई है। यदि ऐसा होता तो रामायण तथा महाभारत का धाव भी हमारे सांस्कृतिक तथा आत्मिक जीवन में इतना महत्त्व नहीं होता। अभिप्राय यह है कि कथनकारी समीक्षा का हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में प्रवेश भले ही एक नवीन पटला समस्त भी जाय किन्तु उसका समस्त सनातन रूप से भले धाएँ भारतीय साहित्य के साथ नहीं किया जा सकता। जैसे तो हमारे यहाँ भी साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा स्वार्थ-मुखाय भावना मानी पर है, किन्तु वह भावना कृष्ण प्रवक्ता पुष्ट का विस्फोट न होकर मय की ऐसी अस्वाभाविक भावनाओं का अभिव्यक्ति है जो कवि का स्वार्थपूर्ण अथ वेध न होकर उसका ऐसा आत्म-प्रसार है जो हृदय के अन्तर्गत प्रेरणा तक ही सीमित नहीं है, अपितु जिसकी अन्तर्दृष्टि विस्-

ऐसी व्यवस्था में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जिनके अनुसार कलाकार जबका मूर्जनमीम प्रतिभा नामक व्यक्ति का मानसिक विकास सुविधापूर्वक सम्भव हो सकता है। इसमें कोई शंका नहीं कि जूंग ने अपने विस्लेषण को अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है किन्तु उसके बर्गीकरण में भी मनुष्य-स्वभाव की सत्ता और इच्छा को संकेतित किया जाना सम्भव नहीं है क्योंकि मानव स्वभाव अनन्त संवेदनाओं से व्यापूरित है और उसके स्पन्दन को इस प्रकार के स्तुत विभाजन में परिशीलित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मानवीय स्वभाव को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियों की श्रणियों में भी किसी निश्चित नियम के अनुसार बाँट नहीं किया जा सकता क्योंकि ये दोनों विभेद भी केवल औपचारिक हैं। परन्तु सभी दृष्टियों से जूंग का विस्लेषण भी अत्यन्त महत्त्वशाली हो रहा है। अपूर्ण-सा प्रतीत होने लगता है। फिर भी यह बात प्रबल है कि जूंग ने फलमूलक और एकरूप की अपेक्षा अन्तर्मुखियों का विस्लेषण अधिक व्यापकता से किया है और वह फलमूलक की भाँति अचेतन मन को समित वासनाओं का आधार मानता हुआ भी एक ऐसे समष्टि मन की भी कल्पना करता है जिसका समित वासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार जूंग के मतानुसार अचेतन मन के भी दो स्तर हैं जिन्हें वैयक्तिक अचेतन और समस्त अचेतन कहा जा सकता है। वैयक्तिक अचेतन मन में हमारी मूल और नैसर्गिक समित वासनाओं का कोष रखा है किन्तु समस्त मन के स्तर में हमारे सौन्दर्य-श्रेय नैतिकता और अन्य मानवीय स्वभाव की विशेषताओं की समष्टि होती है। जूंग की साम्यताओं में उसी मनुष्य का व्यक्तिगत पूर्ण रूप से विकसित कहा जा सकता है जो अपने वैयक्तिक और समष्टिमय अचेतन मन में समन्वय स्थापित कर सके। ऐसा होने पर ही मनुष्य की प्रतिभा को अधिक से अधिक निखारने का अवसर मिलता है और सब तो यह है कि हमारे समष्टि मन की अचेतनता ही हमें बहिर और आन्तरिक प्रेरणाएँ प्रदान करने का आधार बनाती है। इस प्रकार जूंग के मत से साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा केवल प्रयुक्त काम-क्रुद्धियों का ही अवासीकृत विस्फोट नहीं अपितु समष्टि मन की अवचेतन गति है जो समित वासनाओं को ही व्यक्त न कर बाह्य का भी संस्थापन करती है।

साहित्यसोचना में मनोविस्लेषण-शास्त्र का प्रवेश और प्रभाव

१. फलमूलक एकरूप और जूंग के मनोविस्लेषण-शास्त्र का जो पूर्व पृष्ठों में सामान्य परिचय दिया गया उसका सर्वप्रथम प्रयोग किसी समय पश्चिमी समीक्षा शास्त्र में अत्यधिक विस्तृत रूप में हुआ था। फ्रेडरिक जेम्स ने जेम्स का मनोविस्लेषण करके हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वह अपनी एकीपक्ष नामक ग्रन्थ की क्रियाशीलता के कारण ही किमर्तव्यविमूढ़ बना रहा। इसी प्रकार डॉक्टर समरसेट ने भी अपनी आलोचना पुस्तक 'मेडनेस इन वेचस्पीरियन ट्रेजेडी' में सेक्सपीयर के पात्रों का मनोविस्लेषण इन्हीं प्रतिमानों को अपना आधार बनाकर किया है। इन विस्लेषणों का मूल आशय यही था कि किसी भी कृति की समीक्षा करने के पूर्व उसमें प्रयुक्त पात्रों के परिच-निर्माण की उन व्यवस्थाओं का ज्ञान कर लेना चाहिए, जिनके कारण उनका मानसिक विकास हुआ था। हर्बर्ट रीड ने तो अपनी मनोवैज्ञानिक समासोचनाओं में रचनाकार की मानसिक संस्थिति का क्रियात्मक अभिव्यञ्जन ही उनकी कृतियों के रूप में सिद्ध किया है। इन मनोविस्लेषण समीक्षकों ने नैतिकता बाह्य तथा सुख को सर्वत्रा उपेक्षणीय समझ कर केवल आन्तरिक यथार्थ का नाम पर कृति प्रकाश उसमें प्रयुक्त पात्रों का मनोविस्लेषण किया है। साथ ही साथ उनका एक उद्देश्य यह भी रहा है कि समासोध्य कृति का सम्बन्ध कृतिकार के अस्तित्व से प्रबलतम स्थापित करने की चेष्टा की जाय जिससे उसकी अन्तर्मुखता का बोध हो सके। पश्चिमी साहित्य शास्त्र के अनुकरण पर हमारी आधुनिक समीक्षा का प्रसार काल य भी इस-प्रकार की प्रवृत्ति न अत्यन्त स्थान बना लिया है और कुछ क्षेत्रों में तो ऐसा सम्भव होने लगा है कि यदि कोई समासोचक

को एक बहुत बड़ा आधार मिल गया है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'छायावाद की छानामयी मस्ति का प्रभाव धीरे-धीरे गूढ़ होते देख कर इन्होंने जनता पर मौस जमाने का एक वृत्त तरीका प्रकटिपार किया है। मानव प्रेम के नाय पर उन्होंने अपनी इतने जिनों से बनी हुई छद्म (पद्म) प्रकृतियों का नम्र रूप देने की उन्मुख सुविधा पाई है। स्त्री पुरुष के दृढ-मृदुल सम्बन्ध में सुधार का बहाना ढकड़ कर ने निर्दिष्ट हो उठे हैं।' अभिप्राय यह है कि इस पद्धति के समासोपक प्रकटिपारी मानवार्थों में सांयुक्तिक कल्याण के स्थान पर केवल इस श्रेणी के कवियों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का ही उद्धार पाते हैं जिनमें समाज के विकास उनकी पुरानी प्रतिहिंसा-वृत्ति ही विस्फोट का रूप धारण कर प्रकट हुई है।

मनोविश्लेषणवाद का प्राह्य स्वल्प और सम्मुखित विधान

१८. मनोविश्लेषणवादी समासोपकों ने साहित्य-सर्जना की जिन मूलभूत प्रेरणाओं का विवेचन किया है, उन्हें सांस्कृतिक तथा धार्मिकपरक स्वल्प में स्वीकार करने में क्वाचित् ही किसी को आपत्ति हो। बात यह है कि वह साहित्य-निर्माण किसी न किसी व्यक्ति के ही द्वारा होता है तो उसके व्यक्तित्व का महत्त्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। वह भी निश्चित है कि व्यक्तित्व केवल व्यक्ति की बाह्य भावना में ही परिणाम्य नहीं बल्कि उसका अन्तःप्रकृति में भी बलित सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में व्यक्तित्व की व्यापकता अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् के समस्त पक्षों को लेकर चलती है और कोई भी महान् व्यक्तित्ववादी साहित्यकार अपनी कृतियों को आकार प्रदान करता है तो उसके अन्तर्गत उसके व्यक्तित्व का पर्याप्त संस रहता है। संसार के अनेक महान् प्रसिद्धांशों साहित्यकारों ने अपने सृजन-कौशल का जो विवेचन किया है, उसके भी यही स्पष्ट होता है कि उनके चेतन और अचेतन मन की सम्मेलना में जो एक विशेष प्रकार की अंतर्गत अनुभूति होती है वह उनकी रचना की प्रेरणादायी बन कर उन्हें सृजन के लिए नैसर्गिक भाव से उन्मुख करती रही है। सर्वप्रथम रवीन्द्रनाथ कीट्टर जार्ज हजियट, डिकेन्स आदि कवियों और लेखकों ने अपने साहित्य सृजन की मूलवर्ती इस प्रजात रहस्यपूर्ण शक्ति का संकेत अपनी कृतियों में किया है, जिसे बाद में प्रेरणा कह दिया जाए प्रजात चेतनावादी प्रजा। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति प्रजात साहित्यकार के लिए सामाजिकता की उपयोगिता रहते हुए भी उसकी अन्तर्चेतना का अनेकानेक अधिक महत्त्व है और ऐसी परिस्थिति में यह समीक्षा हो जावे कि उनका साहित्य-समीक्षा जनन मनोविश्लेषण तन्त्र का निष्कर्ष करता बने किन्तु उसे किसी संकीर्णकारण में संवस्त करना क्वाचित् सोमनीय प्रयास नहीं कहा जा सकता।

१९. मनोविश्लेषणवादी समासोपका के प्रसार से एक लाभ अवश्य हुआ वह यह कि साहित्य-सर्जना में मानवीय व्यक्तित्व और उसकी अन्तर्प्रकृति को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा। इसके समर्थक सम्पी-बौद्धी लर्कनार्ने प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने लगे कि सृष्टि के आदि काल से लेकर प्रजातन मुप तक मानव-समाज जिन विकास-पक्षों से होकर अपने साहित्य और संस्कृति का निर्माण कर सका है, उसमें उसके अन्तर्चेतन मन की अनेक प्रजात प्रकृतियों का प्रस्तुतकरण है। इस प्रकार की समासोचना का मुख्य प्रतिमान यही बन गया कि जिन लोगों में मानसिक अन्तर्चेतना की अनुभूति जितनी अधिक सीध होती है वे उतनी ही कुशलता से उसका मुक्त प्रतिबिम्ब साहित्य में प्रकट कर पाते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपक्षियों के मतानुसार कल्प-सृजन से ज्ञात चेतना की अनेक प्रजात प्रेरणा का महत्त्व अधिक है और साहित्य की अनुभूति की स्वाभाविकता की प्रति अन्तर्जगत् की अनेक वृत्तियों का प्रासाविक प्रतिक्रम है। वस्तुतः मनोविश्लेषणवादियों ने अपना

कस्याण की भावनाओं से प्रोत्-प्रोत् है। अभिप्राय यह है कि भारतीय-साहित्य के विवेचन में अत्यन्त उदा एडसरवादी मनोविश्लेषण का प्रयोग प्रयुक्त ही माना जायगा और जिन साहित्यकारों के जीवन में यह विद्यान्त बटित होता है वे भारतीयता के उस स्वप्न से दूर हटें हुए साक्ष्य ही माने जायेंगे जिसमें अनकस्याण की उद्भासना प्रचलित रहती है।

काव्य-सृजन-विषयक मनोविश्लेषणप्रत्मक दृष्टि और उसकी सीमाएँ

१२ मनोविश्लेषणवादी समालोचक काव्य-सृजन की प्रेरणा अन्तर्मन की अवचेतन अवस्था से प्राप्त कर चलते हैं, जिसके अनुसार उनकी विचारधारा में सामाजिक परिवेश का महत्त्व नहीं के बराबर है। उनकी इस प्रकार की मान्यता निरर्थक ही उनके एकमात्र दृष्टिकोण की निरपेक्षा है। बात यह है कि साहित्य हमारे मानस-बोझ का उद्भव अवस्था है किन्तु उसे ऐकात्मिक धर्म में केवल वैयक्तिक क्रुद्धा में ही समीचीन समझ बैठना उसके लोकमनभाविनायक व्यक्त की अपेक्षा करना है। हमारे भारतीय साहित्य में साहित्य के प्रयोजन को लेकर जो विवेचन हुआ है, वह उस धर्म के अन्तर्गत ज्ञान विवेचनसक सचपटनकृति और अन्तःसम्मित उपवेश के जिन उपकरणों से व्याप्य है, उनमें केवल साहित्यकार की अन्तःस्थितता की ही एकाग्र अभिव्यक्ति ही नहीं परन्तु उसके सम्बन्ध बाह्य परिवेश से भी है। माना कि साहित्य की मूल प्रेरणा अन्तःमानुष्य की और आत्मा विव्यवस्था है, किन्तु वह अन्तःविषयवस्था केवल अपने अन्तर्मन की पुष्टि तक ही बरिदीमित नहीं सम्भवी जा सकती। नेरी दृष्टि में साहित्य-निर्माण के उस पक्ष को सर्वथा नग्न नहीं सम्भवी जा सकता जो साहित्यकार के मानस-निर्माण में सहयोगी बन कर उपस्थित होता है। अतः मनो-विश्लेषणवादी अवस्था अन्तःस्थिततावादी साहित्य-समालोचकों का दृष्टिकोण अपनी एकाग्रता में प्रकट नहीं है। अन्तःस्थित अन्तःस्थिततावादी साहित्यकार जिस मनोविश्लेषणवादी को आधार बना कर साहित्य-निष्ठा का विवेचन करते हैं, वह कोई व्यावहारिक अवस्था प्रतीतिक सृजन न होकर अपनी पुनःपरिचिति से भी सम्बन्धित रहता है। नवीनतापूर्वक विचार करने पर इस तथ्य के प्रतिपादन में कोई संका नहीं होती बाह्य कि साहित्य की सर्वथा अपनी पुनःदृष्टि की अपेक्षा कर नहीं चल सकती और महान् से महान् साहित्य-अष्टा को भी अपनी पुनःवाणी को स्वर देना ही पड़ता है जो बाह्य पुनःजीवन तक ही सिमट कर रह जाय या उसके आन्तरिक से विरक्तन कल्प का पाछोक बिकीर्ण करे। विश्व-साहित्य के महान् अष्टा आन्तरिक कालिदास, शेक्सपीयर, तुलसी और प्राबु निरु काल में रवीन्द्र और प्रसाद भावि सभी काल्यकारों की कृतिवों से इस पुनःकालीन स्वर का उक्ति प्रवत्य ही अन्तित किया जा सकता है, जसे ही वे अपनी चिरंयनता के कारण अपने अपने बड़े बड़े हैं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि महान् प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार भी अपनी पुनःअन्ति का प्रभाव ग्रहण करते हुए चलते हैं, किन्तु उनका सांस्कृतिक विधान उन्हें व्यापक स्वल्प प्रभाव करने में समर्थ होता है। इस प्रकार अन्तःस्थिततावादी समालोचकों का ऐकात्मिक दृष्टिकोण साहित्य के सम्बन्धपूर्ण स्वल्प का विवेचन करने में अपूर्ण और संकुचित ही सिद्ध होता है।

१३ मनोविश्लेषण धारण की अन्तःस्थिततामयी प्रकृति में साहित्य-समालोचना को ग्रहण करने में एक कठिनाई यह भी होती है कि इसके समर्थक समालोचक जिन स्वप्न कथाशतों पर मानस-मन का विश्लेषण करते हैं, वह केवल उनके उसी सतह को ही छुकर रह जाया है। बात यह है कि मानव-मन की प्रभाव वेतना कोई ऐसा सामान्य विषय नहीं है, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। अत्यन्त एडसर, और नून बावि पाठ्यपाठ्य मनोविश्लेषणवादियों ने उसका जो कुछ विवेचन किया है, वह केवल अन्तःस्थितता का प्रभावभाष है। पूर्ण सत्य का निरर्थक नहीं। फिर उसमें एकाग्रता और पुनःपुनः भी तो बहुत है। दिन प्रति दिन विकासोन्मुख होने वाला मानवीय व्यक्तित्व और अन्तःप्रकृति का विश्लेषण उसकी अपूर्णता का प्रभाव देता रहता है। परिस्थिति

है कि मैंने उसे प्रसार के काम में ही अधिक देखा है जिसमें गुस्ता धीरे बढ़ता की प्रपचा विस्तारण ही अधिक है। हिन्दी में मनोविश्लेषणवाद की प्रवृत्ति को लेकर बहने वाले समालोचकों में पद्मनाभ जोशी और श्री प्रज्ञेय प्रधान हैं जिनकी समीक्षा-कृतियों का विश्लेषण उनका मूल्यांकन करते समय किया जायगा। यद्यपि उन्होंने अपनी प्रतिबन्ध मान्यताओं का निरूपण बहुत कुछ शास्त्रात्मक प्रेरणाओं को लेकर ही किया है, किन्तु हिन्दी-साहित्यकारों के विश्लेषण में एक नवीन संयोजन की व्यवस्था भी थी है जो प्रसार-काल में विशिष्ट स्थान रखती है।

(२)

प्रसारकालीन समालोचना की मार्क्सवादी प्रवृत्ति प्रगतिवादी समीक्षा प्रगति का प्रकृत स्वस्व और उसका साहित्यगत प्रयोग

२२ धार्मिक हिन्दी समालोचना के प्रसार-काल में छायावाद की प्रतिक्रिया में रचनात्मक साहित्य और समालोचना की परिधि में जिस साहित्यिक आन्दोलन ने जन्म लिया उसे प्रगतिवाद के नाम से परिचित किया जाता है। यह नाम इस आन्दोलन के मुखधारों द्वारा दिया गया है जो प्रज्ञेयी के 'प्रोपेसिट निट्टरेक्टर' का सम्मानादा-नाम है। इस नामकरण-संस्कार का मूल कारण यही प्रतीत होता है कि इसके प्रवर्तक एक धीरे-धीरे अपनी मान्यताओं को छायावाद से भिन्न कोटि में प्रतिष्ठित करना चाहते थे वहाँ घुसरी धीरे-धीरे उसे साहित्य और जीवन की विकास की परिस्थिति में ग्रहण करने के आकांक्षी थे। वहाँ तक उनके छायावाद-युग के दृष्टिकोण के स्वयं से माने बढ़ने का प्रयत्न है, वह आन्दोलन कई बातों में उससे भिन्न था किन्तु उसका नाम-करण-संस्कार जिस उद्देश्य और परिस्थिति को धारण बना कर किया गया है वह तात्त्विक दृष्टि से भ्रमपूर्ण नहीं है। बात यह है कि प्रगति जीवन की एक शास्त्र और नैतिक प्रक्रिया है जिसका प्रतिकल्प उसके विन्महाही साहित्य में बिना भ्रमके नहीं रहता। परन्तु उसे यदि किसी बाद-निर्देश की कृपा से धारण कर दिया जाय तो एक प्रकार से उसकी मूल श्रावणशक्ति का विघटन और स्वीकृत प्रवृत्ति का प्राप्ति होने की अधिक संभावनाएँ हो सकती हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो युग और परिस्थिति के परिवर्तन से भावधारणों और विचार-क्षेत्रों में भी उत्पन्न अवस्था होती है और जीवन की भाँति साहित्य-संवेदना में भी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ अपने स्वाभाविक रूप से प्रतिबल-पूर्ण बनती हैं। परन्तु यह कहना कि छायावाद की प्रतिक्रिया में अनुकूल बाद ही वस्तुतः प्रगतिवाद है अपनी एकानिष्टता का परिचय देता है। सच तो यह है कि प्रत्येक युग का साहित्य अपने पूर्ववर्ती युगों की समता में प्रगतिशील होता ही है क्योंकि वह अपनी परवर्ती परिस्थितियों की भिन्नताओं जीवन को नवीन दृष्टिकोण से विवेचित करने में उत्तम प्रेरणा प्रदान करने का कारण बनता है। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न कालों में हम जिस दौरनामा भक्ति-भावना और रीति-परम्परा की विकासमान प्रवृत्तियाँ पाते हैं, वे अपने युगों में पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा निश्चय ही प्रगति की प्रतीक हैं। इसी प्रकार धार्मिक काल में आर्येन्द्र-युग का जो नव-आधार-सम्बन्ध साहित्य-क्षेत्र में प्रतिबलित हुआ है वह भी ऐतिहासिक काल्य प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया के प्रतिबलित और नव कहा जा सकता है? उसका स्वयं-संयोजन अपनी विकासोन्मुखी प्रक्रिया में तत्त्व-दृष्टि से प्रगति का सूचक सिद्ध होता है। आर्येन्द्र-युग के परवर्ती काल द्वितीय-युग में हम भिन्न प्रकारों में काव्य-विषय और वर्णन-शैली के स्वयं प्राप्त होते हैं, वे उन वर्णों में अधिकतर विकासशील हैं जो आर्येन्द्र-युग में प्रकट हुए थे। इसी प्रकार द्वितीय-युग का परवर्ती छायावाद-युग स्वयं के प्रति सूक्ष्म के विरोध की भिन्न क्रियाओं से निर्मित हुआ है वह भी एक प्रकार से प्रगति का ही चिह्न है। जीवन की भाँति प्रगतिशीलता की यह प्रवृत्ति किसी देश-काल की सीमा में संकीर्ण होकर नहीं बनती

जो तथ्य-निष्पत्ति किया है वह सर्वथा निराधार नहीं है। इसका एक प्रबल प्रमाण तो यही है कि भारतीय तथा पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों ने अपने साहित्य-सूत्रों की जिन प्रेरणाओं का संकेत किया है वह स्वार्थ नुसार भावना में निश्चय ही उन तत्त्वों के अधिक निकट है, जिनमें साहित्य की प्रकृति चेतना की प्रसाधारण प्रज्ञा का अभिव्यञ्जन कहा गया है। फिर भी प्राचुरिक मनो-विश्लेषणवादियों की धुरंधरता भी प्रकट नहीं है। विचारणीय प्रश्न यह है कि प्राचुरिक मनो-विश्लेषण जिन भाषाओं पर भारतीय चेतना की विवेचना करता है उसमें भारतीय योग-शास्त्र के नाडी-चक्र से सन्निविष्ट विभिन्न ज्ञान-कोशों के प्रवेश-द्वारों और इसा पियता सुपुष्पा और कुण्डलिनी चक्र प्रादि से सम्बन्धित शास्त्रार्थों का भी कोई संयोग मिलता है या नहीं? सच तो यह है कि चेतन और अवचेतन के रहस्यों का उद्घाटन जिन क्रियात्मक अनुभूतियों के बल पर भारतीय उपस्थि कर सके वे उसकी उदात्तता की ओर उन्मुख होना चाह के मनोविश्लेषणवादियों के लिए बिना स्वयं नाथ है, यतः उसके प्रतिभागों को साहित्य-समीक्षण की सर्वांगीण समीक्षा में तो ग्रहण किया हो नहीं जा सकता।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के विषय और उनका विस्तार

२ मनोविश्लेषणवाद को प्रधानता देकर चलने वाले समालोचकों ने सामान्य विषयों पर भी समालोचनाएँ लिखी हैं, किन्तु उनका प्रमुख विषय प्राचुरिक साहित्य ही रहा है। प्रगतिवादियों की पंक्ति इस प्रकार के समालोचकों का क्षेत्र भी पश्चिम-पश्चिमार्ध में अपनी समालोच-नात्मक क्रियाओं का प्रकाशन रहा जिसमें उन्होंने सामयिक साहित्य और उसके रचयिताओं का विवेचन किया। अन्तर्गत में उनके निबन्ध ही संकलित होकर पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो गये। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि सुकसौतर-युग की सभी प्रवृत्तियों में छायावाद और प्रगतिवाद समालोचकों के विवेचन के सब से अधिक केन्द्रबिन्दु विषय बन कर धारे। इन समालोचकों ने साहित्य कहा कल्पना और सौन्दर्य प्रादि विषयों का सैद्धान्तिक निष्पत्ति भी किया किन्तु वह सुकसौ-युग से भिन्न कोटि का बन कर ही उपस्थित हुआ। उसमें सैद्धान्तिकता और शास्त्रीयता का उतना अधिक प्राग्रह नहीं था जितना सामयिक जीवन की अनुभूतियों के विवेचन का। अपने पक्ष समर्थन में इन समालोचकों ने नवीन विचारकों और उनकी मान्यताओं को अधिक महत्त्व दिया। निस्सन्देह प्राचुरिक हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में यह एक नवीन उपलब्धि थी फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन समालोचकों द्वारा जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये उनमें उनके छल व्यक्तित्व का बहु परिष्करण नहीं हो सका जिसके कारण समालोचना को एक स्वतन्त्र और मौलिक प्रतिमान मिलता है।

२१ यों तो मनोविश्लेषणवादी समालोचना में मनोविज्ञान की उत्पत्ति-चिन्ता सर्वत्र रहती ही है, किन्तु उसमें अन्य विषयों का भी समावेश अवश्य रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समकालीन युग में समालोचना-क्षेत्र के अन्तर्गत जिस प्रकार का विचार-विश्लेषण प्रमुख विवेचकों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था उसका प्रभाव उन पर भी पड़ता था और वे भी तबे हानों अपना विश्लेषण देने में पीछे नहीं रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस युग में प्रवाद प्रेमचन्द निराला महादेवी जेठनकुमार और प्रमोद प्रादि विवेचना के मुख्य प्राधार थे यतः इस पेरि के समालोचकों ने भी उन पर लिखा। सैद्धान्तिक विषयों के अन्तर्गत उपन्यास कहानी कथा सौन्दर्य और मनोविज्ञान पर ही अधिक विवेचन किया गया। चूँकि इन समालोचकों में कथाकार और उपन्यास-लेखक भी थे यतः वे जीवन-साहित्य का विवेचन उन्हीं के परिचय में अधिकारपूर्वक कर सके। निष्कर्ष यह है कि प्राचुरिक हिन्दी-समालोचना के विकास-क्रम में इन समालोचकों द्वारा जो योगदान दिया गया वह साहित्यसमीक्षण को मौलिक प्रदान करने में प्रथमर्ध ही रहा यही कारण

उपकरणों का यह किञ्चित् योग न रहा हो। जब तो यह है कि व्यक्ति की सामाजिकता उसके भावों के मुखर प्रतिबिम्ब साहित्य में झलक कर ही तो उसे प्राणवान बनाती है और उसके द्वारा चिरतन मानवार्थों को भी प्रथम मिलता है। किन्तु यह एक निर्भन्त तथ्य समझना चाहिए कि प्रगति की सीमा किसी विशेष प्रकार की विचारधारा से कदापि सम्बन्धित नहीं की जा सकती। वास्तविकता तो यह है कि युग और परिस्थिति के परिवर्तन का प्रभाव प्रगति-पथ का सम्बन्ध बन कर प्रकट हुए बिना रहा ही नहीं सकता और इस प्रकार उसका योग निश्चय ही परामर्श व्यापक और महत्वपूर्ण बन हो जाता है। मेरे कथन का मूल अर्थव्यय यही है कि प्रगति को जीवन-संयुक्त संवेदनाओं से घसत और किसी नवीन विद्यमान या साम्यता की प्रवृत्ति के अर्थों में दिग्भ्रान्त न किया जाय यद्यपि उसे मरुत्यों से दूर और विमुक्त धर्म में ही दृष्टि किया जाय जिससे सत्साहित्य का सर्वत और सचर्चा हो सके। विश्व के प्रमुख विचारकों की भी यही मान्यता है कि जिस चिरतन मानवार्थों का अभिव्यञ्जक वास्तव साहित्य कहा जाता है वह वस्तुतः सबसे अधिक प्रगति नील है, क्योंकि वह वैश्वकाल के इतिवृत्त अनुबन्धों से निरीत और मानवव्यञ्जकताओं में नित्य नवीन होता है उसी को प्रत्येक देश युग और परिस्थिति उसका अभिव्यञ्जन करती है। वास्तव में साहित्य का एक स्वयं इष्टिकोश होना चाहिए, जिससे वह हमारी संसृष्टिवायिनी व्यक्तियों को उन्मेषित कर हमारे मानस में प्राज्ञ और सम्मार्श का उच्चारण कर सके साम्यता केवल धर्म के प्रवर्धनाधी दृष्टि कोण की समार्थवादिता बनाम निराशा या धारमकूट उसका धारम-हृन्तन कर उसे कहीं का न रखेगी।

२२ धार के प्रगतिशील समाजोपनक अपने पक्ष में मार्क्सवाद का पन्था पकड़ कर बार-बार इस मस का उद्घोष करते हैं कि प्राचीन साहित्य अतिरिक्त और पंचनाहीन हा पता है, क्योंकि उसमें उस दुर्दान्तरूपिणी दृष्टि का अभाव है जिसके द्वारा हम वर्तमान विश्व की प्रगति के साथ अपने कर्म रखते हुए जाये वह सकते हैं। इन विचारकों की दृष्टि में धार हमें दूतन जीवन वर्धन की धारस्वकता है, जो परिवर्तन के रूप को समझ कर दूतन संवत्सार्थों के सम्पर्क में आ सके तथा धार के बुद्धिमत् धार का सम्पूर्ण धारमन कर सके। यही एक इस वैज्ञानिक मान्यता के उच्चारण स्वयं का पक्ष है वह समीचीन है किन्तु प्रश्न यह है कि धार के प्रवर्धन का जीवन वर्धन क्या होने व्यापक और उच्च धारमन पर धारमन है? यदि निम्न और वन्धीर दृष्टि से धारमन किया जाय तो हमें इसी निष्कर्ष की उपलब्धि होती कि उस पर धार या मरु-विशेष के द्वारा होने का विचार प्रबल मान्य है, उसका तथ्य-महल और उच्चारण दृष्टिकोण का नहीं। यही कारण है कि प्रागुनिक प्रगतिवाद हमें केवल अपनी कल्पित नुमीन समस्याओं का ही उत्प्रेषण वाली में शैक्षिक परिवर्तन मान लेकर रह जाता है और किसी व्यापक तथ्य को बहल करने की क्षमता नहीं प्रदान करता। अपने बुद्धिकोण की विचलतावश प्रवर्धनाधी विचारक परीतकालीन साहित्य की प्रागुनिक युग में प्रकाशिता निश्चित कर उसके विरोध में कुछ भी कहें किन्तु वास्तविकता तो यह है कि वैश्वकाल की परिधि से परे रहने वाले साहित्यकारों में भी युग-परिवर्तन की धारस्वकताओं का संकेत मिले बिना नहीं रहता। प्राज्ञ देखा जाता है कि प्राचीन साहित्यकार की वाली है जो युग-परिवर्तन का अभिव्यञ्जक जिस संघर्ष संवेदना और जीवन दृष्टिकोण के द्वारा है, उस बिधि से केवल युग-परिवर्तन का मार्ग समझे जाने रखनाकार के द्वारा नहीं। इसका मूल कारण यह है कि धारमानुभूति के प्रबल सम्पर्क के साथ-साथ जिस प्रतिभाकाशी व्यक्तित्व से उद्भूत-संवेद स्थिति में मान-बहल करने की क्षमता होती है उसकी धर्म लोभों में नहीं होती। यही कारण है कि उनका साहित्य निश्चय ही उच्च और महान् हो जाता है।

प्रति यह धपना बिजबजनीन समान रखती है। यह ध्यावावा की प्रतिक्रिया को ही प्रतिक्रिया को धना देना अनुचित प्रतीत नहीं होता। यदि विवेचन की सुविधा के उद्देश से यह भी स्वीकार कर दिया जाय कि ध्यावावा की प्रतिक्रिया ही प्रतिक्रिया के स्वरूप में धपती हुई है तो फिर उसके परवर्ती स्वरूप की प्रतिक्रिया को भी नाम प्रदान करने का प्रत्यक्षान्तर में और बटिम बन कर उपस्थित होगा। इसके साथ एक बात यह भी है कि प्रतिक्रिया की विचारक जिन विचार विन्दुओं का साक्षर समेट कर अपनी धारणाओं की व्याख्या करते हैं, वह भी एक विधेय प्रकार की वाद या इन्द्रात्मक नीतिक्रिया का ही तो साहित्यिक प्रयोग है और यह एक निश्चित सत्य है कि वाद के माध्यम में सत्य का केवल धंधलाप ही ग्रहण किया जा सकता है। धप प्रतिक्रिया की संज्ञा से परिचित विचार प्रज्ञा की भी पर्याप्त रूप में स्वीकार नहीं की जा सकता है। वस्तुतः किसी वाद या मान्यता के मानकरण का कोई वास्तविक आधार भी तो होना चाहिए। यदि कोई देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि ध्यावावा का स्वयं प्रतिक्रिया की भाव का कारण हुआ तो क्या उसका पूर्ववर्ती जीवन प्रगति परम्परा से विहीन या धपना जिस रूप में धान का प्रतिक्रिया विवेचित हो रहा है वही प्रगति का सच्चा सकारण है? ऐसी परिस्थिति में प्रतिक्रिया का नामकरण ही धामक-सा समता है, जिसकी वास्तविकता का परीक्षण प्रति पन्नीछापूर्वक करने की नितान्त अपेक्षा है।

प्रगतिवादी समीक्षा का मुलाधार मार्क्सवर्शन

२३ धान का प्रतिक्रिया की साहित्यात्मक जिस माध्यम को सर्वाधिक गौरव प्रदान करता हुआ पाये बढ़ता है, वह है मार्क्सवर्शन की विचारधारा। वस्तुतः मार्क्सवाद अपने जिस जीवन-दर्शन पर अवलम्बित है उसे इन्द्रात्मक नीतिक्रिया भी कहा जाता है। इसके अनुसार धात्मा और परमात्मा प्रादि धार्मिक धारणाओं का कोई अस्तित्व नहीं है और जय का साथ ही प्रत्येक केवल नीतिक तत्वों पर ही निर्भर रहता है। वह हीनेक के ध्यावावा में कोई विश्वास नहीं रखता और उसके अनुसार जड़-तत्व की स्थिति केवल की अपेक्षा धार्मिक महत्त्वपूर्ण है। इतना ही नहीं वह मनुष्य की चेतना का साथ धात्मा नीतिक और सामाजिक परिवेश को ग्रहणता है और उसके अनुसार किसी भी समाज-व्यवस्था का मुलाधार धार्मिक प्रतिमान पर बहुत धार्मिक निर्भर होता है। उसने धर्म-व्यवस्था को तो इतनी धार्मिक प्रमुखता दी है कि उसे उसीके धर्म में किसी भी देश की सांस्कृतिक चेतना और कला-सृष्टि के मूल तत्व प्रदर्शित होते हैं। वह धोषक और धोषित नर की अनिवार्यता उद्घोषित कर उनका धार्मिक प्रत्येक देश के साहित्य में देखता है, और उसकी मान्यता में यह कम तब तक गूढ़ नहीं हो सकता जब तक वर्गहीन समाज की स्थापना न कर दी जाय।

प्रगतिवादी समीक्षा का सामाजिक पक्ष और धात्मा के प्रति दृष्टिकोण

२४ प्रतिक्रिया की साहित्यकार और समानोचना अपने पक्ष-समर्थन से जो सबसे बड़ा तर्क प्रस्तुत करता है वह है साहित्य की सामाजिकता का। इसमें कोई संदेह नहीं कि ध्यावावा की युग में एक प्रकार की जो वैयक्तिक कृच्छ्र और धात्मा-परकता का धातरेक हो गया था उस गुरु करने में वह दृष्टिकोण परम उपयोगी सिद्ध हुआ किन्तु कालान्तर में यह भी अपनी रुढ़िधर्म और एकांगी प्रतिक्रिया से विमुक्त नहीं रह सका। बात यह हुई कि प्रतिक्रिया की सामाजिकता की एक विधेय प्रकार के जीवन-दर्शन से ही उत्पन्न रही ध्यावावा इस सत्य के प्रति तो कदाचित् ही कोई धपनी विवेकात्मक प्रवृत्ति प्रकट करे कि साहित्य-साधक के व्यक्तिगत-विमर्श में सामाजिक परिस्थिति और

जो निश्चय ही एकपक्षीय दृष्टिकोण है। राजनीति के धाकाप में निम्नलिखित बातों के सम्प्रभाव अपने प्रसारपूर्ण दृष्टिकोण से उठते-भिटते रहते हैं किन्तु उनका अस्तित्व साहित्य-संज्ञना की दृष्टि से स्थायी नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो राजनीतिक रंग पर भिन्न-भिन्न युगों में प्राबुध्वत अस्तिता अपने जीवन के धारकत चिन्ह छोड़ जातीं किन्तु गम्भीर विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक चेतना हमारी जीवन-चेतना का एक पर्यमाण हो सकती है, उसकी ध्वनी नहीं। यद्यपि युग की समस्याओं और अवस्थाओं का धारण नहीं सघन विधि से प्रकट किया जाना चाहिए। तत्त्व साहित्य को उसके विभूत स्वरूप में प्रकट करने पर ध्यान की प्रवृत्तिवादी समासोचना केवल इसके प्रसार के प्रतिरिक्त और धार्मिक नहीं सिद्ध होती क्योंकि उसका केवल दुर्गम महत्त्व है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि जब उसके प्रतिवर्तन में प्रवृत्तिवादी का मनीष विधान धाकार प्रकट कर उद्भूत हो जाता है। इस कठोर विरोध से मेरा धारण यह नहीं कि प्रवृत्तिवादी सम्प्रदाय हमें चिड़ होनी चाहिए, किन्तु यह मन्तव्य अवश्य है कि उसे व्यापक और स्वस्थ मनोभूमि में हो प्रकट किया जाना चाहिए। यदि हम प्रवृत्तिवादी से यह धार्मिकता से सकें कि यह हमारे युग-परिवर्तन के सम्प्रवर्त प्रवृत्तिवादी चेतनाओं को पृथक्करण की प्रक्रिया है और उसमें जीवन-संवेदनाओं को अविष्ट कर धारण करने की एक निर्वासोत्पन्न राह है तो इससे अवाधित ही किसी को विरोध हो, किन्तु उसे केवल अपने वाद प्रसार की दृष्टि का सत्य बना कर अन्य मान्यताओं की उपेक्षा कर बैठना ठीक नहीं कहा जा सकता।

प्रवृत्तिवादी समीक्षा और कलात्मक साहित्य-सौष्ठव

२२ प्रवृत्तिवादी समासोचना के उपाधधित स्वरूप में हमें एक प्रमाण और उदाहरण है और वह है साहित्य-सौष्ठव और कलात्मक दृष्टि की उपेक्षा का। वाद यह है कि प्रवृत्तिवादी समासोचक अज्ञानी परम्परा का राय प्रमाणों रूप साहित्य में भी पूर्वीवादी और वर्तमान का उत्पन्न गुच्छन करता जाहते हैं जिसके कारण उन्हें साहित्य की सारीय और संवेकपूर्ण उन्निधि में बुद्धि का वृत्ति-वृत्तिनोचर होती है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण भी विचारवस्तु है क्योंकि जब साहित्य हमारे हृदय-कोष के मात रत्नों का उन्निधि सविन है तो उनके संवेक की नीतिक और धार्मिक रीति से वापना केवल हृदयविरा है। ऐसा मानने पर ही विश्व के महान् साहित्यकारों की महत्ता निश्चय ही उपेक्षास्पक हो जायगी और हम अपनी उस ज्ञान-परिभा और वाच-राशि की धारकता कर बैठेंगे जिससे धार की विश्व-संस्कृति के इतिहास का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार प्रवृत्तिवादी समासोचक सभी कृतियों में विवेक प्रकार की अज्ञानी प्रवृत्तियों का अनुसम्बाल करते वनते हैं, वह भी धार्मिक उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करना भी साहित्य की व्यापक विधा पर प्रसन्नवाक्य चिन्ह सचामा है। सच ही यह है कि समासोचकों की दृष्टि साहित्य-विवेचन के प्रवृत्ति में जीवन के व्यापक स्वरूपों के उद्घाटन की ओर ही रहनी चाहिए क्योंकि सच ही साहित्य-समासोचना में प्रवृत्तिवादी का दृष्टिकोण उस दृष्टिकोण से निश्चय ही भिन्न होगा जो राजनीतिक धारों और धार्मिक ध्येयवाधों में विद्यमान रहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धार विवेक-प्रमाण में समासोचकी विचारवाध क्रमशः प्रसारित हो रही है जिसका प्रभाव साहित्य-क्षेत्र पर पड़ना निश्चय है किन्तु प्रसन्न यह है कि इस विचारवाध का कोन-सा पक्ष हमारी संस्कृति और परम्परा के अनुकूल कहा जा सकता है, इनकी ओर भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता है। इतिहास से सिद्ध है कि हमारे देश की परिस्थिति पवित्रीय देशों के मानसिक परावृत्त से भिन्न कोटि की रहते हैं और यही साहित्य-सृजन की मूल-चेतना अपनी धारवाधों में कुछ विविष्ट भेरी की हो रही है यद्यपि कोई धारवस्तु नहीं कि हम मानसोचकी विचारवाध का ही अन्तर्ध्व अनुवाद अपने प्रवृत्तिवादी में भी करना चाहें, क्योंकि ऐसा करना एक प्रकार से अपनी जीवन-धारवाधों में संचा को अन्त देना है।

प्रगतिवादी समीक्षा में युग-स्वर और सामयिकता

२६ पूर्वोक्त विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि सामाजिक साहित्य-समीक्षा के प्रतिवर्तन में जिस प्रगतिवादी समीक्षा-पद्धति ने जीवन धारण किया है उसकी साहित्यगत कोई उपयोगिता नहीं है। वास्तव में प्रगतिवाद अपने युग की एक आवश्यकता के रूप में प्रगतीपूर्ण हुआ था और जन मानसों की माँग उससे युग-बाहरी का स्वर-संचालन चाहती थी। इस बात ने मने ही शास्त्र संवेदनाओं को महत्व नहीं दिया हो किन्तु उसके द्वारा कई स्वच्छन्द और एकांगी प्रवृत्तियों का नियमन भी हो सका। इसने एक ओर वहाँ साहित्य-क्षेत्र में कल्पनाविषय की पलायन-भावना पर प्रकुल समाया वहाँ वृद्धि और वास्तवपूर्ण श्रुतियों को भी रोका। यदि यह अपने विशेष प्रकार के दृष्टिकोण को कुछ अधिक लोक-व्यापक मानसूत्र पर अभिष्टित करता हुआ बसता तो उससे साहित्य की व्यापक प्रेरणीयता के उद्देश्य में कोई कमी नहीं आती किन्तु जब यह एक विशेष वर्ग का प्रसारक और समर्थक बन गया तो इसका आत्म-रक्ष अपनी प्रवृत्तमान जीवन-धारा को कठिना करने का कारण बना। वृद्धि बात यह थी हुई कि इसने ज्ञान का विकास पक्ष सिधा उत्तम निर्माण का नहीं। अतः हमारी भावी कार्य रेखा क्या हो उसके उत्पन्न-कृत्य इसमें बहुत कम हो सके। माना कि आज की युगीन प्रवृत्ति में प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं का वह घटीतकालीन महत्व नहीं रहा है, किन्तु उनकी सर्वथा उपेक्षा कर नवीन निर्माण की बुन में अपनी उपसम्पन्न ज्ञान पद्धि को निरन्तर समर्थक बैठना निश्चय ही प्रमादपूर्ण मन-स्थिति का निर्देशक है। ऐसी अवस्था में प्रगतिवाद का लक्ष्य क्षेत्र स्वतः ही प्रकट हो जाता है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि आज के प्रगतिवादी द्वितीय-समाशोचक मार्क्स लेनिन और कार्ल मार्क्स प्रादि विचारकों के विद्वान्त-सूत्रों का आश्रय लेकर अपने मतवर्षों का विश्लेषण करते हैं, उनमें भी बेसी सकीर्णता और एकांगी दृष्टि नहीं है जैसी कतिपय समीक्षकों ने बना रची है। माना कि मार्क्स की एक निश्चित दृष्टात्मक मौलिकवादी विचारधारा थी किन्तु उसे साहित्य की विरतन प्रवृत्तियों से चिढ़ सी थी यह भी नहीं कहा जा सकता। लेनिन ने साहित्य और कला का जो विवेचन किया है उसमें भी हमारी शास्त्र संवेदनाओं का स्वस्व सम्मेलन है। अब तो यह है कि केवल टोटी का पक्ष हमारी मानसिक बुद्धि का निवारण नहीं कर सकता। उसके लिए कुछ और मान-सामग्री चाहिए और वह निश्चय है कि वह सामग्री उस प्रगतिवाद के पास नहीं थी जो जन-जीवन की समस्याओं का हल निकालने का अधिकार अपने मौलिक और स्थूल दृष्टिकान्त से सिद्ध करने बना था। स्पष्ट ही है कि हमारे जीवन के समस्याओं की पूर्ति केवल उनके प्रति शास्त्रोक्त और विच्छिन्नपूर्ण भावनाई व्यक्त करने से नहीं हो सकती अपितु उसके लिए कुछ अन्य सामग्री चाहिए यदि ऐसा नहीं होता तो प्रीम्स की समतलासी बुन में खून-पसीना एक करके बासा कपकप जैसी और बिच्छा बाकर अपना मानसिक भाङ्गावन नहीं करता अथवा बेमध्य छूट से खूबसी हुई भारतीय नारी अपने जीवन मापन के लिए चक्की चलाती हुई गीरा के भजनों और सन्तों की बातियों से अपना अधिमानसिक प्रसारण नहीं करती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य ने हमें हमारी दुर्बलताओं और विषमताओं से अधिक सुपरिचित कर हमें और भी घमावह परिस्थिति में रक दिया जिससे हमारी समस्याओं का समाधान होने के स्थान पर वे हमें और भी जटिल प्रणीत होने लगीं। कष्टना होना इस परिस्थिति के सुवन में वहाँ रचनात्मक साहित्यकार का प्रयत्न हाथ या बढ़ी उसकी पीठ पकपाने वाले समाशोचक ने भी लक्ष्मी की बाणी का प्रतिध्वनितपूर्ण ध्वनियों में समर्थन किया जिससे साहित्य की शास्त्र प्रवृत्ति पर एक प्रकार की ठेस-सी लगी।

२७ आज के प्रगतिवादी साहित्यकार और समाशोचक अपने पक्ष में समय-सापेक्षता के प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं किन्तु वे तर्क उत्पन्न ठोस नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे राजनीति और धर्म व्यवस्था को साहित्य की नियामक दृष्टि समझने की माग्यता लेकर चक्करे हैं।

जिसे प्रौढ़पूर्ण कहा जा सके। सब तो यह है कि प्रायः पुस्तोत्तर-युग में प्रवृत्तिवादी और प्रयोगवादी भाँति के नाम पर जिस प्रकार का काव्य-सूजन और काव्य-समीक्षण हो रहा है, वह बोझी दूर तक सम्यक् विधि से चल कर समाप्त हो जाता है और उनका स्फुरण वैसी व्यापकता और घनत्व-बुद्धि से नहीं हो पाता जिसकी स्थापना प्राचार्य युक्तजी ने की थी। यदि सम्मीरणापूर्वक विचार किया जाय तो प्राचार्य युक्तजी ने जिस समीक्षावाक्य का प्रयोजन किया था वह समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण से इतना अधिक परिष्कृत था कि उसमें लोकहृदय और लोकमनस की भावनाएँ अपने विद्युत् मानवीय मापदण्डों पर प्रस्तुति हुई थी और जिसमें लौकिकता और धर्मलौकिकता को भी एक समुचित धारा-भूमि पर प्रहल किया गया था। वस्तुतः उनकी विचारणा के मूल में एक ठोस सांस्कृतिक दृष्टि थी जो साहित्य के सम्मिलन भाव को मानव-हृदय की व्यापक भूमि में प्रहल करते हुए चलती है। यही कारण है कि प्रायः युक्त-युग की मान्यताएँ कई दृष्टियों से 'समय-बाह्य' होने पर भी अपनी प्रौढ़ि में महान् हैं और उसकी शक्त में प्रवृत्तिवादी समासोचना की बेतन हस्की और एकांगी सिद्ध होती है।

प्रगति और परम्परा का पारस्परिक निर्बाह-विधान

११ प्रायः के प्रवृत्तिवादी साहित्यालोचक की एकांगी विचारधारा स्वतः स्पष्ट है और उसका परिष्करण करके ही साहित्य को विकासशील पक्ष-प्रवर्धन मिल सकता है। अतः उसकी व्यापक दृष्टि के लिए प्रवृत्तिवादी साहित्य-समासोचकों को इस तथ्य की कभी धबहेना नहीं करनी चाहिए कि प्रगति और परम्परा का घट्ट सम्बन्ध है। सब तो यह है कि किसी देश का सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन तभी प्राप्ति बड़ सकता है जब वह अपने साथ अपनी परम्परागत जीवन-आत्माओं को लेकर चले। प्रायः विद्वत् के अनेक धम्मुरणशील राष्ट्र जीवन-धर्चर्च में किसी भी देश से कम धार्मिक न होने पर भी अपनी प्राचीन परम्पराओं को परिष्कृत रूप में संवेष्टित चल रहे हैं। उदाहरण के लिए वेल्सविवर के युग से बहुत प्रागे बड़ा हुआ ईंग्लैण्ड की प्रायः वेल्सविवर, मिस्टन प्रायः पर चल रहा है तो जर्मन राष्ट्र को भी अपने बेटे हीगल और कांट पर अधिमान है। ऐसा करने का मूल कारण वहाँ के लोगों का अपनी सांस्कृतिकता की मूल बेतना को लेकर चलने की प्रवृत्ति ही है। ऐसी स्थिति में हमें अपने उन लचील प्रगतिशील विचारकों के इस मत पर हासिक खोम होता है जो अपने दृष्टिकोण को केवल विदेशी प्रभाव से आक्रान्त बना कर अपनी परम्परा-प्राप्त धरोहर की धर्मस्थ क्षति का महत्त्व नहीं समझते और केवल परिचय धबका यूरोप के धम्मुरणशील को ही सब कुछ मानने लगते हैं। मेरी समझ में तो जीवन के धम्मुरण क्षेत्रों की गति साहित्य-सूजन और समीक्षण के क्षेत्र में भी तभी सच्ची उन्नति और प्रगति की जा सकती है, जब हम अपने प्राचीन साहित्य का धर्म और महत्त्व समझें और उसके बेतन कठों को समाहित कर अपने विकास की दिशा की ओर उन्मुख हों। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसकी ओर प्रगतिवादियों का ध्यान आकर्षित होना अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि हम अपनी परम्परा से विमुख होकर बहुत कुछ उपयोगी वैतुक सम्पत्ति को बिट्टी के डेसे समझ कर यों ही फेंकने का महान् अपराध कर बैठेंगे।

१२ उपर्युक्त पंक्तियों में प्रगतिवादीयों के लिए जिस सांस्कृतिक परम्परा के परिपासन का संकेत किया गया है उससे यह आसन्न कदापि नहीं सेना चाहिए कि हमारी अमापत धम्मुरण परम्परा हमारे लिए शक्ति है। सच्ची बात तो यह है कि हमें अपनी धार्मिक खोज कर और धार्मिक युग की महत्त्वम बेतना की आधर्यकता का धम्मुरण कर यह सोचना है कि प्रायः का जीवन हमें किस ओर बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। इसके लिए आधर्यक है कि हम अपनी परम्परा को अपनाएँ धबक किन्तु इस बात का भी पूर्व विवेक रखें कि उस परम्परा में कितना धर्म दिया है जो जड़तापूर्ण

प्रगतिवादी साहित्य-समीक्षा की उचित विधा और विषयबन्धीन सांस्कृतिकता

२३ वहाँ तक साहित्य में प्रगतिवाद का प्रश्न है रचनात्मक साहित्यकार भाव-शोक और कसा-निमीषा के विकासमय पक्ष को ही प्रधानता से धोर उसके काव्य-विषयों में नूतन प्राण प्रतिष्ठा करते हुए साक्षात्कार के ही अन्तर्गत नूतन कल्प-विधान नवीन प्रक्रियाएँ और भाषा विन्यास का आलोचन करे जो किसी संकीर्ण कारण में बाधित न होकर जीवन की विरलता मानना को नूतन चेतन-सन्निध प्रदान करने वाली हो तभी साहित्य में प्रगतिवाद का स्वर अपनी समुचित विधा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार साहित्य के समालोचकों का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वे साहित्यकारों की मानसिक स्वतन्त्रता के कठनरे निर्धारित कर उन्हें बाध-विबाधों में ही न लक्ष्म्य हैं अपितु समालोचना के वास्तविक उद्देश्य को बिना विस्मृत किये प्रस्तुत साहित्य का समीक्षण ऐसी चुननीय प्रतिभा से करें जिससे साहित्य का समुचित मूल्यांकन और भाषी साहित्य निर्माण का सम्यक् पक्ष-प्रदर्शन हो। यह अत्यन्त विद्योत्पन्न विषय है कि हमारे प्रगतिवादी समालोचक अपने मताग्रह के पोषण में कभी-कभी इतने धनुरार बन जाते हैं कि उन्हें सत्कर्मियों की उन्नत कोटि की काव्य-सर्चना भी उस दृष्टि से देख-सी लगती है जिस दृष्टि से उनकी विचारधारा का प्रतिपादन नहीं हो पाता। इसका एक प्रबल प्रमाण तो यही है कि प्रायः के अधिकांश प्रगतिवादी समालोचकों ने पन्त और निराशा की उस प्रतिभा का अधिक सतृप्त किया है जो प्रायः और 'कुङ्कुममुखा' जैसी कृतियों में प्रस्तुति हुई है जब कि उन्हें 'पल्लव' और 'नीतिका'-काल की काव्य-कृतियों में प्रगतिवाद के स्तान पर पसायनबाध की पत्त मिलती है। उनका यह निर्णय किसी एक पक्ष तक ही वर्तमान और न्यायपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि पन्त और निराशा का छायावाद का परवर्ती रूप उन्हें वास्तविक मानसिक चरतल पर प्रविष्टित करने में असमर्थ ही रहा है। यह बात इसी है कि केवल अपने मताग्रह के पोषण से उन्हें महान् कह दिया जाय जो उनकी महानता न होकर केवल अपने बाह्य-पक्ष की अस्मर्यता-भास है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य और उसकी समालोचना में साहित्य के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण करने की उतनी प्रवृत्ति नहीं है जितनी प्रचार और अपनी बाध-स्थापना की। यदि वे प्रगतिवादी साहित्यकार अपने मताग्रहों और विशेष माध्यमों की हठकारिता को छोड़कर साहित्य की अवस्थितिगतता को व्यापक दृष्टि से देखते हुए अपने तो उनसे कहाचित् ही किसी को विरोध हो।

२४ प्रगतिवादी समालोचक का एक एकांकी पक्ष यह भी है कि वह मार्क्सवाद की दृष्टात्मक नीतिकता को इस प्रकार पकड़ कर बैठ जाता है कि उसे प्रायः की विद्वत्प्रापी सांस्कृतिक चेतना के विविध पक्षों के प्रति किसी विशेष प्रकार की सहानुभूति हो ही नहीं पाती। वस्तुतः साहित्य को उसके विपुल और सार्वभौमिक स्वरूप में न देख पाने के कारण ही वह जीवन की नीतिकता में इतना अधिक लक्ष्य जाता है कि उसे हृदय के भावार्थक प्रचार का साक्षात्कार ही नहीं होता। इस समीक्षा-प्रवृत्ति के समालोचक यदि समाजशास्त्रीय व्याख्या का राष्ट्रीय प्रादर्यों के अनुकूल मानविक अपना कर बैठते तब तो फिर भी उनसे प्राधा की जा सकती थी कि वे रचनात्मक साहित्य-क्षेत्र में स्थायी क्षमति कर सकें किन्तु ऐसा उनके द्वारा बहुत कम हो सका। उनकी विचारणा का शैक्षिक चरतल अपनी रचनात्मक अनुभूति में एकाधिता बन कर परिणामस्त हुआ है जिसके कारण उनकी समीक्षा-प्रवृत्ति कुछ समय के लिए विशेष चमक दिखाना कर प्रभावहीन-सी होने लगी है। स्पष्ट है कि जैसे छायावादी कविता और उसकी समालोचना क्रमशः अपने युग की विशिष्ट सम्बन्धना से दूर हटती हुई कुछ समालोचकों द्वारा केवल एकाग्र सन्निध की भ्रष्ट-भास बना दी गई, वैसे ही प्रगतिवाद भी उसकी प्रतिक्रिया में जिस शैक्षिक दृष्टिकोण की स्पृहा को लेकर प्रवर्ती हुई प्रायः वह भी क्रमशः अविश्वस्त-सा बन कर अपना एकपक्षीय स्वरूप ही प्रबल कर सका। इस प्रकार इस समालोचना-प्रवृत्ति द्वारा ऐसी सार्वभौमिक प्राणवृत्ता नहीं संघारित हो सकी

जैसे घोर जिसमें किसी प्रकार के मतवाद का मिथ्या सम्मन हो। अब तो यह है कि उसे न केवल अपने प्रतीतकालीन साहित्य राशि को ही जमेट कर चलना है घोर न मनीषता के प्रसार में ही उसकी प्रवेष्टा करनी है यद्यपि उसे बुध-जीवन के साथ बह-संचार करते हुए सत्साहित्य के प्रति समाचार की भावना लेकर चलना है। उसे अपनी रसामूर्ति को ऐसा व्यापक घोर उदात्त क्षेत्र प्रदान करना है जिसमें वह साहित्य की सार्वभौम सत्ता की मुक्ता समझ सके घोर जिसके द्वारा उसमें "समोरपिगुली बाप्पा बोपा बाप्पा गुदोरपि" वाली प्रकृति का संचार हो सके। प्रतिप्राय यह है कि उसमें एक ऐसी रससाहिता होनी चाहिए जिसके द्वारा वह तत्त्वोपसम्पि में सदैव जायजक रह सके।

११. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि मार्क्सवादी धक्का प्रतिवारी समासो-चना का एक प्रबल पक्ष उसकी सामाजिक उपयोगिता है, यद्यपि उसे समाजशास्त्रीय समासोचना भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रचनाकार धक्का कृति का विवेचन उसके पूर्वज-काल की सामाजिक घोर धार्मिक व्यवस्था को केन्द्रबर्ती मान कर किया जाता है। इस पद्धति का समासोचक प्रमुख रूप से इसी बात का पता लगाता है कि धार्मिक व्यक्ति धक्का धियम अपनी सामाजिकता को किसनी अधिक सफल वाली दे सका है। यदि उसे कृतिकार धक्का कृति में उसका दुःस्वर अधिक सफल रूप में प्रस्तुटित लगता है तो वह उन्हें स्पष्ट समझता है धक्का जीवन की सरस से सरस उद्भावना करते वाले साहित्य की भी वह सामाजिक परिवेश की अपूर्णता से तात्पर्य कर पूर्ववर्ती साहित्य की समता में होन-कोटि का निर्णीत कर देता है। ऐसा करना समाजशास्त्रीय समासोचक की एकांगिता का लुचक है। बात यह है कि वस्तु एक सामाजिक प्राणी है और उसके भावों घोर विचारों के निर्माण में समाज का महान् दायित्व रहता है, किन्तु केवल सामाजिक धक्का धार्मिक दृष्टि की स्फुलता में ही उसका चलन भंड नहीं पहचाना जा सकता। अब तो यह है कि व्यक्ति का धर्म उसके सामाजिक परिवेश से कहीं अधिक गहनपूर्ण है और मुख्यतः उसके द्वारा साहित्य को एक सांस्कृतिक प्रयत्न रूप में उद्भूत किया जाता है। यद्यपि यह धार्मिक है कि साहित्य-समीक्षण के समय भी ऐसी ही उदार दृष्टि से काम लिया जाय। साहित्य को केवल एक समाजशास्त्रीय नीतिक प्रक्रिया समझने और समासोचना को उसके धार्मिक और सर्ववारी दृष्टिकोण से परीक्षण करने का एकमात्र साधन मानने से ही अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज के युग में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण धार्मिकता का एक व्यापक पक्ष है और उसके द्वारा ही कोई भी समासोचक युग की धार्मिक-सम्यक्ता में प्रविष्ट होकर उसका ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिए प्रकृत होता है किन्तु साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखना धार्मिक है कि समाजशास्त्रीय समासोचना में जीवन के सुकमतर स्तरों और अस्तबर्षण की मनोहर कल्पना ध्रुवियों की इतनी अधिक प्रवेष्टा कर दी जाती है जिससे अनेक बार साहित्यशासन केवल ऐतिहासिक और धार्मिक व्यवस्था का प्रकाशमान बन कर रह जाता है। यदि हम साहित्य-समीक्षण के समय केवल शुद्ध घोर नीतिकवादी दृष्टि लेकर ही चलते रहें तो अपने-अनेक प्रतीतकालीन साधकों की काव्य-भावना और उद्भावक-धर्म के साथ सच्चा म्याद नहीं कर सकेंगे घोर हमारी समा-सोचना निश्चय ही प्रकार का एक साधनमान बन जावनी। यद्यपि समाजशास्त्रीय समासोचना का आज के युग में महत्त्व होवे हुए भी उसकी अपूर्णताएँ भी अपरकट नहीं हैं।

अपूर्णताएँ और अस्तबिरोध

१२. प्रतिवारी समासोचना के प्रतिमान की अपूर्णताएँ आज अनेक संश्रान्त समासोचकों द्वारा उद्घाटित की जा चुकी हैं। इसका मूलाधार मार्क्सवर्षण विचार-क्षेत्र की वह बड़बारी दृष्टि है जिसका जीवन की धार्मिकता के लक्ष्य में कोई विश्वास नहीं है। यही कारण है कि प्रप्रतिवारी

घोर कड़िबारी बन गया है। हमारे लिए यह तो कदापि घोरनीय नहीं होगा कि हम वर्तमान की घोर से भीखें मँद कर केवल घटीत के राग ही पाते रहे किन्तु इस बात की भी न भुला दें कि घटीत का साहित्य भी हमें घाने बढ़ाने का जितना ठोस बरातन प्रदान कर सकता है उतना केवल कल्पना पूर्ण भविष्य धरवा वर्तमान का बिजल नहीं। प्रगतिवादियों द्वारा प्रगतिवाद की एक विशेष जीवन दर्शन में यंत्रणाग्रस्त बनाने का ही एक कुम्परिछाम यह भी हुआ है कि हमें अपना घटीतकालीन जीवन सर्वथा बेतनाहीन घोर कड़िग्रस्त-या लगने लगा है घोर केवल प्रथम के बानों को ही हम काष्प का सर्वस्व समझने लगे हैं परन्तु इस बात को स्पष्ट स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं घटीत होती कि प्रघात के नाटक लगे ही एक प्रगतिवादी दलबन्दी की उपज न हों किन्तु उन्होंने घटीत के स्नातक इतिहास के आधार पर जो सांस्कृतिक प्रवृत्ति का आगरण किया है वह किसी भी प्रगतिवादी कहे जाने वाले साहित्यकार की कृतियों से कम नहीं है। प्रायः प्रगतिवादी समीक्षा को इस प्रघात से उच्च घोर व्यापक बरातन पर ध्वस्तित करने की प्रावश्यकता है तभी हमारे समालोचना-क्षेत्र में चलने वाली बाँधनी धरवा छोटे-छोटे विषयों पर तिल को टाड़ देने वाले नास्त्वर्धपुलं विरोध दूर किए जा सकते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण घोर युगकालीन बरातन

११ प्रगतिवादी साहित्यकार घोर समालोचक प्रायः जिस तथ्य की धरहेबना कर अपनी एकाग्रिता से जल रहे हैं वह है उनमें सांस्कृतिक दृष्टिकोण की म्युलता। सब तो यह है कि अपनी संस्कृति की उपेक्षा कर प्रगतिवाद तो क्या कोई भी बाव अपना स्वस्व जीवन धारण कर ही नहीं सकता। इसका मूल कारण यह है कि संस्कृति हमारी प्रात्मा धरवा प्राणों का नास्त्विक रक्त-संचार है घोर इसके द्वारा ही मनुष्य की घोर बहिर्मुखी विकास किया जा सकता है। यतः यह प्रावश्यक है कि प्राय की प्रगतिवादी समालोचना को केवल मार्क्स धरवा लेनिन की माध्यमार्गों पर ही घाने न बढ़ाया जाय अपितु अपने सांस्कृतिक जीवन से भी उसे ऐसी विकसित चेतना प्रदान की जाय जिसकी धमस्य धरोहर को लेकर हमारे घटीतकालीन जीवन का क्रमिक विकास हुआ है। यह एक धस्यन्त बिस्मयपूर्ण विषय है कि प्राय के हिन्दी-क्षेत्र के धनेक प्रगतिवादी समालोचकों को सात समुद्र पार की संस्कृति के ज्योतिः स्फुलित तो प्रबलित हो पाते हैं, किन्तु सत्ताधियों से संवा-बमुना के सम्बन्धी प्रवेश में विकसित घोर तपोधृत ज्योति-मुनियों के धामधों में उन्मुक्त होने वाली धमर-बाणी का बन्धेह धाव-बिभोर नहीं बनाता जिसके धानोक-स्वग्रह के द्वारा भारत के राष्ट्रीय जीवन का सर्वोन्मुखी निर्माण हुआ है तथा जिसने राष्ट्रीय परम्परा में भी उसके प्राणों का परिमाण किया है। वस्तुतः प्राय के प्रगतिवादी समालोचक अपने विचारों को इतना उदात्त बना कर चलने लगे तो हमारे सांस्कृतिक घोर साहित्यिक जीवन की धनेक समस्याओं का धनापाव ही समाधान हो सकता है।

१४ पूर्वोक्त कथन का यह धमिप्राय कदापि नहीं है कि हम अपने देश के घटीतधधीन साहित्य के प्रति प्रात्मा लेकर चलना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझें। उसका मूल मन्थ्य तो केवल इतना ही है कि हम अपने युग-परिच्छेद की धनार्थता से सर्वत्र अपने धापको परिधित रखें घोर अपनी दृष्टि को धस्यन्त उदार घोर बिबजनीन बना कर घाने बढ़ाना सीखें। महाकवि कालिदास ने तो प्राय से कई सताम्बी पूर्व भाषाविक्रान्तिविध नामक नाटक में 'परप्रत्यय नेय-बुद्धि' वाले ध्यमितधों को मुकजनों की संज्ञा दे कर प्राणीन घोर नवीन से प्राण घोर स्वाभ्य वस्तुधों का धार धुनते हुए घाने बढ़ने का धररधामध दिया था। हमारे प्रगतिधोन धानोकक पाहें तो उत महाकवि की धमरबाणी से बहुत धधिक रत्नधणों का धयन कर सकते हैं। वस्तुतः सच्चा प्रगति धीन, लेखक धरवा समालोचक नहीं है जो पूर्वार्ध धरवा धुराध्व की धकीर्णता का धरिप्राय कर

पने धीरे जिसमें किसी प्रकार के मतभेद का मिथ्या सम्मन हो। सब तो यह है कि उसे न केवल अपने घटीतकालीन साहित्य-राशि को ही समेट कर बचना है और न नयीमता के प्रसार में ही उसकी प्रेरणा करनी है अपितु उसे युग-जीवन के साथ पक-संसार करते हुए सांस्थाहित्य के प्रति समादर की भावना लेकर बसना है। उसे अपनी रसानुभूति को ऐसा व्यापक और उदात्त क्षेत्र प्रदान करना है जिसमें वह साहित्य की सार्वभौम सत्ता की पुष्टि समझ सके और जिसके द्वारा उसमें "घनोदपिमुखा वाग्वा वाग्वा गुरोरपि वाली प्रकृति का सफा हो सके। प्रमिप्राय यह है कि उसमें एक ऐसी रससाहित्य होनी चाहिए जिसके द्वारा वह उत्सोपसम्पि में सदैव जाग्रत रह सके।

११. जैसा कि पहले संकेत कर दिया गया है कि मार्क्सवादी दयदा प्रपतिवादी समासोचना का एक प्रबल पक्ष उसकी सामाजिक उपयोगिता है, यतः उसे समाजसांस्थीय समासोचना भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रचनाकार दयदा कृति का विवेचन उसके सृजन-कास की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था को केन्द्रबर्ती मान कर किया जाता है। इस पद्धति का समासोचक प्रमुख रूप से इसी बात का पता प्रमाता है कि सामाजिक व्यक्ति दयदा विषय अपनी सामाजिकता को कितनी अधिक संरक्षित बाली ये सका है। यदि उसे कुविकार दयदा कृति में उसका युग-स्वर धार्मिक सहास रूप में प्रस्तुति समता है तो वह उन्हें श्रेष्ठ समझता है दयदा जीवन की सरस से सरस उद्भावना करने वाले साहित्य को भी वह सामाजिक परिवेश की अपूर्णता से साक्षित कर पूर्ववर्ती साहित्य की समता में हीन भेद का निर्णय कर देता है। ऐसा करना समाजसांस्थीय समासोचक की एकांगिता का सूचक है। बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके भावों और विचारों के निर्माण में समाज का महान् दायित्व पड़ता है, किन्तु केवल सामाजिक दयदा धार्मिक दृष्टि की स्पष्टता से ही उसका चेतन धर्म नहीं पहचाना जा सकता। सब तो यह है कि व्यक्ति का धर्म उसके सामाजिक परिवेश से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और मुख्यतः उसके द्वारा साहित्य को एक सांस्कृतिक प्रयत्न रूप में उद्भूत किया जाता है। यतः यह आवश्यक है कि साहित्य-समीक्षक के मन में ऐसी ही उदार दृष्टि से काम लिया जाय। साहित्य को केवल एक समाजसांस्थीय भौतिक प्रक्रिया समझने और समासोचना को उसके धार्मिक और वर्गवादी दृष्टिकोण से परीक्षित करने का एकमात्र साधन मानने से ही अनेक प्रकार के व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। इसमें कोई शन्दे नहीं कि धर्म के युग में समाजसांस्थीय दृष्टिकोण समासोचना का एक व्यापक पक्ष है और उसके द्वारा ही कोई भी समासोचक युग की भाव-सन्देशना में प्रविष्ट होकर उसका ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिए प्रवृत्त होता है किन्तु धर्म ही धर्म इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि समाजसांस्थीय समासोचना में जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दनों और अन्तर्जगत् की भोहुर कसबा क्षमियों की इतनी धार्मिक उपेक्षा कर दी जाती है जिससे अनेक बार साहित्यालोचन केवल राजनैतिक और धार्मिक दयदम्बी का अन्धाङ्गीमान बन कर रह जाता है। यदि हम साहित्य-समीक्षक के समय केवल स्पष्ट और भौतिकवादी दृष्टि लेकर ही चलते रहें तो अपने-अनेक घटीतकालीन साधकों की काव्य-साधना और उद्भावक-सक्ति के साथ सच्चा न्याय नहीं कर सकेंगे और हमारी समासोचना निरर्थक ही प्रकार का एक साधनमात्र बन जायगी। यतः समाजसांस्थीय समासोचना का धर्म के रूप में महत्त्व होते हुए भी उसकी अपूर्णताएँ भी धन्यकर नहीं हैं।

अपूर्णताएँ और अस्तित्वविरोध

१२. प्रपतिवादी समासोचना के प्रतिमान की अपूर्णताएँ धर्म अनेक संश्लेष समासोचकों द्वारा उद्घाटित की जा चुकी हैं। इसका नूतनाचार मार्क्सवर्धन विचार-क्षेत्र की वह बढ़ावारी दृष्टि है जिसका जीवन को साम्प्रतिक चेतना में कोई विश्वास नहीं है। यही कारण है कि प्रपतिवादी

जमीन्दा ने साहित्य की सामाजिकता का तो पर्याप्त पक्ष दिया किन्तु वह उस महान् सत्य की प्रवहेना कर बैठे को मानव-हृदय की चिन्तन संवेदनाओं के रूप में पारस्परिक सोझाई, सहयोग और स्नेह की कोमल भावनाओं से साकार बनाता है। इसी प्रकार वह अपने वर्तमान की प्रति-बोधिता में इसी अधिक उत्तम यह कि उसे मनुष्य की प्राकृतिक चेतना और कल्पनाशील प्रवृत्ति का विशेष ध्यान ही न रहा और उसकी दृष्टि में प्रतीत की स्मृति और भविष्य की प्राप्ति केवल मुक्तियों की प्राप्ति मात्र प्रतीत होने लगी। अब तो यह है कि तथाकथित प्रगतिवादी समालोचना ने हमें प्राथमिक और सामाजिक जीवन की जड़वादी व्यवस्था में इसना अधिक धस्त बना दिया कि हम इस तथ्य को भुल ही गये कि साहित्य का जन्म जड़त्व हमारे मानस में रसानुभूति का संचार करना है और उसका साम्य केवल भौतिकता की उपस्थिति ही नहीं अपितु उस अधिमानसिक चेतना की उपस्थिति है जिसमें वर्तमान के सारे बन्धन ध्वस्त होकर केवल व्यक्ति का पावन भाव-स्रोत ही प्रसर बन सकता है।

१३ प्रगतिवादी समालोचना का एक दुर्बल पक्ष यह भी है कि इसके समालोचक मूलतः मार्क्सवादी होने पर भी परस्पर बहुत अधिक अन्तर्विरोध रखते हैं। इसका एक प्रमुख कारण तो यही है कि इस प्रस्थापी के प्रायः सभी आलोचकों में अपने को पुर्ण ज्ञाता मान कर बसने की जो प्रवृत्ति है, वह दुर्घटों के पर्वत जैसे सच्च तथा सत्तर जैसे जमीर ज्ञान की धूमि-कणिकाओं के समान बाहु-ज्वेन में उड़ा देता चाहती है। इन प्रगतिवादी समालोचकों की दृष्टि में भी कम मध्य-वैमिश्रण नहीं है। सबने अपने-अपने ढंग से प्रगतिवादी साहित्य और समालोचना की व्याख्या की है और मार्क्स की विचारधारा को तोड़-भरोड़ कर अपने पक्ष में कर लिया है। यद्यपि प्रगतिवाद का विशेषण करते हुए हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है किन्तु ऐसी पुस्तकों की बहुत कमी है जिसमें विद्युत् साहित्यिक दृष्टि से इस बाध व्यवस्था साम्यता का विश्लेषण किया गया हो। प्रकाशित पुस्तकों में या तो कम और चीज के सचको और राजनीतियों के पारस्परिक विचार व्यवस्था विरोध के छद्मरण हैं या अपने सभी समालोचकों के कवनों का कट्ट सच्चों में बंधन है। किसी ने (डॉ. रामविद्यास शर्मा ने) 'प्रगतिवादी साहित्य तथा प्रगतिवादी है वह वह साहित्य भी है। तथा श्रेष्ठ साहित्य सब प्रगतिवादी होता है' (प्रगति और परम्परा पृष्ठ ४२१) कह कर प्रगतिवाद का विश्लेषण किया है तो किसी ने मार्क्स के इष्टात्मक नीतिकार का छद्म-प्रनुवाद प्रगतिवाद के विश्लेषण में जोड़ दिया है। यही कारण है कि प्रगतिवाद का स्वल्प हिन्दी समालोचना साहित्य में अत्यन्त ग्रीक बन कर उपस्थित नहीं हुआ है जिसके द्वारा सच्च धारण करने वाले विद्वानों को अनेक बार निराश ही होना पड़ा है। अभिप्राय यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा प्रसारकाशीन समालोचना की एक प्रमुख प्रवृत्ति अवश्य है पर उसका समन्वयात्मक पक्ष उभरा हुआ नहीं है। इस प्रकार की समीक्षा के प्रमुख समालोचक डॉ. रामविद्यास शर्मा प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रमूत रूप तथा शिवधामसिंह चौहान प्रादि हैं, जिनका विश्लेषण यथा अवसर किया जायगा।

(३)

प्रसारकाशीन समालोचना की इतर प्रवृत्ति प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा

१४ छुत्तोत्तर-मुख की समालोचना को प्रसारित बनाने में प्रयोगवादी काव्य और उसकी समीक्षा ने भी अपना अपेक्षित योग दिया है। इस विशेष प्रकार की काव्य-प्रवृत्ति के समा-लोचक प्रायः वे ही कवि हैं जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य को छायावाद और प्रगतिवाद की कविता से श्रेष्ठ तथा मुक्त-जीवन के साथ बसने वाला सिद्धिष्ट किया और पुर्नवर्ती काव्य में ऐसे अनेक अवरोधपूर्ण तत्त्व प्रनुसंधित किये जिनसे उनकी दृष्टि से काव्य के प्रकृत स्वरूप का ज्ञान हो गया।

इस प्रकार की विचारधारा का समासोपनागत विधान हमें 'तार-सप्तक' नामक काव्य-संग्रह में विशेष रूप से मिलता है जिसकी 'विवृति' में प्रयोगवादी के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। 'तार-सप्तक' में जिन साठ कवियों की रचनाएँ संकलित हुई हैं, उन्हीं में अपनी रचनाओं के पूर्व काव्य के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। वस्तुतः 'तार-सप्तक' की 'विवृति' और उसमें संकलित कवियों का स्पष्टीकरण ही प्रयोगवाद का स्वल्प निरूपित करने का सर्वप्रमाणित मोपणा-पत्र कहा जा सकता है जिसको उपजीव्य बना कर अन्य भासोपकों ने समासोपनाएँ लिखी हैं। इस प्रकार की समासोपना-प्रवृत्ति के हमें दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। पहले रूप में तो प्रयोगवादी कवि-समीक्षकों की अपनी उपमावनाएँ हैं जिनमें प्रयोगवाद की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा गया है और दूसरे रूप में उन समासोपकों की विवेचनाएँ हैं जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य-समीक्षक से अनेक प्रकार की असंततियाँ तथा भ्रान्तियाँ पा कर साहित्य-हितचिन्तन की दृष्टि से उनके पूर्वग्रही-पक्ष का खंडन किया है और साहित्य के सम्बन्ध में चिरंतन तथा उदात्त भावों की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। यद्यपि समासोपना की यह प्रवृत्ति समीक्षा-क्षेत्र में अपना विद्विष्ट स्थान नहीं बना सकी है क्योंकि इसकी विचार शक्ति स्वतः ही अत्यन्त विभ्रु खचित है किन्तु अनुनाशन प्रसार-क्षेत्र में इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। सम्भव है, इसके प्रयोग अपने अन्विष्ट-कार्य में साहित्य का छात्रतः सोच-विचार उपलब्ध कर सकें और उनकी राह में उन समासोपकों की विवेचनाएँ पत्र-प्रबन्धन का कार्य कर सकें जो प्रत्येक युग की कविता में अपने पूर्ववर्ती युग से वस्तु तथा संवेदनशीलता को अनिवार्य समझ कर इस विशेष प्रकार की रुढ़िग्रस्त काव्य-परम्परा को लोक-सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा का स्वल्प

१८. धार्मिक हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रयोगवादी रचनाओं का उपयोग भरमत्त तार-स्वर से किया जा रहा है। इन रचनाओं के मुख में जीवन की किस सामाजिक और मानविक प्रवृत्ति की प्रतिबिम्बा है, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु यह एक असंदिग्ध बात है कि इसके निर्माताओं को अपनी गई सूझ-बूझ पर अत्यन्त गर्व है। एक प्रकार से प्रयोगवाद का नामकरण-संस्कार की उन्हीं के मस्तिष्क की उपज है। उन्हीं साहित्य की भी एक प्रकार के प्रयोग का नाम देकर अपनी रचनाओं के प्रकृत विषयों और विचारधाराओं का विवेचन अपने ही ढंग से किया है। धार्मिक प्रयोगवादी काव्य हिन्दी-जगत् की नव्यतम प्रवृत्ति समझी जाती है और इसके रचयिता अपने मानविक और बौद्धिक विवेचन में किसी भी उत्कर्ष प्राप्त साहित्यकार की बेदना से स्वयम् को हीनकोटि का नहीं समझते। उनकी सम्मति में छायावाद और प्रयतिवाद पुण्ड्रे हैं पुके क्योंकि उनमें उन्हें जीवन की वह बेदना नहीं मिलती जो साहित्य को संजीवनी प्रदान करती है। इन प्रयोगवादी रचयिताओं ने रचनात्मक साहित्य के नाम पर अनेकानेक झोटे-बड़े तथा संकीर्ण और प्रकीर्ण विषयों पर काव्य-रचनाएँ की हैं और उनके समर्थन में अत्यन्त एक-वितर्क भी प्रस्तुत किये हैं। किसी समय ये रचनाएँ केवल पत्र-पत्रिकाओं के कलेवर-क्षेत्र में अपना धाकार प्रष्ट कर रहीं थी किन्तु कालानुक्रम से अब उन्हें गवीनता के नाम पर धानस्यकता से अधिक प्रोत्साहन प्रदान किया गया तो उनके निर्माता उन्हें काव्य का जीवन स्वल्प मान बैठे। जैसे तो अनेक काव्यकारों ने विभिन्न विषयों पर प्रयोगवाद के नाम पर कविताएँ लिखी हैं, किन्तु उनको सर्वोपरि महत्ता भी अन्विष्टात्मक हीरान्तः सारधायन प्रवेश के द्वारा ही गई है। अनेकानेक ने 'तार-सप्तक' की सम्पादन 'विवृति' में प्रयोगवाद के प्रति अपना दृष्टिकोण व्यक्त कर प्रयोगवादी समीक्षा-क्षेत्र में अपना प्रबल संस्तर किया है। उनका विवेचन प्रयोगवाद के समर्थन में बीता ही है वंशा छायावाद की धर्मधर्मना में पंत की के पक्षधर का 'प्रवेश' किन्तु इन दोनों में इतना अन्तर धारण रहा है कि

समीक्षा ने साहित्य की सामाजिकता का तो पर्याप्त पक्ष लिया किन्तु वह उस महान् सत्य की प्रवृत्तिमाना कर बैठी जो मानव-हृदय की चिन्तन संवेदनाओं के रूप में पारस्परिक छोड़कर सहयोग और स्नेह की कोमल भावनाओं से साकार बनता है। इसी प्रकार वह अपने वर्तमान की घटि बाधिता में इसी धार्मिक उन्नति गई कि इसे मनुष्य की धार्मिक चेतना और कल्पनाशील प्रवृत्ति का विशेष ध्यान ही न रहा और उसकी दृष्टि में धर्मीय की स्मृति और भविष्य की भाषा केवल पुसावे की भांति मात्र प्रतीत होते लगी। सब तो यह है कि उपाकथित प्रवृत्तिवादी समालोचना ने हमें धार्मिक और सामाजिक जीवन की बहुवारी व्यवस्था में इतना धार्मिक प्रस्थ बना दिया कि हम इस तथ्य को भूल ही गये कि साहित्य का चरम उद्देश्य हमारे मानस में रसानुभूति का संचार करना है और उसका साध्य केवल भौतिकता की उपस्थिति ही नहीं धनितु उस अधिमानसिक चेतना की उपस्थिति है जिसमें सर्वसमाज के सारे बन्धन व्यस्त होकर केवल व्यक्ति का पावन भाव-मोह ही धमर बन सकता है।

१७. प्रवृत्तिवादी समालोचना का एक दुर्बल पक्ष यह भी है कि इसके समालोचक मूलतः मार्क्सवादी होते पर भी परस्पर बहुत अधिक भिन्नविरोध रखते हैं। इसका एक प्रमुख कारण तो यही है कि इस प्रसंगी के प्रायः सभी आलोचकों में अपने को पूर्ण ज्ञाता मान कर चलने की जो झुंझझुंझ है वह दूसरों के पर्यंत जैसे उच्च तथा सावर जैसे बन्धीर ज्ञान की धूमि-कणिकाओं के समान बामुन्नेय में उड़ा देता चाहती है। इन प्रवृत्तिवादी समालोचकों की दृष्टि में भी कम मत-वैमिलन नहीं है। सबने अपने-अपने ढंग से प्रवृत्तिवादी साहित्य और समालोचना की व्याख्या की है और मार्क्स की विचारधारा को तोड़-मरोड़ कर अपने पक्ष में कर लिया है। यद्यपि प्रवृत्तिवाद का विश्लेषण करते हुए हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है किन्तु ऐसी पुस्तकों की बहुत कमी है जिसमें विमुक्त साहित्यिक दृष्टि से इस वाद प्रचलित साम्यता का विश्लेषण किया गया हो। प्रकाशित पुस्तकों में या तो कुछ धीर चीन के लेखकों और राजनीतिज्ञों के पारस्परिक विवाद प्रचलित विरोध के अन्तर्गत हैं या अपने सभी समालोचकों के कथनों का कटु बर्णन में बंजन है। किसी ने (डा. रामविनायक शर्मा ने) प्रवृत्तिवादी साहित्य सभी प्रवृत्तिवादी है जब वह साहित्य भी है। तथा श्रेष्ठ साहित्य सर्वत्र प्रवृत्तिवादी होता है' (प्रति धीर परम्परा पृष्ठ ४१।२) कह कर प्रवृत्तिवाद का विवेचन किया है तो किसी ने मार्क्स के इन्द्रात्मक भौतिकवाद का प्रसरण अनुवाद प्रवृत्तिवाद के विवेचन में जोड़ दिया है। यही कारण है कि प्रवृत्तिवाद का स्वल्प हिन्दी समालोचना साहित्य में अल्पमत प्रौढ़ बन कर उपस्थित नहीं हुआ है जिसके द्वारा तथ्य ग्रहण करने वाले विज्ञान को प्रत्येक बार निरास ही होता पड़ता है। यद्यपि यह है कि प्रवृत्तिवादी समीक्षा प्रसारकालीन समालोचना की एक प्रमुख प्रवृत्ति अवश्य है पर उसका समन्वयात्मक पक्ष कथरा हुआ नहीं है। इस प्रकार की समीक्षा के प्रमुख समालोचक डॉ. रामविनायक शर्मा प्रो. प्रकाशचन्द्र गुप्त धर्मतथ्य तथा सिद्धान्तविद् बौद्धान्त आदि हैं, जिनका विवेचन यथा अवसर किया जायगा।

(३)

प्रसारकालीन समालोचना की इतर प्रवृत्ति प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा

१८. दुस्रोतर-पुनः की समालोचना को प्रसारित बनाने में प्रयोगवादी काव्य और उसकी समीक्षा ने भी अपना योगदान दिया है। इस विवेक प्रकार की काव्य-प्रवृत्ति के समालोचक प्रायः वे ही कवि हैं, जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य को व्यापार और प्रवृत्तिवाद की कविता से श्रेष्ठ तथा सुप-जीवन के साथ चलने वाला निश्चित किया और पूर्ववर्ती काव्य में ऐसे प्रत्येक अवरोधपूर्ण तथ्य अनुसंधित किये जिनसे उनकी दृष्टि से काव्य के प्रकृत स्वभाव का ज्ञापन हो पड़ा।

इसी से साहित्य का सम्मिलन भाव कंठित कर दिया जाता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इन प्रयोगवादी समीक्षाओं में नवीनता के नाम पर कुछ मूलन प्रयोग और चमत्कार दिखाने की जितनी प्रवृत्ति है, उतनी सत्साहित्य के स्वल्प निर्धारण की नहीं। तत्त्व की बात तो यह है साहित्य-समीक्षा का कोई न कोई जीवन-उद्बुध आधार अवश्य होना चाहिए और वह कोई आवश्यक नहीं है कि वह सर्वत्र घातकस्मृत ही हो किन्तु उसमें जीवन की चेतना के मूल तत्वों की उपेक्षा करना साहित्य की जीवनवायिनी धर्म को बहू बनाना है।

प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा के विभिन्न दृष्टिकोण

४२ जब हमारी दृष्टि में प्रयोगवाद का कोई पुष्ट और व्यवस्थित स्वल्प-विधान ही नहीं जब पाता तो उसका तात्त्विक विश्लेषण किस आधार पर किया जाय यह कम उसम्भन का विषय नहीं है। प्रयोगवादी काव्यकारों की प्रवृत्ति एवं प्रकृति का विश्लेषण करते हुए धर्मेश्वरी लिखते हैं 'उनमें मर्त्यत्व नहीं है सभी महात्मापूर्ण विषयों में उनकी राय प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष है, जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में काव्य-वस्तु और ऐसी अन्य और तुल्य तथा कवि के साहित्यों के प्रत्येक विषय में उनका व्यापक में सहमति है। यहाँ तक कि हमारे जन्म के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं सिद्ध मौलिक तत्वों को भी वे स्वीकार नहीं करते जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता उद्योगों का समाधीकरण आर्थिक युद्ध की उपयोगिता व्यवस्था की की दुपई प्रत्या काननवाला और सहृदय के मानों की उत्कृष्टता इत्यादि वे सब एक दूसरे की दृष्टियों कृष्टियों और भाषाओं विस्वास्तों पर एक दूसरे की जीवन परिपाटी पर और यहाँ तक कि एक दूसरे के निर्वा और कुलों पर भी हैं।' धर्मेश्वरी प्रयोगवाद के सबसे बड़े समर्थक हैं और उन्होंने इसके रचनात्मकों के मानविक संस्कार के विषय में कहा कि बड़ी विवेक-बुद्धि से उपर्युक्त धारणा व्यक्त की है। परन्तु इसी के आधार पर यदि प्रयोगवाद को समझने का प्रयास किया जाय तो भी उसमें किसी निश्चित दृष्टिकोण की उपस्थिति नहीं हो सकती। उनके विश्लेषण से इतनी ध्वनि प्रत्यक्ष निकलती है कि वे प्रयोगवादियों को विश्व के महान् मनीषियों की कोटि का समझते हैं और उनके मत-वैविध्य को भी कुत्तापूर्ण कहते हैं। माना कि विश्व में महापुरुष अपने विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष जीवन-आर्थिक दृष्टि लेकर प्रवृत्ति होते हैं और कार्य-व्यवहार करते हैं किन्तु प्रत्यक्षोपेक्षा वे भी तात्त्विक दृष्टि से एक ही राय पर पहुँचते हैं पर इन प्रयोगवादियों में तो ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार प्रयोगवादियों को जिस धर्म में सम्यक् कहा गया है उसका धर्म भी तो इसके समीक्षक स्पष्ट नहीं कर पाते। धर्मेश्वरी ने भाषा-विषयक धर्मोपेक्षा को लेकर प्रयोगवादियों की जो मौलिकता निरूपित की है वह भी विम्वर है। उनका यह कहना भी बलवत्तर नहीं है कि प्रयोगवादी रचनाता अपनी उत्तम हुई सम्यक्ता की दृष्टि को पाठकों के पास पहुँचाने की नीयत से अपना प्रयोग करते हैं। प्रथम है कि वह उत्तम हुई सम्यक्ता क्या है धर्मेश्वरी के पास इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं है। वे इस प्रसंग में भी अपनी मनोविश्लेषक प्रवृत्ति का समावेश कर आन्तरिक और बाह्य संबंध को उत्तम हुई सम्यक्ता का कारण निरूपित करते हैं और आन्तरिक संबंध के प्रत्यक्ष धर्म के मानव-मन को ऐसी यौन-कल्पनाओं से सजा हुआ बताते हैं जो बहिर् धीर कृष्टि हो गई हैं। यहाँ तक कि धर्मेश्वरी के मतानुसार तो धर्म के मानव की सौम्य-चेतना भी इन्हीं यौन-कल्पनाओं से घातक है और इसीलिए उनके उपमान भी यौन प्रतीकार रखते हैं। धर्मेश्वरी ने बाह्य संबंध का भी स्पष्टीकरण किया है और बताया है कि धर्म का प्रयोगवादी अपने उत्तम हुई सम्यक्ता की प्रविष्टि में इतना धार्मिक धातुन रक्ता है जिसका प्रतिफल ही प्रयोगवादी रचनाएँ हैं।

पंत जी ने ब्रजभाषा और मध्यकालीन साहित्य पर अनेक प्रकार के उचितानुचित व्यंग्य और प्रहार करते हुए भी उनके काव्य-बुद्धों की गरिमावत् प्रशंसा भी की है, जबकि ग्रन्थों की तथा ग्रन्थाम्य प्रयोगवादी समीक्षकों की सहायुक्ति अन्य बातों के प्रति प्रायः नहीं के बराबर रही है।

समीक्षा की सर्कसित और मौलिक व्यवस्था का परीक्षण

४ प्रयोगवादी साहित्यकारों और समीक्षकों के पास अपने समर्पण के विषय ठीक हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपने मत-समर्पण की विवेचना प्रस्तुत की है और कर रहे हैं। उनके विवेचन में परस्पर मत-वैभक्त्य की भाषा भी इतनी अधिक है कि उनकी मान्यताओं को किसी एक ठोस-सम्यक्त बराबर पर अवस्थित नहीं कहा जा सकता। ग्रन्थों की वे 'ठार-सप्टक' में जिन प्रयोगवादिनों को एक ही बूट पर बाँधने का प्रयास किया है वे अलग-अलग रखे तुड़वा कर जैसे घातना चाहते हैं। उन्हें प्रयोगवादी काव्यकार न जाने किस धर्म में किसी एक स्कूल के न होने के कारण ही महान् सबूत हैं और वे उन्हें राही नहीं 'राहों के धर्मधी' समझते हैं। ग्रन्थों की का विवेचन उनके और अधिक स्पष्टीकरण चाहता है, क्योंकि उसमें समोचिस्तेषणवादिनों की मानसिक कठारों की शक्ति अनेक समझों की गति विद्यमान है। अच्छा होता यदि ग्रन्थों की उस राह का निर्देश करते बिचका धर्मपथ करने के लिए वे राही अपनी प्रयोगवादिता में ही मटक रहे हैं। समझ में नहीं आता कि हमारे प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षक किसी नवीन सिद्धान्त या विचारणा की सृष्टि करने की बुन में जीवन के चिह्नन सत्त्वों के रूप में अविध्यवत् साहित्य की शास्त्र परम्परा से क्यों चिढ़े हुए हैं? जाना कि जीवन में प्रयोग का महत्त्व होता है जो हमें किसी नवीन प्रयास या नूतन निर्माण-वेष्टा के लिए प्रेरणा देने का कारण बनता है किन्तु यह प्रयोग किसी सांस्कृतिक और पुष्ट बराबर पर भी तो अवस्थित होना चाहिए। आधुनिक साहित्य-समीक्षा में प्रयोगवाद के नाम पर जो साहित्य-नृपण और समीक्षण आचरण हमारे सामने आ रहा है, उसकी मूलवृत्ति किसी ओस आधार से निवचय ही हीन है। नवीनता के नाम पर किसी प्रकार में यह जाना साहित्य और जीवन-विमान का कोई सम्बन्ध सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः साहित्यकार अपने जीवन की छाव देकर साहित्य-नृपण पर आनन्द-नृपण का प्रस्तुत करता है, पर उसको किसी प्रयोग के शुद्ध मस्त्वल में मटकाना कष्टावृत्ति ही सुवास-रस की प्राप्ति का उपादान बन सके।

४१ जैसे तो प्रयोगवादी साहित्य-समीक्षा में अनेक प्रकार के परम्परा और विचारों का विचार व्यक्त किये गये हैं और उस परम्परा का आन भी अन्त नहीं है किन्तु उनके किसी मौलिक और व्यवस्थित सत्य की उपलब्धि हो ऐसा नहीं प्रतीत होता। हाँ, यदि कोई तत्त्व विज्ञान इनके समर्थक समालोचकों के विचार-कथों का सम्बन्ध कर किसी निश्चित बाराणा पर पहुँचना चाहे तो उसे प्रकीर्ण सूत्रों के रूप में कई प्रकार की जानकारी हो सकती है। प्रयोगवादी समीक्षकों की अपने विषय में सबसे विविध मान्यता तो यह है कि चूँकि आध्यात्मिकता अपने में सम्पूर्ण और निरपेक्ष नहीं होती अतः किसी कवि की कृति को स्वाभाविक मुखाय कहना सुविशेष्य नहीं है। अच्छा होता यदि वे प्रयोगवादी समीक्षक अपनी इस धर्मोन्मी बाराणा को अपने सूत्रन पर ही पटित कर संतोष कर लेते किन्तु उन्होंने इस प्रतिमान से विश्व के सभी महान् साहित्यकारों को नापना चाहा है और उन्हें भी स्वाधुनि की प्रेरणा से साहित्य निजने जाना नहीं माना है। आश्चर्य तो यह है कि हिन्दी के सर्वत्र और अमर कवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस के प्राक्कथन-रूप में 'रघुनाथ-गाथा' को किस रूप में 'स्वाम-मुखाय' कहा है, वह भी इन प्रयोगवादिनों को नहीं जगता। इस प्रकार उनका विवेचन जहाँ अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के लिए किया गया मनमाना प्रयास है, वहाँ उसका धर्म साहित्यकारों की काव्य प्रतिभा पर भी प्रयोग वस्तुतः शुभ सबूतों से युक्त नहीं कहा जा सकता। ऐसे एकानि हटिकोण साहित्य-समालोचना में निवृत्त होने के कारण बनते हैं

रायत होते हैं। इसके बजाय हमें राय और धान में बुरित ऐम्ब्रिकिज कार्बोहायड्रट और एमिजाट मूल विमान करना है।^१ स्पष्ट है धामोपना महोदय ने साहित्य के विद्यपीठ से अपना यह निलंब दिया है। पर प्रश्न यह है कि जिस मूल-विधान की वे बातें कहते हैं, क्या ऐसा वे करने भी हैं? अब तो यह कि उनका यह मन्व्य स्वतः असम्भो से सापुष्टि है। वे हिन्दी-कविता में जिस प्रकार का विचार वास्तवीय समझे हैं, वह क्या उनके द्वारा लाया जा रहा है भवना सचमुच पूर्ववर्ती काव्य इतना सङ्ग गया है जिसकी बेतना, एवंचा मुष्ट-सी हो जाती है। मुझे तो इनके वे प्रयोग साहित्य और जीवन की वास्तवता का उद्घोष करने वाले से सते हैं और इनके प्रचारक साहित्य-क्षेत्र में किसी मेधावी समाजोपना का संकुश न मानने के कारण ही इस प्रकार के उपक्रम में मने हैं। यदि साहित्य सुनन और समाजोपना के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयोग ही करते रहे, तब तो साहित्य की समिष्टि संकास्त्र हो रहेगी और वाक्मीक, काव्यवाह सूर, कुचरी चारतेमु और प्रसाद प्रावि का बीर्य विस्मृत बना दिया जायगा। यह धार के उत्तरवादी समाजोपनों का यह प्रथम कर्तव्य है कि वे इस प्रकार के प्रयोगों को निम्न हृष्टि से परखें और साहित्य-वर्ग के समस्तों के बीच ऐसे ऊर्ध्व कोच के दुकने न लगने दें जो उनकी भीषणता और दुष्टता को बाधित करने वाले हों।

४४ बैधा कि पहले संकेत किया जा चुका है, प्रयोगवादी समीक्षकों का इच्छिकोत्पत्तु आतिव्यस्त है। उनके विवेचन के द्वारा तो क्याचित हैं। किसी प्रकार की साहित्य उपवर्ग हो सके। यह उनके विस्लेषण से जो कुछ टूटे फूटे उप्य हाथ मच सके उन्हें ही प्रयोगवादी साहित्य के उपादान समझ लेना चाहिए। इस हृष्टि से तो कही कहना समीचीन है कि प्रयोगवादी साहित्य केवल वैधिम्य-मूल और बुद्धि के धनीय से उन्मुक्त साहित्य है जिसके रचयिता न तो अपनी वैयक्तिक धनुर्बुद्धि के प्रति लक्ष्य हैं और न सामाजिक वास्तव को निधान में ही समझ। उन तो यह है कि उनकी रचनाओं को काव्य की नृमि में परिवर्तित करना भी एक प्रकार का दुस्साहस पूर्ण कार्य है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि धार का प्रयोगवादी साहित्य अपनी जीवन शक्ति के प्रभाव में स्वतः विचारकों का स्नेह और सहार्थ बोध का रहा है। उनमें वह सरलता ही नहीं जो मानव हृदय-संवेग बन सके फिर मना ऐसे जीवन-स्वाभवादी साहित्य को उनके उद्भावक अपनी किंचि माय-वेतना का इन्विजन बना कर जब तक जीवित रह सकें, वह एक विचारवादी प्रश्न है। वस्तुतः लक्ष्य साहित्य-समीक्षकों का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे धार के विकासमुख जगत् में साहित्य का विरलत महत्त्व समर्थ और जिन उपस्थाओं और साधनाओं में हिन्दी के सत्त्व को बीर्य पूर्ण बना कर विधन-साहित्य की उपता में एक विशिष्ट स्थान प्रदान कराया है उन पर अपनी उच्छ्व कक्षा की धूमिल छाया न पड़ने दें। धार हिन्दी भाषा और साहित्य को भारत का नेतृत्व करने का जो सम्मान प्राप्त हुआ है उसकी दुष्टता का परिवर्तन हुआच यह सामाजिक प्रयोगवादी साहित्य अपने निर्जन कर्षों पर कौरे कर सकेया, यह हमारी धार की स्वयन्त समझा है। इसके निराकरण के लिए जितना लक्ष्य समुचित प्रयत्न किया जाय उतना ही सोचनीय है।

४५. प्रयोगवादी साहित्य के सम्बन्ध में मुझे उतना अधिक इसलिए भी चिन्ता पड़ा कि यह हमारी धार्मिक समाजोपना का एक प्रमुख मासोप्य विषय बन रहा है और कते धार के बुनीत साहित्य की सच्ची उद्भावना का रूप दिया जा रहा है। इतना ही नहीं प्रयोगवादी के नाम से प्रचलित रचनाओं की प्रसंग में ऐसी-ऐसी बातें भी मिथी जा रही हैं जो केवल अपनी चमक दमक और ऐश्वर्यात्मिक विषयों से सम्बन्धित-सी हैं। हो सकता है, प्रयोगवादी धार की एक छोटी बड़ी या किसी भी प्रकार की धारस्वकता हो और उसमें साहित्य की अनुभवशीलता के उत्तर जिन

उनका सत्य और प्रेम भावि के विषय में भी प्रसन्न हृष्टिबोध है। सादाँस यह कि प्रयोगवाक का अभी तक कोई मुख्य रूप न हो रचनात्मक साहित्य के द्वारा ही व्यक्त हो सका है और न समाजोपना-साधन के रूप में ही। उनके विवेचन के निष्कर्ष के रूप में वं० मन्त्रपुरारे राजपेयी ने प्रयोगवादी काव्य की जो परिभाषा की है वह इस प्रकार है "उत्तमो हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न प्रत्येक क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणात्मक सीधी-तिरछी सजीवों सीधे या उल्टे पक्षों भावि का प्रयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेष्टियों की रचना"। स्पष्ट है कि राजपेयी जी ने प्रयोगवाक की यह सामान्य परिभाषा प्रयोगवादी समीक्षकों की छायावसी को ही लेकर निमित्त की है जिसका मूल अभिप्राय यही छिड़ करने का है कि वे तथा कवित प्रयोगवादी अपने विषय में चाहें किसी अहमम्यता का विज्ञापन करें किन्तु उनका साहित्य-समाजोपन किसी तात्त्विक आधार पर प्रवर्तित नहीं है।

अन्य मान्यताएँ और बारीक

४३ प्रयोगवाक के समर्थकों ने अपने पक्ष-समर्थक में अनेक प्रकार की बातें कही हैं। यदि वे केवल प्रयोगवाक का ही संस्तर करते तब तो फिर भी यनीमत की किन्तु उन्होंने अपने वाक की अभ्यर्थना में जो अन्य बातों को आगे हाथों लिया है वह अक्षोभनीय है। यह एक प्रवीण हाथ है कि कोई अपने महत्त्व प्रदर्शन के लिए दूसरों पर मनमानी धोकाधवी करे। प्रयोगवादियों ने ऐसा ही किया है। इस सम्बन्ध में अज्ञेय जी ने जो कुछ कहा प्रयत्न लिखा है उसका जो सामान्य परिचय दिया ही जा चुका है। उनके प्रतिरिक्त जो अन्य समाजोपक हैं उन्होंने भी अनेक प्रतापिक और प्रसन्न कर्षणों अपनी समीक्षाओं के समर्थन की हैं। उदाहरण के लिए जी प्रभाकर दासने को लिया जा सकता है। उन्होंने प्रयोगवाक के समर्थन में तो अनेक बातें लिखी हैं किन्तु उनकी श्रुति में छायावाक और प्रपञ्चवाद भी आने से भी नहीं बच सके हैं। उनका कहना है कि "छायावाक तो हिस्तीरिया की भाँति हिन्दी-कविता का एक मानसिक रोग है और प्रपञ्चवाद इतिवत् हृष्टाश्रयों से निमित्त होने वाला धोखा की सीमा पर पहुँचा हुआ पर पीरन प्रेम। प्रयोगवाक इन दोनों के झोरों को मिलाने में उपयोगी हुआ है"।^१ प्रसन्न होता है कि जब प्रयोगवाक हिस्तीरिया के प्रतीक छायावाक और धोखाधूर्य प्रपञ्चवाद की ही उपज है तो उसमें उन्हें किस प्रकार काव्य के उदात्त गुण मिलते हैं। इसका समाधान न तो उनके पास है और न उन्हें इस बात की धारणा है कि कोई उन्हें इस प्रकार की मनमानी विवेचनाओं के लिए उत्तरदायी ही बना सकता है। और तो और, प्रयोगवादी रचनाओं के क्रिसुत्पन्न का वे जिस आहम्बरपूर्ण सम्भावना से भरना चाहते हैं वह और भी अधिक अभिष्ट है।^२ कठिनाई तो यही तक है कि इन साहित्य-समीक्षकों का पास न तो विवेचन का कोई छात्रीय आधार ही है और न अनुसूतिजग्य कोई दर्ज ही। उन्हें तो जैसे काव्य-लोच में प्रयोग करना प्रसीष्ट है, उसी प्रकार आलोचना-लोच में भी। उनकी भिन्नलिखित छायावसी से न तो किसी रूप की प्राप्ति होती है और न कोई गभीरता का सुष्ठु स्वरूप ही मिलता है। वैसे हिन्दी में प्रयोगवादी अभिव्यञ्जना या प्रयोगवादी कविता के सम्प्रसार्य पर चलने की प्रारम्भिकता और पुनरावृत्ति है। हिन्दी कविता के विषयों की विविधता काव्य का सीधे और सुनिश्चयपूर्ण प्रयोग प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि भादि का विज्ञान होना चाहिए। हमारी कविता में जाने जाने वाले अधिकोप कल्पना-विषय या निम्न बर्णों के से निरे साम्बिक सृष्ट्युत या परम्प-

१. मन्त्रपुरारे राजपेयी, 'साहित्यिक साहित्य' पृष्ठ ७२।

२. प्रभाकर दासने 'प्र-उपना', पृष्ठ ५२।

३. पृष्ठ ५२ ५३।

'विवेचना' 'साहित्य-संस्तरण' (पं० ययाप्रसाद पांडेय के साध), 'साहित्य-विमर्श' और 'वेद्या-परक्षा' नामक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उन्होंने प्राधुनिक साहित्य की मनोविश्लेषण वाली प्रवृत्तियों का निम्नलिखित मुख्य रूप से किया है। उनकी समाजीयताओं का मुख्य विवेक विषय वाद-विश्लेषण और उपन्यास-साहित्य कहा जा सकता है, जिसकी पार्श्वभूमि में भ्रम भारतीय भाषाओं तथा पाश्चात्य साहित्यों के लेखकों का भी यथाप्रसंग विवचन हुआ है। सुस्मांतर-भुष के समय बाद-समर्क समाजीयताओं की भाँति उनमें भी अपनी मायमताओं के प्रति विरोध भावना है और वे प्रगतिवादियों के दृष्टिकोणों में रुढ़िवादिता और दृष्टिकोणों की भाषा अधिक पाते हैं।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगतिवाद और मनोविश्लेषणवाद के एक-दूसरे सिद्धान्तों को लेकर हिन्दी समाजीयता-साहित्य में जो बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा और जिसका प्रादुर्भाव भी भ्रम नहीं हुआ है, उसका जोखीबी पर भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और वे भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को समुल्लेख और प्रगतिवादी सिद्ध करने के लिए उद्यत हो गये। प्रगतिवाद की भावनाओं पर धारणाएँ करते हुए वे कहीं-कहीं तो इतने अधिक प्रसंगमय बन गये हैं कि उन्हें 'पूर्वतापूर्ण' तक कहने में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ है। जोखीबी का इस प्रकार का आलेख धारणा निमर्श और एकाकी-सा है। बात यह है कि प्रगतिवाद अपने में जितना अधिक उत्साह हुआ नहीं है, उतना उसके समर्थकों और विरोधियों ने बना दिया है। जोखीबी ने अपनी दृष्टि से भारतीय साहित्य में प्रगतिवादीता की परम्परा का ऐतिहासिक विवेचन कर यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इसका एक स्वाभाविक क्रम है जिसे उनके दृष्टिकोण से ग्रहण करना समीचीन है। उन्होंने प्रगतिवादी साहित्यकारों और समाजीयताओं को यह सम्पत्ति दी है कि वे 'उनके गले प्रगतिवाद का अनुसरण' करें जिसमें वास्तविक वास्तव प्रगति तथा धार्मिक प्रगति को समान समन्वयात्मक रूप से अपनाया गया है।^२ इस प्रकार जोखीबी के समुदाय नूतन प्रगतिवाद रुढ़िवादी प्रगतिवाद से भिन्न है किन्तु उनकी शक्ति भी एकपक्षीय हो सकती है; इस तथ्य की ओर उनका ध्यान कम गया है।

४७ जोखीबी की साहित्यकार की धारणाओं पर बहुत अधिक विस्वास है। उनकी वेदार्थापन में धर्म की मायमताओं का कहीं-कहीं इतना अधिक प्रभाव है कि वे पार्श्वपूर्ण राष्ट्रीय साहित्य को भी केवल उसी के प्रतिमान से विवेचित करने के लिए उद्यत हो गये हैं। जिन वस्तु-विवरणों ने राम-कृष्ण को अपना धारणा बना कर काम्य समा की जोखीबी स्थिति और आत्मन्य सहीदता का चित्रण किया था उनके अवचेतन पर भी वे दलित भावनाओं की ही धारणा लगे हैं और काव्यशास्त्र धारि की कृतियों में भी शक्ति भुष आरना के प्रति विशेष मानते हैं। उन धार्मिकों का धारणा विश्लेषण करते हुए अपनी विवेचना के अन्तर्गत उन्होंने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि "इस प्रकार अपने धर्मार्थ की वास्तव-विस्फूर्ति कलाओं की वास्तव की धार्मिक कौशिकी से एक रूप में मिला कर वे लोक स्वयं मुक्तों के धार्मिक स्वयं में उद्भाषण करते हैं और जनता को भी उसी पूर्वतापूर्ण पौरुष-धर्म में (जिसे धार्मिक विरोध का पारी मरकम नाम दिया जाता था) धरमते रहने में कुछ प्राप्त करते हैं।"^३

४८ इसाध्वन की वे संस्कृत के साहित्यकारों के मनोविश्लेषण में भी समुल्लेख कामनाओं की धारणा देती है और हिन्दी के प्रगतिवाद तथा रीतिवाद को तो केवल उसी के अन्तर्गत से मुक्त सिद्ध किया है। उन्होंने जयदेव आदि कवियों की शृंगारिकता को धारणा प्रवर्तन और विकृत धारणा है और वे उसे शक्ति जीवनमूल्य के विकास से प्रसन्न योग्य का स्थापना मानते हैं।^४

१. पं० स्वाकाद मोती: 'विवेचना' की सूचिका, पृष्ठ १।

२. यही, पृष्ठ १।

३. यही, पृष्ठ ८।

४. यही, पृष्ठ १।

हुए हों, किन्तु क्या प्रयोग की कही शिक्षा उपयुक्त है जिसकी धीरे-धीरे हमारे ये प्रयोगवादी साहित्यकार बड़ रहे हैं ? सच तो यह है कि प्रयोगवाद के नाम पर मिथ्या-प्रचार में हमारे अनेक उद्योगमान मुकुमार मति साहित्यकारों को भी कम दिग्भ्रांत नहीं बनाया है । उन्होंने अपने समालोचकों की विचार-रहिम के आधार पर यही समझ रखा है कि उसी सीपी पंक्तिओं में किसी प्रकार की सत्य-अनिश्चयता कर देना ही प्रयोगवाद के लिए पर्याप्त है जो वस्तुतः एक भ्रांत रहिमक्रोह है । ऐसा करने का परिणाम यह भी हुआ है कि प्रयोगवादी रचनाओं में काव्य की भावार्थकता अथवा रचयिता की आत्मानुभूति का नैसर्गिक अभिव्यञ्जन हो नहीं पाया और उनके रचयिता उसी ठिठकी सचीरों या टेढ़े-मेढ़े छद्मों में जो कुछ प्रयोग कर बैठे हैं उन्हें भाग्य वाक्य समझ कर उनके प्रशंसक उन्हें प्रार्थ प्रशंस सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं । वस्तुतः बात यह है कि प्रयोगवादी साहित्य के नाम पर मात्र अनेक हमकी वस्तुएँ हमारे साहित्य में अधिकृत होती जा रही हैं और काव्य-हेतु और प्रयोगन सत्त्व-भ्रष्ट हो कर 'धैर्य धन बड़हा' या टूटी-फूटी के टुकड़ों में ही विघटित गया है । इतना ही नहीं अनेक बार तो जीवन-विज्ञान और प्रयोगविज्ञान धारि की भाष्यशास्त्रों का विद्वत् संस्थापन ही प्रयोगवादी काव्य का प्रदर्शन बन कर उपस्थित होता है, जिससे काव्य कहा जाने वाला 'रमणीयार्थ प्रतिपादक सत्य' या 'रसात्मक वाक्य भण्डाराव हो रहा है । ऐसे प्रचार से काव्य-क्षेत्र बड़-वस्तुओं का अभावबन्धन या नाशों का क्षिप्रबाहु मात्र बनने लगा है जिसमें प्रयोगवादियों की वसित तस्वीरें अपना अभिनय प्रदर्शन करने के बर्ष में अपनी पुण्यवर्धित मिथि को खो भी रही हैं । पता नहीं वे किस प्रकार की आत्मकृष्ण से प्रवीण होकर अपनी संस्कारसत् प्राचर्या को ठुकराते हुए नई परम्परा का सूत्रपात करने के लिए उद्युक्त हैं । मेरे विचार से प्रयोग की कही शिक्षा अधिक विवेक सम्मत कही जा सकती है जिसमें हमारे ये प्रयोगवादी साहित्यकार जीवन की संवेदना को प्रमुखता देकर और उसी का रस लेकर नई विचार-वाणियों और जीवन-वर्धन का सम्प्रेषण करते पर ऐसा बहुत कम ही रहा है । प्रतीत होता है कि अपनी इस भूल वा कुछ-कुछ धानास हमको भी होने लगा है और वे अपनी कृतियों को अपने अभावबन्धन की शक्ति ही जीवन की भूल समझने लगे हैं फिर भी परम्परा कम पड़ी है उसको परित्यक्त करने का वे जोम-संवरण भी नहीं कर पाते । वस्तु, प्रयोगवादी ध्यान के मुण-जीवन की एक अधिक प्रतिस्त्रिया है जिसका आधार अत्यन्त दुर्बल है और इसी कारण वह कृपण की कमक विज्ञता कर अपने-सही धर्मकार में निर्भर होने लगा है क्योंकि उसमें जीवन के, प्रोत्साहित साहित्य के उत्पन्न सहन करने की शक्ति या सामर्थ्य का अभाव है । इस प्रकार की साहित्य-कमीछा में विशेष उत्पन्न उपलब्धियों के अभावबन्धन होने लड़का केवल सामान्य स्वयं ही विशेषित किया है । आगे के पृष्ठों में अब प्रसारकालीन समालोचना के प्रमुख समीक्षकों का विवेचन कर उनकी भाष्यशास्त्रों का स्पष्टीकरण किया जायगा । इन समालोचकों में पं० हसाम्मन्त जोशी भी अग्रगण्य वा० रामविलास शर्मा भी प्रकाशचन्द्र मुन्त धारि प्रधान हैं ।

प्रसारकाल २ के प्रमुख समालोचक और उनका विवेचन

(१)

पं० हसाम्मन्त जोशी

पं० पं० हसाम्मन्त जोशी मूलतः कथाकार हैं और मानव-मनोविश्लेषण की अन्वेषणता को अपनी कथाओं का मूल आधार बना कर चलते हैं, अतः उनकी समालोचनाओं में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति परिप्रेक्षित होती है । उनके समालोचनात्मक निबन्धों के संग्रह साहित्य-संज्ञा 'विश्लेषण

विजयाकांक्षा की परिचर्पता के सिने प्रस्तुत करते हैं।^{११}

२५. जोशी जी की समाजोपनाओं का एक व्यावहारिक पक्ष भी है, जिसके दमस्त उन्हीं प्राधुनिक काव्य तथा कथा-साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने वाले कमाकारों की रचनाओं के विशेष स्वरों का विस्तेरल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किता है। उनके कुछ समीक्षामय निबन्ध तो मूलतः साधारण कोटि के हैं जैसे 'उपेक्षिता जयिता' 'प्रसाद की काव्यभारा और इसकी परिलुप्ति' आदि किन्तु उन्हीं भी उन्होंने यथाप्रसंग कहीं-कहीं प्राप्यत महत्त्वपूर्ण विचारणाएँ प्रस्तुत की हैं। वे व्याख्यात्मक-पद्धति में प्रसाद जी की काव्यभारा का क्रमिक विकास ध्वनित करते हुए कामायनी महाकाव्य को छायावाद-युग से भिन्न कोटि का मानते हैं, क्योंकि 'उसमें प्रसाद की ने छायावादी कवियों की भाँति धीमिध और धाँवत अन्तर्बेदना और और सामाजिक तथा दार्शनिक भावना का परिचय नहीं दिया'।^{१२} उनकी दृष्टि में 'कामायनी' हिन्दी-जगत् का सर्वप्रथम और सर्वोत्कृष्ट प्रगतिशील काव्य है, जिसमें कवि ने मानवात्मा की चिरन्तन पुकार को शायी की है। जोशी जी ने 'कामायनी' काव्य से कतिपय उद्धरण दे कर अपने मत की पुष्टि की है और उसे वेते के 'काव्य' के समकक्ष सिद्ध किया है। अपने 'कामायनी' धीर्बक स्वतन्त्र निबन्ध में भी उन्होंने कामायनी काव्य के कला-मूल और ज्ञान-मूल से सम्बन्धित अनेक धर्मों का सोझादूरल विवेचन कर उसे महान् धार्मिक भावना से ओत प्रोत माना है। इसी प्रकार प्रसाद के कथा-साहित्य और 'कंकाल' के विवेचन में उन्हें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यही लगी कि प्रसाद जी ने सब प्रथम अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दी उपन्यास-जगत् में ऐसे पात्रों की व्यवस्था की जिसका जन्म ही समाज-निमित्त था तथा जिनके जीवन-संचर्य का क्रम भी सामाजिक दृष्टि से दुर्बलताओं से भरा हुआ था।^{१३} इस दृष्टि से जोशी जी की प्रसाद की प्रेमचन्द जी से अधिक समीक्ष लगे हैं।

२६. जोशी जी की व्यावहारिक समाजोपनाओं में विस्तेरल के साथ साथ प्रभावनिर्भर पक्ष भी है जिसमें वे किसी भी समाजोपना कमाकार की समीक्षा करते हुए उन बातों की ओर भी विशेष रूप से ध्यान देते हैं जिनका उनके मानस पर प्रभाव पड़ा है। प्रेमचन्द जी की कला का मूल-तत्त्व विवेचित करते समय उन्होंने इसी पद्धति को अपनाया है। वे प्रेमचन्द जी की रचनाओं के प्रति धारणा रखते हुए भी उनकी कला को पुष्क-प्रमाण मानते हैं जिसमें बारी-जीवन के मधुर तथा भाँतिरक पक्ष का उद्घाटन नहीं हुआ है।^{१४} इसी प्रकार उन्होंने प्रेमचन्द जी की रचानुमिति को भी पुष्ट और व्यापक नहीं माना है तथा उनकी कला में केवल दृष्टिभ्रम का चमत्कार पाया है। स्पष्ट है कि जोशी जी की इस चारणा का दृष्टि-विन्दु उनका प्रेमचन्द जी से कला सम्बन्धी मतभेद है तथा वे यह मानकर चलते हैं कि 'गारी की मूल सक्ति से प्रेरित हुए बिना किसी भी यन्त्रा संयन्त्र-साहित्य की प्रायः प्रतिष्ठा नहीं हो सकती'।^{१५}

२७. उपन्यासकार होने के कारण जोशी जी की सहज प्रवृत्ति उपन्यासों के विवेचन की ओर रही। उन्होंने निबन्ध-साहित्य की क्षेत्र में विकसित होने वाले पत्नीसर्वी दृष्टावरी तथा उसके उत्तरपत्नी उपन्यास-साहित्य का विवेचन ऐतिहासिक पद्धति की व्यवस्था में किया है जिसमें प्रसिद्ध कड़ी उपन्यासकार आरुणिक गुणनैव आस्थाप्यकी केकाफ और जोशी आदि की रचनाओं के मूल मनोभावों का सिद्धान्तोक्त हुआ है। इस विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने दास्तदाक के अन्त

१. व. श्यामल जोशी : 'विवेचना' प्रथम संस्करण : पृष्ठ ४६।

२. वही, पृष्ठ ११।

३. वही, पृष्ठ ४०।

४. वही, पृष्ठ २१-२२।

५. वही पृष्ठ ६५-६६।

इसी प्रकार जोधोवास विद्यापति धारि कवियों के भावोद्धार भी उन्हें सामु-बिकारवस्तु प्रतीत होते हैं। उन्होंने तुलसीदास को अपने युग का महान् प्रयत्निशील कवि मान कर भी उनके नाटो-विषयक विचारों तथा उनकी 'पूजिय विप्रसील-भुन हीना' धारि चौपायों में अपना स्वयम्भवादी सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर ही दिया है। इसी प्रकार जीर्ण के काव्य-गुणों की प्रशंसा करते हुए भी वे उनमें भी दक्षिण-देश-कास और सांस्कृतिक चरुतस का व्यापक दृष्टि से विचार किये बिना केवल जनवादी परम्परा में ही अत्येक साहित्यकार की समीक्षा करना समीचीन समझते हैं उसी प्रकार जोधो जी ने भी मनोविश्लेषणवादी समालोचक के रूप में सर्वत्र अपने पक्ष की सामग्री का अनुसंधान करने की ही चेष्टा की है। कइने की प्रासङ्गिकता नहीं कि जोधो जी का यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि इससे साहित्य का सम्मिलन-भाव सत-विरस होकर अपनी मयलविधाविनी दृष्टि को बैठता है।

४६. जिस कि पहले संकेत कर दिया गया है, जोधो जी ने हिन्दी-साहित्य की परम्परा में सर्वत्र यौन सम्बन्धी भावनाओं की विवृति पाई है और वे स्वयं और एतलर की विचारप्रवृत्ति से समी प्रकार की काव्य-पद्धतियों और साहित्य रचनाओं का समीक्षण करने के लिये प्रेरित करछी हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे जीवन और साहित्य में यौन कृति का एक प्रबल प्रस है किन्तु राष्ट्रीय चिन्ता ने उसके उच्छुल्ल प्रवर्धन को पापविकृता के समकल मान कर संवमित जीवन के धारस का जो पक्ष प्रवर्धित किया है, वह मानवता की मनोमूर्ति के पबिक निकट है। जोधो जी का इस प्रकार काम-वासनाओं का साहित्यगत वर्तुल्लुप्त विवेचन एक विशेष मसी के कलाकारों पर पते ही संगठित हो सके किन्तु हमारे उपस्थी मनोचियों में भी इसी प्रकार का उत्स संधान करना राष्ट्रीय धारस के प्रतिकूल है। उन्होंने छायावादी और प्रयतिवादी कवियों पर अपनी माय्वाओं का जो आरोप किया है, उसका प्रामास उनके इस उद्धार छे मिल सकेगा

"यौन सम्बन्धी मनोभावनाओं को छायावादी कविपण प्रासङ्गिकता से पबिक छाधीनता के साथ जिस प्रकार के छव्य-वालों से ढकते या छे ने उन सब धारवरणों को धपरिपक्ष प्रवतिवादिनों ने मल पवस्था में उठाड़ना शुरू कर दिया। जब संकल सम्बन्धी उग्राव कुछ ठंडा पड़ा तो साहित्य का एकनाम विषय वर्ण-समस्या को हल करना बढावा जाने सपा और वह भी केवल प्रोलेटेरियन वर्ग के प्रतिदिन के जीवन के किम्वदन्तों द्वारा।"

१. जोधो जी की समालोचनाओं के प्रामासित होता है कि जैसे ही वे छायावाय और प्रयतिवाद के मूल जीवन-दर्शन में केवल मात्तर्मन की कूँठा पाते हैं किन्तु उन्हें छायावादी गुप की एकान्त चिन्ता से प्रयतिवादियों का बाह्य बमप् का जीवन-सर्वर धरेवाक्य पबिक बाह्य प्रतीत होता है। उन्हें प्रयतिवादियों से मूल धनुरोक यही है कि 'वे मार्क्स के छी वर्ग पुराने इन्धायक भौतिकवाद के विज्ञान को साहित्य-क्षेत्र में ज्यों का त्यों धारोपित न करें। उनका यह निर्णय किसी विशेष छव्य-विरलेपण के पबिक निकट न हो कर केवल यही सिद्ध करने के निमित्त है कि मार्क्स का जीवन दर्शन धनूर्ण है और फ्रायड और एतलर का सम्पूर्ण। बसुत यही उनकी समालोच नाओं की एकांगिता है। कामात्तर में उन्हें अपनी इस मूल का प्रामास मिला तो वे दृष्ट पव्यों से अपने धापको फ्रायडवादी कहने में अपनी बढनामी समझते लगे।" साहित्य-चिन्ता पुस्तक में

१. इसासद मोठी विवेचना मात्तम साहित्य में प्रयतिवाद का परम्परा पृष्ठ २।

२. "मे फ्रायडर का उत्तरव मसी है, धावकि मेरे समालोचने ने मेरी रचनाओं को फ्रायडवादी लय कर लक्षण कर रखा है। साहित्य किन्तु : मयि की नई दिग" पृष्ठ १५।

साहित्य-कलाकार मनाविज्ञान को एक ठाक पर रख कर प्रतीतिवाद के सत्यों की पूर्ण उपेक्षा करे और केवल उस राजनीतिक तथा समाजवादी तथ्यों का उद्घाटन करे जो वास्तव जीवन-वर्तों के पारस्परिक संघर्ष (प्रेणी-संघर्ष) के रूप में परिणित होते हैं।^१

(२)

(२)

(२)
श्री सन्धिदानव हीरानव वात्स्यायन भस्मे

१. पक्षेय की प्रागुक्तिक द्वितीय-साहित्य की एक महीन विस्तार-विधि के कलाकार और
विशेष-सुभाषी समालोचक हैं जिनके प्रमुख समालोचनात्मक विवरणों का संकलन 'विश्व' के
संस्करण में १९२३।
२. 'विश्व' के संस्करण में १९२३।

स्वायत्त मोटी किचन" व १९५१।
 स्वयत्त मोटी मिलोप, "मिल ग्रहिल में मधोकिम" इव १९५५।

कैरिना' नामक उपन्यास की विशेष विवेचना की है जिसने किसी समय विश्व-साहित्य में एक प्रसिद्ध व्यक्ति का सूत्रपात किया था। सरत्त्वन्त के उपन्यासों में भी उन्हें पीड़ित मानवता के विषय के जो हृदय दृष्टिकोण हुए हैं, उनकी प्रेरणा उन्होंने पूर्वोक्त लेखकों की कृतियों से ही स्वीकृत की है। उक्त उपन्यासकारों की कथा-वस्तु के कतिपय स्वयं विवेचित कर उन्होंने अपने कथन की पुष्टि भी की है। इस विवेचन में उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सर्वत्र परिमिश्रित है। सरत् बाबू के प्रभाव से हिन्दी-उपन्यासकारों ने अपना जो रचना-कौशल अपना दृष्टिकोण निर्धारित किया उसकी उन्होंने एक सीमा तक ही प्रशंसा की है, क्योंकि उनके चरित्र-चित्रण में उन्हें छाया-युग के सन्ते रोमास की ही भ्रमक प्रतिकोपल मिथी है। उनका सरत् के भारी-चित्रण की वास्तव-मयता से भी विरोध है। वे उस घातकवाद का खंडन करते हैं जिसमें यथार्थ जीवन की घोर भ्रष्टाचार की दृष्टि न हो कर केवल कल्पना-शोक के मायक स्वप्नों की अधिभ्रमजता की जाती है। इस विचित्रता का मुख्य आधार उन्होंने सरत् बाबू की उपन्यास-कथा को बताया है और अन्ततः उस कथा का विरोध किया है जो 'नपुंसक रोमांटिक भावुकता को बढ़ावा देकर वसित बौद्ध-वृत्ति से पीड़ित निष्कर्षों और भावपी पात्रों के लुलुपान' में प्रयुक्त होती है।^१ उनके मतानुसार ऐसी कथा के द्वारा समाज तथा जीवन का कोई हित-सम्पादन नहीं हो पाता।

इस जैसा कि प्रारम्भ में संक्षेप कर दिया गया है जोषी जी की मूल समाजोपस्था चेतना मनोविज्ञान है, अतः उनके अधिकांश विषयों में केवल उसी का उत्तर-संबोधन मिलता है। उन्होंने सूर और तुमसी की कृतियों से लेकर वर्तमान युग तक विकसित होने वाले हिन्दी-साहित्य में मनो-विज्ञान का विवेचन किया है। सूर और तुमसी की काव्य प्रशंसा करते हुए भी जोषी जी उनमें 'महारे मनोवैज्ञानिक चमत्कार नहीं पाते हिबेरी युग के अन्तर्विज्ञान के क्षेत्र में कवियों और लेखकों का जैसे विधाया ही निकल गया है'^२ ही आश्चर्यचकित-मुग्ध से उसकी प्रकृति में विकास-चिह्न प्रदर्शित हुए और हिबेरी-युग के अवसान-काल से प्रेरणित द्वारा कथा-साहित्य में वह प्रस्फुटित होने लगा। जोषी जी के अनुसार प्रेरणित जी का मनोवैज्ञानिक विस्तारण दिखता है और उनकी कथा में जीवन के मानिक सत्य का भी सफ़ल उद्घाटन कर ही हुमा है। इसी प्रकार 'भारत भारती' को भी उन्होंने कथा की दृष्टि से अवलोकन रचना माना है, यद्यपि ही उसका किसी समय वास्तविक प्रचार क्यों न रहा हो। धातुनिक भारतीय साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रारम्भ उन्होंने बंकिम-चन्द्र से माना है जिनसे विकसित होती हुई वह परम्परा रवीन्द्रनाथ सरत्त्वन्त जैनेन्द्र प्रहरेय तथा उनके उपन्यासों तक क्रमशः चली आई है। जोषी जी ने जैनेन्द्र की उपन्यास उदात्ता तथा मनोविज्ञान पर विचार का प्रशंसा करते हुए उन समाजोपस्थाओं की ओर निम्न की है जो जैनेन्द्र के साहित्य को समाजवादी तथा प्रख्यातकारी मानते हैं। प्रहरेय जी की 'सिंहार एक बीकनी' नामक रचना उन्हें बीकनी उपन्यास और वर्णन के बीच की बीकनी ऐसी बीकनी मानी है जिसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ऐसे वर्णन के अधिक निष्कर्ष है जिसका समाज-अवस्था से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। उन्होंने अपने उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के वर्णन की ऐकानिष्ठता पर निर्भर प्रहार करना बताया है जो प्रहरेय जी से सर्वथा विपरीत है।^३ इस प्रकार धातुनिक युग में साहित्यगत मनो-विज्ञान की महत्ता की प्रशंसा करते हुए जोषी जी ने उन मार्क्सवादी समाजोपस्थाओं की निन्दा की है "जो साहित्य में प्रतिपादित किये गये मनोवैज्ञानिक सत्ताओं का उपहास करने पर तुले हैं और अपने संवर्धित साहित्यिक प्रचार-कार्य द्वारा इस वर्णन की सफलता के लिए पूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं कि

१. इलाकर मोटा : विवेक : धातुनिक उपन्यास का दृष्टिकोण पृ. २२४।

२. इलाकर मोटा : विवेक : धातुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान पृ. २२४।

३. पृ. ५ : १९३।

की सम्पत्ता क्याचित् इसलिये करनी पड़ी है कि वे कला-सृजन के मूल में एबनर की उस मान्यता का प्रतिपादन करना चाहते हैं जिनके अनुसार वह हमारी अतिपूर्ति का अतिरिक्त साधन सिद्ध होती है। प्रज्ञेय जी ने प्राथमिक युग के मानव-समाज का क्रमिक विकास विवेचित कर तथा व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सूक्ष्म-सम्बन्ध का निर्देश कर प्रथम कलाकार तथा उसकी कला का परिचय इस प्रकार दिया है—

‘हमारे कल्पित कमजोर प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पा कर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से घाहृत हो कर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है—सौन्दर्य-भोग। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा पहली कला-चेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी—छिद्र बाहे वह रेखाओं द्वारा प्रकट हुआ हो बाहे बायीं द्वारा बाहे दाहिने द्वारा बाहे मिट्टी के बौदों द्वारा।’^१

१२ प्रज्ञेय जी ने कला की परिभाषा में प्रमुख समाज तथा अर्थव्यवस्था का विवेचन प्राथमिक मनोविज्ञान तथा समाज-शास्त्र की दृष्टि से किया है। वे समाज का अभिप्राय उस परिस्थिति से लेते हैं जिनके साथ व्यक्ति किसी प्रकार की आरम्भिकता का अनुभव करता है और अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य की उन आवश्यकताओं का समावेश करते हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह क्रियाशील बनता है। इस प्रकार प्रज्ञेय जी के अनुसार कला निश्चय ही अर्थव्यवस्था की आवश्यकता के प्रति व्यक्ति का विद्रोह है जिसके स्वभाव तथा उद्देश्य के सम्बन्ध में उन्होंने निम्न लिखित निष्कर्ष निरूपित हैं

‘कला सम्पूर्णता की ओर जाने का प्रयास है, व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है वह एक प्रकार का आत्मचरित्र है जिसके द्वारा व्यक्ति का वह अपने को प्रकट करना चाहता है। सच्ची कला कभी भी अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती। वह अन्तः एक नैतिक मान्यता (ऐथिकल वैल्यू) पर आधारित है।’^२

१३ प्रज्ञेय जी के विवेचन से स्पष्ट है कि वे कला में आत्मचरित्र को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। वे आत्मचरित्र के अन्तर्गत केवल बाह्य की छवि ही नहीं मानते अपितु बाह्य की पुष्टि का भी समावेश करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे व्यक्ति की पूर्णता तथा स्थिति के लिए आत्मचरित्र की अनिवार्य प्रेरणा अनुभव करते हैं पर वह आत्मचरित्र केवल नैतिक मान्यता के लिए ही न होकर स्वातन्त्र्यसुखाय भी होना चाहिए क्योंकि उसका सम्बन्ध समाज के प्रतिष्ठान से भी है। इस प्रकार प्रज्ञेय जी के मतानुसार कला में आत्मचरित्र का बड़ा महत्त्व है जो सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए भी सतत सचेष्ट रहता है।^३

१४ वैसे तो कदाचित् धीरे-धीरे मौलिकता केवल साहित्य-क्षेत्र में ही प्रयुक्त होने वाले शब्द नहीं है, अपितु इसकी सत्ता राजनीति, समाजशास्त्र तथा सांस्कृतिक चरित्रम तक व्याप्त है किन्तु समाजोन्नता के वैज्ञानिक पक्ष के अन्तर्गत भी उनका यथेष्ट महत्त्व है। यह एक स्पष्ट सत्य है। विभिन्न देशों के साहित्यों में इनके आधार पर साहित्य-विवेचन तथा मूल्यांकन करने के प्रयास किए गए हैं। प्रज्ञेय जी ने टी. एस. इलियट की अपेक्षा आधार बना कर एतद्-विषयक विवेचना प्रस्तुत की है। उस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रज्ञेय जी कदाचित् धीरे-धीरे मौलिकता के प्रति कोई परम्परा मुक्त आस्था लेकर नहीं बसे हैं अपितु उन्होंने विभिन्न ऐतिहासिक दृष्टि से उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार कदाचित् केवल प्राचीन साहित्य की अग्रगण्य तथा अग्रणी परिपाटी

१ प्रज्ञेय : विद्रोह ‘कला का लक्षण और उद्देश्य’ पृष्ठ २३।

२. जो पृष्ठ २८।

३. वही पृष्ठ २३।

नाम से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में उनके जन्म-भ्रम परिस्थितियों में लिखे गए तथा पत्र-परिचयों में प्रकाशित निबन्ध हैं, जिनसे उनका साहित्य-विषयक दृष्टिकोण समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। पुस्तक की भूमिका से स्पष्ट है कि ये निबन्ध उनके अनेक वर्षों की साधना और अध्ययन के परिणाम हैं, जिनके द्वारा उन्होंने अपनी साहित्य-अध्ययनी चारणाओं को प्राथमिक हिन्दी-साहित्य में संघटित करने का प्रयास किया है। वे प्रारम्भ ही से यह मान कर बने हैं कि 'सालोचना में नया काम होता है।' यद्यपि उनके इन निबन्धों में भी अपेक्षित मौलिकता की म्यूनता मिले तो यह स्वयं लेखक की स्वीकृति के अनुसार स्वाभाविक है। फिर भी यह बात धरम है कि इन निबन्धों के द्वारा प्रज्ञेय जी ने सर्वप्रथम साहित्य के मुम्माकिन के लिए दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, जिसमें भले ही किसी बहुत व्यापक मानक का समावेश हो, किन्तु लेखक का यह कथन कि 'उनका विस्तृत मुक्त-पुस्तकालय तक घर में टँबा रह सकता है' बम्बयपुर्ष नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही इन निबन्धों के द्वारा प्रज्ञेय जी ने हिन्दी के साहित्यकारों और समालोचकों के लिए भरोसा तथा चिन्तन करने योग्य पर्याप्त सामग्री प्रदान की है। इन निबन्धों में प्रमुक्तता तो सैद्धांतिक पक्ष की है, किन्तु पुस्तक के परिशिष्ट के अन्तर्गत 'केसव की कविताएँ' 'बारनाटक' 'हो जून' 'प्राथमिक कवि महादेवी वर्मा' पर पुस्तकालोचना की विधि में सामान्य परिचयात्मक व्यावहारिक समालोचनाएँ भी हैं। पुस्तक में संकलित 'कवि और मौलिकता' शीर्षक निबन्ध तो श्री टी. एस. इलियट के एक लेख का प्रायः शब्दानुबाद ही है। इसी प्रकार 'कसा का स्वभाव और उद्देश्य' नामक निबन्ध में उन्होंने प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी एडसर की कसा-विषयक मान्यताओं का ही विश्लेषण प्रदान रूप से किया है। ये निबन्धों में भी उनकी प्रवीण विचारणा की झलक है। चूँकि इस प्रकार की समालोचनाएँ सुस्तोत्तर-मुक्त में एक तबीन परम्परा का शीर्षकोच्च करने में कारगर बनी थीं यद्यपि प्रज्ञेय जी के इस संकलन का भी इस दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व है। इनके कुछ निबन्धों का स्वयं तो विस्तृत साहित्यिक न होकर केवल विचार-पत्र प्रदान हो गया है, जिनमें साहित्य के प्रतिमान-निर्धारण का एक सामान्य दृष्टिकोण मात्र है।

११ प्रज्ञेय जी ने यद्यपि 'कसा का स्वभाव और उद्देश्य' का विश्लेषण प्राथमिक मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से किया है, किन्तु उनके विश्लेषण की पद्धति एक प्रकार से भारतीय धर्मशास्त्री की शास्त्रीयता के बहुत निकट है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने कसा का विस्तृत विश्लेषण करने के पूर्व प्रारम्भ में धर्म-रूप में उसकी परिभाषाएँ दी हैं और उपरान्त उसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। उनकी कसा-विषयक परिभाषा उत्काशीन हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में सर्वथा नूतन थी क्योंकि उन्होंने उसका दृष्टिकोण विस्तृत साहित्यिक न रख कर मनोवैज्ञानिक रखा था। उनके मतानुसार "कसा सामाजिक अनुपयोगिता की अनुसूति के विरुद्ध अपने को प्रसारित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।" जिसका विश्लेषण उन्होंने धर्म-रूप के मानव-समाज की रूपना करके हुए किया है। हमारे भारतीय साहित्य में कवि-वच की कसा के आधार पर महवि वास्तविक की जिस कदर-विश्लेषित वाली को वास्तव-सूचन का मूल स्रोत माना जाता है, उसके प्रति धारणा रखते हुए भी प्रज्ञेय जी ने कसा-सूचन का मूल-विस्तृत उसका भी पूर्ववर्ती युग में दृष्टा है जब अनुप्य-समाज में सम्यता नाम की वस्तु का कोई विकास ही नहीं हुआ था और वह कुछघों और कथनों में अन्य पक्षों का सा भीषण स्वीकृत करता था। प्रज्ञेय जी को कसा-निर्माण के धर्म-स्वरूप का प्रतिपादन करने में उस समाज

१ श्री प्रज्ञेय 'चिंतन' अथ संस्करण १९५१, प्रथम का प्रारम्भ, पृष्ठ ७।

२ श्री प्रज्ञेय के पूर्व दृष्टी प्रथम १९५८।

३ श्री, पृष्ठ ११।

में प्रवृत्ति या या कह लीजिए सामंसा का इन्डिज विस्वास (विश्वफुल बिकिंग) का साहित्य है।^१ प्रज्ञेय जी का यह निरुपम परम्पराकारी समीक्षा के लिए सत्रम बन कर बसने की मानो एक प्रकार की पुनोत्थी-थी थी जिससे उस क्षेत्र में एक मधोन विधि की भावकान्ति का सुभ-पाठ सा हो गया। उन्होंने अपनी वस्तुपरक तथा वयायकारी दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आधार लेकर उपर्युक्त कथन की सत्य-सिद्धि प्राधुनिक साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों की कृतियों की मूख-वेष्टता को लेकर की है। प्राधुनिक युग में जिन प्रकार की संक्रमणशीलता का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्राधि-परम है, उसका विस्लेषण कर उन्होंने प्राधुनिक साहित्य में केवल बोद्ध बर्नाति तथा प्रवृत्ति को ही गन्ध पाई है। अपने सिद्धान्त की सार्थकता के लिए उन्होंने वहाँ एक घोर प्रेमचन्द जी के साहित्य में समाज की कृतियों तथा अर्थपर्यवृत्ता का उल्लान्वेष्ट कर उनमें भी विश्वफुल बिकिंग का एक हल्का-सा पर्वां खोज निकाला है तो वे दुसरी घोर जैनेन्द्र के साहित्य में भी सुभ-परिवेष्ट के कुम्भित व्यक्ति का हो जीवन-वर्तन पाते हैं।^२ कमला चौधरी की कहानियों में उन्हें प्रवृत्ति का मूल कारण समाज से सम्बृल्लतया पलायन का भाव दृष्टिकोणर हुआ है तो महादेवी जी की भी वे निरपवाद रूप से रहस्यकारी कवयित्री न मानकर उनमें किसी रहस्यमय इष्ट पुरुष की प्रसौ-किक बिच्छू बेरना के स्थान पर वे केवल बर सौठने की बोद्ध-वपुर्ण मन-स्थिति ही पाते हैं।^३ इसी प्रकार उन्होंने बन्धन शिखारामधरल गुप्त तथा प्रसाद की कृतियों में अपना उपर्युक्त सिद्धान्त घटित किया है, जो उनके मतानुसार इन कवियों की मानसिक कंठ का ही निर्देश करता है। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि प्रज्ञेय जी के पुन-खोज के विवेचन में ही किसी रचना की समामोचना पूर्ण नहीं समझते बलितु उनकी दृष्टि में रचयिता की मन-स्थिति का विस्लेषण करना भी समामोचना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार प्रज्ञेय जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा-क्षेत्र में एक ऐसा प्रतिमान उपस्थित किया है जो हिन्दी-समामोचना के विकास में मूठन है तथा जिसमें रचयिता के मनस्त्व के विस्लेषण के साथ-साथ उसकी परिवृत्ति वयायकारी दृष्टिकोण तथा बीबनीदुनूत क्रिया-प्रतिक्रिया का भी पर्याप्त भाषा में समावेश है।

१७ प्रज्ञेय जी का प्राधुनिक मनोविस्लेषण-साधन विषयक अध्ययन ग्रन्थम्य व्यापक है और उन्होंने उसको बयीभाष के रूप में महत्त्व लेकर मौलिक उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं, किन्तु उनका स्वर अपनी बिरोधी बिचार-बारा के प्रति मर्यादा का उल्लंघन बहुत कम कर सका है। मुसोत्तर सुपीन छायाकारी प्रवृत्तियों का बिरोध करने वाले ग्रन्थ समामोचकों में जो वैयक्तिक भासेयों तथा कटु व्यंग्यों की प्रवृत्ति मिसरी है वह प्रज्ञेय जी में कम है। वस्तुतः उन्होंने तो साहित्य-समीक्षा के लिए एक वृच्छिमान प्रवान की है और उसी के प्रतिपाद है उसका परीक्षण किया है। उन्होंने 'साहित्य और प्रवृत्ति' 'राजनीति और साहित्य' तथा 'साहित्य किसके लिए?' इन तीन प्रमुख प्रश्नों के आधार पर संक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक समस्याओं को भी सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार साहित्य में प्रेरक शक्ति हो सकती है किन्तु वह साहित्यकार की प्रांतरिक क्षमता का स्वयंमूठ फल है कसा की सामग्री को सीमित करना अनधिकार भेष्टा है परिस्थितियों को ध्याय में रख कर हम जैसी प्रेरणा पाहते हैं वह यदि साहित्यकार में स्वभावतः नहीं है, तो हम बधाय् उते पैदा नहीं कर सकते। अन्ततः वे इस सम्बन्ध में अपना यही निर्णय देते हैं कि साहित्य को बिबस करने का प्रयास निरर्थक है और उते राजनीति का पसवर्ती बनाना तो और भी बुरा है।

१. अक्षर : 'विश्व' परिस्थिति और साहित्यकार पृष्ठ ४७।

२. वही पृष्ठ २८।

३. वही पृष्ठ ११-१७।

४. वही, पृष्ठ ७०।

ही नहीं है प्रपिण्ड इसके अन्तर्गत किसी भी साहित्यकार की उस साहित्यिक चेतना तथा साधना का भी समावेश किया जा सकता है जिसके द्वारा वह प्रौढ़ता प्राप्त करता है। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक चेतना का भी महत्व स्वीकार किया है जिसके द्वारा प्रतिमावासी साहित्यकार अतीत और वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ कर अपनी मौलिकता प्रकट करता है। उनकी तो स्पष्ट बारछा है कि “कोई भी कला-वस्तु चाहे कितनी ही नहीं क्यों न हो ऐसी वस्तु नहीं है जो धक्का-मुक्का अपने आप बटित हो गई है। वह ऐसी वस्तु है, जो अपनी पूजनीय परम्पराओं के साथ बटित हुई है।”^१ इस प्रकार प्रबोध जी के मत से पुरातन और नूतन तथा क्लृप्त और मौलिक सापेक्षिक व्यव हैं जिनका अन्तर्मुख प्रत्येक कलाकार की रचना में अनिवार्यतः विद्यमान रहता है और इन दोनों के तारतम्य से ही किसी भी कला-कृत का सम्यक् मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रबोध जी ने इस विवेचन द्वारा साहित्य-परीक्षक के लिए सुन्दर निकर्ष प्रदान किया है जिसका वास्तव यह है कि नवीन से नवीन साहित्य का मूल्यांकन करते समय भी केवल नूतन अभिव्यक्ति को ही मौलिक न मानकर उसका अतीत-कालीन साहित्य से भी सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

१५. कई और मौलिकता के प्रसंग में ही प्रबोध जी ने इतिवृत्त की उस माय्यता का विश्लेषण किया है जिसके अनुसार वह कविता को भावों की मुक्ति मानता है तथा उसे व्यक्तित्व की अभिव्यक्तता न कह कर व्यक्तित्व से मोक्ष निर्विष्ट करता है। उन्होंने सामोचना का विषय साहित्यकार और कवि को न मानकर उनकी छवियों को माना है। वे काव्य-परीक्षक के लिए मन की उस बात की परीक्षा आवश्यक समझते हैं जिससे साहित्य उद्भूत होता है।^२ इसी प्रकार उन्होंने रचना का समन्वय रचनाकार के मन के साथ करना आवश्यक बताया है। उन्होंने कवि के मन की उपमा ऐसी जट्टी से दी है जिसके छाप में विभिन्न बातें पिचक कर एकरस हो जाती हैं।^३ उनके अनुसार चित्रण ही महान् कलाकार होना उसकी ही उसकी भाष्यमयता परिष्कृत होनी।^४ इस प्रकार उन्होंने हमारे साहित्य-क्षेत्र में विवेचित स्वायो और संघर्षी बावों का भी श्रेष्ठ-निर्धारण कर इस बात की सम्मति दी है कि कला का रस कला में ही ईद का बाग। उसका यह छाप विश्लेषण इतिवृत्त की भाषाभाष का ही प्रकाशन है क्योंकि वह भी इस सिद्धान्त को मानता था कि रचनाकार का महत्व रचना करने की क्रिया की गीहता में है।

१६. वह तो एक सामान्य सिद्धान्त है कि साहित्य के निर्माण में व्यक्ति के यह के परिचित उसके बातावरण का भी पर्याप्त योग रहता है जिसने उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए एक प्रकार का उपादान प्रदान किया हो किन्तु प्रबोध जी ने इस विषय को भी प्राबुलिक मनोविज्ञान का ही एक स्वरूप है कर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। भाष के युग-बीचन में जिस प्रकार का संघर्षपूर्ण तथा सस्ती प्रभुभूतियों वाला साहित्य लिखा जा रहा है, उसका कारण प्रबोध जी ने हमारी याचिक दृष्टि तथा उसके रूप में इसी [] हमारी विशेष प्रकार की मन स्थिति को ही निर्विष्ट किया है। उन्होंने इन प्रकृतियों के मूल सृज का विवेचन करते हुए बताया है कि ‘धानी स्त्री का आकर्षक स्त्री के नाम से कहानियाँ छपा कर मेडिका (संस्कृत) स्त्री पाने की इच्छा-पूर्ति (विश्वकर्मिन्मेंट) भाष ऐसी प्रकृतियाँ हैं जिनसे प्राबुलिक युग की कृष्ट समझी जा सकती है”^५ इस विषय में प्रबोध जी का तो स्पष्ट निर्णय है कि “भाव का द्वितीय साहित्य आधिकार

१ प्रबोध : ‘मिर्ज़ा’ कवि और मौलिकता, पृष्ठ १९।

२ कवि, पृष्ठ १७।

३ कवि, पृष्ठ २७।

४ कवि, पृष्ठ १७।

५ कवि, पृष्ठ २७।

में यह मान कर चले हैं कि 'सभी काशों के कवि एक प्रकार से प्रयोग करते चले हैं जिससे किसी विशेष विद्या में उनकी प्रवृत्ति जिन होनी स्वाभाविक है' यद्यपि उन्होंने भी अपने काव्य का स्वस्व एक प्रकार से प्रयोग को ही माना है।^१ मूलतः कर्म से प्रभावित प्रयोगवाद की भाँति उनका विस्तेषण भी अत्यन्त उलझा हुआ है। उन्होंने भी प्रयोगवाद के पक्ष में बाँधे लगे बहुत बड़े-बड़े किये हैं, किन्तु वे इस धारा के कवियों की भाँति स्वतः स्पष्ट हैं। साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों में उन्हें प्राण-संचार के मार्ग का धारण मिला है, यद्यपि उन्होंने व्यक्ति के अनुसृत को समष्टि तक पहुँचाने के लिए प्रयोगवाद को एक विधि के रूप में स्वीकार किया है।^२ उनका यह भी मत है कि स्वातन्त्र्य सुझाव मात्र से कोई भी कविता लिखी ही नहीं जा सकती यद्यपि काव्य-प्रेरणा के रूप में अपना यह एक उपस्थित करते हैं कि "यदि स्वातन्त्र्य सुझाव नहीं मिलता अन्य मानवों की भाँति यह मुझमें भी झुलक है और आत्मनिष्पत्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है।"^३ उन्होंने धार्मिक युग के साधारण व्यक्ति को भी 'यौन-वर्जनाशों का पुत्र' मान कर यही निर्देश किया है कि "मानव के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लबा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुटिल हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे घायल है। उसके उपमाएँ सब यौन प्रतीकार्य रहते हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रयोग की का प्रयोगवाद-विषयक विस्तेषण समासोचना के क्षेत्र में भी एक नवीन प्रयोग चले ही मान लिया जाय किन्तु उसके द्वारा किसी विशेष प्रकार की महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरणामय नहीं होती। यह कथन इस दृष्टि से भी समझा नहीं जा सकता बल्कि जाना चाहिए कि वे स्वयं प्रयोग के रूप में उसके आधिकारिकों को केवल धम्पेरी मान ही मानते हैं। प्रयोगवाद को लेकर सुस्तोत्तर-युग के समासोचकों ने उसका जो विस्तेषण किया है उनकी चेष्टा में प्रयोग की का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(१)

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

७ श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने समासोचना-पद्धति के द्वारा धार्मिक हिन्दी-साहित्य को एक नवीन दृष्टि से देखने की चेष्टा की है। उन्होंने समय समय पर एतद्विषयक जो समासोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं, उनसे उनकी विचारधारा का आभास हो जाता है। उनके निबन्धों में कुछ तो सैद्धान्तिक हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जिनमें उन्होंने अपने दृष्टिकोण से विभिन्न साहित्यिक धाराओं और रचनाओं को देखने का प्रयास किया है। वृत्ति उनके निबन्धों में स्पष्टता की भाँति अधिक है, यद्यपि उनके जो भी संक्षेप प्रकाशित हुए हैं उनमें तारतम्य का प्रभाव ही है, फिर भी उनके अध्ययन द्वारा लेखक की समासोचना-दृष्टि और व्यावहारिक समासोचनाओं का पता चलकर काम जाता है। उनके प्रामाण्य सभी निबन्ध-संग्रह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समासोचना से समृद्ध हैं, जिनमें गम्भीर गवेषणा की भूमिका न हो कर केवल पुनरुक्तिवादी व्यावहारिक और हल्की-फुल्की समासोचनाओं की प्रतिष्ठा-भाव है। उनकी समासोचनाओं से हिन्दी-साहित्य का ऐसा प्रौढ़ विस्तेषण नहीं हो सका है, जिसके कारण उन्हें किसी विशेष धारा का प्रवर्तक कहा जा सके।

७१ श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त कदाचित् समास का अपरिहार्य सम्बन्ध मानते हैं। वे काटवेब के अनुसार 'कला की उत्पत्ति समास से उसी प्रकार चलती है जिस प्रकार मोटी की सीपी से।'

१. प्रयोग : तर-उज्ज्वल, कलम एड ५५।

२. यही, एड ५५।

३. यही, एड ५५।

नब तो यह है कि राजनीति तथा किसी मत-विशेष की पुष्टि के लिए साहित्य को जोतना वे किसी भी दृष्टि में समीचीन नहीं समझते और विशेष रूप से उन्हें प्रगतिवाद का विद्यालय तो साहित्य-मृष्टि के क्षेत्र में सर्वथा पराजित मगता है क्योंकि उसका मूल सम्बन्ध राजनैतिक तथा प्राथमिक क्षेत्र से है।^१ कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रज्ञेय जी ने जिस प्रगतिवाद की कड़ियों का विरोध किया है वह हमारे समासोचना-क्षेत्र में इष्टात्मक भीतिवाद को ही सत्य और चिरतन मान कर चलने जमा या घटाने के लिए उसका विरोध करना अनिवार्य हो गया। प्रगति के वास्तविक स्वल्प के प्रति उनके विचार इस प्रकार हैं

“सर्वत्र चिरतन है इसलिए साहित्य में कला में सर्वत्र के किसी भी फल में प्रगति नहीं है केवल पथि है। और वह प्रगति इसलिए नहीं है कि उसमें ऐच्छिक प्रेरणा नहीं है। प्रगतिशीलता प्रगति का वाक्य बनकर स्वयं एक कड़ि बन जाती है। साहित्यकार के लिए प्रगतिशीलता का कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि वह अनुभूति और परिस्थिति में कार्य-कारण जोड़ने की दृष्टि है।

१८ प्रगतिवाद तथा सामाजिक की प्रतिष्ठा में काव्य-क्षेत्र के सर्वत्र जिस प्रयोगवाद ने जन्म दिया उसके स्वल्प-निर्णय का प्रयास जी प्रज्ञेय जी ने ठार-सफ़क (सन् १९४३) की विवृति और परवृत्ति में किया है। इस वाक्य के कसाकारों का मुख-बर्धन उन्होंने यह माना है कि ‘वे कवि देखें हैं जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं।^२ प्रज्ञेय जी के इस कथन से का सत्य उन्हीं पा लिया है केवल मान्यता ही अपने को मानते हैं।^३ यह तो एक स्वतः यह ध्वनित होता है कि प्रयोगवाद काव्य की कोई निष्ठा प्रणाली नहीं है। यह तो एक प्रकार का मान्य-संग्रह किया गया है उनके सम्बन्ध में भी उनका ऐसा कोई दावा नहीं है जो इस कथन कवियों का काव्य-संग्रह किया गया है उनके सम्बन्ध में भी उनका ऐसा कोई दावा नहीं है जो इस कथन की पुष्टि करे कि वे काव्य के किसी निश्चित स्वल्प को या उनके हैं जबकि किसी एक मार्ग को अपना कर चले हैं। उनके सम्बन्ध में भी उनका यही कहना है कि सारा एक दूसरे के कवि हैं या कि साहित्य-इससे यह परिणाम न निकाला जाय कि वे कविता के किसी एक स्वरूप के कवि हैं या कि साहित्य-जगत के किसी बुद्धिमान दावा बन के सत्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके दो एक होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्वरूप के नहीं हैं, किसी संज्ञित पर पहुँचे हुए नहीं हैं, सभी राही हैं, सभी राही राहों के मान्यता हैं। उनमें मतभेद नहीं है सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय घटन प्रसन्न है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रज्ञेय जी ने इस प्रकार प्रयोगवादी कवियों की संतुष्टि का विवेचन स्वतः उसके धर्मिणित्व स्वल्प का प्रमाण है जो सत्य हो भी जाय और न भी विकलता है कि उनका यह प्रयोगवाद केवल एक प्रयास-मात्र है जो सत्य हो भी जाय और न भी हो सके। हाँ यह बात प्रसन्न है कि इस प्रकार की विचारधारा का उन्मेष करने के कारण प्रज्ञेय जी मनोविश्लेषणवादी समासोचना होने के साथ-साथ हमारे कल्पित प्रयोगवाद के भी पक्ष-समर्थक और मूल प्रेरक कहे जा सकते हैं और उनकी समीक्षाओं में इस बात का विवेचन भी एक घम बन कर उपस्थित हुआ है।

१९ जैसे तो प्रज्ञेयजी मूलतः संप्रत्यासकार हैं, किन्तु उन्होंने प्रयोगवाद के नाम पर जो कविताएँ लिखी हैं, उनसे उनके काव्य-विषयक दृष्टिकोण का भी पता चलता है। वे प्रारम्भ ही

१ नब व विरंजु संश्लेषण की कुछ साहित्यिक समझ, पृष्ठ ७७।
२ यही, पृष्ठ ७७-७८।
३ प्रज्ञेय ठार-सफ़क, विवृति और परवृत्ति प्रथम संस्करण (१९४३) पृष्ठ ५।
४ यही, पृष्ठ ५।

भसे ही समुचित कहा जा सके किन्तु सात्विक दृष्टि से इसकी अपूर्वता स्वतः सिद्ध है। यदि हम भाषा की समासवादीय परिभाषा और कभी व्यक्ति की चेतना में ही कला को ग्रहण करने लगे तो हमें प्रतीत कालीन पौरवपूर्ण कला-सृजन को सासमय-अथवा पूर्वीय के कठबरे में बन्द करना होगा और इस प्रकार हम अथवा विगत-अथवा को अपनी परम्परा और जीवन-संस्कृति से सर्वथा अलग कर ऐसे लोक में फेंक देंगे जहाँ हमारी अज्ञित सम्पत्ति के लिए कोई स्थान नहीं होगा। अतः गुप्त जी के विचारों से हम उस अंध शक्ति को सहमत हो सकते हैं जहाँ तक कला में लोक-संस्कृति का प्राविर्भाव हो किन्तु वह लोक-संस्कृति किसी एक वर्ग-विशेष की प्रेरणा से ही निर्मित होती है, इसे यथार्थ में नहीं स्वीकार किया जा सकता। हाँ उनकी विचारधारा गुप्त विवेचन को चेतना प्रदान करने की शक्ति के रूप में भले ही अपना भी पाये किन्तु उस पर सार्वकालीनता और साक्षरता का आरोप युक्तिर्वन्त नहीं कहा जायगा। मुझे तो ऐसा लगता है कि गुप्त जी के इस विवेचन में कला के प्रकृत और विमुक्त रूप को स्पष्टीकरण करने की अपेक्षा अपने प्रतिवाद की एक सीमित प्रणाली को प्राधान्य देकर उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयत्न-भाव है। इस विवेचन में कला का स्वरूप यथोक्त बन गया है और मार्क्सवादी दृष्टि का प्राधान्य। अतः यह विवेचन सर्वप्राप्ति मान लिया जाय, यह कोई आवश्यक नहीं है।

७४. गुप्त जी ने अपने दृष्टिकोण से कला के दो रूप निरूपित किये हैं उनका संयोजन उन्होंने हिन्दी-साहित्य की परम्परा पर भी सिद्ध किया है। वे संत-कवियों की रचना में लोक-जीवन अथवा जन-संस्कृति की कला का प्रसार पाते हैं तो ऐतिहासिक कृतियों में अद्वितीय जीवन की निरास-पूर्ण कला का। इसी प्रकार उन्होंने प्राधुनिक काव्य-अथवा के रहस्यवाद निरासवाद, व्यक्तिवाद आदि में अभिजात वर्ग की कला का स्वरूप देखा है तो प्रतिवाद और प्रयत्नवाद में जनता का कला का। कला-विवेचन का यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है, किन्तु उसके क्षेत्र में अभिजात वर्ग या जन-वर्ग का ऐसी-विभाजन अनुपयुक्त और उचित है। हाँ उनके विवेचन को इस रूप में ले लिया जाय कि अपने रहस्यवाद और आभावाद के रूप में विकसित होने वाली व्यक्तिवाद की उन्मुखता का अन्वेषण करने के लिए एक विशेष समय में संकुच का काम किया और यह विवेचन उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित हुआ तब तो फिर भी ठीक है, अथवा इसे समासोचना का स्थायी स्वरूप मानने में मुझे तो संदेह ही है।

७५. यद्यपि गुप्त जी ने साहित्य-समीक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण नहीं लिखे किन्तु उनके सगु लेखों में उनकी विचारधारा की अभिव्यक्ति स्वतः हो गई है। उनसे उनके व्यक्तित्व की भाँति उनकी स्पष्ट और सुलभ हुई धृष्टि में उनकी साहित्यालोचना-सम्बन्धी धारणाओं का अनुमान करना कोई कठिन कार्य नहीं है। वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं, इसका धामाव तो हमें उनके निबन्धों के प्रत्यक्ष विचारकण से हो जाता है। उन्होंने समासोचना का मार्क्सवादी आधार स्पष्ट करते हुए बतलाया है कि यह एक साहित्य-वर्ग का स्वयं दृष्टिकोण है और इसके द्वारा राजनीति अर्थशास्त्र और दर्शन को तो एक मूलन पथ मिला ही है किन्तु साहित्य को भी एक नवीन दृष्टि का शोध हुआ है। गुप्त जी के मतानुसार मार्क्सवाद के हमारे जीवन और साहित्य में निहित सत्य का उद्घाटन कर हमें सामाजिक जीवन की मूलन चेतना दी है जिसके पराजय पर मानव संस्कृति का भयंकर विकास होगा सम्भाव्य है। उन्होंने अपने विवेचन रूप में अन्तर्मन के लक्ष्यों को साक्षर मान कर चलने वाली मनोविश्लेषणवादी समासोचना को एकानि और दोषपूर्ण ठहराया है, क्योंकि वह अहम् की विकृति को तो साहित्य-सृजना का मूल बिन्दु मान लेती है किन्तु उन कारणों का उद्घोष नहीं करता जो इस प्रकार की मानसिक कृत्तारों के पीछे सामाजिक जीवन की विघटनार्थी और अन्तर्चेतनाओं का आधार लिये हुए हैं। बड़ी कारण है कि गुप्त जी ने अन्तर्मन आदि के विवेचन की प्रस्ताप्राधिकता का अन्वेषण कर उनकी मान्यता को उन्हीं के समान

अन्यान्य समाजवादी समाजोपनाओं की भाँति उनकी भाव्यता में भी साहित्य मनुष्य की प्राचीनतम अभिव्यक्तियों में से एक है किन्तु वे उसका प्रहण सामाजिकता के दायित्व से बलव किसी प्रहम्बार के रूप में नहीं करते। उन्होंने उन लोगों की कुरा की है जो कला को कलाकार के प्रहम् से निकली हुई कह कर उसका सामाजिक ब्यार्थ से कोई सम्बन्ध हो मानते तथा जिनके अनुसार 'सत्यम्, विषयम् सुन्दरम्' की निरपेक्ष अभिव्यक्ति ही कला-सृजन की प्रेरणा बनती है। मुष्ट भी का तो यह निश्चित मत है कि केवल पतनशील समाज में ही कला का सामाजिक दायित्व अधिकारिक बन जाता है। वे कला को संस्कृति का एक अभिव्यञ्जन कह कर उसके विनाश के मूल में सामाजिक ब्यम की सन्धी कला सिद्ध करते हैं और इस प्रकार उनका काव्योपना की विचारधारा से यथेष्ट संघर्ष में साम्य है।

७२ मुष्ट भी ने कला और समाज के पूर्वपर सम्बन्ध को लेकर अपनी को विचार अभिव्यक्ति की है उस पर निश्चय ही काव्योपना सेनित तथा सोवियत संघ की भाव्यता का मार है। माना कि कला का एक सामाजिक दृष्टि-विन्दु है और सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्यकार के मानस-निर्माण में पर्याप्त सहयोग रखती हैं किन्तु उन्हें ही कला सृजन की मूल प्रेरणा सिद्ध करना उसके प्रसार और व्यक्तित्व को हीनत्व प्रदान करना है। कोई भी कलाकार जब तक सहजानुसृति और भाव्याभिव्यञ्जन की भावना से धाकुस नहीं होगा वह कला-सृष्टि कर ही नहीं सकता। उसका व्यक्तित्व समाज की एक इकाई होने पर भी अपने में ऐसा पूर्ण रहता है जो 'एकोऽहं बहुस्याम' की भावना में प्रकटीकृत होता है। यद्यपि कला-कृतियों को सामाजिक परिस्थितियों का ही परिस्थान कहना एक अधिक सत्य का ही निरखण है। इसी प्रकार की प्रत्येक दायि विचारकों से ही एक इतिवृत्त दायि का प्रस्ता पकड़ कर व्यक्तित्व और यह के विस्फोट को जिस एकान्वी प्रतिवेष्टा में काराबिबद्ध कर दिया है वह भी इस दृष्टिकोण की एक चरम सीमा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुष्ट भी ने सामाजिक जीवन और उसकी व्यवस्था को कला-सृजन के मूल में स्वीकार कर व्यक्तित्वों को चुनौती दी किन्तु वे भी अपने पक्ष-समर्थन के दायि में अपने अधिक दायि बड़े बड़े कि उनकी विचारधारा भी पूर्वग्रह-बलित ही हो गई। वैसे कला के सामाजिक दृष्टिकोण की बात तो दायार्थ दुस्स भी ने भी उसका लोक-जीवन के साथ अनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करते हुए कही थी और वे समाजवादी और राज्यवादी कवियों के उस पक्ष के निष्कर्ष वे जो भावों की प्रेय सीमता और सामाजिक सम्बन्ध-निर्बाह से प्रभाव पड़ता था किन्तु वे कला या साहित्य को केवल राजनीति और समाजवाद की भाँति प्रचार या विचार का साधन ही नहीं मानते वे प्रयत्न उनमें एक ऐसी अनुसृति की संवीरणी क्षमि पाते थे जो उन्हें जन-सम्बद्ध बना कर अपनी रायात्मकता में प्रभावित होती थी। यद्यपि मुष्ट भी का यह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण दुस्स भी की विचारधारा का एक परिवर्द्धित रूप है जिस पर सोवियतसंघ प्रथम अन्त्या प्राधुनिक विदेशी प्रवृत्तियों की छाया अधिक मात्रा में है।

७३ मुष्ट भी ने अपने समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से वर्ग-समाज के आधार पर कला को दो रूपों में विभक्त किया है और वे हैं सासक-वर्ग की कला और लोक-संस्कृति की कला। मुष्टे का यह विभाजन भी ऊपरी और व्यावहारिक सुविधा के लिए किया हुआ सत्य है। वस्तुतः कला का सम्बन्ध मनुष्य की प्रातरिक प्रेरणा से है और उस प्रातरिक प्रेरणा में वर्ग-समाज के सभी भाव तिरोहित होकर केवल हृदय की मुक्त दया में ही आकार प्रहण करते हैं। यद्यपि राजनीतिक और दायिक जीवन के वर्ग-विभाजनों की भाँति हृदय की प्रभावता को भी विभिन्न विधियों में विभक्त करना अनुचित नहीं जान पड़ता है। कला को चाहे किसी वर्ग का बताया जाय उसके मूल सृजन की प्रेरणा में तो मानवीय अन्तर्भावों की स्थिति रहती ही है। यह बात प्रत्यक्ष है कि उनके साधन और स्वरूप में बाह्य अन्तर भवस्य पा जाता है। यद्यपि बाह्य दृष्टि वे वह विभाजन

बना कर वही के उदरलों पर फव्वारियाँ कसते हुए उनका खंडन किया है। उन्होंने प्राधुनिक हिन्दी-साहित्य में चलने वाली प्रगतिशील साहित्य की प्रगतिवादी धारा का सामान्य निष्कर्षण कर यह निर्देश किया है कि धारा की समासोपना में इसका कितना अधिक प्रचार है और इसके पक्ष-विपक्ष में कितनी अधिक समासोपनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। डा. सर्मा ने कुछ प्रमुख समासोपनों के प्रगतिवादी विचारों के उदरण लेकर धन में अपनी यही माय्यता स्थापित की है प्रगतिशील साहित्य अपने युग की माँग को पूरा करने वाला साहित्य है और उसकी अतिथि इस बात में है कि वह समाज के वास्तविक जीवन के निकट रह कर चलने वाला है। उनकी माय्यता है कि धारा की हिन्दी-समासोपना प्रगतिवाद के प्रति न्यायपूर्ण दृष्टि रखने के कारण उसके समर्थन जिस प्रकार की विकृति पाती है वही हमारे प्रगतिशील साहित्य की मूल समस्या है। यदि ये समासोपन प्रगतिवाद के प्रति अपनी इस प्रकार की अंधी धारणा विप्लव-धारणा का परित्याग कर दें तो अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान हो सकता है।

७८. डा. रामबिलास की समासोपना की अपनी धारणा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अपनी माय्यताओं पर बहुत विश्वास है और प्रगतिवादी के प्रति उनके हृदय में कोई सहानुभूति नहीं है। कहा जा सकता है कि उनकी समासोपना सिद्धान्तवश की प्रवृत्ति को ही अधिक लेकर चली है। जिन लोगों की विचारधाराओं का उन्हें खण्डन करना होता है, उनके निरन्धों से एतद् विषयक आवश्यक उदरणों का चयन कर वे उनकी छीछामेवार करने लग जाते हैं। अपने पक्ष-समर्थन का प्रामाण्य उस समय उनसे इतना अधिक बढ़ जाता है कि वे अपने विपक्षी के दृष्टि कोण की ओर ध्यान ही नहीं दे पाते और उन्हें अपने केवल दोष ही दोष दृष्टिबोध होने लगते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति उनकी प्रायः समस्त समासोपनाओं में मिलती है। इसने कोई संशय नहीं कि डा. रामबिलास सर्मा ने अपनी विचारणा का प्रतिमान अश्वेत प्रबल भण्डार पर अवलंबन करने का प्रयास किया है, किन्तु उनका एकपक्षीय धाराह अनेक स्तरों पर हठबधिता का नामा पहिना कर उपस्थित हुआ है। कई अवसरों पर तो वे विरोधी समासोपनों पर प्रहार करते समय अत्यन्त कठोर और निर्मम भी बन जाते हैं। इसे उनकी स्वभावगत अवशिष्टता कहा जाय या प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति निश्चित प्रकार की भावना यह निर्णयकों के लिये विचारणीय विषय है।

७९. डा. रामबिलास सर्मा प्रगतिवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने उन मनोविश्लेषण वाक्यों का भी कटु विरोध किया है जो साहित्य को प्रमुख काम बंधनों का विस्फोट कह कर उसको पूर्णतया व्यक्तिपरक बना देते हैं। प्रत्येक जी की विचार-धारा से तो उन्हें बड़ी चिड़ है और वे इन पर व्यक्तिपरक आरोप करते हुए उन्हें 'सांप्रदायिक का दोस्त' तक कह देते हैं। उनकी इस चिड़ का एक प्रमुख कारण यह भी है कि प्रत्येक धारि ने प्रगतिवादी धारा के माक्सवादी दृष्टिकोण की कुत्सा की है जिसे रामबिलास जी का व्यक्तिपरक भरा भेरे सहन कर सकता है। इसी प्रकार रामबिलास जी ने वे इसाचन्द्र जोशी को भी अपनी कटु धारणा का प्रतिबंधन बनाया है। 'विशेषण' की भूमिका में जोशी जी ने अपनी अत्यन्तवादी विचारधारा का निष्कर्षण करते हुए प्रगतिवादीयों की जिस एकाधिता को मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति की उदाहरण दी है उसको लेकर सर्मा जी जोशी जी पर बरस पड़े हैं। कहा जा सकता है कि जैसे इसाचन्द्र जी ने अत्यन्तवादी मनोविश्लेषण के द्वारा केवल छायावादी कवियों को ही समित यौन-भूति के विकारों से ग्रस्त नहीं बतसाया है, परंतु भक्तिकालीन वैष्णव कवियों और सत-महात्म्यों में भी स्नायु विकार-ग्रस्त मानोद्वारों की अभिव्यक्ति पाकर अपनी एकाधिता अनिरेकता का परिचय दिया है उसी प्रकार डा. रामबिलास ने भी जोशी जी के उक्तो को सर्वथा अप्रसन्न सिद्ध कर अपनी प्रगतिवादी माय्यताओं को सर्वोच्च संस्थिति प्रदान करने का प्रयास किया है। साहित्य

प्रश्न यह है जिसकी वास्तविकता का धोर निष्काशना हमारे लिए किसी समस्या में कम नहीं।

७६ गुप्त भी की साहित्यिक समालोचनाओं में पृथीवार साध्नात्म्यवाद जनवाद, मार्क्सवाद आदि का विवरण बार-बार आया है। उन्हें कहा धोर साहित्य का जनवादी परम्परा में सिद्ध करने के लिए एक ही बात को बार-बार दोहराया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समालोचना में गुप्त-बुद्धि का ही प्राधान्य है; तभी वे प्राचीन मान्यताओं और मूल्यों में नूतन सामाजिक जीवन और संस्कृति के प्रतिनिधित्व करने की शक्ति का प्रसामर्थ्य पाते हैं। अथवा तो यह होता कि गुप्त भी पहले प्राचीन साहित्य-संस्कृति के स्वल्प का विशद विस्लेषण कर उसका कम-वर्धन करते औरतब यह सिद्ध करते कि उनमें कहीं तक ऐसी प्राणहीनता या गई है जो हमारे वर्तमान जीवन को चेतना देने में असक्षम है। ऐसा करने पर उनका विवेचन अधिक ठोस और तार्किक बन सकता था किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। वस्तुतः मेरी बुद्धि से उनकी विचारधारा उनके सधु लेखों में नवीनता के प्रति घने ही धाकपूर्ण उत्पन्न कर दे किन्तु उनका प्रतिपादन प्रौढ़ चरित्रपर प्रभाव में ही धावीन है। धाव मार्क्सवाद और प्रगतिवाद को तभी बिबुध-वर्ग में प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है जब उसका परिचयी बुद्धिकोण और भारतीय साहित्य-जीवन के अनुकूल ही विवेचन न किया जाय अपितु उसे व्यापक स्वल्प में भी परखा जाय। यदि गुप्त भी इस विषय का स्वतंत्र निष्कर्ष किसी स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में करते तो उनका समीक्षण-प्रतिमान अधिक व्यापक बन सकता था क्योंकि वस्तुतः धाव भी इस कार्य की बड़ी धावक्षमता है।

(४)

डा० रामविशाल शर्मा

७७ डा रामविशाल शर्मा प्रगतिवाद समालोचकों में अपनी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आचार्य पं रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-समालोचना 'प्रेमचन्द' और 'निराला' को छोड़ कर उन्होंने अधिकांशतः कुछकर समालोचनारमक निबन्ध लिखे हैं जिसका प्रकाशन काशान्तर में पुस्तकालय हुआ है। प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ 'प्रगति और परम्परा' 'संस्कृति और साहित्य' उनकी प्रमुख समीक्षा-कृतियाँ हैं जिनमें उन्होंने साहित्य का उद्देश्य और उसकी परम्परा आदि का विवेचन अपने मार्क्सवादी बुद्धिकोण से किया है। निबन्धों के शीर्षकों को देखने से सर्वप्रथम ऐसा आभास होता है कि इनमें लेखक ने स्वतंत्र विधि से इन पर अपनी मान्यताएँ व्यक्त की होंगी किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं हुआ है। इनमें लेखक ने अनेक प्रमुख साहित्य-समालोचकों और विचारकों की समीक्षारमक निबन्धगत विचारधाराओं को लेकर उन पर अपनी विस्लेषण और निर्णय देते हुए उनकी वास्तविकता के तार्किक मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि डा रामविशाल शर्मा का अपना एक निश्चित जीवन-दर्शन है जिसको कसौटी बना कर ही वे विभिन्न विचारकों का परीक्षण करने में कार्य-तत्पर हुए हैं और उस कसौटी के अनुकूल उन्हें वहाँ विवेच्य विचारकों में विचारधाराएँ मिल गई हैं उनका तो उन्होंने कुछ कर समर्थन किया है और दोष का खंडन। निबन्धों में खंडन-मंडन अपना बाधविवाद की जितनी अधिक प्रवृत्ति मिलती है उतनी साहित्य-समीक्षा की अनुकूलिपूर्ण व्यंजना नहीं। खंडन-मंडन के बीच-बीच में उन्होंने अपने विरोधी समालोचकों पर अनेक प्रकार के कठोर व्यंग्य भी किये हैं। उनकी यह समीक्षा-प्रणाली नवीनतम विचारधारा के अल्प समालोचक तथा संवेद्य राजन प्रभुतयाय विषयानुसिद्ध औद्धान और प्रभाव मार्गवे आदि से भी मिलती-जुलती है जिसमें विरोधी वर्गों की कस-कस कर खबर ली जाती है। रामविशाल भी ने अपनी समालोचनाओं में तटस्थ समालोचक के रूप में तो अपनी मान्यताएँ कम व्यक्त की हैं, किन्तु अधिकांशतः किसी न किसी समालोचक अपना उसकी कृति को ही अपना सत्य

उन्होंने स्पष्ट चर्यों में किया है। पुस्तक भी पर उनकी जो कुछ धारणा है उसके बसीभूत हो कर ही उन्होंने हजारी प्रसाद भी के घनेक उद्धरण देते हुए 'वंत-साहित्य में योगियों की भूमिका' के अन्तर्गत उनका वर्णन किया है। इस वर्णन में भी उनकी बड़ी प्रशंसा परिलक्षित है जो उनकी अन्त्यात्म समाजोपनाओं में मिलती है। उनकी विचारणा को तथ्यपरक मान्यता तो सभी ही का सफ़ा भी जब का धर्मा अपनी विवेचना का विस्तारण कर इस विषय का सचर्चा और सप्रमाण निष्कर्षण करते कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी किन्-किन् कारखों से अपनी विचारधारा में आन्तिवर्त हैं और कुस्त जी सत्य के निकट हैं। अच्छा हो का रामवितास धर्मा अपने समाजोपन' नामक पत्र के द्वारा साहित्य को समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण से देखन का प्रयास करें। वस्तुतः प्रायः इसकी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता है जिससे समाजोपना के प्रसार में पारसीय और मोदात्म की सृष्टि हो सके।

अन्त्यात्म समाजोपन

८३ प्रायःकल हिन्दी समाजोपना के प्रसार-काल में ऐसे घनेक समाजोपन पाते हैं जिनमें किसी न किसी बाद-विशेष की मान्यताओं के प्रति विशेषवृत्ति है। इन समाजोपनों द्वारा मौलिक प्रतिष्ठान बहुत कम हुआ है और उनमें वर्तित चर्यण भी कुछ है, परन्तु उन पर अधिक विवेचन करने का मुझे कोई संकल्प नहीं निश्चय। हाँ प्रसार-काल के कुछ समाजोपनों की कुछ कृतिमां विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें समाजोपना की नवीन प्रणाली को विकसित बनाने की चेष्टा भी हुई है। वं संवाप्रसादपांडेय का 'महाप्राण निराला' जीवनचरितमूलक प्रणाली में लिखा गया एक अभिनव प्रयास है। साहित्य-कार बनने की बुन में हमारे नवीन समाजोपन बड़े अस्थाहपूर्ण चर्यों में अपनी सर्वज्ञता का अनुभूति-भाव भी करते हैं, किन्तु उनकी समीक्षा-क्षेत्र में विशेष उपलब्धि न होने के कारण इनको मैंने विशेष महत्त्व नहीं दिया है। जैसे धिवरानसिंह बोहान समुद्र राय अर्चन प्रभाकर नाथवे बर्मवीर भादवी प्रेयनारायण टण्डन प्रादि नवीन समाजोपन पत्र-पत्रिकाओं में क्या क्या अपनी विचार-वाचनों में अभिनव उन्मेष करने का प्रयास भी करते रहते हैं। किन्तु जब तक उनमें कोई विशेष परिपक्वता न मिले उनका विवेचन सम्मानार्ह नहीं कहा जा सकता। का विनयमोहन धर्मा, नलिनविमोचन धर्मा और का देवराज के समीक्षात्मक विषय प्रसार-काल के इतर समाजोपनों की धनता में अधिक संयमित और विवेकपूर्ण हैं। अपने बाद की मान्यताओं के संकीर्ण क्षेत्र को छोड़ कर हमारे अन्य समाजोपन भी इस और प्रयत्न करें तो उनसे समाजोपना की वास्तविक धर्म में घासीन प्रसार मिल सकता है। सम्भव है कुछ की पुनरुत्पन्न नवीन न कभी इस प्रकार की स्फुरणा उत्पन्न करे।

समालोचकों से यह बात छिपी नहीं है कि बोधी भी और रामविश्वास भी दोनों अपने-अपने दृष्टि-कोणों में कितने अधिक पूर्वाग्रही और हठी हैं।

८ डा रामविश्वास ने पंत जी की विचारधाराओं का भी तीव्र दृष्टि में ध्यान किया है। उत्तरा प्राथमिक कवि तथा ग्रन्थात्म्य काव्य-ग्रन्थों की भूमिकाओं में पंत जी ने अपनी जो सांस्कृतिक दृष्टि व्यक्त्यात की है उसकी धरणा पर रामविश्वास जी ने खका प्रकट की है। वे पंत जी के प्रपत्तिवादी दृष्टिकोण को भी सामान्यवादी विचारधारा से संश्लेष पाते हैं और उनमें जनवादी प्रवृत्ति का स्वरूप समझें नहीं मिलता। इसी प्रकार पंत जी ने ग्राम्या' में जिस बौद्धिक सहायभूति के दृष्टिकोण का विशेषण किया है वह भी धर्मा जी की दृष्टि में उनकी प्रवृत्ति माना है। सब तो यह है कि पंत जी का व्यक्तित्व जिन मुकुमार इत्यादि के राजसी लक्षणों से निर्मित हुआ है उसके सचि में मार्क्सवादी जन-कल्याण की प्रवृत्ति कम ही नहीं लक्ष्य और इसी पर अपनी प्रस्ताव रखते हुए रामविश्वास जी ने पंत जी की गांधीवादी विचारधारा में मरखोलमुख संस्कृति की ही प्रतिम फलक पाई है। इतना ही नहीं पंत जी ने भारतीय संस्कृति का विषय संश्लेष करते हुए मार्क्सवाद की धिन अनुसंधानों का निर्देश किया है, उनसे भी रामविश्वास जी प्रसन्न हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि रामविश्वास जी की दृष्टि में पंत जी के व्यक्तित्व का एक ऐसा प्रमुख पक्ष है जो अनेक प्रकार की एकाग्रताओं से प्रसन्न और मार्क्सवादी अधिव्यक्ति के विवेचन में प्रचुरा है।

९ डा रामविश्वास धर्मा ने समालोचना-क्षेत्र में आचार्य शुक्ल जी का बड़ी महत्त्व माना है जो ग्रन्थात्म्य-क्षेत्र में प्रेमचन्द जी तथा कविता के क्षेत्र में निराला जी का है। उन्होंने अपनी विवेचना के प्रसंग में शुक्ल जी में सामंती संस्कृति के विरोधीत्यों का प्रत्येक कर यही सिद्ध किया है कि शुक्ल जी भारत के रूढ़िवाद तथा पश्चिम के व्यक्तित्ववाद के कट्टर विरोधी थे और उनकी साहित्यिक मार्गदर्श जनवादी परम्परा के अत्यन्त निकट है। उन्होंने शुक्ल जी की समीक्षा में सामंती साहित्य के विरोधी भावों का विश्लेषण करने के उद्देश्य से ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी 'समालोचना' नामक पुस्तक की रचना की है, जिसमें शुक्ल जी की महत्ता सिद्ध करने के साथ-साथ उन समसामयिक समालोचकों की कटुनिन्दा भी है जो शुक्ल जी में बाह्यलुभाव सामन्तवाद रूढ़िवाद भ्रष्टा सम्प्रदायवाद का स्वरानुसंधान करते हैं। कहना होना डा रामविश्वास ने अपनी ग्रन्थात्म्य की पुष्टि विषय प्रबल दृष्टि में की है किन्तु उनका विवेचन भी एकांगी बनने से नहीं बच सका है। यद्यपि शुक्ल जी का साहित्य के प्रति समाजवादी तथा जनवादी दृष्टिकोण अवश्य वा किन्तु वे उसके ककरना प्रेरित-सीधर्म मूलक भावपक्ष के भी कम प्रसन्न न थे। यदि डा रामविश्वास अपनी सूक्ष्म तथा पैनी दृष्टि से शुक्ल जी के समीक्षा का मूल्यांकन व्यापक बराबर पर प्रतिष्ठित क सर्वांगीण भाव से करते तो निश्चय ही शुक्ल जी का मूल्यांकन अधिक न्याय-भावना से हो पाता पर वे अपनी रसमत् प्रवृत्तियों के कारण ऐसा नहीं कर सके। हिन्दी समीक्षा-जगत् डा धर्मा के समीक्षक रूप से सुपरिचित है और उनकी लेखनी का प्रभाव भी किसी पर अप्रकट नहीं है, किन्तु उनका जो एकांगी दृष्टिकोण है वह हमें कई कारणों से सर्वत्र स्वस्थ और धार्मिक नहीं लगता।

१० डा रामविश्वास में तुलनात्मक समालोचना की प्रवृत्ति भी मिलती है। वस्तुतः हमें एक ऐसी निर्भीकता है जिसके कारण वे बड़े-छोटे विद्वानों को भी अपने मनोमुक्त न पाकर कठोर दृष्टि में उसका कथन अपना विरोध कर देते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के सम्बन्ध में जो पूर्ण अधिकांश से माने जाते हैं तथा जिनकी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'हिन्दी साहित्य का प्राक्-काल' अनुसंधानपूर्ण ऐतिहासिक समालोचना के प्रारम्भ ग्रन्थ हैं उनके कथित निष्कर्षों का भी कथन

उपेक्षा कर अपना रचना-निर्माण नहीं कर सकते। अद्यतन जीवन की विषम जटिलता और संपर्क संकुचता ने रचनात्मक साहित्य के साथ-साथ समासोचना-साहित्य को भी उसके बाह्य तथा प्रामाण्यविरुद्ध विधान में इस प्रकार प्रभावित कर रखा है जिसके फलस्वरूप-साहित्य समीक्षण के क्षेत्र में विविधरूपी समस्याओं की सृष्टि हो गई है। इन समस्याओं का स्वल्प किसी देश-काल तक ही सीमित न होकर विश्वव्यापी स्तर तक परिम्लान्य है जिसकी भाषा व हिन्दी-साहित्य भी प्रसूत नहीं रह सका है। अनेक स्थलों पर तो अपने साहित्य-समीक्षा के संचालित और व्यावहारिक पद्धतियों में ऐसी अनेक उद्भावनाओं को भी जगमगाया है जिनका हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं से बहुत कम सम्बन्ध है तथा जिनके वातावरण में दिग्भ्रमित होने के भी घण्ट प्रवृत्त नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे वर्तमान जीवन-वर्चन के निर्माण में धार्मिक युग चेतना का सर्वाधिक प्रभाव है, किन्तु उसके कारण हमारे जीवन-साहित्य में जिन जटिल प्रश्नों की सृष्टि हुई है उनकी ओर उपेक्षा भाव प्रदर्शित करना किसी भी रूप में भ्रमपूर्ण नहीं है।

मौलिक चिन्तन में वैयक्तिक और सामाजिक प्रभाव

१. धर्म के साहित्यसोचना की एक प्रमुख समस्या अधिकतर समासोचकों में मौलिक चिन्तन का वैयक्तिक तथा व्यापक दृष्टि की मृगता है। इसका मूल कारण यह है कि अधिकतर समासोचक बहुपक्षीय होने पर भी स्वचिन्तन की मीथ्यावश उसका सम्पूर्ण निर्वाह अपनी तथा सोचना-कृतियों में नहीं कर पाते। इतना ही नहीं कुछ समीक्षकों ने सामान्यतया वैयक्तिक प्रभाव के अभिव्यक्ति को ही समासोचना का एकमात्र पथ समझ रखा है जिसके कारण उनकी कृतियों में स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन के नाम पर अनेक बार स्वेच्छाविरुद्ध विचारधाराओं की अभिव्यक्ति मिलती है जिसका वे सामान्यतया कम दुःखबोध भी नहीं करते। स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन में समासोचकों द्वारा जहाँ तथ्यपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन होना चाहिए, वहाँ मूर्ति-मूर्तिमतिमिला की प्रवृत्ति तो अत्यधिक मात्रा में प्रकट हो रहा है, किन्तु उसकी चिन्तन-शक्ति में अनेक अनेक वैयक्तिक के लक्षण भी परिलक्षित होने लगते हैं जिनके कारण साहित्य और समासोचना की परिभाषा को प्रभाव पहुँचता है। इस प्रकार की समस्या को प्रासंगिक करने में धार्मिक विश्व-वीर्य के सामाजिक प्रभावों का साहित्य-क्षेत्र में अनावश्यक रूप से परापूर्व भी एक कारण है। विश्व के विभिन्न देशों में धर्म प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साहित्य की धार्मिकीय सत्ता राजनीतिक दलबन्धियों में प्रत्यक्ष हो कर अपने वैयक्तिक को अन्तः-अन्त कर रही है और जीवन की उपेक्षा तथा रचनाशक्ति की-सं-मोर्त होकर प्रत्यक्ष जीवी राजनीतिक प्रभावों के सम्मुख अत्यन्त-समर्पण करने के लिए विवश बनाई जा रही है। धर्म के राजनीतिक और राष्ट्र-संघर्षकों के विविध व्यक्तित्व के सम्मुख साहित्यकार ने जैसे अपने कुटने टेक लिए हैं और वह उनके हृदय का मुखापेक्षी बन गया है। ऐसा लगता है जैसे उसका 'कर्मिणीवी परिधु' स्वयम्भूत भाषा व्यक्तित्व किसी प्रजात कोने में प्रलुप्त हो गया है और धर्म वह बिना राजनीतिक बैसाखी के कड़े होने में प्रत्यक्ष है। अन्तः साहित्य के प्रतिमान भी परिचित होकर साम्राज्यवाद प्रजातन्त्रवाद मार्क्सवाद; पूँजीवाद समाजवाद, साम्यवाद और मार्क्सवाद के स्तर में प्रतिबिम्बित होने लगे हैं और साहित्य का परीक्षण करने में इनके बटवों का प्रयोग प्रायः किया जाने लगा है। परिणाम यह हुआ है कि साहित्यसोचना में जीवन की व्यापकता से उत्पन्न उन विज्ञानों की मृगता होने लगी है जो कि देशकालावस्थित साहित्य के मानदण्ड बन सकते हैं तथा जिनके कारण रचनात्मक साहित्य को भी पुनर्दिष्ट प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में हिन्दी का साहित्यसोचना भी उससे परिकल्पित रूप में प्रभावित हुआ है और माए बिना प्रतिबिम्बों और प्रयोग तथ्यों में जो अन्तर्गत रहते हैं, वे इस बात के प्रत्यक्ष

समालोचना के विकास-पथ की समस्याएँ तथा स्वतन्त्र मान-दण्ड का विचार

विवेचन का प्रतिपाद्य विषय और उसको उपयोयिता

१ प्राधुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना के विकास को औपचारिक दृष्टि से चार चरणों में विभक्त कर पूर्ववर्ती अध्यायों में जो विवेचन किया गया उससे यह स्पष्ट है कि प्रायः एक सताब्दी के कार्यकाल में उसने जो प्राप्ति की है वह अत्यन्त संतोषजनक है किन्तु समय समय पर उसके विकास-पथ में ऐसे घनेक गठिरोप भी पाते रहे हैं, जिन्होंने काल-क्रम में समस्यार्यों का जन भारण कर लिया है। इसमें कोई संदिग्ध नहीं कि उन समस्यार्यों का निवारण के सम्प्रयत्न हमारे विभिन्न चरणों के सुधी समालोचकों ने अत्यन्त आत्मीय और विवेक-पूरस्सर विधान में किए हैं और वह कम अब भी वर्तमान है, किन्तु उन समस्यार्यों के कारण साहित्य के नैसर्गिक विकास में कुछ बाधा भी अवश्यमेव पड़ी है। प्रस्तुत अध्याय में उन समस्यार्यों के प्राधुनिक की मूल परिस्थितियों का सामान्य विश्लेषण करते हुए इस विषय के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया जायगा कि उन्हें प्राधुनिक करने में किन-किन कारणों ने योग दिया है और वे किस प्रकार निरा-कृत भी होती रही हैं। साथ ही साथ हमारी विवेचना का एक विषय यह भी है कि उन समस्यार्यों का निवारण करते हुए उत्साहनिबन्धी समालोचकों द्वारा हिन्दी-समीक्षा के विकास में किस प्रकार का स्वतन्त्र प्रतिमान निर्धारित करने में सफलता प्राप्त की गई है। विवेचन के इसी प्रसंग में इस विषय का संकेत करना भी आवश्यक है कि प्रस्तुत अध्याय में विकास-पथ की जिन समस्यार्यों का विश्लेषण किया जा रहा है, वे ऐसी मुरझाएँ अथवा रोगपूर्ण समस्यार्य नहीं हैं, जिनसे समालोचना-साहित्य को निष्कृति न मिल रही हो। साथ ही यह है कि हमारे समालोचकों का एक बर्ण शारदम्न ही वे इस विषय में अत्यन्त है कि साहित्य का स्वल्प-विधान ऐसे उत्तर और विरह कल्याणकारी दृष्टिकोण से निरूपित किया जाय जो इन समस्यार्यों के बलबल से बहुत ऊँचा हो तथा जिसका प्रतिमान किसी भी प्रकार की वर्तमान भावना से सम्पुक्त न हो कर साहित्य को उसके विपुल संवेदनात्मक स्वरूप में ही प्रतिष्ठित करता हुआ घने।

(२)

प्राधुनिक युग-जीवन और समस्या-सृष्टि

२ प्राधुनिक हिन्दी साहित्य की समालोचनात्मक समस्यार्यों का विश्लेषण करने के पूर्व हमारा ध्यान सर्वप्रथम अपने युग-जीवन की ओर जाता है। वर्तमान युग में अनेक वैज्ञानिक उन्नति और बौद्धिक विचारणा के द्वारा हमारे जीवन के विविध क्षेत्रों को इतना अधिक सर्वप्रयत्न और वैयक्तिकपूर्ण बना दिया है, जिसका प्रत्यासोक्त उसके मूर्तस्वरूप साहित्य के रचना-प्रयत्नों पर दृष्टि बोझ होना सर्वतोभावेन स्वाभाविक है। प्राधुनिक युग के सामान्य साहित्यकार के लिए तो अपने युग स्वर्ण की ज्येष्ठा कर जलमा सर्वथा आवश्यक था है, किन्तु जो मानव भावनाओं के सारबत उद्भावा और प्रतिभावासी साहित्यकार हैं वे भी अपने युग जीवन और परिस्थितिजन्य स्वर्ण की

है जिससे साहित्यिक समासोचना की इस विद्यमान समस्या का समाधान अत्यन्त सुविधापूर्वक हो सके। ऐसा तभी सम्भव है जब हम अपने पूर्वाग्रह धारणा पुराग्रह को तिलांजलि देकर साहित्यालोचन में सदाशय तथा निष्पक्ष बनते हुए अपने भीतर उसके मूल्यमान में सच्ची सहानुभूति और मुक्ति से काम लें।

नियम-निर्धारण में कठिनाइयाँ

१. साहित्यालोचन के नियम-निर्धारण में जो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ समय-समय पर प्रस्तुत होती चलती हैं वे भी एक प्रकार से प्राबुदिक समासोचना की समस्याओं के ही रूप हैं। बात यह है कि साहित्य और वैयक्तिकता का आश्रय ही से आलोचनात्मक सम्बन्ध रहा है और वह (साहित्य) सुबानुभूति से उदासीन होकर कभी भी अपना अस्तित्व नहीं रक सका है। फलतः मुण्डन को प्रवृत्तियों ने कभी उसे आदर्श की ओर मोड़ा है तो कभी उसे यथार्थ का साहित्यिक करने के लिए बाध्य किया है। अनेक बार तो दोनों की एकान-वर्धिता ने उसे इतना सुविधापूर्व बना दिया है कि उसे पक्ष-प्रदर्शन करने के स्थान पर स्वयं के प्रति भी अविश्वासी बनना पड़ा है। ऐसी स्थिति में उसके लिए नेतृत्व करना तो बुरा रहा वह स्वयं भी असहाय बन कर अपनी शिरछन निधियों को धारमविस्तृत कर बैठ है। निश्चय ही यह स्थिति उसे समीक्षा के उन्मुक्त प्रणाल्य प्रदान करने के सर्वथा प्रतिकूल रही है। अतः साहित्यालोचन में यह भी एक समस्या ही है कि वह जीवन की संवेदनाओं से प्रेरणा लेकर अपना स्वयं धारण करे यथार्थ कुछ सिद्धांतों की अतिमता का ही अपनी समितियों का रक्त प्रवाह बनावे। निश्चय ही यह स्थिति भी अत्यन्त सुविधापूर्व है अतः साहित्यालोचन के विवेचन में इस समस्या को भी सुषमन्त्रों की परम आवश्यकता है।

यथार्थ का एकान्ती आतिरेक्य

७. प्राबुदिक साहित्य के यथार्थ को लेकर भी समासोचना के क्षेत्र में अनेकानेक प्रकार प्रचलित हो गये हैं जिनका प्रतिकूल समस्या का रूप धारण कर गया है। यथार्थ से अभिप्राय यदि मानव-हृदय की मूल मनोवृत्तियों के चित्रण से लिया जाय और उसमें केवल जीवन की वास्तविकता की झलक-मात्र ही प्रतिबिम्बित हो तब तक तो फिर भी ठीक है किन्तु जब उसके द्वारा विस्तृत मनोमानवार्थों और क्रूरितर कृतियों का प्रसार किया जाता है तो उसका स्वयं बिना प्रवाह बने नहीं रहता। प्राबुदिक हिन्दी साहित्य में मनोविश्लेषण-सास्त्र के नाम पर जो प्रवृत्तियाँ उसके रचनात्मक साहित्य उपन्यास कहानी में विवेचन और नाटक काव्य आदि में मौखिक प्रकट होती हैं वे इसका प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। इसका प्रभाव यह हुआ है कि समासोचना-साहित्य में भी यथार्थ के नाम पर अनेक प्रकार की भ्रांतियों और मतभेदों का प्रचलन हो गया है। प्रत्यक्ष एकर और मूल धारि पर्याप्त विचारकों ने अपनी जो मनोवैज्ञानिक संरणियाँ प्रस्तुत की हैं वे प्रायः के यथार्थवाद के लिए प्राप्ति बचन बन रही हैं और यह समझ जाने गया है कि प्रायः का मुण्डन केवल स्त्री के चित्रण पर निर्भर है। कुछ तो तब होता है जब प्रायः की प्रवृत्ति का मतर्द्व बड़ी यथार्थ मान लिया जाता है जिसमें मनुष्य की आदर्शमिष्ट नैतिकता और सुख-सम्पन्नता को केवल काव्यनिक अमल की बाबत ही धृति कह कर उसे बाधुवेन में उड़ा दिया जाता है। माना कि जीवन की भौतिक आवश्यकताओं का भी जीवन में अपेक्षित महत्त्व है और उनकी उपेक्षा कर जीवन की यदि प्रायः नहीं बढ़ सकती किन्तु मनुष्य केवल अस्ति चर्मे का धारणमात्र ही तो नहीं है। उसके भीतर भी एक ऐसी बेमल शक्ति है जो तत्तत् ऊर्ध्वमुखी पक्ष की ओर उन्मुक्त बनने के लिए सदैव धाकृत रहती है। अतः जब साहित्य और जीवन दोनों ही अचिन्त धर्म बन कर प्रायः हो तो जीवन की उस वेदना की ओर से आँखें मूँद कर भी हमारा वास्तविक साहित्य-सर्वन हो सकेगा इसमें तो

निर्देशन है कि जनता मूल बुद्धिकोण साहित्य को विभिन्न भाषात्मक संस्थिति में ग्रहण करने का न होकर केवल अपना पक्ष समर्थित करना है। अतः इसे भी प्राथमिक समासोचना की एक समस्या ही कहा जायगा।

प्राचीन और महीन का सघर्ष तथा एकपक्षीय प्रवृत्ति

४ समालोचना-लोच की बूझरी समस्या का प्राचुर्य पर संघर्ष के कारण हुआ है जो प्राचीनता और नवीनता की कड़ि तथा स्वच्छन्दता को पूर्वाग्रह के रूप में ग्रहण कर हमारे जीवन को प्रभावित करते हुए चल रहा है। इस संघर्ष में माय लेने वाले साहित्यकार अपने पक्ष का समर्थन प्रत्यक्ष कट्टरता के साथ करते हैं। धाब के धातोचक के सामने एक ओर जहाँ प्राचीन साहित्य-शास्त्र की भी ऐसी प्रभुता सामग्री का प्रलय-कोप है जिसके परिणाम का वह सोच-संवरण नहीं कर सकता तो दूसरी ओर अनुनाचन वैज्ञानिक युग की विधिष्ठता ने उसे जो नूतन विचारवाय तथा प्रभिनव दृष्टि प्रदान की है वह भी उसके लिए किसी भी रूप में उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती। उस प्रकार दोनों स्तों में उसके लिए धाकुर्य विद्यमान है। जहाँ तक दोनों विचार-सरणियों से तम्य-ग्रहण की प्रकृति है साहित्यालोचन के क्षेत्र में वह उपादेय है किन्तु जब दोनों पक्षों के समालोचक हठपूर्वक अपने सकीर्ण क्षेत्रों में प्रवृत्त होकर अपना अपना राय भिन्न-भिन्न स्वरों में प्रस्तापने लगते हैं तो साहित्यालोचन में स्वतः ही समस्याभ्रम की परिस्थिति घा उपस्थित होती है। उस समय प्राचीनता के कड़िबारी समर्थक नवीनता की प्राह्य प्रवृत्तियों से धार्मिक मूँह कर उसमें सर्वत्र दोषोद्भासना ही पाते हैं तो नवीनता के उत्साही अनुमोक्ष प्राचीन शास्त्र-परम्परा को सड़ी-मछी और समय बाह्य घोषित कर उसमें धाचुर्य युग-भेदना तथा जीवन दक्षि-समीक्षण का प्रभाव पाने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि दोनों श्रेणी के विचारक अपने व्यापक व्यय तथा मानवोपयोगी विचार वाय से विमुक्त होकर साहित्य-सृजन एवं साहित्य-समीक्षण के मार्ग में भटक बाटे हैं जिसके कारण साहित्यालोचन के विवेकपूर्ण मनोजयत् में एक मड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः ऐसी स्थिति भी समालोचना की एक समस्या बन जाती है।

निश्चित और व्यापक दृष्टिकोण की म्युनता

५. प्राय की साहित्य-समानोचना के सम्मुख एक जीवन्य समस्या उसके मूल्यांकन के प्रति किसी निश्चित दृष्टिकोण के प्रभाव की है। विज्ञान के उत्कर्ष और वैभव ने प्राय के मनुष्य को इतना अधिक बुद्धिवादी और भौतिकता में घास्था रखने वाला बना दिया है कि उसका हृदय पक्ष और साम्प्रदायिक भाव प्राय व्यक्तिबद्ध हो रहा है। फलतः जीवन के सुखर प्रतिबिम्ब साहित्य में भी उसकी प्रतिबिम्बता के सभी लक्षण परिलक्षित होने लगे हैं। बुद्धि ने अपनी व्यावसायिकता में ऐसे अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया है जो जीवन की अनन्तता एवं अक्षय्यता के प्रति संकित होकर उसे विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में निगूढ़ बना देने के चाकाशी हैं। प्राय जीवन बारी और सिद्धांतों के वास्तविक में प्रस्त होकर अपने लिए उचित मार्ग पाने में प्रयत्न है जिससे साहित्य की प्रकृत सर्वना में निरूपण ही एक कटुतापूर्ण व्यावसायिक भाव है। अतः प्रायव्यवस्था इस बात की है कि हम जीवन को समुल्लस और व्यापकता प्रदान करें और उसके मूर्तस्वरूप साहित्य में भी उसकी निरव्युत्त विकासशील विचारों का निरूपण करते हुए उसे भी वसतिस्थानों के बाधावरण से दूर ही रखें जिससे यह पक्षभ्रष्ट न हो। ऐसा करने पर ही हमें उसके समीक्षण के लिए भी एक व्यापक दृष्टिकोण मिल सकता है जिसके द्वारा समानोचना की पथ प्रयत्ति में सुविधा हो सकती है। हाँ यह बात प्रत्यक्ष है कि ऐसा करते हुए अनिश्चितिभाव हमें प्रारम्भ में अनेक प्रकार की संकटमय परिस्थितियों का भी सामना करना पड़े किन्तु धैर्य-धन एक ऐसा प्रयत्न पक्ष अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

समासोचना की एक समस्या है कि भागदण्ड का स्वतन्त्र संस्थान किस रूप में प्रतिष्ठित किया जाय।

पारिभाषिक शब्दों की अनिवार्य स्थिति

६. धार्मिक हिन्दी-समासोचना के सामने एक छोटा सा प्रश्न उसके पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का है। जहाँ तक प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र-परम्परा का सम्बन्ध है, समासोचनाय पारिभाषिक शब्दावली उसके मूल रूप में ज्यों की त्यों ग्रहण की जाती रही है किन्तु धार्मिक युग में जिस प्रकार की पारिभाष्य प्रणाली की समासोचना का प्रचलन हुआ है उसके लिए पारिभाषिक शब्दों का भाषा में समकक्ष निर्माण करना प्रारंभ में एक प्रकार की समस्या ही रही है। यद्यपि डा. स्वामनुस्वरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' के अन्त में इस प्रकार के संश्लेषी पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची हिन्दी पारिभाषिक शब्द दिये हैं जो संश्लेष रूप में स्वीकार्य समझे जा सकते हैं किन्तु उन्हें भी निर्विचार रूप में स्वीकार करने में अनेक विचारकों को आपत्ति है। इस विद्या में प्राचार्य दुर्लभ द्वारा किया गया कार्य अवश्य अधिक यत्नीर और महत्वपूर्ण है। उन्होंने निदण्ड ही संश्लेषी साहित्यालोचन में ग्रहीत पारिभाषिक शब्दों के लिए हिन्दी में शास्त्रीय शब्दों का विचार किया है जो प्राचीन संस्कृत-काव्य की संरक्षित के साथ-साथ उसकी मौलिक उद्भावनाओं के भी परिचायक हैं। किन्तु उन्हें ही पूर्ण मानने में कई समासोचकों को संकोच का अनुभव होता है। इसका एक मूल कारण यह है कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक सांस्कृतिक आधार होता है और उसके निर्माण में ऐक्यतायुक्त संस्कार स्वतः अपना कार्य करते रहते हैं, अतः उनके प्रतीक शब्द-कोष में भी अन-जन शब्दों की कास विशेष की मान्यताओं का भी कम आधार नहीं रहता। कई बार तो ऐसा भी देखा गया है कि एक शब्द किसी कास विशेष में किसी शब्द-विशेष में प्रयुक्त होता या वह काकास्तर में शब्द-संकोच शब्द-विस्तार पर्यापन्न शब्दोत्पन्न प्रयत्न प्रवर्तित करण हुआ उत्तरवर्ती युग में अपनी मूल धारणा की प्रकृत ध्वनि को ही जो बैठता है। जब यह कठिनाई किसी एक ही भाषा की शब्द-शक्ति के सामने उपस्थित है तो उसका शब्द भाषाओं में समकक्ष अनुवाद या पर्याय देना कोई सरल कार्य नहीं है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक छोटे से शब्द में अतिनी जोडन-सक्ति प्रयत्न व्यंजना द्विती रहती है। अतः उसके अर्थ-संश्लेष पर्यायवाची शब्द में भी नहीं मिलती। अतः पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में इस प्रकार का विशद दृष्टिकोण लेकर न चला जाय तो वह भी हमारी समस्याओं का स्वल्प बन जाता है।

१. पारिभाषिक शब्दों की पूर्व-निर्दिष्ट समस्या के स्पष्टीकरण के लिए हम पारिभाष्य साहित्यालोचन में प्रचलित एक ऐसे शब्द को लेते हैं जिसका प्रचलन धार्मिक समासोचना का प्रधान अंगभूत बन कर हो रहा है। वह शब्द है 'एत्यैतिक'। इसके लिए भागदण्ड हिन्दी में 'सौम्य-साधन' शब्द का प्रायः सर्वत्र प्रयोग देखा जाता है। अब विचारणीय यह है कि क्या सौम्य 'सौम्य-साधन' शब्द का प्रायः सर्वत्र प्रयोग देखा जाता है? यदि इसका सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो इसमें उसके मूल भाषा का शब्द जोरित नहीं है। भाषा के प्रकार में भले ही हमें एत्यैतिक के पर्याय शब्द के रूप में 'सौम्य-साधन' शब्द को हमारे अर्थों के लिए अग्राह्य बनाना पड़ा हो किन्तु एत्यैतिक का मूल यूनानी शब्द परसेप्शन (Perception) है जिसे 'प्रत्यक्षीकरण' के रूप में हिन्दी में ग्रहीत किया जा सकता है। यह 'प्रत्यक्षीकरण' काकास्तर में 'सौम्य' के प्रत्यक्षीकरण की ध्वनि देने लगा और धारण कर रही का साधारणरूप में 'सौम्य' की 'नेतना' के अर्थ में प्रयोग होने लगा। हिन्दी में एक ऐसा वर्ग भी है जो इस एत्यैतिक शब्द के लिए 'कलात्मिक' शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु वह भी एक सीमा तक ही प्राप्त समझ जा सकता है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए विचारणीय प्रश्न यह है कि हम ऐसे मूल पारिभाषिक शब्दों को ही और उनके लिए सदा सम्भव ऐसे शब्दों की खोज करें जो हमारे ज्ञान-कोष भारतीय भाषाय और मूल संस्कृत भाषाय

मुझे संदेह ही है। प्रायः की मनोवैज्ञानिकता और भौतिकता यथार्थ के नाम पर जाहे कितना ही एकांगी प्रचार करे किन्तु उसकी सकीछ दृष्टि कभी भी खोमनीय नहीं कही जा सकती। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि जिस प्रकार हम रचनात्मक साहित्य में अपने भावों के परिष्करण के लिए सरल सामग्री की उपलब्धि की साधना करें वैसे ही समालोचनात्मक साहित्य में भी प्रावर्तनमय यथार्थवाद को भी विस्तृत न कर दें। ऐसा करते हुए ही हम अपने तथा साहित्यालोचना के प्रति न्याय भावना का निर्वाह कर सकेंगे। अन्तर्गत साहित्य-क्षेत्र में एक ऐसा निम्न उपस्थित हो जाना जो न तो साहित्य का ही सच्चा निर्माण करने देता और न समालोचना का सुष्ठु स्वस्व ही साकार बन सकेगा। ऐसी परिस्थिति में हमारे लिए यह विचारणीय विषय बन जाता है कि हम साहित्य-समालोचना के समुत्तम पक्ष की औरतपूर्ण समीक्षा का ध्यान रखें और उसे उसके उस चरम चरम से न गिरे बल्कि जिसमें जीवन की चेतनापूर्ण सबीब चीजों का मुक्तान्न और परीक्षण बड़ी सरलता से किया जाता है। प्रायः की हिन्दी-समालोचना की एकांगी यथार्थवादिता निस्संदेह न्यायहीन है और इसकी विवृति भी हमारे लिए एक समस्या बन गई है जिसके निराकरण के लिए प्रयत्नशील होना हमारा प्राथमिक कर्तव्य है।

स्वतन्त्र मानवत्व विषयक समस्या

८ प्रायः हमारे सामने एक अन्य समस्या हिन्दी समालोचना साहित्य के स्वतन्त्र मानवत्व की भी है। इस क्षेत्र में विचारकों में दो वर्ग दृष्टिकोण होते हैं। एक वर्ग का तो ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार का प्रश्न ही व्यर्थ है कि समालोचना का हिन्दी-साहित्य में स्वतन्त्र मानवत्व है या नहीं? वे हिन्दी की विभिन्न साहित्यों की समता में अत्यधिक सम्पन्न पाते हैं और उन्हें उसमें साहित्य की विभिन्न विधाओं की इतनी प्रबल सामग्री दीख पड़ती है जो किसी भी साहित्य के लिए औरतपूर्ण कही जा सकती है। यह वर्ग आवश्यकता से अधिक आशावादी है और उसकी बारछा में आत्मविश्वास का स्वर अत्यन्त प्रबल है। इसके प्रतिरक्त इस विषय में कुछ बर्न ठीक इसके विपरीतगामी है। उसे अपने साहित्य और समालोचना में एकमात्र हीमता ही प्रबलित होती है। पूर्ववर्ती वर्ग में यदि आशावाद की प्रतिरेकता है तो इसमें निराशावाद का प्रावृत्त। इस वर्ग की समता में यह आता ही नहीं कि हिन्दी की भी अपनी कोई स्वतन्त्र परम्परा है और उसका भी एक अनन्त विकासवादी ज्ञानकोष है। जिस साधना और समस्या के बन पर प्रायः हिन्दी भारत जैसे महान् राष्ट्र की राज-भाषा बनने का औरत प्राप्त कर सकी है उसकी आचार्यता को वे क्योस क्षमता कह कर यों ही हवा में उड़ाना चाहते हैं। यह वर्ग पाश्चात्य विचारधारा और भौतिक संस्कृति की बकाशी में अपने व्यक्तित्व को विरोधित-सा कर बैठ है और इसके प्रतिमान इतने अधिक पर प्रत्यमाहित हैं कि उसे हिन्दी के प्राचीन साहित्य-समालोचना में बड़ी और संकीर्णता ही मिलती है। इस वर्ग के लोगों की जहानी प्रायः यह सुनने की मिलता है कि अभी हिन्दी में समालोचना-साहित्य का आरम्भ ही कहाँ हुआ है और उसमें जो कुछ है वह केवल सूटने या अनुकरणमात्र है। निश्चय ही सचका यह निर्णय हमें अत्यन्त हीमकोटि का समता है क्योंकि उसके मूल में उनका प्रबल का मोना बन्ध अपनी प्रत-छाया प्रबलित करता हुआ प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार की बारछा से ह्वाय कोई हितचिन्तन हो सकेगा ऐसा सहसा नहीं प्रतीत होता। इन दोनों वर्गों की ह्वादिता से पक्काकर एक तीव्र बग सामंजस्यवादी दृष्टिकोण अपना कर चमता है, किन्तु इसके पास भी उस ज्ञान-गुस्ता की कमी है जिसके कारण वह व्यापारीच के पक्ष पर आसीन होकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व और चिन्तन के आभार पर निर्णय नहीं दे पाता। यह दोनों प्रकार की विचारधाराओं से चमलकृत होकर मध्यस्थता का अभिनय करता है किन्तु उस अभिनय में वास्तविकता के परीक्षण का पक्ष अन्तर्गत है अतः यह भी हिन्दी

प्रतिपादित किया गया है तो कहीं कभी उपयोगिता को जीवन के अनिवार्यकर्म से दूर कर उसे प्रावचनिष्ठ बना दिया गया है। इसी प्रकार सर्व शिव गुम्बरम् की व्याख्याएँ भी प्रथम-प्रथम प्रकाशनों में हुई हैं। कहना होगा प्राधुनिक हिन्दी-समासोचना के सैद्धांतिक विकास में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। रूस्यबाब और छायाबाब के मुख से लेकर प्रतिबाब और प्रयोगबाब के मुख तक इसी प्रकार भासोचकों ने अपने अपने ढंग से विवेचन प्रस्तुत किए हैं जिनके फलस्वरूप प्रत्येक स्पर्श पर संतुष्टन का प्रभाव भी आ गया है। माना कि साहित्य-समीक्षण में भी लक्ष-वैधिम्य के सिद्धान्त की उपयोगिता है, किन्तु जहाँ भासोचक अपने पक्ष का मंडन और विरोधी पक्ष का खंडन करने के लिए ही पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति से उद्यत होते हैं वहाँ उनका विवेचन साहित्यालोचना के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के स्थान पर उसे और अधिक अस्तव्यस्त और असमझ का कारण बन जाता है। इसका एक प्रमुख प्रभाव है प्राधुनिक युग की नवीनतम प्रवृत्तियों का स्वरूप। प्रत्येक को ने समासोचन भारतीय-साहित्य की प्रवृत्तियों के अन्तर्गत प्रकृति वारस्यक की भूमिका में जो कृत्रिमता है अथवा प्रतिवादी समासोचक डॉ० रामबिभास उमा तथा श्री शिवदान सिंह बोहरा प्रायः के बीच जो समासोचनायत कटुतापूर्ण विवाद चलते हैं, वे इस प्रकार की समासोचनायत समस्याएँ नहीं तो और क्या हैं? माना कि सबको विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है किन्तु उसके पीछे विद्वज्जन-सुलभ समय का ठोस आधार प्रकृति सर्वसम्मत धरातल की कम आवश्यक नहीं है। प्राधुनिक हिन्दी समासोचना में जहाँ इस प्रकार की सामग्री मिलती है वह हमारे लिए कदापि मुद्याल नहीं कही जा सकती। वस्तुतः उसका यह स्वरूप प्राधुनिक समासोचना की एक समस्या ही है जिसका निराकरण कबल उन्नी सम्मन है जब हमारा समासोचकत्व अपनी वृत्ति को उदार तथा व्यापक बना कर अपने कार्य के दायित्व का निर्वाह करे।

पूर्यता का कुराग्रह और उसके परिणाम

१२ समासोचना के क्षेत्र में एक समस्या यह उत्पन्न हो जाती है जब विभिन्न नवीन समासोचक अपनी-अपनी बाह-प्रशंसा की पुर्यता निरवेष्ट मानने की भूल कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य में जो छायाबाबी युग बना वह केवल काव्यनिरपेक्षता की ही अधिक महत्त्व दे देता तो प्रतिवादी युग ने उसके विपरीत चक्रवर्त को अधिक उ अधिक बाह्य समझा। फलतः दोनों श्रेणियों के कुछ भासोचक साहित्य के सर्वशुद्ध-क्षेत्र में अधिमान्यता की प्रवृत्ति से चलने लगे जिसका रचनात्मक साहित्य पर भी विधेय चर्चा प्रभाव नहीं पड़ा। यह एक बड़ा प्रावचन की बात है कि इन बातों के प्रत्यक्ष विचारकों में अपनी कटुता नहीं की जिसकी उनके कुछ अनुयायियों ने कालांतर में प्रस्तुति हुई। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी समस्याओं के निराकरण के लिए समासोचक अधिक उदार दृष्टिकोण से काम लें जिससे साहित्य के प्रक्षयन और प्रसार में कोई व्यवधान उपस्थित न हो। माना कि सर्वशुद्ध और मानसिक स्तर की विभिन्नतायत भासोचक-समास के प्रतिमानों में अन्तर होना स्वाभाविक है किन्तु ऐसी तो कोई बात नहीं कि वे एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण न रख सकें। जब हम साहित्य और समासोचना को केवल जीवन की सरस और बोद्धिक अनुभूति कहते हैं तो चाहे किसी प्रशंसी प्रकृति परम्परा का अवलम्बन किया जाय उसका मूल मन्त्र यह तो एक ही सिद्ध होगा।

पादकृपा दृष्टिकोण का एकनिष्ठ ग्रहण

१३ प्राधुनिक हिन्दी समासोचना की एक समस्या यह भी है कि हमारे समासोचकों के लिए ऐसी भी सम्मिश्रित हो गए हैं जो अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा के

में उपलब्ध हों। हाँ वहाँ ऐसे अन्धमातृपूर्ण चर्यों का स्वकन हमें अपने संस्कृत की सम्बन्धि में नहीं मिल सका वहाँ उनकी सृजन-सृष्टि करना भी अनुचित नहीं है। बाह्य रूप से इस विषय का महत्त्व प्राप्त हीन रूप सकता है किन्तु इसे भी हिन्दी-समालोचना का एक महत्त्वपूर्ण घट स्वीकार करना होगा। पारिभाषिक चर्यों का प्रयोग सूत्र-रूप में होता है अतः उनकी युक्त चेतना और अर्थ-सन्निध का पूर्ण परिचय प्राप्त कराने के लिए यथासम्भव उपयुक्त चर्यों की सृष्टि की जाती चाहिए। भिन्न भिन्न समालोचकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में पारिभाषिक चर्यों का प्रयोग खोमनीय प्रयत्न नहीं है। हमें इनके लिए एक समाज विद्या में चमना होगा और तभी पारिभाषिक चर्यों के निर्माण की समस्या का समाधान हो सकेगा। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर हम अपनी अन्य समृद्ध ग्रंथीय भाषाओं की सम्भावना से भी अव्यवहार कर सकते हैं। इसमें कोई मान-हानि की बात नहीं है। इस समस्या के निवारण के लिए विद्वानों की एक समिति की योजना भी परम उपाय हो सकती है, जो अपनी व्यापक मति द्वारा सम्बन्ध-निर्माण के इस कार्य में योगदान दे सके। इसी प्रकार जो अन्य हमारी भाषा अक्षित म आशास्त्र पा गये हैं उनकी अर्थार्थता की प्रतिपादित कर दी जाय तो भी बुरा नहीं है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी नोवेल (Novel) अन्य के लिए हिन्दी में जो 'उपन्यास' अर्थ प्रचलित है वह मूलतः बंगला भाषा से आया है किन्तु इस शब्द को अपने मध्य रहते हुए इतना अधिक समय हो गया है कि इसका पारिभाषिक अन्वयार्थ से निष्कासन करने की हमें कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती है। अतः इस पारिभाषिक शब्द-योजना की समस्या पर भी हमें एक बार पुनः विचार करना है और इसके निवारण का अर्थ निश्चय ही हमारी समालोचना के सभी विकास के लिए कल्याणप्रद है। डा. मधेन्द्र ने 'धरतु के काव्यशास्त्र' तथा 'सौभाग्यनस के उदात्त-उत्पत्ति' के विवेचन में पाश्चात्य साहित्य शास्त्रीय सम्भावना के लिए जिस प्रकार के भारतीय चर्यों का प्रयोग किया है वह इस विद्या में खोमनीय प्रयास है।

संतुलन का अभाव और समस्या-समाधान

११ अन्ध के साहित्यसामोचन में एकांगी प्रतिरेकता भी एक प्रकार की समस्या बन कर हमारे सम्मुख प्रस्तुत है जिसे संतुलन का अभाव कहा जा सकता है। बात यह है कि साहित्य की मति द्वारा समालोचनामय दृष्टिकोण भी अपनी सीमित परिधि में सिमट कर ऐसा बंध गया है कि हम साहित्य के सर्वांगीय एवं सर्वांगीन भाव को विसृत सा कर बैठे हैं। जिस प्रकार साहित्य के विवेचन में विभिन्न विचारक अपनी स्वतन्त्र चेतना के अनुसार अपनी-अपनी विचार-संरचना प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार उसके समालोचक भी अपनी-अपनी दृष्टिगत माध्यमों में अलग-अलग विवेचन उपस्थित करते हुए दृष्टिकोण होते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि मानव-विचार को एक ही प्रणाली में बाँध कर रखना सम्भव नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारा ज्ञान और विज्ञान अनेक प्रकार की शाखाओं और उपशाखाओं के विभाजन में अटिष्ठ बन कर अपना प्रसार पाता रहा है किन्तु उन विहीन ज्ञान-उपनिषों को संतुलित रख कर समिष्कृत नहीं किया जा सके ऐसा विवेक अक्षित क लिए कोई कठिन कार्य नहीं है। इसकी ओर ध्यान न देने से साहित्यसामोचन के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार की अटिष्ठताओं का उद्धार हो जाता है। उदाहरणार्थ प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में रस रीति बर्णनित ध्वनि और अक्षरकार आदि विभिन्न सम्प्रदायों को अक्षर जो सैद्धांतिक विवेचन हुआ है वह उनके उत्पत्ति-मीमांसकों के उद्भूत मस्तिष्क का सुकल अवलम्ब है किन्तु उनकी एकांगिता भी अपरिहृत नहीं है। इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में भी छोटी धरतु, और सौभाग्यनस आदि की परम्परा से चल कर हम रसोन्नत रिचर्ड्स आदि के कार्यकाल तक आते हैं उनमें भी कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति काय करती हुई प्रचलित है। वही 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त

धार्मिक साहित्य की उत्पत्ति में अपना भी कुछ अस्तिर धारण कर सका है। उसकी पुष्टि निम्न ही उन साहित्यों से अपने स्वरूप ग्रहण करती हुई मिली पाई है। साथ ही साथ देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति के निर्माण में जो बाह्य-संस्कार अपना योगदान देती पाई हैं उनका प्रभाव भी ग्रहण करने से वह अपने का भवग नहीं रह सका है। अब जिस प्रकार उसके रचनात्मक साहित्य में भारतीय संस्कार और बिबेकी प्रभाव के भूपर्य्याही रंग पुनः मिल गये हैं, उसी प्रकार उसकी समासोधना-प्रवृत्ति भी दोनों के तानों-बानों से ग्रसित है। ऐसी स्थिति में यह समस्या स्वतः तिर्य्यक्त हो जाती है कि हिन्दी-साहित्य में समासोधना की कोई स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं। प्रश्न यह कि कोई अपना प्रतिमान बन सका है नहीं। मुझे तो ऐसा समझ है कि निम्न ही हिन्दी-समासोधना के स्वतन्त्र का यथन अपनी प्रणाली से हुआ है और उसमें विभिन्न संस्कारों और प्रभावों ने नवीन उद्भावनाओं और स्फूर्तियों का संचार किया है। हाँ उसका व्यक्तित्व इतना विकसित प्रभाव ही नहीं रहा है जिसके कारण हम कुछ समस्या ही प्रतीत होती है किन्तु इस समस्या का निराकरण अत्यन्त कठिन हो यह भी नहीं कहा जा सकता। धर्म की हुरादी यह सब से बड़ी आवश्यकता है कि हम अपने में स्वतन्त्र हो और चिन्तन-बुद्धि का निर्माण और पोषण करें और उन समस्त प्रक्रियाओं का अध्ययन करें जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। ऐसा करते हुए निम्न ही हम एक ऐसे सारभूत तत्व की उपलब्धि हो सकेगी जो हमारे स्वतन्त्र चिन्तन का सुसाधारण स्रोत और जिसकी ओर हम अपना मौलिक निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकेंगे। यह उसी सम्भव होगा जब हम केवल प्राचीन संस्कृत-साहित्य के वैज्ञानिक ढंगों के एकमात्र भ्रष्ट बन कर ही न बैठ जायें किन्तु उनकी प्रवृत्ति का अनुसंधान कर ऐतिहासिक परम्परा की उस परिधीमा तक भी पहुँच जिसमें भक्त मोक्ष लेकर समासोधना की प्रवृत्ति उद्भूत है। साथ ही साथ हम अपने धर्म धर्म और विश्व के सामाजिक और बाह्य वातावरण की चेष्टा भी न करें जिनके संस्कार और प्रभाव हमारी रंग रंग में समाये हुए हैं। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि धर्म की सम्पत्ति और संस्कृति जिन पाश्चात्य विचारधाराओं से प्रभावित प्रभावित हैं उनका वास्तविकता क्या है और धर्म के राजनीतिक धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचे-बाँधों के मूल में कौन कौन सी मनोवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं? इन सब का व्यापक दृष्टि निष्कर्ष अध्ययन करने के पश्चात् हमें एक बार पुनः अपनी सांस्कृतिक जीवन-परम्परा को देखना पड़ेगा और इस प्रकार वर्तमान की ओर में भारतीयता का नवीन मूल्यांकन कर साहित्य-निर्माण लिए नूतन सजीवन-धर्म को पाना होगा जो सब प्रकार के पूर्वजिह्वों और बुराजिह्वों से रहित हो। इस प्रकार रचनात्मक साहित्य के साथ समासोधना-साहित्य की भी एक स्वतन्त्र दृष्टि मिल सकेगी और उसके प्राण-वायु से निर्मित होकर हमारे धार्मिक धर्म की समासोधना का ऐसा स्वतन्त्र विकास हो सकेगा जिसमें किसी प्रकार की अन्याय भयना उत्पन्न की कोई प्रवृत्ति नहीं होगी।

साहित्य की विपुल संवेदनारम्भक कथा-साहित्य समस्या का एकमात्र समाधान

१९ समासोधना-रूप की इन समस्त समस्याओं का समाधान पानी हो सकता है जब हम सब प्रकार की दलबन्धियों से दूर रह कर साहित्य को उसके विपुल संवेदनारम्भक रूप में ग्रहण करें और उसके ऐसे प्रतिमान निर्धारण करें जो मानव-धर्म के मानव-सोक के धार्मिक निकट हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमें धर्म-परिष्कार के परिवर्तन के अनुसार अपने समर्पित संशोधन और परिवर्तन भी करना पड़ेगा किन्तु इन की मूल वेदना एक ही तत्व से अनुप्राणित रहेगी। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि जैसे वास्तव्य स्नेह और प्रणय धार्मिक प्रवृत्तियाँ अपने मूलवर्ती स्वतन्त्र में देशवास के बंधन से बंधी हैं और नित्य नवीन हैं (जैसे ही उनकी प्रवृत्ति में

स्वल्प दृष्टिकोण में समझाया रहते हैं तथा बिना पश्चिम से घाने वाले बावों की चमक-दमक पश्चिम विमुख बना देती है। उनके मस्तिष्क में यह बात जमती ही नहीं कि भारत की प्राचीन सास्त्रीयता अपने अन्तर्जीवन में ऐसे सतर भी गुम्फित किए हुए है जो धाब के प्रतिमान भी बन सकते हैं। इसमें उनका दोष भी नहीं है। क्योंकि एक तो उनका ऐसे वातावरण में ही मानसिक परिपोषण हुआ है जो पश्चिम को सर्वांगीण दृष्टि से प्रवर्तिष्ठीय और भारत को कङ्कित मान कर चमता है और दूसरे उनका प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र का परिचान केवल सुनी सुनाई बातों पर आधारित है, अतः वे अपने साथ पश्चिमी प्रतिमान रख कर हिन्दी साहित्य की सभा सोचना में भी प्रवृत्त होते हैं, जिसका सामंजस्य ठीक तरह से न होने के कारण उनका कोई सचित संयोग नहीं बैठ पाता। परिणाम यह होता है कि जैसे मनीष साहित्यिक प्रतिमान प्राचीन साहित्य के साथ समुचित योग न पाकर उसे निरर्थक कोषित कर देते हैं उसी प्रकार प्राचीन सास्त्रीयता को भी मनीष साहित्य-विधि प्रवृत्त ही सपटी है। अन्ततः समालोचना-क्षेत्र में बड़बड़ मच जाती है।

सर्वांगीण दृष्टि का असंयोगजन

१४ समालोचना के क्षेत्र में विभिन्न समस्याओं के उत्पन्न होने का एक कारण यह भी होता है कि कुछ समालोचक उसके प्रति जीवन की सर्वांगीण दृष्टि का निर्वाह नहीं कर पाते। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि जब हम साहित्य की परिचीना अन्तर्बन्ध और बहुविधमय तक परिष्कार समझे हैं तो उसके समीक्षण में भी ऐसा ही प्रतिमान लेकर क्यों न चला जाय। यदि समालोचना को केवल अन्तर्बन्ध के मनोनिवेश तक संकीर्ण बना कर केवल मनोविश्लेषणवादी व्याख्या की जानेनी तो उसका बाह्य परिवेश प्रस्तुत रख जायगा जिसके कारण पुनः परिस्थिति का चित्रण नहीं हो सकेगा और यदि उसे केवल ऐतिहासिक प्रणाली में ही घाबड़ा कर दिया गया तो उसका अन्तरंग पक्ष विवेचित होने से छूट जायगा। ऐसी परिस्थिति में निश्चय ही समालोचक हाथ के बावें नहीं कही या सर्वेजी जिन्हें साहित्य की यति समालोचना भी पूर्ण बनती है और वह भी समालोचना-क्षेत्र की समस्या का ही एक कारण होगा। अतः यह धारणा है कि समा सोचक ऐसी प्रपूर्ण स्थिति के प्रादुर्भाव के मूल कारण का ही नाश कर दे और साहित्य के व्यापक विधान में समालोचना को प्रवृत्त करे जिससे समालोचक कठिनाय प्रवृत्त उसकी कठिनाय अन्तरंग और बहिरंग विस्सेपण सुख्यस्थित प्रणाली से हो सके।

समस्या निवारण के लिए रचनात्मक विद्या निर्देश

१५ प्रश्न होता है कि यदि हम इसी प्रकार विभिन्न समस्याओं से अपने को प्राकट्य बना देंगे तो फिर हमारी प्रवृत्ति अपने लिए कौन-सा मार्ग प्राप्त कर सकेगी? इसका एकमात्र समाधान यही है कि हम किसी भी विषय में अपने धापको इतना अधिक परमुखायेधी न बना दें कि हमें अपने अस्तित्व के विषय में ही संका होने लगे। वास्तवीय तो यह है कि हम कङ्कित या स्वाभाविकता से अनासक्त बन कर स्वतंत्र चिन्तन से काम लें और यह निर्णय करने में विधेय जायक हों कि समालोचना के स्वतंत्र मानवधर्म पर हिन्दी में जो प्रभाव प्रवर्तित हो रहे हैं उनकी वास्तविकता क्या है? ऐसी तो कोई बात नहीं है कि जो हिन्दी-साहित्य सहज बावों से अपना प्रत्यक्ष भाव-कोष संचित करता हुआ जमा भा रहा है वह समालोचना-दृष्टि से सर्वथा पराजित है और ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि उसमें जो कृष्ट है वह एकमात्र जसी के संकीर्ण अक्षय विकास की ही उपज है। ऐसी स्थिति में मुझे तो यही समीचीन प्रतीत होता है कि हिन्दी का साहित्य भारतीय जीवन के अजीब स्वल्प-संस्कृत वाङ्मय और उससे विकसित होने वाले प्राकृत और अल्प-अ-

हुमा किन्तु इतना धनस्य निश्चित है कि यह प्रभुति भी साहित्य-सर्वना की भाँति ही विरतम है। जिस प्रकार साहित्य अपनी जीवन्त संवेदनाओं में निर्य मनों और आरत रहता है, उसी प्रकार उसका भावन तथा समीक्षण करने वाला मानव भी अपनी गूढ़ चेतना में सर्वत्र परम व्यापक होता है। हाँ यह बात दूसरी है कि मानव या मूर्त्याकन के प्रकार या प्रतिमान गुण और परिस्थिति के अनुसार प्रवृत्ति परिवर्तित होत रहते हैं। जीवन में चलने वाली क्रिया प्रतिक्रियाओं की भाँति साहित्य में भी कभी नैतिकता और आदर्शवाद का आग्रह बढ़ जाता है तो कभी स्वच्छन्दता और आनन्द का हृष्टिकोण अपनी सत्ता स्थापित कर लेता है, जिसका प्रतिकार घने प्रकार समाजीकन को प्रभावित करता हुआ पसता है तो कभी वह उसके प्रभावित भी होता रहता है। इस प्रकार जीवन और जगत् की प्रवृत्ति-जीवता की भाँति साहित्य और समाजीकन में भी मानव का आदर्शन प्रत्यावर्तन होता रहता है जिसका प्रभाव भिन्न भिन्न युगों की काव्य-कृतियों और उनके मूर्त्याकन के प्रयत्नों में प्रत्येक करना कोई कठिन कार्य नहीं है। सब तो यह है कि परिवर्तन का यह चक्र समस्त देवकाश के साहित्यों को भी प्रभावित किये बिना नहीं छाता यत् कभी-कभी साहित्य-समीक्षक के सामने इस प्रकार की एक समस्या आ जाती है कि यह साहित्य का मूर्त्याकन किस प्रकार के मानव को अपना आदर्श बना कर करे।

२ साहित्य-समीक्षण के मानव का स्वयं और विधान प्रत्येक देश और काल में भिन्न-भिन्न रहता है। एक समय या जब प्राचीन आचार्यों ने रामायण और महाभारत-काल के महाराष्ट्रों के परीक्षण के लिए नायक के लिए औरता का अनिवार्य गुण निर्धारित कर उसे सदात सन्निध प्रदात और उच्च की आदर्शियों के संदर्भत रहा किन्तु बाद की परिवर्तित परिस्थिति में इस प्रकार के आदर्श-विधान की कोई महत्ता नहीं रह गई है। आज सामान्य से सामान्य आदर्श का अन्तिम भी किसी काव्य का नायक बन सकता है जिसपर सुनीलता के नाम से कोई आपत्ति कर ही नहीं सकता। यह मानव विषयक परिवर्तन विभिन्न युगों की पारलामों और साम्यताओं की देन नहीं तो और क्या है? इसके यह स्पष्ट है कि साहित्य के मूर्त्याकन में युग और परिस्थिति का महत्वपूर्ण स्थान अपने प्रवेशित स्वयं में रहता अवश्य है। हाँ यह बात दूसरी है कि वास्तव और विरतम साहित्य की भाँति समाजीकन के मानव की भी कुछ ऐसी विधियाँ निर्धारित हैं, जिन पर किसी भी देवकाल के साहित्य का परीक्षण किया जा सकता है। ऐसे स्थायी और आरत मूर्त्याकनों के मूल में भी साहित्य की आरत संवत्सराओं की भाँति आरतक अनुभूति की बोधिका का अंश रहता है जो विभिन्न आदर्श-प्रदातों से बिहीन और अवागम्य से रहित होता है। यही कारण है कि जैसे भारत में आत्मिक और आदिवासी तथा पश्चिम में होमर और हेसियस आदि प्राचीन काव्यकार आज भी अपनी मोक्ष उद्भावनाओं और विरतम प्रभुतियों के कारण अमर है, उसी प्रकार उनके मूर्त्याकन का वह मानव भी आरत और सर्वभूषी है जो रस-प्रक्रिया जैसे काव्य-बोध-निष्पन्न सिद्धान्त की सृष्टि कर सका है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि साहित्य में मूर्त्याकन या उसका मानव निर्धारण भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश है जिसको पारदर्शक से समझने के लिए एक निश्चित इष्टिकोण की आवश्यकता है।

मानव का विभिन्न विधियाँ और जनता प्रयोग

२१ साहित्य का मूर्त्याकन करते समय आरतीय विद्वानों की प्रवेसा जीवन की अनुभूति और संवेदना को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। सब तो यह है कि बड़ी साहित्य देव-काल की परिधि से निष्क्रमित होकर अपनी आरतीय स्थिति प्राप्त कर सकता है जो मनुष्य की मोक्ष मनोभूतियों पर आधारित हो और जिसमें आरतक वस्त्र का साहित्यिक उद्भावन भूतिमान रहे। मूर्त्याकन का प्रतिमान देश और काल में होने वाले भूटि प्रसार से भी अत्यधिक

वेद्यकाल से बाह्य भतर मिले) उसी प्रकार जीवन के सरस संवेदन साहित्य की समासोचना में भी केवल ये ही सिद्धांत धार्मिक संपादेय हो सकते हैं जो जीवन-सम्भूत और मानस-सम्भूत हों। इसका एक प्रामास्य इस रूप से भी प्राप्त किया जा सकता है कि विभिन्न वर्गीय समासोचक अपने-अपने दृष्टि कोणों से साहित्य का जो चित्रन और परीक्षण करते हैं उनकी मूलवृत्तिवी धारा भी एक सत्य से अनु-प्राप्ति प्राप्त कर रही है। भव उस सत्य की समाहित रूप में ग्रहण कर हमारी समासोचना भी बनने लगे तो इस समस्या का समाधान अन्वेषित किया जा सकता है।

१७ साहित्य-निर्माण की भाँति साहित्यासोचन के क्षेत्र में भी इस बात का सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए कि वह किसी बर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं अपितु जन-मानस की सम्पत्ति है। सांस्कृतिक स्तर बौद्धिक चेतना धार्मिक सम्पन्नता आदि दृष्टिकोणों से व्यक्तियों में भिन्न हो सकता है किन्तु हृदय के साम्राज्य में इस प्रकार का कोई निम्नोन्नत भाव नहीं। यह तो सर्वनिम्नता वेदता का ऐसा पुनीत मन्दिर है जिसमें सभी साधकों की पहुँच समान रूप से है। अतः उसका सुजन और समीक्षण सर्वत्र ऐसे निर्विघ्न भाव से होना चाहिए जिसमें राजनीतिक बाधों प्रथम प्रथम व्यवस्थाओं की प्रत्यासी वृत्तियों का बहुत कम प्रवेश हो। विज्ञान-साहित्य के विभिन्न कालों में इस प्रकार के उदात्त प्रयत्न हुए हैं और उनमें पाव भी प्राप्त करने की जीवन-वृत्ति है। युग परिवर्तन और क्रान्तियों के बख्तर धाते हैं और ऊपर ही ऊपर निकल आते हैं किन्तु उन प्रतिमानों को कोई प्राप्ति नहीं मिली। अन्तिमयाम यह है कि ऐसे प्रतिमान जीवन-मूल में ऐसा अंतर्प्रवेश रखते हैं जिनको अज्ञात भाव एवम् रहस्यपूर्ण विधि से प्राप्त-रस मिलता है जिसका प्रतिफल साहित्य के प्रकरण और पस्यवन के रूप में दृष्टिगोचर होता है। यदि हम ऐसे चिरंतन मानों को प्रभावबद्ध बर्ग समझने की मूल कर बैठे तो जीवन-मूल की उन्हें खोजती हो कार्यपी जिसके फलस्वरूप साहित्य-निर्माण और साहित्यासोचन का प्रस्तुतन भी प्रयत्न हो जायगा। अतः यह प्रत्यक्ष धार-स्वक है कि साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाली समस्याओं के निरोध के लिए इस दृष्टिकोण की उपेक्षा न की जाय।

१८ समासोचना के विकास-मंच की प्रमुख समस्याओं और उनके निपटकरण के उपायों का विवेक्षण करना हमने इसलिये उचित समझ कि उनके द्वारा इस विषय का बोध हो सके कि समीक्षा प्रवाह में उनके कारण किस-किस प्रकार के अवरोध उपस्थित हो जाते हैं जिनका हम सत्यदृष्टि से विचार किये बिना कोई ज्ञान ही नहीं होने पाता। इन समस्याओं का विवेचन हमारे सोच प्रवृत्ति की विकास-परम्पराओं से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध नहीं वा फिर भी उनका विवेक्षण करना इसलिये समीचीन प्रतीत हुआ कि उनका समासोचना-निर्माण कंष मं ज्ञान करना आवश्यक है। इन समस्याओं के कारण हमारी गति प्रयत्न हो नहीं हुई है, फिर भी कभी कभी संकटों का सामना प्रयत्न करना पड़ता है। अतः हमारे लिए यह विवेच्य विषय बन जाता है कि हम समासोचना के मानवत्व का सामान्य स्वरूप विवेचित कर इस बात का विचार करें कि प्राधुनिक हिन्दी-समासोचना का कोई स्वतन्त्र मानवत्व बन सका है या नहीं और यदि बन सका है तो उसका स्तर किस कोटि का है। इस विवेचन के पश्चात् ही हम उपर्युक्त क मन्तव्य प्राधुनिक समासोचना की उपस्थिति और उसकी आवश्यकताओं का विवेक्षण करने में अधिक समर्थ हो सकेंगे।

(प्रा)

मानवत्व का अभिप्रेत अर्थ और उसका स्वरूप विधान

१९. मानवत्व धर्मवा मूर्त्याकृत मूलतः साहित्य प्राप्त के धर्म नहीं है, किन्तु प्राधुनिक समीक्षा में इनका प्रयोग प्रायः सुमत्त लेखकों द्वारा निरर्थक भाव से किया जाता है। यह तो निर्विचार रूप से नहीं कहा जा सकता कि साहित्य में मूर्त्याकृत की प्रवृत्ति प्राधुनिक रूप से

का निर्माण होता है। अतः यह स्पष्ट है कि समालोचना का मानदण्ड निर्धारित करते समय जीवन और जगत् की अन्तर्भाव्यापिनी प्रवृत्तियों का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए।

मानदण्ड के विविध आधार

२३ विश्व के विभिन्न साहित्य-क्षेत्रों के विकास की भिन्न भिन्न परिस्थितियों में जिस समालोचना-शास्त्र का विकास हुआ है, उसे साहित्य-मीमांसकों ने विभिन्न मानदण्डों से आकार प्रदान किया है। प्राच्य विचारकों में अरुण मुनि रस-विज्ञान के अनुसार काव्य की प्रेरणा मनुष्य के धारों या अन्तर्वर्तों से मान कर उसी की कसौटी पर साहित्य का मूल्यांकन करना समीचीन समझते हैं। तो आनन्द उद्भट दण्डी तथा राहुत का भूषाव्य धार्मिकता को काव्य की कसौटी बना कर अपने की ओर विधेय है। काव्य के अनुसार 'विशिष्ट वह रचना-मुक्त टीव' ही काव्य की आरम्भ है तो ध्वनिकार और मम्मट व्यञ्जना को ही काव्य का सर्वतः समझते हैं जिसमें वाक्यार्थ की प्रमेसा व्यञ्जार्थ अधिक अमरकारोत्पादक होता है। बल्लोक्तिजीवितकार ने तो बल्लोक्ति को ही काव्य का जीवन निर्दिष्ट किया है। इन आस्वकारों ने अपने विवेचन के प्रथम में काव्य से मानव की उत्पत्ति निरूपित कर उसके सौन्दर्य-मूल को भी नहीं छुपाया है जो पून विद कर आज के सौन्दर्य-शास्त्र प्रथम कला-मीमांसा विषयक (एस्थेटिक) विज्ञान के बहुत अनुस्यू प्रतीत होता है। पश्चिमी विचारकों ने भी इसी प्रकार अपने हृ से साहित्य समीक्षण के प्रतिमान निर्धारित किए हैं। जे. ए. स्मिथ यदि आलोचक के लिए प्रदान अर्थ किसी कृति के विधेय व्यक्तित्व का उद्घाटन करने में मानते हैं तो एडरकांन्डी इस बात पर जोर देते हैं कि कोई साहित्य-कृति अपने रचयिता की अन्त-प्रेरणायों को अपने माध्यम से किस सीमा तक व्यक्त कर सकी है। आरु की भाँति पश्चिम के आदर्शवादी आलोचकों का दृष्टिकोण किसी कृति में अलौकिक अथवा आधि सौन्दर्य का उद्घाटन करने की ओर ही मुख्य रूप से रहा है। इतना ही नहीं एर्नस्टर बिदुस तथा पोप आदि आन्त्या आलोचकों ने भी अपने अपने दृष्टिकोण से समालोचना के मानदण्ड निर्धारित किए हैं जिनसे यह व्यक्त होता है कि उन सब के आर्न अलग-अलग हैं किन्तु सब का सस्य एक ही रूप के उद्घाटन की ओर रहा है।

हिन्दी-समालोचना के मानदण्ड का प्रश्न

२४ हिन्दी-साहित्य में समालोचना का स्वतन्त्र मानदण्ड अस्तुतः एक आनन्दक प्रश्न है जिसकी जटिलता का विस्लेषण किए बिना उसका स्वरूप-विधान किया ही नहीं जा सकता। भाषुनिक विचारकों में एक ओली के कुछ व्यक्ति इस विषय में जहाँ प्रसत्तात्मक अतिवर्त करते नहीं आते कि आज के हिन्दी साहित्य का सबसे पुष्ट अंग उसकी समालोचना है तो दूसरी ओली के समालोचक समालोचना को केवल अंगुलियों पर बिनी जाने वाली कुछ अस्वत तथा कुछ अंग्रेजी समीक्षा-पुस्तकों की अन्तरलीमात्र समझते हैं। निश्चित है कि प्रथम ओली के विचारकों का दृष्टि कोण आनन्दकता से अधिक आनन्दवादी है तो द्वितीय ओली के विचारकों की मान्यता निराशा की प्रतिरेकता को लिए हुए चली है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने अस्तुत यह समस्या आकर उपस्थित हो जाती है कि इस समालोचना का भाषुनिक हिन्दी साहित्य में किस प्रकार प्रतिमान निरूपण करें। मुझे तो इन दोनों प्रकार के विचारकों में प्रथम ओली के विचारकों का मत अधिक युक्तिमय और आधारपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि निरोधी विचारकों की दृष्टि के अनुसार हिन्दी-समालोचना का स्तर केवल कुछ ही पुस्तकों के अनुवाद तक ही सीमित करना समीचीन नहीं है। यह तो प्रत्येक विचारक को स्वीकार करना ही होता कि भाषुनिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना साहित्य का सबसे पुष्ट अंग न होने पर भी इतना अनुस्यू अवस्य है कि उसे अंग्रेजी

सम्बन्धित है। इसका यह अभिप्राय नहीं की वह केवल अपनी युग-दृष्टि के रूप में ही पूर्ण समझ लिया जाय। अब तो यह है कि साहित्य की भाँति उसका मान-रञ्ज भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा और प्रतीतकामीन साम्यताओं से यथोचित प्रेरणा ग्रहण किए बिना नहीं रहता। इसका मुख्य कारण यही है कि साहित्य के मानरञ्ज के निर्धारण में इन बाह्य परिस्थितियों का भी हाथ रहता है। मानरञ्ज या मूल्यांकन के प्रश्न को लेकर समालोचना में मूल-संश्लेष भी बहुत अधिक है। कुछ समालोचक सांस्कृतिक नियमों का प्राथम्य लेकर केवल जमी का साहित्य समालोचना में प्रयोग करना पर्याप्त समझते हैं तो कुछ साहित्य की भाँति समालोचना की प्रवृत्ति को भी अन्तर्मुखी सिद्ध कर केवल उसका व्यावहारिक मनोविश्लेषण करने में ही अपने कर्तव्य की इतिमी मानते हैं। इसी प्रकार कुछ समालोचकों के दृष्टिकोण हैं साहित्य का मानरञ्ज केवल इस विषय को लेकर निर्णीत होना चाहिए कि साहित्य की रचना का मूल उद्देश्य क्या रहा है और उसे अपने कार्य में कौसी सफलता मिली है? मूल्यांकन के प्रतिमान निर्धारण में समालोचना जगत में चलने वाली विभिन्न प्रणालियों का भी कम योग नहीं है। उदाहरणार्थ ऐतिहासिक प्रवृत्ति समाजशास्त्रीय समालोचक साहित्य का उच्चा मानरञ्ज यही समझते हैं कि उसका समालोचक प्रभावित अपने युग वातावरण समाज और भाँति विषयक साम्यताओं का उद्घाटन करे तो मात्र का प्रगतिवादी समालोचक साहित्य और युग का सम्बन्ध मूलतः मनुष्यों के प्राकृतिक वर्णमय और सामाजिक क्षेत्रों के दृष्टि-बिन्दु से ही जाँचता है। माना कि इन विभिन्न प्रणालियों की समालोचना का मूल्यांकन विषयक मानरञ्ज अपेक्षित उत्तर से अवश्यमेव सम्बन्धित है किन्तु उसे सत्य की पूर्ण इकाई के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। वस्तुतः साहित्य के उच्चे मूल्यांकन के मानरञ्ज की परिधि अत्यन्त व्यापक और गम्भीर होती चाहिए और यथासम्भव उसे प्रतीत और वर्तमान की सन्धि में सार्वभौम दृष्टि से इस प्रकार सम्पन्न बनना चाहिए, जिससे मानवचेतना का विकास सांस्कृतिक और मानसिक अणुतक पर बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह या दुराग्रह से विवक्षित हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि समालोचक महान् साहित्यकारों की उन जीवन-प्रेरणाओं और अनुभूतियों से भी सुपरिचित हों जिनसे वे मानव भावनाओं को अमर बाणी प्रदान करने में समर्थ होते हैं।

मानरञ्ज-निर्धारण में व्यापक दृष्टि का समावेश

२२ जैसे तो युग-परिवेष्ट के अनुसार जीवन आस्थाओं के प्रति होने वाली क्रिया-प्रति क्रियाओं के फलस्वरूप समालोचना के मानरञ्ज भी निरन्तर बदलते रहते हैं किन्तु मात्र की सामयिक परिस्थिति में उसका निर्धारण करते समय केवल जीवन की वास्तव दृष्टियों के मौखिक विवेचन से ही कार्य नहीं चल सकता। अद्यतन युग की समस्त प्रवृत्तियों के समीक्षण में मात्र समाज-व्याप्त और मानस-व्याप्त जो ऐसे विषय हैं जिनके साहित्यगत यथोचित अनुपात की महती का निवेष्ट करना साहित्यालोचन के कार्य को एकानि और अपूर्ण बनाना है। वात यह है कि मात्र का जीवन अपनी विकासोन्मुख संस्थिति में अत्यन्त जटिल है और उसके ऐसे अनेक अनिवार्य पक्ष हैं जिनका प्रभाव जीवन चेतना की विविध प्रस्तुत-क्रियाओं में होता है। साहित्य भी इसका प्रभाव नहीं है अतः मात्र साहित्यालोचन के मानरञ्ज का निर्धारण करते समय जीवन संवेदना का प्रामुख्य दृष्टिकोण रखते हुए भी हमें उक्त दोनों धारों के विभिन्न पक्षों के आवश्यक प्रभाव का निरूपण करने में भी सतर्क रहना चाहिए। राजनीति धर्मशास्त्र प्राणी-शास्त्र और मुक्तिक-विज्ञान समाज-विज्ञान के ही पक्ष हैं जिनका आनुपमिक प्रभाव साहित्य-चेतना पर पड़े बिना नहीं रहता। इसी प्रकार मानव-शास्त्र अथवा मनोविज्ञान की सहायता से साहित्यकार के मानस-लोच की उन प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया जा सकता है जिनसे प्रेरित होकर किसी कृति

विकास किया है वह स्वल्प परम्परा को भी ग्रहण करने वाला है या केवल अपनी उपबीम्प-सामग्री का अनुवादमात्र है ? सच तो यह है कि यदि कोई साहित्य-समीक्षक केवल पराभित बन कर अपना मौलिक विवेचन नहीं कर पाता अपना वह सत्यामुद्युत तथ्यों की सीझनेवर कर उन्हें स्वेच्छापूर्वक विकृत स्थिति में उपस्थित करता है तो वह स्वतन्त्र विकास की स्थिति भगवद्घोर हानिकारक बन जाती है। इसी प्रकार स्वतन्त्र मानवज की युग में किसी एकान्ती सिद्धांत-प्रतिपादन की घोर प्रवृत्त हो जाना भी वांछनीय नहीं है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि स्वतन्त्र दृष्टि के निर्माण में अपनी परम्परा प्राप्त संस्कृति भी योग्य सहयोग प्रदान करती है और उसके उत्प्रेरण भी हमें मूलतः धर्मिष्ठाति देने के लिए प्रेरणा देते हैं। इतना ही नहीं अनेक बार तो युग-कल्पित के उपकरण भी साहित्य-समासोचना को स्वतन्त्र दृष्टि से परखने के लिए बाध्य बना देते हैं। इन सब तथ्यों का महत्त्व स्वीकार करते हुए ही प्राथमिक हिन्दी समासोचना के मानवज की स्वतन्त्रता का स्वल्प ध्वनित किया जा सकता है।

२७ सर्वप्रथम प्राथमिक काल के प्रथम उत्थान-चरण आर्येणु-काल को लेते हैं जो साहित्य-समासोचना की भाँति हमारे जीवन की अनेक शिवाघों में नवीन उत्कृष्टि का युग संज्ञा-पक बन कर माना है। इस युग की मूल प्रवृत्ति रचनात्मक साहित्य-निर्माण की घोर चिन्तनी अधिक रही उतनी उसके समासोचनात्मक स्वल्प की घोर नहीं। परन्तु इस युग में समासोचना का कोई निश्चित मानवज ही नहीं बन सका फिर मछा उसके स्वतंत्र वैशिष्ट्य की परिस्थिति ही कैसे घाटी ? आर्येणु युग के प्रमुख समासोचक आर्येणु की प्रेमचन की घोर बात कृष्ण भट्ट प्राणि ने अपने पत्र-सम्पादन के साथ समासोचना की भी एक प्रमुख स्वप्न बना कर इस क्षेत्र में कार्य किया था किन्तु उसमें स्वतन्त्र प्रौढ़ का कोई सलख नहीं है। और तो और, इस युग की समासोचना अधिकतर परिचयमूलक या पुस्तकालोचन के रूप में ही रही परन्तु उसमें स्वतन्त्र प्रतिमान की दृष्टि का उल्लेख बहुत कम हुआ। इस युग के समासोचकों ने या तो अपनी वैयक्तिक अभिरुचि की युग में किसी काव्य-कृति की समीक्षा में युग-बोध-कलन की चेष्टा की अपनाया या प्राचीन समासोचना-ग्रन्थों के आधार पर उन्हीं से निस्सी-बुलसी प्रचुरी या प्रसक्तरी बातें कही। परन्तु विचार और अभिव्यक्ति इन दोनों पक्षों की दृष्टि से भी इस युग की समासोचना में स्वतन्त्र कल्प-निर्माण का कोई निधान नहीं पा सका। इतना प्रबल है कि एतदनुगुनी समासोचना रीतिकाव की सलख-परम्परा वृत्ति और नाविक्य भेद निम्नसी प्रसक्त-वाहिता युगीन समासोचना रीतिकाव की सलख-परम्परा वृत्ति और नाविक्य भेद निम्नसी प्रसक्त-वाहिता को छोड़कर नवीन भासोच के साथ अपना स्वर-संज्ञान करने के लिए उन्मुख हो रही थी जिसका प्रस्तुत कालांतर में द्विवेदी-युग में हुआ। परन्तु आर्येणु कालीन समासोचना की स्वतन्त्र सत्ता का विवेचन इस तथ्य को बिना विस्मृत किए ही किया जाना चाहिए।

२८ द्विवेदी-युग प्राथमिक हिन्दी-समासोचना का द्वितीय चरण है जिसकी घाटी साम्यताएँ आचार्य द्विवेदी और उनकी 'सरस्वती-पत्रिका' के परिचय में आचर्यन प्रस्तावर्तन करती हुई चलती रही है। इस युग के विचारकों की दृष्टि में विस्तार और सुधार की आवश्यकता का प्राकटन होने लगा था जिसका प्रभाव समासोचना पर भी परिलक्षित हुआ। यहाँ तक समासोचना के स्वतन्त्र प्रतिमान का प्रश्न है, यह युग अपने पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा अधिक धन्यता पा सका। ३ बात यह भी कि आचार्य द्विवेदी भी तथा उनके समकालीन मुख्यमान समासोचक मुख्यतः प्राचीन संस्कृत-साहित्य और पारंपार्य संवेदी साहित्य-सार के विनिम्न विचारों से प्रभवत ये और उनका समावेष्ट हिन्दी-साहित्य की अभावपूर्ण स्थिति में भी करना चाहते थे। विर-विचारकों की उच्चतम परीक्षाओं में हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था होने के कारण भी साहित्य-मनीषी उनके रचनात्मक और भासोचनात्मक दोनों ही क्षेत्रों को मूलतः विषयों से पूर्ण बनाने के आकांक्षी थे। आचार्य द्विवेदी भी ने यह और पक्ष के लिए एक

- १ किष्कन्द—बाली-विद्यालय ब्रह्मनाम काशी प्रथम संस्करण ।
 ४ भारतेन्दु के निबन्ध—छरस्वती मण्डिर काशी सम्बत् २० ७ वि० ।
 ५ कसी साहित्य—छरस्वती मण्डिर-काशी १९५१ ई ।
 संभाप्रसाद अग्निहोत्री
 संभाप्रसाद पाण्डेय
 समालोचना—भायरी प्रचारिणी समा काशी सम्बत् १५२९ वि ।
 १ आधुनिक कथा-साहित्य—प्रमोद पुस्तकमाला इलाहाबाद ।
 २ छायावाद और रहस्यवाद—रामनाथयशवान्न इलाहाबाद ।
 ३ यहावेसी का विवेचनात्मक पद्य—इण्डियन प्रेस इलाहाबाद १९४४ ई ।
 ४ महाप्राण निराशा—साहित्यकार संघ प्रयाग १९४६ ई० ।
 पिरियाल्लु मुत्तु 'पिरीय' १ आलोचक-प्रवर रामचन्द्र मुक्क—रामनाथयशवान्न इलाहाबाद ।
 २ मुत्तुवी की काव्यधारा—ज्ञान-हितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग १९३६ ई ।
 पुलावराम
 १ महाकवि हरिऔध—रामनाथयशवान्न प्रयाग १९३४ ई ।
 १ आलोचक रामचन्द्र मुक्क—प्रातःपत्र एण्ड संस दिल्ली १९३१ ई ।
 २ अम्बवेल और आत्मा—प्रातःपत्र एण्ड संस दिल्ली संवत् २ १४ वि ।
 ३ काव्य के रूप—प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली संवत् २ १४ वि ।
 ४ प्रसाद की कथा—साहित्यरत्न भंडार प्रयाग १९३३ ई ।
 ५ भाषा भूषण—(सं) साहित्यरत्न भंडार प्रयाग ।
 ६ साहित्य-समीक्षा—प्रातःपत्र एण्ड संस दिल्ली १९३३ ई ।
 ७ चिह्नित और अम्बवेल—प्रातःपत्र एण्ड संस दिल्ली ।
 ८ हिन्दी काव्य-विमर्श—प्रातःपत्र एण्ड संस दिल्ली ।
 ९ हिन्दी नाट्य विमर्श—मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास बाहीर १९४० ई ।
 १ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—साहित्यरत्न भंडार, प्रयाग १९५१ ई० ।
 बसुरसेन शास्त्री
 हिन्दी नाया और उसका साहित्य—बीतम बुक डिपो दिल्ली १९४७ ई ।
 कमलाप्रसाद शर्मा
 १ कहानी का रचना-विभाग—हिन्दी प्रचारक काशी १९३३ ई० ।
 २ प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन—नन्दकिशोर बरस काशी ।
 ३ हिन्दी पद्य के अनुमिता—नन्दकिशोर बरस काशी ।
 ४ हिन्दी पद्य-शैली का विकास—भायरी प्रचारिणी समा काशी ।
 काव्य और कथा तथा अन्य निबन्ध—भारती भंडार, प्रयाग ।
 १ साहित्य का भेद और प्रेम—पूर्वोदय प्रकाशन नई दिल्ली ।
 २ सोच-विचार—पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली ।
 १ समीक्षा-सारण—राजपाल एण्ड संस दिल्ली संवत् २ १ वि ।
 २ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—राजपाल एण्ड संस दिल्ली ।
 १ आधुनिक समीक्षा—राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।
 २ छायावाद का पठन—बाली-मन्दिर् प्रयाग १९४३ ई० ।

धार्मिक हिन्दी-साहित्य में समालोचना का विकास

प्रभुदयाल मिश्र
प्रेमनाथमण्डल मुख्त
प्रेमचकर
फलहसिह

बलदेव उपाध्याय

बाबुकृष्ण भट्ट

बालमुकुन्द गुप्त

मयवतप्रण उपध्याय
मैबबू स्वल्प मिश्र

अर्धबानवीन बाला

ममीरज मिश्र

मोक्षानाथ
मन्मथनाथ गुप्त

महावीर अधिकारी

महावीर प्रसाद द्विवेदी

- २ संतुमन—धार्माराध एष संसि विस्वी प्रथम संस्करण १९२४।
- १ समीक्षा की समीक्षा—साहूमी प्रकाशन विस्वी प्रथम संस्करण।
- ४ हिन्दी काव्य की प्रकृति—राजकमल प्रकाशन प्रथम संस्करण।
- १ दूर निरुपेय—अर्थता प्रेस बम्बई, प्रथम संस्करण।
- हिन्दी साहित्य में विविध बाव—पद्मना प्रकाशन कामपुर, प्रथम संस्करण।
- प्रसाव का काव्य—भारती प्रकाश प्रथम संस्करण २ १२ वि।
- १ कामायनी-सीन्धु—मोहन म्युन एम्पेरी कोटा १९२१ ई०।
- २ साहित्य और सीन्धु—भारती मन्दिर कुर्मी।
- १ संस्कृत बाह्य—धारावा मन्दिर काशी १९२१ ई०।
- २ भारतीय साहित्य-साह्य भाग १-२—प्रसाव परियव काशी, संव. २००५, २ ७ वि।
- १ भट्ट निर्बंधमासा भाग १ तथा भाग २—नाथरी प्रचारिणी सभा काशी संवत् २ ४ वि०।
- २ भट्ट निर्बंधमासी—(सं) देवीवत मुख्त) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
- १ साहित्य-सुमन—गंगा-नुस्तक-मासा लखनऊ।
- १ मुख्त निर्बंधमासी—भारतमित्र प्रेस कलकत्ता संवत् १९२६ वि।
- २ बालमुकुन्द निर्बंधमासी—(सं) म्भारमस धर्मा तथा बनारसीबास बबुर्वी) मुख्त स्मारक-प्रकाशन समिति कलकत्ता संवत् २० ७ वि।
- मूरजहाँ महाकाव्य अध्ययन—पुस्तक मंदार, पटना।
- हिन्दी समालोचना उद्भव और विकास—साहित्य-सदन देहरादून १९२२ ई।
- १ बिहारी और देव—साहित्य सुपण प्रकाशन काशी १९२६ ई०।
- २ अलकार मंजूषा—विद्या प्रचारक मुक्त विप्री मदा १९१६ ई।
- १ सम्मेलन—सलनक विस्वविद्यालय संवत् २ ३ वि।
- २ काव्य-साह्य—विस्वविद्यालय प्रकाशन पोरबण्ड, १९२७ ई।
- १ हिन्दी काव्य-साह्य का इतिहास विस्वविद्यालय लखनऊ, प्रथम संस्करण संवत् २ ३ वि।
- धार्मिक हिन्दी-साहित्य—हिन्दी परिषद् प्रयाग विस्वविद्यालय।
- १ प्रयतिबाव की कम्परेका—धार्माराध एष संसि विस्वी प्रथम संस्करण।
- २ प्रेमचकर और उमका साहित्य—धारावा कपुर, विस्वी।
- १ साहित्य-कला-समीक्षा—साहूमी प्रकाशन विस्वी।
- ४ हिन्दी साहित्य की मनीन बाराए—(सं) पम्पिकेसंसि विदीजन विस्वी १९२२ ई।
- (सं) अयचकर प्रसाव जीवन-वचन कला और कठिल—धार्माराध एष संसि विस्वी १९२३ ई।
- १ धार्मिकमोक्षि अधियन प्रेस १९२८ ई।
- २ कालिदास और उमकी कविता—राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर पबसण्ड संवत् १९७७ वि।

- ११ विचार और प्रगुभुति—प्रवीण कार्यालय मुराबाबा प्रथम संस्करण सम्बत् १९९१ वि ।
- १२ विचार और विवेचन—वीरम बुक डिपो दिल्ली प्रथम संस्करण १९४९ ई ।
- १३ विचार और विश्लेषण—नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली ।
- १४ साकेत एक अध्ययन—साहित्यरत्न मंदार, भाग्य प्रथम संस्करण १९५ ई ।
- १५ विद्यारामसरण गुप्त—(छं) वीरम बुक डिपो दिल्ली ।
- १६ सुनिधानम्बन पंथ—साहित्यरत्न मंदार भाग्य प्रथम संस्करण सम्बत् १९९५ वि ।

नामवर्षिह

- १ आधुनिक साहित्य की प्रकृति—किताब महल प्रयाग १९५४ ई ।
- २ इतिहास और आलोचना—साहित्य प्रकाशन काशी १९५६ ई० ।
- ३ छायावाद—सरस्वती प्रेस बनारस १९५५ ई ।
- ४ हिन्दी के विकास में व्यपन्न का योग—साहित्य-मन्त्र विमिटेड प्रयाग १९५२ ई ।

पद्मनाभ पुन्ना
नाम वक्ती

- १ और कुछ—मन्त्रिधोर बरत काशी ।
- २ कुछ—इंडियन प्रेस प्रयाग ।
- ३ विश्व-साहित्य—गंगा-मुस्तक-माला लखनऊ ।
- ४ साहित्य शिक्षा—हिन्दी प्रेस रत्नाकर बम्बई १९३ ई ।
- ५ हिन्दी कथा-साहित्य—हिन्दी प्रेस रत्नाकर, बम्बई ।
- ६ हिन्दी साहित्य-विमर्श—हिन्दी पुस्तक एजेंसी कलकत्ता सम्बत् १९८ वि ।

पद्मसिंह शर्मा

- १ पद्म-पराय—भारती पब्लिशर्स विमिटेड पटना सम्बत् १९८६ वि ।
- २ हिन्दी जर्न हिन्दुस्तानी—हिन्दुस्तानी एजेंसी प्रयाग १९३२ ई ।
- ३ बिहारी की संवर्ध—भूमिका तथा भाष्य ।

परमुराम चतुर्वेदी

- १ सतरी भारत की संत-परम्परा—भारती-मंदार, प्रयाग सम्बत् २ ८ वि ।
- २ मन्त्र-निर्वाण—लोक सेवा प्रकाशन काशी ।
- ३ सांस्कृतिक साहित्य की रेखाएँ—राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।
- ४ हिन्दी काव्य-पारा में प्रेम-प्रवाह—किताब महल प्रयाग १९५४ ई ।

पीताम्बरदास दक्षिणाध

- १ मकरन्द—प्रथम पब्लिशिंग हाउस लखनऊ ।
- २ हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—भारती प्रचारिणी सभा काशी ।
- ३ आधुनिक हिन्दी साहित्य—आलोचक प्रकाशन बीकानेर, १९५ ।
- ४ मया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि सरस्वती प्रेस काशी १९४६ ।
- ५ साहित्य-पारा—हिन्दी प्रचारक पुस्तकमाला काशी १९५५ ई ।
- ६ हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा—किताब-महल प्रयाग १९५३ ई ।

प्रभाकर माधवे

- १ व्यक्ति और वाङ्मय—साहूनी प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण ।

भाषात्मिक हिन्दी-साहित्य में समाजोपना का विकास

२ कला और सौन्दर्य—आरमाराम एब्द संस दिल्ली प्रथम संस्करण १९५३ ई ।

३ विद्यार्थ-मन्य—वीरम बुक डिपो दिल्ली प्रथम संस्करण १९५३ ई ।

४ प्रसाद की नाट्यकला—मानस-मुक्ता कार्यालय मुराबाबा प्रथम संस्करण ।

५ चिलीमुडी—वीरम बुक डिपो दिल्ली प्रथम संस्करण १९५१ ई० ।

६ बुकवि-उमीला—हिन्दी भवन साहौर, प्रथम संस्करण ।

१ काव्य में रूढसंवाद—साहित्य ग्रुप कार्यालय काशी प्रथम संस्करण संवत् १९८६ वि० ।

२ चितामणि भाग १—इण्डियन प्रेस लिमिटेड द्वितीय संस्करण १९४८ ई ।

३ चितामणि भाग २—सरस्वती मन्दिर काशी प्रथम संस्करण संवत् २१ वि ।

४ भाषा-संवाहनी की भूमिका—नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण संवत् २१ वि० ।

५ विवेकी (सं—कृष्णामन्य) नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण संवत् १९३५ वि ।

६ मोस्वामी तुलसीदास—काशी नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण संवत् २०८ वि ।

७ भारतेन्दु-साहित्य—हिन्दी पुस्तक-भवन लहेरियासराय प्रथम संस्करण संवत् १९५३ ।

८ रस-मीमांसा—(सं विस्वनाथप्रसादविश्व) नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम संस्करण संवत् २६ वि ।

९ सुरदास—सरस्वती मन्दिर जलनगर काशी प्रथम संस्करण ।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—नागरी प्रचारिणी सभा काशी नवौं संस्करण संवत् २०६ वि ।

१ हिन्दी एकांकी : जन्म और विकास—साहित्य प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण १९३८ ई ।

२ कृष्णभक्तसाल बनी की जयन्त्यास कला—सरस्वती पुस्तक-सदन आगरा प्रथम संस्करण १९५३ ई ।

३ सेठ मोनिमबास नाट्य कला और कविता—भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली प्रथम संस्करण १९५६ ई ।

४ हिन्दी एकांकी एवं एकांकीकार—सरस्वती पुस्तक-सदन आगरा प्रथम संस्करण १९५३ ई ।

५ हिन्दी महाकाव्य और महाकाव्यकार—सरस्वती पुस्तक-सदन आगरा १९५३ ई ।

६ हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाट्यकार—प्रथम संस्करण १९५३ ई ।

१ काव्य-वर्णन—संवासा-कार्यालय पटना प्रथम संस्करण

रामचन्द्र शुक्ल

रामचरण महेश्वर

रामचन्द्र मिश्र

काशिबास की निरकुसुता—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९११ ई ।
नयन चरित-वर्षा—हरिदास एण्ड कम्पनी कलकत्ता १९११ ई ।
रघु रंजन—साहित्यरत्न खंडार भायरा ।
मेळावलि—हिन्दी पुस्तक एजेंसी कलकत्ता सम्बत् १९८५ वि ।
निरुमाफदेव चरित वर्षा—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९७ ई० ।

३ विचार-विमर्श—भारती खंडार, काशी सम्बत् १९८१ वि ।
२ संकयन—(स प्रभात शास्त्री) साहित्य संघ प्रयाग सं २ १ वि
१ समासोचना-समुच्चय—रामनाथयसमान प्रयाग १९१ ई ।
११ साहित्य-संक्षेप—यंया-पुस्तक-माला सज्जनक, संवत् १९८५ वि० ।
१२ साहित्य-सीकर—सज्जन भारत ग्रन्थावली प्रयाग १९४८ ई ।
१३ सुकवि-संकीर्तन—यंया-पुस्तक-माला सज्जनक, प्रथम संस्करण ।
१४ हिन्दी काशिबास की आलोचना—श्रीसी १९०१ ई ।

मिमवन्धु

१ साहित्य-पारिबास—यंया-पुस्तक-माला सज्जनक ।
२ हिन्दी नवरत्न—यंया पुस्तकमाला सज्जनक ।
३ मिमवन्धु विनोद—बार भाय यंया-पुस्तक-माला सज्जनक ।
१ भारतीय छापना धीर धूर साहित्य—छापना मन्दिर, कानपुर
सम्बत् २ १ वि ।

मुंशीराम वर्मा
धर्म

२ धूर धीरम—छापना मन्दिर कानपुर सम्बत् २ १ वि ।
आलोचना-शास्त्र—भा भा मिमिटेड बिस्नी संवत् २ २ वि ।
हिन्दी पद्य मीमांसा—हिन्दी साहित्य माला कानपुर, १९२६ ई ।
हिन्दी काव्य पर आगत प्रभाव—यूमबा प्रकाशन कानपुर, प्रथम
संस्करण सम्बत् २ ११ वि ।

मोहम्मदस्मान पंत
रमाकान्त त्रिपाठी
रबीन्द्रसहाय वर्मा

रामेय रायन

१ काव्यकला धीर शास्त्र—विनोद पुस्तक खंडार भायरा प्रथम
संस्करण १९५१ ई ।
२ काव्य यथार्थ धीर प्रवर्ति—विनोद पुस्तक खंडार, भायरा प्रथम
संस्करण सम्बत् २ १२ वि ।
३ प्रगतिशील साहित्य के मानदंड—सरस्वती पुस्तक-घरन भायरा
प्रथम संस्करण १९३४ ई ।
४ संवद धीर सयर्ब किशोर महम इलाहाबाद प्रथम संस्करण, सं
१९२३ ई ।

रामकुमार वर्मा
,

१ कबीर का रहस्यवाद—साहित्य-मगन मिमिटेड प्रयाग प्रथम
संस्करण १९३८ ई ।
२ साहित्य-शास्त्र—राजकिशोर प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
१९५५ ई ।
३ साहित्य-समासोचना—साहित्य-मन्दिर, प्रयाग प्रथम संस्करण संवत्
१९८७ वि ।
४ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामनाथयसमान
इलाहाबाद प्रथम संस्करण १९३८ ई ।

रामकृष्ण घुनत
सिन्धीमुख

१ आलोचना-समुच्चय—हिन्दी शेषन भाहोर, प्रथम संस्करण
१९३९ ।

१९१८ ई०।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामबहाल शर्मा, प्रथम, प्रथम संस्करण सन् १९११ ई०

रामस्वर मुखर्जी 'अंधधुंध' ४ समाज धीरे साहित्य—मातृभाषा मण्डिर प्रयाग प्रथम संस्करण १९१० ई०।

पहल साहित्यायन लक्ष्मीनारायणदास हिन्दी-काव्यधारा—क्रिष्णमहल प्रयाग, प्रथम संस्करण १९०५ ई०।
हिन्दी कहानियों की बिलगिबि का विकास—साहित्य भवन निमित्त प्रयाग प्रथम संस्करण १९२३ ई०।

लक्ष्मीनारायणदास हि 'धुंधधुंध' १ काव्य में अधिब्यवसाय—जनवाणी प्रकाशन कलकत्ता तृतीय संस्करण संवत् २००७ वि०।

२ जीवन के उत्तर धीरे सिद्धान्त—जनवाणी प्रकाशन कलकत्ता द्वितीय संस्करण १९१० ई०।

लक्ष्मीनारायणदास हि 'धुंधधुंध' १ आधुनिक हिन्दी साहित्य—हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय प्रथम संस्करण १९४१ ई०।

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय १९४२ ई०।

३ कोई निमित्त काव्य—

४ निमित्त-लक्ष्मीनारायणदास—विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर प्रथम संस्करण १९१७ ई०।

५ भारतेन्दु की विचारधारा—सहित काव्यलय प्रयाग प्रथम संस्करण १९४८ ई०।

६ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—साहित्य भवन निमित्त प्रयाग प्रथम संस्करण १९२१ ई०।

७ साहित्य-चिन्तन—राम प्रेसबन्ध प्रथम संस्करण सन् १९४१ ई०।

८ हिन्दी साहित्य का इतिहास—मातृभाषा पुस्तक भवन सखनठ, १९१२ ई०।

९ हिन्दी साहित्य का इतिहास—(समुदाय)।

निमित्तप्रकाश मुकुन्द १ साहित्य-निजासा—मातृभाषा पुस्तक संघ दिल्ली प्रथम संस्करण संवत् १९१८ वि०।

२ हल धी—हिन्दी प्रचारक पुस्तक-माता प्रथम संस्करण १९१७ ई०।

बीमाधर मुखर्जी पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग प्रथम संस्करण १९२२ ई०।

विजयेन्द्र स्नातक समीक्षारतन निमित्त—नदान पत्रिका हाउस दिल्ली १९१७ ई०।

१ कवि 'प्रकाश' धामु तथा अन्य कृतियाँ—प्रतिभा प्रकाशन नागपुर १९२२ ई०।

२ इतिहास—महाकवि रघुनाथ बनारस १९२१ ई०।

३ साहित्यालोचन—साहित्य भवन निमित्त प्रयाग १९४२ ई०।

४ हिन्दी की मराठी संतों की देन—विहार राष्ट्रभाषा परिषद् १९१७ ई०।

: ई ।

में अप्रस्तुत योजना—ग्रंथमाहा-कार्यालय पटना प्रथम संस्करण सम्बत् २ ३ बि ।

३ काव्य-विमर्श—ग्रंथमाहा-कार्यालय पटना प्रथम संस्करण १९५१ ई ।

४ काव्यालोको (द्वितीय खण्ड)—ग्रंथमाहा-कार्यालय बाँकीपुर प्रथम संस्करण सम्बत् २ ३ बि ।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

१ धर्जनारीसवर—जनवाणी प्रकाशन कसकता प्रथम संस्करण १९५२ ई ।

२ काव्य की भूमिका—उदयाचल प्रकाशन पटना १९५० ई ।

३ पठ प्रसाद और मैथिलीकरण—उदयाचल प्रकाशन पटना १९५० ई ।

४ मिट्टी की धोर—उदयाचल प्रकाशन पटना प्रथम संस्करण १९४९ ई ।

५ रेती के फूल—प्रज्जता प्रेस पटना प्रथम संस्करण १९५४ ई ।

रामनाथ सुमन'

कवि प्रसाद की काव्य-साधना—छात्र हितकारी पुस्तकमाला प्रयाग प्रथम संस्करण १९३० ई ।

रामबिलास सनौ

१ भाषाई रामचन्द्र कुल धोर हिन्दी भाषावर्धना—विनोद पुस्तक मन्दिर प्रागर प्रथम संस्करण सम्बत् २ १२ बि ।

२ प्रगति और परम्परा—किताब महल प्रयाग प्रथम संस्करण १९४० ई ।

३ प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ—विनोद पुस्तक मन्दिर, प्रागर प्रथम संस्करण १९५४ ई ।

४ प्रेमचन्द और उनका युग—मेहरचन्द मुंशीराम दिल्ली प्रथम संस्करण १९५२ ई ।

५ माटेन्सु युग—विनोद पुस्तक मन्दिर, प्रागर प्रथम संस्करण सन् १९५१ ई ।

६ माटेन्सु हरिश्चन्द्र—बिद्या नाम, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५५ ई ।

७ भाषा साहित्य और संस्कृति—किताब महल १९५४ ई ।

८ विराम बिन्दु—विनोद पुस्तक मन्दिर, प्रागर, प्रथम संस्करण १९५४ ई ।

९ स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य—हि प्र प काशी, प्रथम संस्करण १९५५ ई ।

१ सोक-जीवन और साहित्य—विनोद पुस्तक मन्दिर, प्रागर १९५५ ई ।

११ संस्कृति और साहित्य—किताब महल इभाहाबाद, प्रथम संस्करण १९४९ ई ।

रामचंद्र कुल 'रसाल'

१ धर्मकार-मीरूप पूर्वाई तथा उत्तराई—रामनाथयणमान पब्लिशर्स प्रयाग १९२३ ई ।

२ भाषावर्धनाई—इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण

५. साहित्यानुशीलन—आत्माराम एण्ड सन लिस्ती १९५२ ई०।
६. हिन्दी साहित्य के पच्चीस वर्ष—रण मि लिस्ती १९५४ ई०।
- खिलास १. आत्माराम रामचन्द्र भुवने—सरस्वती मन्दिर, बनारस द्वितीय संस्करण संवत् २० १ वि०।
२. प्राचिन हिन्दी साहित्य की आर्थिक भूमिका—काशी विद्यापीठ बनारस प्रथम संस्करण।
३. हिन्दी समालोचना की धर्माधीन प्रवृत्तियाँ—राजकमल प्रकाशन लिस्ती १९५३ ई०।
- सामसुन्दरदास १. मोस्सामी तुमहीदास—हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग प्रथम संस्करण १९३१ ई०।
२. मेरी आत्म कहानी—इण्डियन प्रेस, प्रयाग १९४१ ई०।
३. कर्म-रहस्य—इण्डियन प्रेस प्रयाग संवत् २० ६ वि०।
४. साहित्यालोचन—इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वितीय संस्करण, संवत् १९९४ वि०।
५. हिन्दी भाषा और साहित्य—इण्डियन प्रेस प्रयाग संवत् १९८७ वि० प्रथम संस्करण।
- मीरकमलदास १. प्राचिन हिन्दी साहित्य का विकास—हिन्दी-परिषद् मिस्त्रिकादय प्रयाग प्रथम संस्करण संवत् १९९२ वि०।
- शब्दबालक हीरानन्द वात्स्यायन शब्देय १. प्राचिन हिन्दी साहित्य—प्रथम बारती ग्रन्थालय कनकदा प्रथम संस्करण १९४० ई०।
२. विश्वक—सरस्वती प्रेस बनारस १९४५ ई०।
- धत्तेन्द्र १. कला कल्पना और साहित्य—साहित्य-रत्न-मंडार, आगरा प्रथम संस्करण संवत् २० ७ वि०।
२. पुष्पजी की कला—साहित्य-रत्न-मंडार, आगरा संवत् १९९४ वि०।
३. प्रेमचन्द और उनकी कहानी—कला—साहित्य रत्न मंडार आगरा।
४. शब्दकोश साहित्य का अध्ययन—साहित्य रत्न-मंडार, आगरा १९४९ ई०।
- जयित्री सिन्हा ५. अनुसन्धान का स्वप्न—आत्माराम एण्ड सन लिस्ती १९५४ ई०।
- सीताराम चतुर्वेदी ६. समीक्षा-आत्म—प्रथम भारतीय विक्रम परिवर्त संवत् २१ वि०।
- सुनील १. साहित्य-समीक्षाविधि — विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा १९५३ ई०।
२. हिन्दी कविता में युगान्तर—आत्माराम एण्ड सन लिस्ती १९५० ई०।
- मुनिमानन्द पंत ३. गद्य-पद्य—साहित्य सदन सिम्रिक प्रयाग प्रथम संस्करण १९३३ ई०।
- सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' १. जयन्त—विहार ग्रन्थालय कुटीर, बटना संवत् २०१४ वि०।
२. चाबुक—कला मन्दिर, प्रयाग।
३. पंतजी और पद्य—बंगला ग्रन्थालय, लखनऊ, १९४९ ई०।
४. प्रबन्ध-पद्य—बंगला पुस्तकालय कार्यालय, लखनऊ, संवत् १९९१ वि०।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

- १ बिहारी की नाट्यश्रुति—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस संवत् १९९३ वि ।
- २ नाट्य-विमर्श—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस संवत् १९९३ वि ।
- ३ हिन्दी का सामाजिक साहित्य—सरस्वती मन्दिर काशी संवत् २ ८ वि ।
- ४ हिन्दी में नाट्य साहित्य का विकास—साहित्य सेवक कार्यालय काशी प्रथम संस्करण संवत् १९५६ वि ।

विदेस्वर धार्या
व्याख्याकार

- १ काम्यान्तकार-सूत्रश्रुति—(धार्या वामन कुठ) संपादक का मन्त्र ।
- २ हिन्दी व्याख्यान—संपादक का मन्त्र ।
- ३ हिन्दी बालोक्ति-वीथिचम्—संपादक का मन्त्र ।

वसन्तदास

- १ कबीर बोधी हिन्दी साहित्य का इतिहास—हिन्दी साहित्य-कुटीर, बनारस संवत् १९९८ वि ।
- २ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग १९४८ ई ।
- ३ हिन्दी नाट्य साहित्य—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस संवत् १९९३ वि ।
- ४ हिन्दी व्याख्यान—साहित्य—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस संवत् २ १३ वि ।

सन्तुनाबसिंह

- १ व्याख्यान-सूत्र—सरस्वती मन्दिर, बनारस प्रथम संस्करण १९३२ ई ।
- २ हिन्दी महाकाव्य का विकास—हिन्दी प्रचारक पुस्तक मन्दिर, बाराणसी १९३९ ई ।

सचीपानी गुर्दा

- १ कलाचर्चा—साहनी प्रकाशन दिल्ली १९३९ ई ।
- २ हिन्दी के व्याख्यान—आत्मार्पण एण्ड सन दिल्ली प्रथम संस्करण १९३३ ई ।

जातिप्रिय द्विवेदी

- १ व्याख्यान—हि प्र पु बाराणसी प्रथम संस्करण १९३७ ई ।
- २ कवि धीर काव्य—इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग प्रथम संस्करण १९३९ ई ।
- ३ ज्योति-विह्वल—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग संवत् २ ८ वि ।
- ४ युग धीर साहित्य—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९४१ ई ।
- ५ काव्य—विद्या मन्दिर प्रेस बाराणसी १९३३ ई० ।
- ६ साहित्यिकी—ग्रन्थाला कार्यालय बाँकीपुर, १९३८ ई ।
- ७ संचारिकी—इण्डियन प्रेस प्रयाग १९४१ ई ।
- ८ सामाजिकी—ज्ञान-मंडल लिमिटेड काशी संवत् २ १ वि ।

शिवशानसिंह चौहान

- १ व्याख्यान के मान—एण्ड प्रिं दिल्ली प्रथम संस्करण १९३५ ई ।
- २ प्रगतिवाद—प्रवीण कार्यालय मुरादाबाद १९४५ ई ।
- ३ साहित्य की परब—इण्डिया पब्लिशर्स प्रयाग १९४५ ई ।
- ४ साहित्य की समस्याएँ—आत्मार्पण एण्ड सन दिल्ली १९३९ ई ।

(५)

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

(कासकमानुसार)

भरत मुनि	नाट्य शास्त्रम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस ।
मामह	काव्यालंकार— " " १९२८ ई ।
हर्षी	काव्यालंकार—प्रोत्रियटन बुक सप्ताईन एजेंसी पुना १९२४ ई ।
उद्भट	काव्यालंकारसार-संग्रह—महाराष्ट्र प्रोत्रियटन रिचर्स एस्तीट्यूट प्रथम संस्करण १९५२ ई० ।
वामन	हिन्दी काव्यालंकार-सूत्र—आत्माचम एण्ड संस हिस्सी ।
कन्नड	काव्यालंकार—निर्णयसागर प्रेस बम्बई तृतीय संस्करण १९२८ ई ।
मानन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक—मोठम बुक डिपो हिस्सी प्रथम संस्करण ।
प्रभिनवकुप्ट	प्रभिनव-भारती—नायकवाह प्रोत्रियटन सीरीज बड़ोदा जिल्हा १ प्रथम ९ ।
राजशेखर	काव्य-मीमांसा—बिहार एज्युमापा परियर पटना १९५४ ई ।
वर्णजय	वसुधैवकुम् निर्णयसागर प्रेस बम्बई पंचम संस्करण १९४९ ई ।
कवच	हिन्दी काव्य-मीमांसा—आत्माचम एण्ड संस हिस्सी प्रथम संस्करण १९२५ ई० ।
महिम मद्र	व्यक्ति-विशेष—चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९३९ ई ।
भोकरेव	सरस्वती कव्यमरणम्—निर्णयसागर प्रेस १९३४ ई ।
खेमेन्द्र	प्रीतिय-विचार-वर्षा—चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९३३ ई ।
मम्मट	काव्य प्रकाश—मलकीकर द्वारा व्याख्यात १९२९ ई ।
कटक	धर्मकर-सर्वस्वम्—निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३६ ई ।
विस्वनाथ	साहित्य-वर्णण—नवलकिशोर प्रेस सखनरु, द्वितीय संस्करण सम्बत् १९६१ वि ।
पण्डितराज कदम्बाज	रस-संग्रह—निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९४७ ई ।

पत्र-पत्रिकाएँ

हरिवचन पत्रिका कविचरनमुषा हरिवचन नैगजीन शास्त्राण मानन्द-काव्यमिनी
 माण्डमिच 'हिन्दी-प्रदीप' 'हिन्दुस्तान' सरस्वती माधुरी मलशाला मुषा ईश सम्येसन-
 पत्रिका नागरी-प्रचारिणी पत्रिका साहित्य-संदेश 'समाजोपक' 'विद्या-भारत' 'हिन्दी
 मनुषीसन' प्रादि ।

मिताभ मुद्र

वारीप्रसाद द्विवेदी

- ५ प्रबन्ध प्रतिमा—भारती मन्डार, प्रयाग खण्ड १९२७ वि ।
- ६ रत्नीन्द्र-कविता-कानन—हिन्दी पुस्तक बनारस १९५४ ई ।
- १ पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य—हिन्दी मन्डार प्रयाग १९५८ ई ।
- २ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—हिन्दी मन्डार प्रयाग १९२९ ।
- १ अशोक के फुल—उस्ता साहित्य मंडल नई दिल्ली १९४८ ई ।
- २ कबीर—हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई १९४२ ।
- ३ कल्पलता—ज्ञान मंडल बनारस खण्ड २ ७ वि ।
- ४ नाथ सम्प्रदाय—हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग १९३ ई ।
- ५ विचार और चिन्तक—सुबधा-साहित्य मन्दिर जबलपुर ।
- ६ साहित्य का सन्धि—राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति बर्मा १९४२ ई ।
- ७ साहित्य का मर्म—विश्वविद्यालय मद्रास, १९३२ ई ।
- ८ मुर साहित्य—हिन्दी साहित्य समिति इम्बौर प्रथम संस्करण खण्ड १९२३ वि ।
- ९ हमारी साहित्यिक समस्याएँ—हरेन्द्र प्रकाशन आमनपुर १९४४ ई ।
- १ हिन्दी साहित्य—मत्तरबन्ध कपुर एम्ब संघ दिल्ली १९३२ ई० ।
- ११ हिन्दी साहित्य का साहित्यिक—राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति पटना खण्ड २ ६ वि ।
- १२ हिन्दी साहित्य की भूमिका—हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई, प्रथम संस्करण १९४ ई ।

- Lamborn, A.E.G. 1 The Rudiments of Criticism—Oxford University Press, London, 1926.
2 Poetic Values—
Selected Literary Criticism—
Modern Book of Criticism—
A History of English Literature—
Materialism and Empiric Criticism—
1 Literature and Psychology—Casell London, 1951.
2 Critical Thoughts in Critical Days—Allen & Co., London, 1942.
- Maier N.R.F. and Reninger H.W. Psychological Approach to Literary Criticism—
Macaulay L. Critical and Historical Essays—Madras, 1916.
Machall, J.W. Coleridge's Literary Criticism—
Moulton. The Modern Study of Literature—
Nicholson Norman. Man and Literature—London 1944.
Painter F.V.N. Elementary Guide to Literary Criticism—London, 1908
Pope, Alexander. Essays on Criticism—Edited with notes by J. Sargant,
O.U.P. 1909
Pepper S.O. Basis of Criticism in the Arts—
Quiller Couch. Adventures in Criticism—
(Sir Arthur)
Raghavan, Dr. Some Aspects of Alankara Sastra -
Bloharda, I.A. 1. Principles of Literary Criticism—
2. Practical Criticism—
3. A Study of Literary Judgement—
- Ramaswami Sastri. Indian Aesthetics—
Read Herbert. Collected Essays in Literary Criticism—
Saintsbury George. 1. A History of Criticism and Literary Taste in Europe—
Vols. I and II.
2. A History of English Criticism—
Sankaran, Dr. Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit—
Scott, James R.A. 1 The Making of Literature—Secker and Warburg,
London, 1948.
2. Fifty Years of English Literature—1900-50 with a
postscript 1951-55.
Sheran W.H. Handbook of Literary Criticism—1905.
Shipley J.T. 1 Encyclopedia of Literature—
2 Dictionary of World Literature—
Sheridan. The Critic
Springarn J.E. 1 The New Criticism—New York, 1911
2. A History of Literary Criticism in the renaissance—
New York 1913
- Thomson George. Marxism and Poetry—
Vaughan C.E. English Literary Criticism—London, 1898
Winchester C.T. Some Principles of Literary Criticism—Macmillan & Co.,
London 1899.
Ward A.O. Twentieth Century Literature—1901-50
Wellek Reno. History of Modern Criticism—Two Volumes, Yale Univer
sity Press, New Haven, 1955.
Worfold W.B. 1 Judgement in Literature—
Principles of Criticism—
Wordsworth. Preface to Lyrical Ballads—

ग्रन्थ-सूची

(१)

English Books

- | | |
|----------------------------|--|
| Abercrombie,
Isacellae. | 1. <i>Idea of Great Poetry</i> —Secker London 1923 |
| | 2. <i>Romanticism</i> —Second Impression, London, 1937 |
| | 3. <i>An Introduction to the Principles of Criticism</i> — |
| Arnold Mathew | 1. <i>Essays in Criticism</i> —Second Series, Macmillan & Co., London 1951 |
| | 2. <i>Essays, Literary and Critical</i> —Introduction by G. K. Chesterton. |
| Arkins, J W.B | 1. <i>English Literary Criticism—17th and 18th Centuries</i> , Methuen Company London, 1951 |
| | 2. <i>English Literary Criticism—The Renaissance</i> , Methuen Company London, 1947 |
| | 3. <i>English Literary Criticism—The Medieval Phase</i> . |
| Bagshot, W | <i>Estimations in Criticism</i> —Vol. II London, 1909 |
| Bethell, S.L | <i>Essays on Literary Criticism</i> —Dobson London, 1948. |
| Bywater Ingram | <i>Aristotle on the Art of Poetry</i> — |
| Bradley A.O | <i>Oxford Lectures on Poetry</i> —Macmillan, London 1950 |
| Carr H.W | <i>Philosophy of Croce—The Problem of Art and History</i> Macmillan & Co London, 1917 |
| Caudwell,
Christopher | 1. <i>Illusion and Reality</i> —Peoples Publishing House Bom bay 1947 |
| | 2. <i>Studies in Dying Culture</i> —Johnhane. The Bodley Head, London, 1951. |
| Chesterton G.K. | <i>The Victorian Age in Literature</i> — |
| Collins J O. | <i>Studies in Poetry and Criticism</i> —London, 1906 |
| Crane R.S | <i>Critics and Criticism</i> —Chicago University Press 1957 |
| Coleridge, S.T | <i>Biographia Literaria</i> —Edited with his <i>Aesthetical Essays</i> by J Shawcross, London, 1949. |
| Coan T.M. | <i>Critic and Artist</i> — |
| Croce Benedetto. | <i>Aesthetics</i> — |
| Dalches, David. | <i>Critical Approaches to Literature</i> —Longman's London, 1957 |
| Drinkwater J | <i>The Outline of Literature</i> — |
| Eliot, T.S. | 1. <i>The Use of Poetry and the Use of Criticism</i> — |
| | 2. <i>What is a Classic</i> — |
| | 3. <i>Selected Essays</i> — |
| | 4. <i>On Poetry and Poets</i> — |
| Gorky Maxim. | <i>Life and Literature</i> — |
| Grierson, H.J O | 1. <i>Criticism and Creation</i> —Chatto and Windus, London, 1945. |
| | 2. <i>Cross Currents in English Literature of the Seventeenth Century</i> — |
| | 3. <i>A Critical History of English Poetry</i> — |
| Hudson W H. | 1. <i>An Introduction to the Study of Literature</i> — |
| | 2. <i>An Outline History of English Literature</i> — |
| Kupuswami. | <i>Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit</i> — |

